प्रकाशक :
डा० चमनलाल गौतम
सस्कृति सस्थान,
ख्वाजा कुतुव (वेदनगर),
वरेली (उ प्र.)

❊

सशोधित सस्करण
१९७२

❊

मूल्य :
बारह रुपये मात्र

मुद्रक :
विनोदकुमार मिश्र
राजेश्वरी प्रिंटिंग प्रेस,
आर्यसमाज रोड, मथुरा.

❀ षट्दर्शन-सार-पत्रिका ❀

(श्री पडित पीताम्बर)



षट्दर्शन	पूर्वमीमासा	उत्तरमीमासा (वेदान्त)	न्याय
१ जगत्	स्वरूपसे अनादि अनत प्रवाहरूप सयोगवियोगवान्	नामरूपक्रियात्मक मायाका परिणाम चेतनका विवर्त्त	परमाणुआरभित सयोगवियोगजन्य आकृतिविशेष
२ जगत्कारण	जीव, अदृष्टऔर परमाणु	अभिन्ननिमित्तो-पादान ईश्वर	परमाणु ईश्वरादि नव
३ ईश्वर	०	माया विशिष्ट चेतन	नित्यइच्छाज्ञाना दि गुणवान्
४ जीव	जड़चेतनात्मक विभु-नाना-कर्ता-भोक्ता	अविद्याविशिष्ट चेतन	ज्ञानादिचतुर्दशगुण-वान्, कर्त्ता, भोक्ता, जड़, विभु, नाना
५ बधहेतु	निपिद्धकर्म	अविद्या	अज्ञान
६ वन्ध	नरकादिदु खसबध	अविद्यातत्कार्य	एकविंशतिदु ख
७ मोक्ष	स्वर्गप्राप्ति	अविद्यातत्कार्य-निवृत्तिपूर्वक परमा-नन्द ब्रह्मप्राप्ति	एकविंशतिदु.ख-ध्वस

षट्दर्शन	पूर्वमीमांसा	उत्तमीमासा (वेदान्त)	न्याय
८ मोक्षसाधन	वेदविहितकर्म	ब्रह्मात्मैक्यज्ञान	इतरभिन्नात्मज्ञान
९ अधिकारी	कर्मफलासक्त	मलविक्षेपदोषरहित चतुष्ठयसाधनसम्पन्न	दु खजिहासु कुतर्की
१० प्रकटकर्त्ता आचार्य	जैमिनी	वेदव्यास	गौतम
११ प्रधान कांड	कर्मकाण्ड	ज्ञानकाण्ड	ज्ञानकाण्ड
१२ वाद	आरम्भवाद	विवर्तवाद	आरम्भवाद
१३ आत्म-परिमाण सख्या	विभु नाना	विभु नाना	विभु नाना
१४ प्रमाण	षट् (६)	षट् (६)	प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान, शब्द (४)
१५ ख्याति	अख्याति	अनिर्वचनीय	अन्यथा
१६ सत्ता	जीवजगत् परमार्थ सत्ता	परमार्थरूपात्मसत्ता व्यावहारिक और प्रातिभासिकजगत्सत्ता	जीवजगत् परमार्थ सत्ता
१७ उपयोग	चित्तशुद्धि	तत्त्वाज्ञानपूर्वक मोक्ष	मनन

षटदर्शन	वैशेषिक	सांख्य	योग
१ जगत्	न्यायअनुसार	प्रकृतिपरिणामत्रयो-विंशतितत्त्वात्मक	प्रकृतिपरिणामत्रयो-विंशतितत्त्वात्मक
२ जगत्कारण	न्याय अनुसार	त्रिगुणात्मक प्रकृति	कर्मानुसार प्र-कृति और तन्नियामक ईश्वर
३ ईश्वर	न्याय अनुसार	०	क्लेशकर्मविपाकाशयअसंबद्ध पुरुषविशेष
४ जीव	न्याय अनुसार	असङ्ग चेतन विभु नाना भोक्ता	असङ्ग चेतन विभु नाना कर्त्ता भोक्ता
५ बंधहेतु	अज्ञान	अविवेक	अविवेक
६ बन्ध	एकविंशतिदुःख	अध्यात्मादि-त्रिविध दुःख जन्य	प्रकृतिपुरुषसंयोग-अविद्यादि-पंचक्लेश
७ मोक्ष	एकविंशतिदुःखध्वंस	त्रिविधदुःखध्वंस	प्रकृतिपुरुषसंयोगा-भावपूर्वकअविद्या-दिपञ्चक्लेशनिवृत्ति
८ मोक्षसाधन	इतरभिन्नात्मज्ञान	प्रकृतिपुरुषविवेक	निर्विकल्पसमाधिपूर्वक विवेक
९ अधिकारी	दुःखजिहासु	कुतर्की संदिग्ध	विरक्त विक्षिप्तचित्तवान्

षट्दर्शन	वैशेषिक	सांख्य	योग
१० प्रकटकर्त्ता आचार्य	कणाद	कपिल	पतञ्जलि
११ प्रधानकाड	ज्ञानकाण्ड	ज्ञानकाण्ड	उपासनाकाण्ड
१२ वाद	आरम्भवाद	परिणामवाद	परिणामवाद
१३ आत्मपरिमाण	विभु	विभु	विभु
सख्या	नाना	नाना	नाना
१४ प्रमाण	प्रत्यक्ष अनुमान (२)	प्रत्यक्ष अनुमान शब्द (३)	प्रयत्यक्ष अनुमान शब्द (३)
१५ ख्याति	अन्यथा	अख्याति	अख्याति
१६ सत्ता	जीवजगत्परमार्थ-सत्ता	जीवजगत्परमार्थ-सत्ता	जीवजगत्परमार्थ सत्ता
१७ उपयोग	मनन	'त्व' पदार्थशोधन	चित्तैकाग्रच



ओ३म्

प्रसङ्गप्रदर्शिका सूची

१. षड्दर्शनसार पत्रिका (श्री पीताम्बर)	३-६
२. प्रसगप्रदर्शिका सूची	७-१०
३ प्रकाशकीय	११-१४
४ परिचय (एम० अनन्तशयनम् उपाध्यक्ष लोकसभा)	१५-१६
५ वेदान्तशास्त्र और पञ्चदशी — श्रीजगद्गुरु शङ्कराचार्य	१७-३०
६ शुभाशीर्वाद — श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज	३१-३२

पञ्चदशी

प्रत्यक्तत्त्वविवेक-१	३३ ६०
१. युक्ति द्वारा जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन	३३
२. महावाक्य द्वारा जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन	७२
पच महाभूत विवेक-२	६१-१४४
१ अपञ्चीकृत महाभूतो के गुण और कार्य	६३
२. "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" वाक्य का अर्थ	१०३
३. माया शक्ति का लक्षण	११८
४ सत् ब्रह्म और पञ्च महाभूतो का विवेक	१२७
पचकोश विवेक-३	१५४-१६८
१ पञ्चकोष और आत्मा का विवेचन	१४५
२. आत्मा का स्वरूप	१५७
३. जीव-ब्रह्म की अभेदता	१६५
द्वैत विवेक-४	१६६-२००
१. जगत् और द्वैतता के स्रष्टा, ईश्वर और जीव है !	१६६

२ जीवरचित द्वैत के भेद और उनकी त्याज्यता १८७
महावाक्य विवेक—५ २०७-२१०
१. "प्रज्ञानं ब्रह्म" का अर्थ २०२
२. "अहं ब्रह्मास्मि" का अर्थ २०३
३ "तत्त्वमसि" का अर्थ २०४
४ "अयमात्मा ब्रह्म" का अर्थ २०५
५ कुछ महत्त्वपूर्ण वेदान्त सिद्धान्त २०६
चित्रदीप—६ २११-३५८
१ आरोपित जगत् की स्थिति और
ज्ञान द्वारा निवृत्ति का प्रकार २११
२. आत्मतत्व का विवेचन २२०
३. जीव और कूटस्थ का विवेचन २२१
४. आत्मा के सम्बन्ध मे अनेक मत २४५
५. आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध मे विभिन्न मत २६१
६. आत्मा की चिद्रूपता पर विचार २६७
७ ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में विविध मत २७६
८ श्रुत्यनुसार निर्णय का वर्णन २८७
९. मुक्ति ज्ञान के विना नही ३३०
१०. तत्त्वज्ञान का फल ३५३
तृप्तिदीप—७ ३५९-४८७
१ "आत्मानं चेद्विजानीयात्" वाक्य गत
'पुरुष' और 'अहं' पदो के अभिप्राय ३६०
२. 'अयं' पद का अभिप्राय (चिदाभास की सात-अवस्थायें) ३६९
३. 'किमिच्छन्' पद की व्याख्या ४२२
४. "कस्य कामाय" अंश का अभिप्राय ४२०
५ त्रिविध शरीर-ज्वर और ज्ञानी की शोक-निवृत्ति ४६२
६. ज्ञानी चिदाभास की निरंकुश तृप्ति का वर्णन ४७६

कूटस्थदीप—८   ४८८-५२०

१. देह के बाहर चिदाभास और ब्रह्म का भेद   ४८८
२. देह के भीतर भी कूटस्थ और चिदाभास का भेद   ४९६
३. चिदाभास का निरूपण   ५००
४. कूटस्थ का विवेचन और जीवादिजगत् का मिथ्यात्व   ५११

ध्यानदीप—९   ५२१-५८८

१ सवादीभ्रम की भान्ति ब्रह्मतत्व की उपासना से भी मुक्ति   ५२२
२ परोक्षज्ञान से ब्रह्म की उपासना का प्रकार   ५२९
३. विचार से अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति   ५३५
४ अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति मे त्रिविध प्रतिबन्ध   ५३८
५ निर्गुणोपासना की सम्भवता और उसका प्रकार   ५४७
६. ज्ञान और उपासना का भेद   ५५२
७ तत्वज्ञान और लौकिक व्यवहार का अविरोध   ५५९
८. निर्गुणोपासना की श्रेष्ठता और उसका फल, मुक्ति   ७७१

नाटकदीप—१०   ५८९-६०३

१ अध्यारोप और साधन सहित अपवाद   ५९०
२. बन्ध और बन्ध-निवृत्ति   ५९१
३. मन की दो वृत्तिया   ५९२
४ परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का निर्णय   ५९४
५. साक्षी के अनुभव का उपाय   ६००

(ब्रह्मानन्दग) योगानन्द—११   ६०४-६६६

१. ब्रह्मज्ञान, अनर्थ निवृत्ति एव परमानन्द-प्राप्ति का हेतु है   ६०७
२. ब्रह्म, आनन्दरूप, अद्वितीय एव स्वप्रकाश है   ६२३
३. सुषुप्ति मे ब्रह्मानन्द की सिद्धि   ६२४
४. मौनावस्था मे ब्रह्मानन्द का भान : त्रिविध आनन्द   ६४५

५ जाग्रत मे वासनानन्द और अभ्यास से निजानन्द की प्रतीति ६५०
६ क्षणिक समाधि द्वारा ब्रह्मानन्द का अनुभव ६६०

(ब्रह्मानन्दग) आत्मानन्द–१२ ६६७ ७०६
१. आत्मानन्द के अधिकारी . आत्मा की त्रिविधता ६६७
२. आत्मा की प्रियतमता की सिद्धि ६८८
३. चेतनता की भ्रान्ति आत्मा की परमानन्दता की सब वृत्तियो में अप्रतीति ७००
४. योग और विवेक की तुल्यता ७५४

(ब्रह्मानन्दग) अद्वैतानन्द–१३ ७०७ ७५४
१. आनन्द ब्रह्म के विवर्त्त जगत् की ब्रह्म से अभिन्नता ७०७
२ धात्री की कथा द्वारा शक्ति की अनिर्वचनीयता ७११
३. शक्ति के कार्य की अनिर्वचनीयता ७१८
४ एक कारण के ज्ञान द्वारा कार्यसमूह का ज्ञान ७२६
५ ब्रह्मरूप कारण और जगत्रूप कार्य का स्वरूप ७३४
६ नामरूप जगत की उपेक्षा और उसका फल ७४२
७ माया द्वारा एक ही रूप की अनेक कार्यरूपता ७४३
८ जड चेतन-जगत् मे अनुस्यूत ब्रह्म का निर्जगत्पना व फल ७४५

(ब्रह्मानन्दग) विद्यानन्द–१४ ७५५-७८६
१ विद्यानन्द और उसमे निवर्त्य दु.ख ७५५
२. विद्यानन्द के भेद-दु ख निवृत्ति और सर्वकाम प्राप्ति ७६१, ७६३
३ कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्यता ७७४

(ब्रह्मानन्दग) विषयानन्द–१५ ७८४-७६८
१ सप्रपञ्च ब्रह्म का स्वरूप ७८७
२ निष्प्रपञ्च ब्रह्म और माया के भेद ७६६
३. सवृत्तिक एव अवृत्तिक (ब्रह्म) ध्यान ७६५
४ ध्यान ही ब्रह्मविद्या है ? ४६८

प्रकाशकीय

हमारी बहुत दिनो से इच्छा थी कि वेदान्त का अनुपम ग्रन्थ 'पञ्चदशी' अपने पाठको को भेट किया जाय। शास्त्रोमे 'वेदान्त-शास्त्र', उनमें 'पञ्चदशी' और उनमे भी पीताम्बरी टीका का क्या महत्व है? इसका उत्तर वेदान्त का मनन करने वाले भली-भाति जानते हैं। वेदान्त शिरोमणि श्री १००८ जगदगुरु शकराचार्य, ज्योतिषपीठाधीश्वर श्रीकृष्ण-बोधाश्रम जी महाराज ने, इस प्रकाशन मे भूमिका रूप से अन्यत्र प्रकाशित (पृष्ठ १७–३२) 'वेदान्त-शास्त्र और पञ्चदशी' शीर्षक अपने लेख में इसका जो विवेचन किया हैं, वह हमारी धारणा की पुष्टि मे एक अकाटच प्रमाण है।

'पञ्चदशी' के पीताम्बरी भाष्य की हमारे ग्राहको मे बहुत मांग थी। पर्याप्त समय पूर्व जो आवृत्ति प्रकाशित हुई थी–वह अब प्राय. अनुपलब्ध है। उसकी भाषा भी पुरानी पद्धति की है। साथ ही उसी ढग का प्रकाशन आज के सर्व-साधारण पाठक के लिए सुलभ नही है।

सब बातो को ध्यान में रखते हुए हमने यही उचित समझा कि 'पञ्चदशी' पर ब्रह्मनिष्ठ श्री पीताम्बर जी कृत तत्वप्रकाशिका व्याख्या का, नये रूप में भाषा-सस्कार कर, सुव्यवस्थित, आकर्षक, परन्तु सुलभ, सस्करण प्रकाशित किया जाय। वर्तमान प्रकाशन का यही उद्देश्य है। अनेक महानुभावो और विद्वानो

के सहयोग के आधार पर हमने इस प्रकाशन को हाथ में लिया। परम-प्रभु की कृपा से, वह प्रयत्न आज सम्पूर्ण हुआ। इसमे हमें कितनी सफलता मिली है यह तो पाठक ही बतायेंगे।

इस प्रकाशन को हाथ मे लेते ही, सबसे पहली समस्या तो पीताम्बरी भाष्य के उपलब्ध करने की थी। पर्याप्त समय पूर्व पहले जो सुन्दर सस्करण प्रकाशित हुआ था वह अब प्रकाशन-बाह्य होने से, बाजार मे तो उपलब्ध था ही नही। किन्ही किन्हीं महानुभावो के पास था भी तो वे देखने के लिये देने मे भी सकुचाते थे। सरदार हरिसिह जी (पटेल नगर) ने हमे इस सम्बन्ध मे सहायता देने का वचन दे कर उत्साहित किया, परन्तु उस समय हम इससे लाभ न उठा सके। श्रीस्वामी शास्त्रानन्द जी के हम अत्यन्त अनुग्रहीत हैं कि उन्होने अपनी अमूल्य प्रति सहर्ष प्रदान की। उनके सामयिक त्याग की नीव पर ही हम अपनी कल्पना को कुछ रूप दे पाये है।

प्रकाशन के सम्बन्ध में श्री जगद्गुरु जी ने न केवल परामर्श ही दिया अपितु इस सुन्दर एव उपयोगी सम्पादन एव प्रकाशन की सफलता के लिए हमें आशीर्वाद भी दिया है। इसमे हमारा उत्साह दुगुना चौगुना हो गया। आशीर्वाद के साथ-साथ उन्होने भूमिका के रूप में जो शब्द 'वेदान्त-शास्त्र और पञ्चदशी' शीर्षक से दिये हैं–वह तो गागर मे सागर भरने का ही काम है। पाठको के लिए यह एक अनुपम भेंट है। समग्र वेदान्त शास्त्र का निचोड बहुत ही सरल एव सक्षिप्त भाषा मे आगया है। इस महती कृपा

के लिए हम अपने सब पाठको की ओर से, श्री जगद्गुरु महाराज के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हैं।

लोक-सभा के उपाध्यक्ष, संस्कृत-शास्त्रो के मर्मज्ञ पडित एव संस्कृत के पुनरुद्धार के लिए अहर्निश प्रयतमान श्री अनन्तशयनम् आयंगर महोदय ने अपना अमूल्य समय देकर, इस प्रकाशन को देखा और अपनी सम्मति, आशीर्वाद एव शुभाकाक्षा के रूप में 'परिचय' लिखते हुए अपने जो विचार प्रकट किये हैं वे यथा स्थान प्रकाशित हैं। इस कृपा दृष्टि के लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

भाषा सस्कार एव सपादन का भार गुरुकुल विश्वविद्याय के स्नातक, अनुभवी सपादक, 'सामवेद भाष्य' आदि अनेक ग्रन्थो के रचयिता श्री हरिश्चन्द्र जी विद्यालङ्कार को सौप कर हम निश्चिन्त हो गये। मुद्रण भी उन्ही की देख रेख मे उनके ही प्रेस मे हुआ। हमारे सौभाग्य से श्री १००८ जगद्गुरु जी इन दिनो देहली मे ही विराजमान थे। अनुवाद एव सपादन के समय कभी-कभी उन से भी परामर्श लेने का सुअवसर मिलता रहा। उन्होने इस पर जो भी सम्मति प्रकट की है वह भूमिका के रूप मे प्रकाशित है-

श्री विपिनचन्द्र जी मिश्र (एडवोकेट सुप्रीमकोर्ट, दिल्ली) श्री नन्दकुमार अवस्थी, श्री गोपेश कुमार ओझा M A L L B, श्री रामलाल जी आदि महानुभावो के सहयोग से हम यह अवसर प्राप्त कर सके। एतदर्थ उनके आभारी हैं। श्री रामेश्वराचार्य शास्त्री ने भी हमें अनेक प्रकार से सहायता दी है।

इनके अतिरिक्त अन्य सभी सहयोगियो के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए हम आशा प्रकट करते है कि पाठको के हाथ इस का समुचित आदर होगा। फिर भी यह हमारा प्रथम प्रयास है। अनेक त्रुटिया रह जाना सभव है। यदि पाठको ने भी हमारा उत्साह बढाया तो हम विश्वास दिलाते हैं कि आगामी सस्करण में त्रुटियो का सशोधन भी अवश्य होगा।

विनीत

प्रकाशक

द्वितीय संस्करण के विषय मे

'पञ्चदशी' का प्रथम सस्करण पाठको के सहयोग से बहुत शीघ्र ही समाप्त हो गया था। द्वितीय सस्करण की देर से प्रतीक्षा थी। अनेक कठिनाइयो के कारण हम इसे शीघ्र प्रकाशित न कर सके जिसका हमे खेद है।

इस सस्करण मे हमने पाठकों की मांग के अनुसार अन्वय प्राय प्रत्येक श्लोक का दिया है और भाषा सम्बन्धी सस्कार को अधिक परिमार्जित किया है। टाईप भी कुछ बडा किया है। इसके अतिरिक्त भी कुछ विशेष वृद्धि की हमारी इच्छा यद्यपि पूर्ण नही हो सकी तथापि यत्न यह किया गया है कि यह पाठको को अधिक लाभ पहुँचा सके आशा है पाठक हमे पूर्ववत् सहयोग देंगे, जिस मे शीघ्र ही नया सस्करण प्रकाशित करने का हमारा साहस बढ़े।

स्वतन्त्रता दिवस

२६ जनवरी १६६०

विनीत

प्रकाशक

परिचय

मैंने 'पञ्चदशी' की श्री पीताम्बर पण्डित की पुरानी हिन्दी मे की गई टीका का, यह आधुनिक भाषान्तर पढा है। 'पञ्चदशी' वेदान्त दर्शन का अनूठा ग्रन्थ है। इसमे पन्द्रह प्रकरण है। यदि इसमे से किसी एक प्रकरण का भी गुरु द्वारा श्रवण कर मनन और निदिध्यासन कर लिया जाय तो मुक्त होने में आशङ्का न रहेगी।

'पञ्चदशी' के रचयिता विजयनगरा राज्य के सस्थापक श्री विद्यारण्य मुनि है। आदि जगद्गुरु श्री शकराचार्य के पश्चात्, वेदान्तविज्ञान के आप ही आचार्य माने जाते है। प्रसिद्ध वेद-भाष्यकार श्री सायणाचार्य आपके ही भाई थे।

वेदान्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पञ्चदशी' पर अनेक टीकाए हुई हैं। इसमे श्री पीताम्बर को तत्वप्रकाशिका व्याख्या का पाठकों ने बहुत आदर किया है। वह व्याख्या अब तक बहुत पुरानी हिन्दी मे थी, पीताम्बरी व्याख्या का यह अभिनव सस्करण एव प्रकाशन पाठको के लिए अति सुगम एव स्पष्ट हो गया है। इसमे यथास्थान टिप्पणिया भी दी गई हैं। सर्व साधारण के लिए उपयोगी इस सस्करण के लिए भाषा सस्कारक एव प्रकाशक दोनो वधाई के पात्र हैं।

इसके प्रकाशन में जो प्रयत्न किया गया है वह प्रशंसनीय है। मुझे विश्वास है कि सर्वसाधारण को इससे बहुत लाभ पहुँचेगा। अतएव मेरा सर्व साधारण से अनुरोध है कि वे इस प्रकाशन से लाभ उठावें।

९ अशोक मार्ग,
नई दिल्ली
१-१०-१९५५

एम० अनन्तशयनम् आयंगर
उपाध्यक्ष, (अध्यक्ष) लोकसभा

* ॐ *

वेदान्त-शास्त्र और पंचदशी

लेखक :- श्री १००८ जगद्गुरु शंकराचार्य, श्रीकृष्ण बोधाश्रमजी महाराज ज्योतिष्पीठाधीश्वर, बदरिकाश्रम

★

मानव शरीर, यावत् शरीरो की अपेक्षा, उत्कृष्ट माना है। क्योकि नर, इसी देह द्वारा, नारायणरूप धारण कर सकता है। इसी देह मे प्राणी, अनेक जन्मो के कर्म-विपाक से नाना योनियो मे भ्रमण करता हुआ, जन्म-जरा-व्याधि और मरण की असह्य वेदनाओ को सहन करता हुआ, भव-सिन्धु की तीव्रतर लहरो से मूर्छित हो जाता है और प्रभु के अतिरिक्त अन्य आश्रयो से विश्राम-स्थान को न प्राप्त कर, यथाकथञ्चित्, प्रभु की कृपा का पात्र बन पाता है।

जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति की पूर्त्यर्थ नाना उपाय :

शरीर से कर्म होना स्वाभाविक है। कर्म दो प्रकार के होते है, शास्त्र-विहित और शास्त्र-निषिद्ध। शास्त्रविहित कर्मों से पुण्योत्पत्ति और शास्त्र निषिद्ध कर्मो के अनुष्ठान से पापोत्पत्ति होती है। पुण्य से सुख-प्राप्ति और पाप से दु ख प्राप्ति भी अनिवार्य है। प्रत्येक जीव की प्रवृत्ति, शुभ की ओर, स्वभावत होती है, अर्थात् जीव सदैव आत्यन्तिक-दु ख-निवृत्ति-पूर्वक ऐकान्तिक सुख का अन्वेषण करता रहता है। जब तक, आत्यन्तिक-दु ख-निवृत्ति-

पूर्वक ऐकान्तिक सुख का लाभ नही होता तब तक, वह शान्त नही बैठ सकता। इसी दुःख निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिये कारुणिक महापुरुषो ने विविधशास्त्रो द्वारा अनेक उपायो का प्रदर्शन किया है।

आत्मा की स्वतः-सिद्धि

सभी प्राणियो को, "अहमस्मि-मै-हूँ" ऐसी प्रतीति निर्वाध रीति से होती है 'अहमस्मि न वा-मैं हूँ या नही हूँ।' "नाहमस्मि-मैं नही हूँ।" ऐसी असम्भावना और विपरीत भावना कभी किसी को अपने स्वरूप मे नही हुई। अत. स्वत सिद्ध आत्मा नाम की कोई वस्तु अवश्य है जिस की सत्ता और स्फूर्ति का भान स्वतः होता है।

अन्नमयकोशादि वाच्य शरीरादि 'आत्मा' नही हैं।

किन्ही दर्शनकारो ने शरीर को ही आत्मा मान लिया। शरीर की सत्ता मे "अहमस्मि, अहङ्करोमि-मैं हूँ, मै करता हूँ" आदि व्यवहार सर्वानुभवसिद्ध है। इसी शरीरात्मवाद को दूसरे शब्दो में अन्नमय कोश कहा गया है। उपनिषद् मे भी 'भृगुर्वै वारुणि', वरुणं पितरमुपससाह, अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मै एतत् प्रोवाच अन्नमिति' भृगु जी ने अपने पिता वरुण से कहा "भगवान्! ब्रह्म का उपदेश कीजिये।" वरुण ने उत्तर दिया-'अन्न ब्रह्म है।' पुन भृगुजी ने जिज्ञासा की "कैसे?' वरुण ने उत्तर दिया–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति' अर्थात् जिससे सम्पूर्ण भूतो की उत्पत्ति हो, जिसमे उत्पन्न हुए जीवित रहे, जिसमे चेष्टा करे, अन्तमे जिसमें लय हो

वही ब्रह्म है। "अन्नाद्ध्येव ह्रि खल्विमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि। अर्थात् अन्नसे प्राणीमात्रके उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं, अतएव अन्न ही ब्रह्म है। इस प्रकार वरुण के उपदेशामृत को पान कर अभ्यास करने पर भी वारुणि को सन्तोष नही हुआ। सन्तोष होता भी कैसे ? अन्नमय शरीर घट की भाँति जन्य है, जन्य होने से विनाशी ("यत् यज्जन्य तत् तत्-नित्यम्". यह सिद्धान्त है ।) विनाशी होने से आत्मशब्द के अन्वर्थ, सततप्राप्तिरूप अर्थ, का अभाव हो जायगा।

अपि च अन्नमयकोश को आत्मा मानने पर, अकृताभ्यागम और कृत विप्रणाश, दो दोषो की प्राप्ति भी हो जायगी । क्योकि अन्नमयकोष (शरीर) उत्पत्ति के पूर्व भी असत् था और मृत्यु के पश्चात् भी। ऐसी परिस्थिति मे शरीर-धारण का हेतु क्या वनेगा ? निर्हेतुकत्वात्, अकृताभ्यागम प्रसङ्ग हुआ। पुनश्च, शरीर द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मो का भोक्ता कौन होगा ? क्योकि देहात्मवादी के सिद्धान्त मे मृत्यु के पश्चात् आत्मा रहता ही नही। अतएव शरीर आत्मा किसी भी प्रकार नही हो सकता।

इसी प्रकार प्राण के चैतन्य-रहित होने से, मन के विकारी काम-क्रोधादि वृत्तियो द्वारा अनियत स्वभाव होने के कारण और विज्ञानशब्दवाच्य, चिच्छायोपेत वुद्धि के सुषुप्ति मे लय हो जाने से, वे, भी आत्मापदवाच्य नही हो सकते। अतः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, कोश आत्मा नही हो सकते।

आनन्दमय कोश भी आत्मा नहीं

पुन वारुणि ने कहा 'भगवन् ! ब्रह्म का उपदेश कीजिये'

तव वरुण ने "आनन्द ब्रह्म विजिज्ञासस्व" आनन्द को ब्रह्म वताया क्योकि आनन्द से ससार की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है। परन्तु आनन्दमयकोश, वुद्धिवृत्ति होने से स्थायी नही है। पुण्योदय होने पर वुद्धि की वृत्तियो मे सुखाभास होता है और पुण्यक्षीण होने पर वही वुद्धि की वृत्ति दु खरूप मे परिवर्तित हो जाती है। अतएव कदाचित्क होने से आनन्दमयकोश भी आत्मा नही हो सकता।

आत्मा का स्वरूप :

तव आत्मा क्या है ? "ब्रह्मविद् आप्नोति पर" "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" 'ब्रह्मवेत्ता परपद को प्राप्त होता है' 'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है' इत्यादि उपनिषद्-वाक्यो में पर पद और ब्रह्मपद से कौन वाच्य है ? यह प्रश्न पुनरपि तद्वत् ही आकांक्षित रहा।

इस पर वृहदारण्यक उपनिपद् मे लिखा है—"एब ते आत्मा सर्वान्तर, सर्वान्तर्यामी, अमृत अदृष्टो द्रष्टा, श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता, नान्यो अन्योऽस्ति द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता" इत्यादि अर्थात् आत्मा सर्वान्तर्यामी है, जो स्वय अदृष्ट होता हुआ भी सव का द्रष्टा, अश्रुत होता हुआ भी सव कुछ सुनने वाला, स्वय अमत होता हुआ भी सवका मन्ता है। वह घट की भाँति विज्ञात न होता हुआ भी सवका ज्ञाता है। यह आत्मा 'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु' है। वह दु.ख, शोक, मोह, जन्म और मरण मे रहित है। एषोऽक्लोऽमृतो भवति, सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म स्थूल-सूक्ष्म-कारण जगत् और जाग्रत्, स्वप्न, सुपुप्ति—इन तीनों अवस्थाओ मे एकरूप से अनुगत रहने के कारण आत्मतत्व मे सत्यता सिद्ध होती है। घटपटादि ज्ञेय वस्तुओ के नाना होने

पर भी ज्ञान मे अखण्डता सर्वानुभवसिद्ध है। आत्मतत्व में व्यापक होने से देशकृत, नित्य होने से कालकृत और सर्वात्म होने से वस्तुकृत भेद भी नही है। अतएव आत्मा मे सत्य, ज्ञान और आनन्त्य स्वत सिद्ध है।

दुःख की प्राप्ति कहाँ से हुई ?

अब प्रश्न यह है कि जब ब्रह्म का स्वरूप लक्षण "सत्य ज्ञान-मनन्ता ब्रह्म" है और ससार ब्रह्म से भिन्न नही, तब ससार मे असत् जड और दु ख की प्राप्ति कहा से हुई ? क्यो कि "इद-मह न जानामि, अह दु खो" मै यह नही जानता, मै दु खी हुँ इत्यादि व्यवहार प्रत्येक प्राणी मे सत्यवत् प्रतीत होता है। इस पर भगवान् भाष्यकार लिखते हैं —

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिद प्रसूयते ॥

अर्थात् परब्रह्म परमात्मा की अव्यक्त नाम वाली, अनादि, रज-तम और सत्वगुणात्मिका अविद्या शक्ति है, यही सच्चिदानन्द घन अखण्ड, एकरस परब्रह्म मे जीव भाव की कल्पना करती है। सम्पूर्ण प्रपञ्च का यह सृजन अविद्या द्वारा ही होता है।

अविद्या, अज्ञान, आवरण और विक्षेप का स्वरूप :

अविद्या स्वरूपसे न अनादि है और न आदि। यदि अविद्या को अनादि माना जाय तो ब्रह्म की भाँति नित्य होने से निवृत्त नही हो सकती। यदि आदि कहे तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अविद्या का आरम्भ कब से हुआ ? अतएव अविद्या को अनादि-आदि दोनो रूपो से भिन्न, अनिर्वचनीय स्वरूप तथा प्रवाह से अनादि मानना पडेगा।

इसी अविद्या का अपर पर्याय, अज्ञान भी, न भावरूप है, न अभाव रूप। अज्ञान के ज्ञान से निवृत्य होने के कारण उसकी भावरूपता और व्यवहार मे उसकी प्रतीति होने के कारण अभाव-रूपता सिद्ध नही हो सकती अर्थात् भावाभाव उभयात्मक न होने से अज्ञान भी अनिर्वचनीय है।

इसी अज्ञान को, आवरण और विक्षेप रूपा दो शक्तियाँ हैं। आवरण वस्तु के स्वरूप को छिपा देता है और विक्षेप उस वस्तु के विपरीत ज्ञान करा देता है। गीता मे भगवान् ने कहा है :—'अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव' अर्थात् अज्ञान से ज्ञान आवृत हो रहा है; इसी कारण जीव मोह (अविवेक) में पडे हुये हैं। भगवान् व्यासभी कहते हैं कि 'एक' शत्रुर्न द्वितीय-शत्रुरज्ञानतुल्य. पुरुषस्य राजन्। येनाऽवृत. कुरुते सम्प्रमत्तो घोराणि कर्माणि सुदुस्तराणि'। अर्थात् मनुष्य का केवल एक ही शत्रु है जिसका नाम अज्ञान है, जिसके चक्कर में पडकर मनुष्य प्रमत्त हुआ घोर और सुदुस्तर कर्म करने में प्रवृत्त होता है। इसी अज्ञान की महिमा से रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत, अत्यन्त विविक्त आत्मामें अनात्म भान उत्पन्न होता है। इसी भान का नाम अध्यास है। अत्यन्त विविक्त पदार्थों तथा उनके अत्यन्त विरुद्ध धर्मों का एक दूसरे मे आरोप करना ही अध्यास है। जैसे तम और तेज विरुद्धस्वभाव होने से परस्पर मिल नही सकते। इसी प्रकार विज्ञानघन चिदात्मा, अन्त करण आदि अनात्म पदार्थों मे मिश्रित नही हो सकता। अध्यास का स्वराज्य तब तक बना रहता है जब तक अधिष्ठान का साक्षात्कार नही होता।

अध्यास और माया का प्रभाव

साक्षात्कृते त्वधिष्ठाने समनन्तरनिश्चिति ।
अध्यस्यमानो नास्तीति बाध इत्युच्यते बुधै. ।।

अर्थात्, अधिष्ठान का साक्षात्कार होने पर अध्यस्यमान वस्तु का नाश हो जाता है ।

माया का अधिष्ठान भी परब्रह्म है । वह अन्ततोगत्वा ब्रह्म को विषय करती है । अतएव दर्शनकारो ने माया को स्वतन्त्र और परतन्त्र दोनो ही रूप दिये है । असङ्ग, चित्, विभु आत्मामें अन्यथात्व का सम्पादन करती है इसलिए स्वतन्त्र और स्वसिद्धि मे स्वय असमर्थ होती हुई स्वप्रकाश परब्रह्म की अपेक्षा रखती है अतएव अस्वतत्र है । कुछ भी हो, मायाकी प्रबलता किसी से भी छिपी नही ।

जितना भी प्रपञ्चजाल है, वह, सव मायविजृम्भित है। अतएव मायिक और कल्पित है ।

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वत. ।
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्या सर्वं प्रकल्पितम् । (पञ्चदशी)

माया पर ब्रह्म का आभास लेकर जीव और ईश्वर की कल्पना करती है । जीव और ईश्वर दोनो ही कल्पित हैं और उन्हीसे सम्पूर्ण जगत् की कल्पना हुई । "दुर्घटैकविधायिन्या मायायाम्, (पञ्चदशी) माया अघटित-घटना-पटीयसी है । जो अनादि, निधन, सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, सच्चिदानंदघन मे जीवेश्वर की कल्पना कर अनेक अनर्थो का आपादन कर सकती है उस माया-शक्ति की क्या कल्पना की जा सकती है !

जीवेश्वर का स्वरूप

शास्त्रकारो ने जीवेश्वरके विषयमे अभास-वाद, प्रतिबिम्ब-

वाद अवच्छेदकत्व–वाद आदि कितने ही पक्षो का समाश्रयण किया है। बुद्धिवृत्ति चैतन्यको प्राय सभी ने किसी न किसी युक्ति से कर्ता, भोक्ता, सुखी-दु खी आदि आभ्यतर एव वाह्य विषयों का अनुभविता माना है। इसी को "द्वासुपर्णा सहजा सखाया समान वृक्ष परिषष्वजाते । तयोरन्य. पिप्पल स्वाद्वत्ति। अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति। इस मंत्र में स्पष्ट किया गया है। ससार रूपी वृक्ष पर जीव और ईश्वर नामक दो पक्षियो ने आश्रय लिया है। इनमे अन्यतर (जीव) अपने किये कर्मो का फल भोगता है और दूसरा (ईश्वर) तटस्थ रहकर केवल देखता है।

वेदान्त-शास्त्र का प्रयोजन : ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं

इसी दु ख को वास्तविक निवृत्ति के लिये तथा अद्वयानन्द स्व-स्वरूप के निर्णय के लिये वेदान्त शास्त्र को आरम्भ किया गया है। यो तो कर्मठ और उपासक दु ख की निवृत्ति के लिये नाना भाँति के अनुष्ठानो, काम्य कर्मो तथा उपासनाओ का विधान करते हैं। परन्तु वे सभी उपाय अद्वयानद आत्मा के स्वरूप के परिचायक नही हो सकते। क्योकि -

बोधोऽन्यसाधनेभ्य. साक्षान्मुक्त्यैकसाधनम् ।
पाकस्यवह्निवत् ज्ञान विना मोक्ष न सिद्ध्यति ॥

जिस प्रकार पाक के लिये काष्ठ और स्थाली आदि साधनो की अपेक्षा होते हुये भी मुख्य साधन वह्नि है, ठीक उसी प्रकार आत्म स्वरूप (मोक्ष) के लिये कर्म-उपासना की अत करण शुद्धि और चित्तैकाग्रता के लिये आवश्यकता होते हुये भी, एक ही कारण बोधमात्र मानना होगा। अतएव 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्, ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' इत्यादि, ज्ञान से ही कैवल्यपद की प्राप्ति होती है, 'विना ज्ञान के मुक्ति नहीं'—आदि उक्तियाँ हैं।

कर्म और उपासना से लाभ : पर अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से ही सम्भव

यद्यपि 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय', कुरु कर्मैव पूर्वे पूर्वतरम् कृतम्, आदि गीताके वचनो के अनुसार, जनकादि ने सब सिद्धिया कर्म द्वारा ही प्राप्त की थी, अत. तुम भी पूर्वजो की भाँति कर्म मे लगे रहो, इत्यादि वाक्यो से, कर्मानुष्ठान का ही उपदेश मिलता है। जनक जीवन्मुक्त थे। विना कर्म के स्थिति भी नही हो सकती। यदि किसी विशेष परिस्थितिवश कर्म का परित्याग भी कर दिया जाय तब भी शारीरिक कर्म तो अवश्य ही करने होगे। अतएव कर्म और उपासना ही मुक्ति के साधन हैं।

परन्तु कर्म और उपासना अविद्या के अवरुद्ध होने से अविद्या की निवृत्ति नही कर सकते अपितु अविद्या की वृद्धि ही करते है। कर्म और उपासना से सातिशय फल की प्राप्ति होती है। 'अमुक कर्ता ने अमुक साधन द्वारा अमुक फल प्राप्त किया। अत मैं भी उसी साधन द्वारा वैसा ही फल प्राप्त करूँ।' अथवा समान कर्म से विभिन्न कर्ताओं को असमान फल की प्राप्ति होने से कर्म मात्र को अविद्याविजृम्भित कहा गया है। इसलिए उपनिषद् ग्रन्थो मे कर्म और उपासना को अविद्या कहा गया है। किम्, केन, कथम् आदि विधि प्रयोजक होने से कर्म और उपासना अविद्या ही ठहराये गये है। (अप्रकाश का प्रकाश विरोधी होने से प्रकाश ही अप्रकाश का निवर्तक होगा इसी प्रकार अज्ञान का विरोधी ज्ञान होने से, अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान द्वारा ही होती है।)

ज्ञान की शान्ति और अद्वयानन्द धारा का प्रवाह :

इस पर आशङ्का हो सकती है कि ज्ञान, बुद्धि की एक

वृत्ति का नाम है। यदि उस बुद्धिवृत्ति ने अज्ञान की निवृत्ति कर भी दी तो क्या इससे 'मुक्तिकी सिद्धि हो गई ?' इसका उत्तर यह है कि ज्ञान, अज्ञान की निवृत्ति कर देता है तव बुद्धि मे किसी भी वाह्य विषयजन्य सस्कार की आकृति नही होती। केवल ज्ञानमात्र ही शेष रह जाता है। वह भी, जिस प्रकार आविल जल मे निर्मली का सम्वन्ध कर दिया जाता है और जल-गत रेणु तुरत वैठ जाती है ठीक उसी प्रकार अज्ञानकी निवृत्तिकर बुद्धिवृत्ति ज्ञान भी शान्त हो जाता है और अद्वयानन्द की धारा निरन्तर चलती रहती है। परन्तु कर्मोपासना से रहित शुद्ध ज्ञान व्यर्थ है।

वेदान्त का वास्तविक स्वरूप :

आज कल ज्ञान की वाढ़ आई हुई है। प्रत्येक नर-नारी कर्मोपासना का परित्याग कर शुष्क ज्ञान मे प्रवृत्त हो रहा है। परन्तु शास्त्र के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध होने से कर्म और उपासना से रहित ज्ञान परिपक्व अवस्था पर नही पहुँच सकता। वेदान्त-शास्त्र का अधिकारी कौन है ? यह भी वेदान्तशास्त्र स्वय ही स्पष्ट कर देता है। उपनिषद् मे लिखा है कि शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षु· समाहितो भूत्वा आत्मन्यात्मान पश्यति, शान्तो मलिनवासनारहित·, दान्तो जितवहिरिन्द्रिय· उपरत· सन्यासी, तितिक्षुर्ग्रीष्मोष्णक्षुधर्मादिसहनशील गुरुमभिगच्छेत् श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्' अर्थात् शान्त, दान्त, उपरत और तितिक्षु, आत्मज्ञान के लिए ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु की सेवा मे पहुँचे। मलिन वासना का परित्यागकर, कामक्रोधादि अन्त करण को मलिन वासनाओ तथा स्रक्, चन्दन, वनिता आदि वहिरिन्द्रियसतर्पण करने वाले पदार्थों का परित्याग करता हुआ सन्यासी आत्मशास्त्र का अधिकारी माना गया है।

ब्रह्मज्ञान का अधिकारी कौन ? :

अतएव जप, तप, दान, यज्ञादि कर्मों से शुद्धान्त करण, इष्टदेव को उपासना से चित्त की एकाग्रता प्राप्तकर साधनचतुष्टय-सम्पन्न जिज्ञासु ही ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी है। साधन चतुष्टय "नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, शमदमादिषट्-सपत्ति तथा मुमुक्षत्व है" अर्थात् जगत्, जीव और इनके कर्तव्यो का नित्य विचार कर निश्चय करना चाहिए कि यह वस्तु नित्य है और यह विनाशी, नित्य मे प्रवृत्ति और अनित्य से निवृत्ति करनी चाहिए। स्वामी विद्यारण्यजी ने लिखा है कि 'तस्माद्विचा-रयेन्नित्य जगज्जीवपरात्मन., जीवभाव-जगद्भाव-बाधे स्वात्मैव शिष्यते' अर्थात् जीवजगद्भाव का बोध होने पर स्वात्मा ही शेष रह जाता है। इस लोक के फल पुत्र, कलत्र और धन तथा परलोक स्वर्ग से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त फलो (सुखो) को क्षयी और सातिशय समझकर उनसे वैराग्य करना। शम, दम आदि षट्सम्पत्तिशाली और मुक्त होने की इच्छा वाला ही वेदान्त शास्त्र का अधिकारी है।

अधिकारी शिष्य का गुरु से उपदेश लेना आवश्यक :

इन गुणो से युक्त अधिकारी गुरु के पास आत्मज्ञान की जिज्ञासा से जाय। उपनिषद् मे लिखा है कि 'दृष्ट्वा कर्मचिता-ल्लोकान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्। नास्ति-अकृत. कृतेन' अर्थात् कर्म द्वारा प्राप्त होने वाले फलो को क्षयातिशययुक्त समझ कर ब्राह्मण दु खी हो गुरु के पास जाय। क्योकि सिद्ध वस्तु की उपलब्धि कभी भी कृत कर्मों से नही होती।

गुरूपदेश से आत्मभाव का बोध, स्वरूपावस्थिति और मोक्ष

इस प्रकार निर्वेद प्राप्त जिज्ञासु को गुरु उपदेश देता है

'आत्मा वा इदमेव एवाग्र आसीत् । नान्यत् किञ्चिन्मिषत् । स ईक्षत । लोकान्नु सृजा इति । अर्थात् सर्व प्रथम एक ही आत्मतत्व था । उसने देखा—"मैं लोकों का सृजन करूं । यहाँ से आरम्भ कर प्रकृति, महत्तत्व अहमृतत्व, पञ्च मात्रा, पञ्च महाभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त आदि का सृजन कर 'तत् सृष्ट्वा तदनुप्राविशत्, के अनुसार सृष्टि का सृजन कर स्वय ही प्रविष्ट हो गया । इस प्रकार सृष्टि का उपक्रम कर 'स एतमेव पुरुष ततमपश्यत्' अर्थात् यह जितना भी विस्तार है उसी परब्रह्म परमात्मा का है । यह उपदेश कर 'प्रज्ञान ब्रह्म, तत्वमसि' आदि महावाक्यो का उपदेश करता है ।

जिस प्रकार स्वप्नावस्था मे पड़ा हुआ विविध प्रलाप कर अनर्थ मे पड़ जाता है और उस समय किसी समीपस्थ कारुणिक पुरुष के द्वारा प्रबुद्ध कराने पर स्वप्न एव तज्जन्य अनर्थो की तत्क्षण निवृत्ति हो जाती है । ठीक इसी प्रकार गुरूपदिष्ट महावाक्य के श्रवण मात्र से अनात्म पदार्थों की निवृत्ति हो जाती है । ससारवासना का क्षय, स्वप्नद्रष्टा के भय कम्पादि की भाँति, शनै शनै होता है । ठीक उसी प्रकार महावाक्य के श्रवणमात्र से परोक्षानुभूति होकर, अनात्म पदार्थों मे आत्मभाव का बोध हो, स्वरूपावस्थिति हो जाती है । परन्तु-जन्य ससार की निवृत्ति तो शनै. शनैः प्रारब्ध कर्म के क्षय के अनन्तर ही होती है । बस,

'नाह देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गम्, नाहङ्कार प्राणवर्गो न बुद्धि ।
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिहीनः साक्षी नित्य प्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ।।

अर्थात्, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, प्राणवर्ग, स्त्री, पुत्र, क्षेत्र और वित्त से रहित साक्षी, नित्य, प्रत्यक्-

तत्व, शिव मेरा स्वरूप है। इस प्रकार असम्भावना और विप-रीत भावना को दूर कर एकात्म्य भाव का ही नाम मोक्ष है।

मोक्ष का स्वरूपः—

मुक्ति स्वर्गादि लोककी भाति यज्ञादिजन्य नही है। ऐसा होने से मुक्ति मे अनित्य दोष आ जायगा। अनात्म पदार्थों से अन्वय-व्यतिरेक द्वारा व्यावृत्ति करते करते जो शेष रह जाय वही अपना स्वरूप है और स्वरूपावस्थिति ही मुक्ति है। अतएव 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न वन्धो न च साधक। न मुमुक्षु र्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता' यह दर्शनकारो का तत्त्व-कथन है।

"जितना भी विकारजात है, वह बुद्धि का ही परिणाम है 'आत्मा मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व वास्तविक नही है।' ऐसा निश्चय होने पर भी जो, शास्त्र वासना-वासित हो पर ब्रह्म मे अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व मानते हुए भी, प्रत्यक्तत्त्व मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व मानते हैं, वे अनर्थ से कभी भी निवृत्त नही हो सकते।

जीवन्मुक्तिः—

मुक्ति दो प्रकार की है (१) जीवन्मुक्ति और (२) विदेह-मुक्ति। जीवन्मुक्त प्राणी की बुद्धि, तत्व मे निष्ठा प्राप्त कर लेती है। ससार के कर्तृत्वादि अखिल प्रतिवन्धो की निवृत्ति हो जाती है। गीता मे ऐसी स्थिति वाले को स्थितप्रज्ञ कहा गया है। भग-वान् भाष्यकार भी बतलाते है कि :—

यस्य स्थिता भवेत् प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तर।
प्रपञ्चो विस्मृतप्राय स जीवन्मुक्त इष्यते॥

अर्थात् जिसकी बुद्धि स्थिर हो, जो निरन्तर आनन्द का अनुभव करे तथा प्रपञ्च विस्मृतप्राय हो जाय वह जीवन्मुक्त कहा गया है। जीवन्मुक्त आनन्द की पराकाष्ठा का अनुभव करता

है। वह शरीर रहने हुये ही मुक्त है। जरा, मरण शरीरके धर्म, क्षुत्-पिपासा प्राण के धर्म और शोक, मोह सभी से उसे छुटकारा मिल जाता है।

विदेहमुक्तिः—

विदेह मुक्ति शरीर के समाप्त होने पर प्राप्त होती है। क्योंकि ज्ञानी के सञ्चित और क्रियमाण कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाते हैं केवल प्रारब्ध कर्मके भोगके निमित्त शरीर बना रहता है। प्रारब्ध-कर्मक्षय होने पर मुक्त हो जाता है। अतएव श्रुति में कहा गया है कि "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सपत्स्ये।" ज्ञानी को मुक्ति में तभी तक विलम्ब है जब तक शरीर समाप्त नही होता। ज्ञान होने पर प्राणी कृत कृत्यता का अनुभव करता है। लौकिक व्यवहारपरायण पुरुषो को देख विस्मय करता है। लोक और शास्त्र-व्यवहार का उस पर कोई प्रभाव नही होता। बुद्धि आदि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य भले ही करती रहे, ज्ञानी की कोई क्षति नही। अन्तर्मुख हो सब व्यवहारो से शून्य हो जाय तब उसका कोई लाभ भी नही।

ज्ञानी और व्यवहारः—

फिर भी वास्तविक ज्ञानी शास्त्रीय सिद्धात से ही व्यवहार करता है। यथेष्टाचरण ज्ञानी के लिये सर्वथा निषिद्ध है।

> बुद्धाद्वैतस्वतत्वस्य यथेष्टाचरणं यदि,
>
> शुना तत्वदृशाञ्चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे।

अर्थात् तत्वज्ञान करने के पश्चात् भी यदि बाह्य-इन्द्रिय-जन्य आनन्द से अपने को तृप्त करने की प्रवृत्ति करे तो ऐसे ज्ञानी और अशुचिभक्षक कुत्ते मे कोई भेद नही होता। अतएव

आत्मतत्ववेत्ता की सम्पूर्ण क्रियायें शास्त्रीय मार्ग से ही प्रवृत्त होती हैं। इसीलिए कहा है :—

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकाऽनुग्रहकाम्यया।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं मम का क्षति ?

अर्थात् लोक-कल्याणार्थ शास्त्रीय मार्ग से व्यवहार करने पर भी ज्ञानी की क्षति नही होती। इससे एक लाभ यह है कि अन्य व्यक्तियो को कर्म और उपासना मे प्रवृत्त होने की आदत पड जाती है। इस प्रकार वेदांत-शास्त्र अद्वितीय तत्व मे अपना प्रामाण्यबोध कराते हैं।

वर्तमान प्रकाशन पर हमारा आशीर्वाद

पञ्चदशी का महत्व—

इसी वेदान्त-शास्त्र का अन्यतम ग्रथ पञ्चदशी है। इसके निर्माता स्वामी विद्यारण्य मुनिवर्य हैं। आपका जैसा नाम है वैसा वैदुष्य गुण भी आप में है। आपने वेदान्त व्याकरण आदि के कई अनुभव ग्रन्थो का निर्माण किया है। श्री विद्यारण्य मुनि अत्यन्त त्यागी, बुद्धिमान्, व्यवहारदक्ष और महाविभूतियुक्त थे।

विद्यारण्य मुनिवर्यद्वारा रचित वेदान्त के ग्रन्थो में अन्यतम ग्रन्थ पञ्चदशी है। इस ग्रन्थ में एक ही तत्व को १५ प्रकरणों मे भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाया गया है। यदि एक प्रकरण का भी, गुरु द्वारा श्रवण कर मनन, निदिध्यासन कर लिया जाय तो मुक्त होने मे कोई आशङ्का न रहेगी। जिन लोगो ने अपने जीवन मे पञ्चदशी ग्रन्थ का आस्वादन किया है वे इसके गौरव से भली-भाँति परिचित है। इस ग्रन्थ की प्रशसा जितनी भी की जाय वह स्वल्पातिस्वल्प है।

पीताम्बरी टीका की विशेषता:—

पञ्चदशी ग्रन्थ पर अनेक विद्वानो ने विचार किया है। इनमे आत्मतत्ववेत्ता तुरीयाश्रम सेवी भी हैं। सभी विद्वानो ने अनुभव द्वारा ग्रन्थ के मार्मिक तत्वो का उल्लेख किया है। सस्कृत तथा हिन्दी मे कई टीकायें प्रकाशित हुई है। हिन्दी की प्रस्तुत टीका के मूललेखक स्वनाम धन्य श्री पीताम्बर जी है। उन्ही की टीका का स्थानीय विद्वान् श्री हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार ने आधुनिक प्रचलित भाषा मे सशोधन किया है। यह प्रस्तुत सशोधन एव सपादन अत्यन्त सरल और उपादेय है। ग्रन्थ के देखने से आशा की जाती है कि सस्कृत साहित्य के अनभ्यासी भी इसके द्वारा लाभ उठा सकेंगे। ग्रन्थ के संशोधक एव प्रकाशक के अत्यन्त श्रम का परिचय ग्रन्थ द्वारा मिलता है। प्रकाशन मे पूर्ण श्रम किया गया है। वेदान्त-शास्त्र मे निष्ठा रखने वाले प्रत्येक प्राणी का इस ग्रन्थ के द्वारा अत्यन्त उपकार होगा, ऐसी आशा है। सशोधक और प्रकाशक महानुभावो के साथ हमारी सद्-भावना तथा शुभाशीर्वाद है। किमधिकम् ?

॥ शुभम् ॥

(ह०) श्रीकृष्ण बोधाश्रमः

२६–६–५५





श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचिता

❀ श्री पंचदशी ❀

पंडित रामकृष्णकृत संस्कृतटीका की
पीताम्बरी भाषा-व्याख्या व टिप्पण-सार सहिता

*प्रत्यक्-तत्व-विवेक प्रकरण-१

भाषाकारकृत मङ्गलाचरण

गौरी घस्त्रेश-हेरम्ब-हरि - शङ्करसंज्ञकान् ।
पचदेवानहं वन्दे चित्तैकाग्र्योपकारकान् ॥१॥
वेदान्तार्थप्रकाशेन जगदांध्यनिवारकान् ।
सर्वाचार्यग्रगण्यांस्तान् वंदे शंकरदैशिकान् ॥२॥
येनास्तम्भितमज्ञानामज्ञानं ज्ञानभानुना ।
तस्मै से रामसंज्ञाय पर-सद्गुरवे नमः ॥३॥

---

*ब्रह्माभिन्न प्रत्यगात्मा के उपाधि से विवेचन (भेद-ज्ञान) को 'प्रत्यक्‌तत्त्व-विवेक' कहते हैं। परन्तु ऐसा बिवेचन तो अन्त करण की एक वृत्ति ही है अतएव इस प्रकरण का नाम 'प्रत्यक्-तत्व-विवेक' होना सम्भव नही। तथापि, विवेक जन्य और ग्रन्थ जनक है, अतएव जन्य-जनक का अभेद दिखाने के अभिप्राय से इस प्रकरण का भी नाम प्रत्यक् तत्व-विवेक है। शेष चार विवेक-प्रकरणो के विषय में भी यही बात है। तथा पाँचो आनन्द-प्रकरणो का नाम इसी प्रकार वाच्य-वाचक के अभेद से है।

"अहमेव परं ब्रह्म मयि सर्वं प्रकल्पितम् ।"
ज्ञातं यत्कृपया तस्मै बापवे गुरवे नमः ॥४॥
परवाक्यरसाभिज्ञान् सज्जनान् ब्रह्म-वित्तमान् ।
निन्दासूयादिरहितान् प्रणमामि महत्तमान् ॥५॥
श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया ।
प्रत्यक्तत्त्वविवेकस्य कुर्वे व्याख्यां यथामति ॥६॥

अपनी उपासना के द्वारा वेदान्त श्रवण मे उपयोगी चित्त को एकाग्रता मे सहायक-मायाविशिष्ट ब्रह्मरूप सबकी उपादानकारण देवी, सूर्य, गणपति, विष्णु और शिव— इन पांच देवो की मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

जिन्होने वेदान्त के अर्थ का प्रकाश करके सब जीवो के अविद्यान्धकार को दूर किया है और इसीलिए जो सबके अग्रगण्य हैं उन, परम्परागुरु श्री शकराचार्य की, मैं वन्दना करता हूँ ।

वेदो के अन्तभागरूप उपनिपद् और उनके अनुसारी ब्रह्मसूत्र और गीता आदि को वेदान्तग्रन्थ कहते हैं। ईश आदि १० उपनिषद्, केन उपनिषद् का दूसरा (वाक्य) भाष्य, ब्रह्मसूत्र, गीता, सनत्सुजात सम्वाद, विष्णुसहस्रनाम, नृसिहतापिनी उपनिषद्— ब्रह्मात्मा की एकता-प्रधान अर्थ वाले ये १६ भाष्य उपदेशसाहस्री आदि ग्रन्थो द्वारा श्री शकराचार्य ने अविद्यान्धकार को दूर किया है ॥२॥

जिन्होने स्वय तथा अपने शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा ज्ञानरूप सूर्य से अज्ञानीजनो का मूलाज्ञान नष्ट किया है, अपने उन राम सज्ञक पर-गुरु (गुरु के गुरु) को मेरा वार-वार प्रणाम हो ॥३॥

"मैं ही अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म हूँ और ब्रह्मभूत मुझमे ही यह कार्यकारणरूप प्रपच नित्य निवृत्त है" यह ज्ञान जिनकी कृपा से हुआ उन सद्गुरु बापु महाराज को मेरा नमस्कार है ।४।

दूसरे कवियो के वाक्यो के रस को जानने वाले, सशयादि-रहित, ब्रह्मनिष्ठ, निन्दा एव असूया आदि दुर्गुणो से रहित, महा-महिमावान् (भागवत के पचम स्कन्ध के अनुसार समचित्त, प्रशात क्रोध रहित, प्रत्युपकार के बिना उपाकारक—सुहृद् और साधु) ब्रह्मनिष्ठ सब सन्तजनो को मैं बहुत-बहुत (सामान्यत परमात्मा दृष्टि से सबको अपना आप जान कर) प्रणाम करता हूँ ॥५॥

श्रीयुक्त [पर (ब्रह्म) अथवा अपर (शास्त्र वा सगुण ब्रह्म) विद्या वाले] सभी (ग्रन्थकर्ता, माता-पिता आदि उक्तानुक्त सब) गुरुओ को नमस्कार करके पञ्चदशी के प्रत्यक्तत्त्वविवेक प्रकरण की भाषाटीका मैं (पण्डित पीताम्बर) अपनी बुद्धि के अनुसार करता हूँ ॥६॥

§श्रीविद्यारण्य मुनीश्वर (सन्यासियो के आचार्य) अपने महान् ग्रन्थ पञ्चदशी को प्रारम्भ करने से पूर्व, उसकी निर्विघ्न समाप्ति तथा मङ्गलाचरण करने से जिज्ञासु लोग हमे नास्तिक न समझ कर इस ग्रन्थ को पढने मे प्रीति से सुवृत्त हो"—इन दोनो प्रयोजनो को दृष्टि मे रखकर, व्यास आदि शिष्ट-पुरुषो की भाँति इष्टदेवता और गुरु को नमस्कार कर, स्वयं अपने चित्त मे करके भी शिष्यो (उपदेश के योग्य साधन-सम्पन्न मुमुक्षुओ) की शिक्षा के लिए, निम्न श्लोक द्वारा मङ्गल (विघ्नध्वंस के अनुकूल व्यापार) करते हैं —

---

§पहले छ प्रकरण विद्यारण्य पण्डित की रचना हैं—शेष प्रकरण श्रीभारतीतीर्थ की कृति, इसलिए केवल विद्यारण्यपद है। ये दोनो ही इस ग्रन्थ के कर्त्ता हैं, इसलिए टीकाकार श्रीरामकृष्ण ने सर्वत्र दोनो का मगल किया है और श्रीभारतीतीर्थ किसी रीति से श्रीविद्यारण्य के गुरु हैं, अतएव मगल मे सर्वत्र पहले उनका नाम रखा है।

मङ्गलाचरण

नमः श्रीशङ्करानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने ।
सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे ॥१॥

अन्वय—सविलाममहामोहग्राहग्रासैककर्मणे श्री शकरानन्दगुरुपादाम्बुजन्तने नम॰ ।

अर्थ—विलाससहित मूलज्ञान रूप ग्राह को ग्रस लेना ही जिसका मुख्य कार्य है, (१) श्रीशकरानन्द गुरु के उस दो-पादरूप अम्बुजन्म (कमल) को नमस्कार है ॥१॥

व्याख्या—'श' अर्थात् सुख, उसको करने वाला 'शङ्कर', सव

---

(१) श्री=ब्रह्मविद्या, सर्वज्ञतादिशक्ति, आमन–रूप पार्वती, माया या अणिमादि अष्टसिद्धि, इनसे युक्त ।

शकरानन्द=शंकरानन्द स्वामी, शकराचार्य रूप आनन्दपरमात्मा, दक्षिणामूर्ति शिवरूप परमात्मा, ईश्वर अथवा प्रत्यक्-अभिन्न शुद्ध ब्रह्म ।

गुरु=माक्षात् व परम्परा से शिक्षक ।

पाद=प्रसिद्ध चरण, पाताल अथवा स्वरूपभूत प्रकाश ।

अम्बुजन्म=अम्बु अर्थात् जल में जिसका जन्म है ऐसा, मकरादिको का भी भक्षक महातिमिङ्गलमहामकर वा कमल । यहाँ गुरु के पाद को जो कमल कहा है उसमे मकर का ग्रसनरूप जो कर्म मूल श्लोक के उत्तरार्ध मे कहा है वह सम्भव नहीं है, इसलिए प्रथम अर्थ महामकर है । और जैसे गजेन्द्र को जव ग्राह ने पकडा था तव कमल-पुष्प द्वारा विष्णु की आराधना से विष्णु प्रकट होने पर चक्र से ग्राह का नाश हुआ वैसे ही गुरुपाद रुप कमल द्वारा गुरु की आराधना से प्राप्त ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश होता है । इसलिए गजेन्द्र द्वारा पकडे हुए कमल की गुरु के पद से समानता सम्भव होने से यहाँ दूसरा अर्थ "कमल" है ।

जगत् को आनन्दित करने वाला परमात्मा। एषह्येवानन्दयति—यह परमात्मा ही आनन्दित करता है—श्रुति के इस प्रमाण से तथा सर्वाधिक प्रीति का विषय होने के कारण परमानन्द रूप प्रत्यगात्मा ही 'आनन्द' पद का अर्थ है। जो शकर (ब्रह्म) है वही आनन्द (प्रत्यगात्मा) है। इस प्रकार 'शकरानन्द' पद का अर्थ 'प्रत्यक्–अभिन्न–परमात्मा' हुआ। वही ब्रह्माभिन्न–प्रत्यक गुरु है। [शास्त्र मे लिखा है—'परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतु-शक्तिपातेन। योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थ.' अर्थात् जिन अधिकारी व्यक्तियो के रागादिद्वेष दग्ध हो चुके है उनको आचार्य (गुरु) की मूर्ति मे स्थित वह प्रत्यक्–अभिन्न परमात्मा उपदेश द्वारा अज्ञान आदि प्रतिवन्धो को नष्ट करने की शक्ति प्रदान कर प्रत्यक्-अभिन्न-परमात्मा मे जोडता है।] वे श्रीगुरु 'श्री' अर्थात् श्रीमान्=(गधवान् द्विपः–गधद्विप. की न्याई मध्यम पदलोपी समास) (अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व) इन आठ सिद्धियो से युक्त है। अथवा—'रातेर्दातु. परायणम्' 'धन के ज्ञाता की परमगति है' श्रुति के इस वाक्य के अनुसार धन सुख का कारण होता है। 'श्री' अर्थात् 'लक्ष्मी' से (श) सुख देने वाला 'श्रीशंकर' हुआ अर्थात् श्री गुरु भक्तो का इष्टसम्पादन करने मे समर्थ है। उन श्री शकरानन्द गुरु के दोनो चरण रूप कमल के प्रति मेरा नम्र भाव हो। वह पादरूप कमल कैसा है? सविलास अर्थात् समष्टि (वन, जाति, जलाशय आदि), व्यष्टि (वृक्ष, व्यक्ति, जल आदि), स्थूल-सूक्ष्म प्रपचरूप कार्य के समूह के सहित जो महामोह अथवा मूलाज्ञान (ब्रह्मात्मस्वरूप का आच्छादक अज्ञान) है, उस महा-मोहरूप महादु खदायी (मूलाज्ञान अपने वशीभूत जीव को अतिशय दु ख देता है) ग्राह को ग्रस लेना, उसकी निवृत्ति करना ही उस चरण-कमल का मुख्य व्यापार है।

इस श्लोक में 'शंकर' और आनन्द ये दोनों पद समानाधिकरण अर्थात् एक ही विषय के वाचक हैं। इससे "जीव-ब्रह्म की एकता ग्रन्थ का विषय है" यह सूचित होता है। और जीव के भूमा ब्रह्मरूप (देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित सुख रूप) होने के कारण परिपूर्ण सुख का आविर्भाव (विद्यमान का प्रकट होना) होता है यह प्रयोजन भी सूचित होता है। सम्पूर्ण अनर्थों (कार्यसहित अज्ञान) की निवृत्ति रूप प्रयोजन तो ग्रन्थकार ने 'सविलास' इत्यादि श्लोक के उत्तरार्ध में स्वयं कह ही दिया ॥१

अब अवान्तर प्रयोजन बताते हुए ग्रन्थारम्भ करने की प्रतिज्ञा करते हैं—

तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम् ।

सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते ॥२॥

अन्वय—तत्पादाम्बुरुहद्व द्व-सेवा-निर्मल-चेतसाम् सुखबोधाय अयं तत्त्वस्य विवेक विधीयते।

व्याख्या—श्रद्धेय गुरु के दो पादरूपकमल की स्तुति, नमस्कार आदि द्वारा सेवा❁ करने से जिनके अन्त करण राग आदि दोषों से रहित (निर्मल)* हो गये हैं उन अधिकारी व्यक्तियों को सुख से अर्थात् परिश्रम के बिना ही तत्त्वज्ञान कराने के हेतु यह आगे बताया गया, 'अखण्ड सच्चिदानन्द महावाक्येन लक्ष्यते' इस रूप में जिसकी चर्चा की जायगी उस अकल्पित रूप तत्त्व, प्रत्यगभिन्न ब्रह्म, का विवेक, अर्थात् कल्पित पचकोश रूप जगत् से विवेचन (पृथक्-दर्शन) यहां करते हैं।

❁पुण्योत्पत्ति से अन्तःकरण की शुद्धि होना ही ईश्वर की सेवा का अदृष्ट फल है। और ब्रह्मवत् गुरु की सेवा का दृष्टरूप फल तो है ही

जाग्रत-अवस्था मे विषय-भेद होने पर भी ज्ञान का अभेद

जीव-ब्रह्म की एकता (इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय) को बताने के लिए जीव की सत्यज्ञानादि रूपता को प्रदर्शन करने के उद्देश्य से आचार्य विद्यारण्य स्वामी पहले जाग्रत् आदि अव-

गुरु की प्रसन्नता से यथायोग्य उपदेश होने से ज्ञान की उत्पत्ति रूप दृष्ट फल भी है। यह सेवा वाणी शरीर, मन और धन के अर्पण करने से होती है। वाणी से गुरु की स्तुति करना, निन्दा न करना, गुरु को नमस्कार जय जय आदि कहना, वाणी के अर्पण से सेवा है। पुरुष शिष्य द्वारा पाव दबाना आदि कार्यों की आज्ञाओ का भग न करना, दीर्घ नमस्कार करना, शरीर के अर्पण से सेवा है। जैसे पतिव्रता स्त्री की अपने पति मे ईश्वर-भावना है वैसे मुमुक्ष की गुरु के प्रति परमेश्वर भावना होना, गुरु जब राजसव्यवहार करें तो उन्हे ब्रह्म रूप, शिष्य की पालना करें तो विष्णुरूप, क्रोध करें तो शिवरूप, शाति मे स्थित हो तो गङ्गादेवी रूप, शास्त्र मे तत्पर हो तो गणेशरूप, वचन का प्रकाश कर भ्रम-सदेह सहित अज्ञानान्धकार को दूर करें तो उन्हे सूर्य-रूप जानकर उनमे ईश्वर की भावना धारण करना, कभी भी उनमे दोष न देखना, हृदय मे गुरु के विषय मे सर्वोत्कृष्ट भाव रखते हुए मन ही मन नमस्कार करना और गुरुमूर्ति को ध्यान करना आदि मन के अर्पण से सेवा है। धन-धान्य, गृहपत्नी, पुत्र, पशु, दास, दासी, पृथ्वी आदि वस्तुयें धन कहलाती हैं। गुरु गृहस्थ हो तो उन्हे ये सब समर्पित करना और यदि गुरु विरक्त हो तो इन धनो को छोड़कर गुरु की शरण मे जाना धनार्पण सेवा है। यही सेवा यहाँ अभिप्रेत है। पाद-कमल से गुरु की मूर्ति का भी ग्रहण है।

*निर्मल चित्त रूप कारण के कथनसे उसके कार्य, विवेक-वैराग्य-षट्-सम्पत्ति मुमुक्षुता इन चार साधनो की सूचना दी है। अर्थात् मल-विक्षेपदोष से रहित और उपरोक्त चार साधनो के सहित अधिकारी।

स्थाओ मे होने वाले ज्ञान का अभेद प्रतिपादन कर उस ज्ञान की नित्यता सिद्ध करते हैं। यहा पहले स्पष्ट व्यवहार वाली जाग्रत् अवस्था मे ज्ञान का अभेद दर्शाया गया है:–

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक्।
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते ॥३॥

अन्वय—जागरे वेद्याः शब्दस्पर्शादयः वैचित्र्यात् पृथक्। ततः विभक्ता तत्सवित् ऐक्यरूपात् न भिद्यते।

अर्थ—जागरण में वेद्य जो शब्द, स्पर्श आदि हैं वे विचित्र होने से परस्पर भिन्न हैं परन्तु उनसे विवेचित जो उनकी संवित् (ज्ञान) है, वह एक रूप होने के कारण नाना नही होती।

देवता के अनुग्रह से युक्त इन्द्रियो से विषयो का ज्ञान जिस मे होता है उसे अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञान और इन्द्रियजन्य ज्ञान के सस्कार के आधार-काल को जाग्रत् कहते हैं, यही जाग्रत्-अवस्था है। पञ्चीकरणवार्तिक अथवा वृत्ति-प्रभाकर मे वर्णित इस लक्षणवाली जाग्रत् अवस्था में वेद्य अर्थात् संवित के विषयभूत तथा आकाश आदि के गुणरूप में प्रसिद्ध शब्दादि और उनके आश्रयभूत आकाशादि द्रव्य हैं वे गाय-अश्व आदि की भाँति विलक्षण धर्म (जो स्वतन्त्र न होकर दूसरे का आश्रित हो उसे धर्म कहते है) वाले होने मे परस्पर भिन्न है परन्तु उन विषयो से बुद्धि द्वारा विचार कर पृथक् की हुई जो उन शब्द आदि की सवित् (ज्ञान) है, वह, 'ज्ञान-ज्ञान' इस एक ही आकारमें भासित होनेके कारण, आकाश की भाँति परस्पर भिन्न नही है। जैसे घटाकाश, मठाकाश आदि मे उपाधि भिन्न होते हुए भी 'आकाश-आकाश' इस एक आकार में भासमान आकाश एक ही है, ऐसे ही सवित् भी एक ही है। यहाँ अनुमान इस प्रकार होगा:—

विवाद का विषय सवित् (चिदात्मा के स्वरूप भूत ज्ञान), उपाधि-ग्रहण के बिना भेद के प्रतीत न होने के कारण, स्वरूप से भेदरहित है, जैसे आकाश। इस अनुमान मे सवित् पक्ष, स्वरूप से भेद रहितता साध्य, उपाधि-ग्रहण के बिना भेद प्रतीत न होना हेतु, और आकाश दृष्टान्त है। यह साधारण अनुमान है। भेद अन्योन्याभाव को कहते हैं। यह भेद एक प्रकार से तो तीन प्रकार का है—सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद। और जीव-ईश, जीवो का परस्पर, जड़-ईश, जड-जीव और जड-जड भेद से पाच प्रकार का है। सवित् इन सब प्रकार के भेदो से रहित है। कोई वस्तु आप जिस काल में जितने देश में रहती है, उतने काल मे उतने देश मे स्थित वस्तु को जो दूसरी वस्तु से भिन्न बताती है और स्वय पृथक् रहती है अर्थात् भीतर नही गिनी जाती उसे उपाधि कहते है। यहा शब्द आदि और आकाश आदि सब अनात्मवस्तु, सवित् की उपाधि है जैसे घट, मठ आदि उपाधियो के कारण ही मठाकाश आदि भिन्न प्रतीत होते हैं अर्थात् आकाश, उपाधि से कल्पित भेद वाला है, स्वाभाविक (सच्चे) भेद वाला नही है ऐसे ही सवित् भी स्वाभाविक भेद से रहित है। ऐसे ही शब्द का ज्ञान, ज्ञानरूप होने के कारण स्पर्श के ज्ञान से भिन्न (भेदवाला) नही है, जैसे स्पर्श-ज्ञान,ज्ञान होने से स्पर्श के ज्ञान से भिन्न नही है। (इस अनुमान में शब्द-ज्ञान पक्ष, स्पर्श ज्ञान से अभेदता साध्य, ज्ञानरूपता हेतु और स्पर्शज्ञान दृष्टान्त है। सवित् की एकता सिद्ध करने के लिए ऐसे ही अनेक अनुमान हैं।) आकाश की भाँति उपाधिकृत भेद से भी एक ही ज्ञान के व्यवहार मे स्पर्शज्ञान, शब्दज्ञान आदि रूप से नाना भेदो को वस्तुत भिन्न मानने मे गौरव दोष है। जहा थोड़े से निर्वाह होता हो वहाँ अधिक अर्थ मानकर निर्वाह करने में गौरव रूप

दोप शास्त्रकार मानते हैं। एक पैसे की वस्तु को अधिक धन खर्च करके लेना दोप ही है ॥३॥

जाग्रत् और स्वप्न की विलक्षणता और उनकी संवित् की एकता

तथा स्वप्नेऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम् ।
तद्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते ॥४॥

अन्वय—तथा स्वप्ने, अत्र वेद्य न स्थिरम्, जागरे तु स्थिरम्, अतः तद्भेद । तयो स वित् एकरूपा, न भिद्यते ।

जाग्रत् अवस्था मे जो न्याय वताया उसी को स्वप्न में भी वताते है । पंचीकरणवार्तिक और वृत्तिप्रभाकर के अनुसार, इन्द्रियो के अपने विपयो को छोड़ देने पर जाग्रत् अवस्था के सस्कारो से उत्पन्न विपय सहित ज्ञान अथवा इन्द्रियों से अजन्य ज्ञान और उनके विपय के आधार काल को स्वप्न कहते हैं। जैसे जाग्रत् अवस्था मे विचित्र होने से शब्द, स्पर्श आदि विषय तो परस्पर भिन्न है परन्तु एक रूप होने से उनके ज्ञान (संवित्) में परस्पर कोई भेद नही है, (तथा स्वप्ने) स्वप्न में भी ऐसा ही होता है, वहाँ भी शब्दादि विषय हो परस्पर भिन्न हैं, उनका ज्ञान (संवित्) परस्पर भिन्न नही है ।

(शङ्का) स्वप्न अवस्था मे जाग्रत् अवस्था की भाँति जब विपयो का भेद और उनके ज्ञान का अभेद है तो स्वप्न और जाग्रत् में परस्पर क्या भेद है ? (समाधान) अत्र वेद्य न स्थिरं अत तद्भेदः । स्वप्न मे वेद्य अर्थात् परिदृश्यमान (चारो ओर मे दीखती हुई) जो वस्तुएँ हैं वे प्रतीतिमात्र शरीर वाली होने से चिरस्थायी नही हैं, प्रातिभासिक हैं। परन्तु जाग्रत् अवस्था मे परिदृश्यमान वस्तु-समूह, दूसरे समय मे भी (वर्ष दो वर्ष पीछे अथवा दूसरी जाग्रत् अवस्थामे भी) दीख पड़ता है अतएव स्थायी

(व्यावहारिक) है। इसलिए विषयो की स्थिरता और अस्थिरता रूप विलक्षणता के कारण ये दोनो अवस्थाएँ परस्पर भिन्न है।

(शङ्का) जब स्वप्न और जाग्रत् दोनो परस्पर भिन्न है तो उन के ज्ञान भी भिन्न होगे ? समाधान—"तयो सवित् एकरूपा न भिद्यते।" उनकी सवित् एकरूप है, भिन्न नही है। क्योकि दोनो का ज्ञान एक रूप होने से एकरूप है।" (यहाँ 'एकरूप' हेतुगर्भित विशेषण है—अर्थात् इस विशेषण मे ही 'एकरूप होने से' यह हेतु भी विद्यमान है) ।।४।।

सुषुप्ति मे भी ज्ञान का अस्तित्व

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोधो भवेत्स्मृतिः।
सा चावबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत्तदा तमः ।।५।।

अन्वय—सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोध स्मृति. भवेत्। सा च अवबुद्धविषया, तत्तम तदा अवबुद्धम्।

जाग्रत् और स्वप्न दो अवस्थाओ में ज्ञान की एकता सिद्ध करके सुषुप्ति-काल के ज्ञान की जाग्रत्-स्वप्न के ज्ञान के साथ एकता सिद्ध करने के लिए पहले सुषुप्ति मे ज्ञान के अस्तित्व का उल्लेख करते हैं–सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमो बोध. स्मृतिः भवेत् अर्थात् सुप्तोत्थित पुरुष को सुषुप्तिकाल के अज्ञान का जो बोध होता है वह उसकी स्मृति होती है।

सोकर उठा या सुषुप्ति से उठा पुरुष 'सुप्तोत्थित' है। उसको सुषुप्तिकाल के अज्ञान का 'मैने सोते समय कुछ भी नही जाना' इस प्रकार का जो ज्ञान है वह स्मृतिरूप ही है, अनुभव-रूप नही, क्योकि यहा अनुभव के कारणो का अभाव है।

अनुभव के कारण इस प्रकार है—इन्द्रियसन्निकर्ष (इन्द्रिय का विषय से सम्बन्ध), व्याप्ति (अविनाभाव सम्बन्ध जिसके विना

जो नही हो उसका उसमे अविनाभावसम्बन्ध होता है जैसे—अग्नि के विना धूम नही होता, अतएव अग्नि का धूम मे अविनाभाव सम्बन्ध या अग्नि की धूम मे व्याप्ति है ।), लिंग (जिसके ज्ञान से साध्य का अनुमान–ज्ञान–होता है उसे लिंग कहते हैं। अनुमिति-ज्ञान के विषय को साध्य कहते हैं । जैसे अनुमिति का विषय अग्नि हो तो वह साध्य है और धूम के ज्ञान से साध्य–अग्नि का ज्ञान होता है अतएव धूम लिंग है) आदि [उपमितिरूप अनुभवज्ञान की सामग्री-उपमान प्रमाण (सादृश्य का ज्ञान), शाब्दी प्रमाकी सामग्री–श्रोतृसम्बन्धी शब्द, अर्थापत्ति की सामग्री–अर्थापत्तिप्रमाण, (उपपाद्य का ज्ञान), अभाव प्रमा की सामग्री–अनुपलब्धि प्रमाण ।]

(प्रश्न) उस ज्ञान के स्मृतिरूप होने से क्या सिद्ध हुआ ? (उत्तर) सा च अवबुद्धविषया । स्मृति, पूर्वसुषुप्तिकाल से अनुभव किये हुए विषय को ही प्रकट करती है, क्योकि 'जो भी स्मृति है वह अनुभवपूर्वक है' यह व्याप्ति लोक मे देखी जाती है । इसलिए सुषुप्ति-सम्बन्धी जिस अज्ञान की स्मृति होती है उसका पूर्वसुषुप्तिकाल मे अनुभव अवश्य किया होना चाहिए, यह सिद्ध हुआ ।

(प्रश्न) स्मृति के अनुभवपूर्वक होने से भी क्या सिद्ध हुआ ? (उत्तर) 'तत् तम तदा अवबुद्धम्'—क्योकि स्मृति अनुभूत विषय

सुषुप्ति से उठे पुरुष को सुषुप्तिकाल मे अनुभव किये अज्ञान से इन्द्रिय का सम्बन्ध (प्रत्यक्ष की सामग्री) नही है क्योकि अज्ञान इन्द्रिय का का अविषय है और व्याप्ति लिंग रूप अनुमिति की सामग्री भी नही है, इसी प्रकार शेप चार प्रमाओ की सामग्री का अभाव भी समझ लेना चाहिए । इस प्रकार सुषुप्ति से उठे पुरुष को जो अज्ञान का ज्ञान है वह षट्प्रमारूप अनुभव ज्ञान में से कोई सा भी नही है, अपितु अनुभव से स्मृतिरूप ज्ञान है ।

की ही होती है इसलिए सुषुप्तिसम्बन्धी तम अर्थात् अज्ञान को सुषुप्ति में अनुभव अवश्य किया था। यहाँ अनुमान का प्रयोग इस प्रकार किया जायगा —'सोते समय मैंने कुछ भी नही जाना' विवाद का यह विषय, जो जाग्रत अवस्था मे ज्ञान (१) है, वह अनुभव पूर्वक ही हो सकता है, (२) स्मृति होने से, (३) जो-जो स्मृति है वह अनुभवपूर्वक ही है, (४) परदेश में स्थित पुत्र की 'वह मेरी माता है' इस स्मृति की भाँति। (५)

इस अनुमान मे (१) पक्ष है। तेज से भिन्न प्रकाशस्वभाव को ज्ञान कहते है। वह ज्ञान चेतनारूप और वृत्तिरूप भेद से दो प्रकार का है। इनमे भी वृत्तिरूप ज्ञान ८ प्रमा और ५ अप्रमा भेद से १३ प्रकार का है। इस प्रकार ज्ञान के सब मिलकर १४ भेद हैं। (२) यह साध्य है। स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहा है। यह अनुभव यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार का है। यथार्थ अनुभव के षट् प्रमा, ईश्वर का ज्ञान और सुख दुख का ज्ञान, ये आठ भेद है। अयथार्थ अनुभव के तीन भेद है —भ्रम, सशय और तर्क। (३) यह हेतु है। उद्बुद्धसस्कार मात्र से जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं। भ्रम और यथार्थ भेद से उसके दो भेद हैं। भ्रमरूप अनुभव के सस्कार से जन्य स्मृति, भ्रमरूप और यथार्थ अनुभव के सस्कार से जन्य स्मृति, यथार्थ है। (४) यह व्याप्ति है। (५) यह उदाहरण है ॥५॥

सुषुप्ति के ज्ञान का विषय भेद तथा अन्य ज्ञान से अभेद।

स बोधो विषयाद्भिन्नो न बोधात्स्वप्नबोधवत्।
एवं स्थानत्रयेऽप्येका संवित्तद्वद्दिनान्तरे ॥६॥
मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा ॥७॥

अन्वय—स बोध विषगात् भिन्नः, बोधात् न। स्वप्नबोधवत्। एव स्थानत्रये अपि सवित् एका। तद्वत् दिनान्तरे। अनेकधा गता-

गम्येषु मासाब्दयुगकल्पेषु । संवित् एका न उदेति न अस्तम् एति । एषा स्वयं प्रभा ।

अर्थ - वह सुषुप्तिकाल का बोध अपने विषय से भिन्न है, बोध से भिन्न नहीं है, जैसे स्वप्नबोध । सुषुप्तिकाल का अनुभव-ज्ञान, अज्ञानरूप विषय से तो भिन्न हो सकता है, क्योंकि वह बोध है जैसे घटबोध अपने विषय-घट से भिन्न है । परन्तु जैसे स्वप्न-समय का ज्ञान जाग्रत्-ज्ञान से भिन्न नहीं है वैसे यह बोध भी जाग्रत स्वप्न के बोध से भिन्न नही है ।

अब फलित को कहते हुए इसी न्याय को अन्यत्र भी दिखाते हैं —इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनो स्थानो में संवित् एक ही है । एक दिन मे होने वाली जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनो अवस्थाओमें संवित् (ज्ञान) एक 'ही' है । [यहाँ मूल श्लोक मे यद्यपि अवधारणार्थक 'एव' शब्द नही है तो भी टीका-कार ने 'सर्ववाक्य सावधारण होता है' इस न्याय से यहाँ 'एव' अर्थात् 'ही' का प्रयोग किया है ।]

'तद्वत् दिनान्तरे'—जैसे एक दिन की जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओ मे हुए ज्ञान परस्पर भिन्न नहीं है, एक है, वैसे अन्य दिनो में हुआ ज्ञान भी एक ही है । और "अनेकधा गतागम्येषु मासाब्दयुगकल्पेषु"—अनेक प्रकार से अतीत और आगामी मास, वर्ष युग एवं कल्पो मे भी संवित् (ज्ञान) एक ही है ।

अनेक प्रकार से बीते और भविष्य मे आने वाले चैत्र आदि महीने, प्रभव आदि वर्ष, सत्ययुग आदि युग और ब्रह्म, वाराह आदि कल्पसम्बन्धी ज्ञान अभिन्न ही हैं, क्योंकि इसमे भेदक प्रमाण कोई नही है ।

संवित की एकता के समर्थन का फल क्या है ? यह बताते हुए कहते हैं—क्योकि संवित् एक है इसलिए यह संवित् न उदित

होती है और न अस्त होती है। संवित् न उत्पन्न होती है, न नष्ट होती है, क्योंकि विना साक्षी उत्पत्ति और विनाश दोनो ही नही होते। अपने अर्थात् सवित् के उत्पत्ति एव विनाश को वही संवित् आप नही जान सकती और दूसरी कोई सवित् है नही। [प्राग-भाव के अन्तिम क्षण का नाम उत्पत्ति (जन्म) और प्रध्वंसाभाव के प्रथम क्षण का नाम नाश है। इसलिए कोई भी पुरुष अपने जन्म तथा नाश को नही देख सकता।] आत्मारूप संवित दीपक की भाति अपने समानकालीन पदार्थों की प्रकाशिका है। इस प्रकार अपनी स्थिति के काल मे अविद्यमान प्रागभाव और प्रध्व-साभाव के ज्ञान न होने पर प्रागभाव के अन्तिम क्षणरूप जन्म को और प्रध्वसाभाव के प्रथम क्षणरूप नाशको सवित आप ही जानने मे समर्थ नही है।

(शङ्का) परन्तु दूसरी कोई सवित् तो है नही, ग्राहक (साक्षी ज्ञाता) के अभाव मे इस सवित का भी भान नही होगा तो सब जगत ही अन्धा हो जायगा तो ? (समाधान) एषा सवित स्वय प्रभा' "यह सवित स्वयप्रभा है," स्वय प्रकाशरूप है। अपने प्रकाश के लिए दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नही रखती अथवा स्व-अर्थात अपनी सत्ता से ही प्रकाश अर्थात सशयरहित होती है—यही स्वय-प्रकाश कहलाती है।

यहा अनुमान इस प्रकार होगा—सवित स्वय प्रकाशरूप है, किसी अन्य से जानने के अयोग्य होकर अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होने से जैसे घट, ज्ञान का अविषय होते हुए अपरोक्ष नही है, किन्तु ज्ञान का विषय होकर अपरोक्ष है और इसीलिए स्वयं-प्रकाश भी नही है। यह सवित् तो ज्ञान की अविषय होती हुई अपरोक्ष न हो ऐसा नही अपितु अपरोक्ष है, अतएव स्वप्रकाश है। यह व्यतिरेकी

दृष्टात का आकार है। [हेतु दृष्टात और अनुमान, अन्वयी व्यतिरेकी दो प्रकार के होते हैं। जो हेतु साध्य और दृष्टान्त दोनो मे व्याप्ति वाला हो उसे अन्वयी कहते हैं और जो हेतु, दृष्टान्त मे व्याप्ति रहित, केवल साध्य मे वर्तने वाला है वह हेतु व्यतिरेकी है। दार्ष्टन्ति के अनुकूल या हेतु की व्याप्तिरहित दृष्टात को अन्वयी दृष्टान्त और दार्ष्टन्ति से विरुद्ध या हेतु की व्याप्ति सहित दृष्टान्त को व्यतिरेकी दृष्टान्त कहते हैं। अन्वयी हेतु तथा दृष्टान्त से युक्त अनुमान अन्वयी है, इसमे विपरीत अनुमान व्यतिरेकी है।]

कदाचित् कोई शंका करे कि उक्त अनुमान स्थित 'अवेद्यत्वेसति अपरोक्षत्वात्' हेतु मे जो 'अवेद्यत्वेसति' 'जानने के अयोग्य होकर विशेषण है उसकी असिद्धि है (अर्थात् सवित तो वेद्य है), यह शका ठीक नही है क्योकि सवित् ही सवित् को जानेगी तो उसी को कर्म और उसी को कर्त्ता मानने मे विरोध होगा। कर्त्ता और कर्म भिन्न-भिन्न होते हैं, एक नही। यदि संवित् को जानने वाली दूसरी संवित् मानोगी तो अनवस्था दोप होगा, क्योकि दूसरी संवित् के ज्ञानार्थ तीसरी और तीसरी के ज्ञानार्थ चौथी माननी पडेगी।

संवित् (ज्ञान) आत्मा है और आत्मा परमानन्द है

इसलिए स्वप्रकाशरूप से भासमान संवित् सर्व अनात्मवस्तु की प्रकाशिका है, अतएव जगत की अन्धता (अप्रतीति=यदि ज्ञान न होता तो यह जगत अन्धा होता) का प्रसङ्ग नही है ॥७

इयमात्मा परमानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ॥८

अन्वय—इयम् (सवित) आत्मा, (आत्मा) परानन्द, यत परप्रेमास्पदम्। हि आत्मनि 'मा भूव न', 'भूयासम्' इति प्रेम दृश्यते।

अर्थ – यह 'ज्ञान' ही आत्मा है और आत्मा निरतिशय सुख-स्वरूप है क्योंकि इसमे परमप्रीति रहती है। कभी कोई यह नही चाहता कि मैं न रहूँ। प्रत्येक यही चाहता है कि मैं सदा बना रहूँ।

संवित् की नित्यता और स्वप्रकाशता इसलिये सिद्ध की कि यह संवित ही आत्मा है। यहां यह अनुमान है:—यह संवित् आत्मा होने योग्य है, नित्य (उत्पत्ति-विनाशरहित या भावरूप होती हुई भी अजन्मा) होते हुए स्वप्रकाश होने के कारण, जो यह (आत्मा) नही है वह ऐसा नित्य होते हुए स्वप्रकाश भी नही है, जैसे घट आत्मा नही है, अतएव नित्य स्वप्रकाश भी नही है, परन्तु यह संवित् वैसी नही है, [यह व्यतिरेकी दृष्टान्त है] इस अनुमान से आत्मा के नित्य और संवित्‌रूपकी सिद्धि होकर सत्य की भी सिद्धि हो गई। क्योंकि नित्यता से पृथक सत्यता नही होती। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है:—'नित्यत्व तद्‌य-स्यास्ति तन्नित्य सत्यम्' अर्थात् 'नित्यस्वरूप सत्यत्व जिस वस्तु मे हो वह वस्तु नित्य और सत्य है।'

(आत्मा) परानन्द.—वह आत्मा (सबके भीतर प्रकाशित होने वाला साक्षी) परानन्द है अर्थात् निरतिशय सुखरूप है, सबसे अधिक सुखरूप है। आत्मानन्द के लेश से ही चीटी से लेकर ब्रह्मा तक के सब भूत आनन्दवान् है। इसलिए आत्मारूप आनन्द विम्ब सर्वविषयानन्द से अधिक है। क्यो ? यत परप्रेमास्पदम्। क्योकि उपाधि-रहित आत्मा निरतिशय स्नेह का विषय है। धन, पुत्र, देह, इन्द्रिय आदि उपाधिसहित आत्मा मे कम-अधिक प्रीति होती है और इन उपाधियो से रहित आत्मा मे सर्वाधिक प्रीति होती है, इसलिए यह आत्मा परानन्द है। यहाँ अनुमान इस प्रकार है.—आत्मा परानन्दरूप है, परमप्रेम का विषय होने से,

जो परमानन्द रूप नही है वह परमप्रेम का विषय भी नही है, घट की न्याई यह आत्मा परमप्रेम पात्र न हो ऐसा नही है, अपितु परमानन्दरूप ही है।

(शङ्का) आत्मा (अपने आप) के प्रति 'मुझ को धिक्कार है' इस प्रकार के द्वेष की प्रतीति होती है। इसलिये परम प्रेम की विषयता तो दूर रही, प्रेम की विषयता (पात्रता) ही असिद्ध है। (समाधान) यह द्वेष* तो दुःख के सम्बन्ध-रूप निमित्त से जन्य है, अतएव अन्यथा सिद्ध है, फिर, आत्मा के प्रति प्रेम अनुभव सिद्ध है। अर्थात् 'मेरी असत्ता (अभाव) कभी न हो" "मैं सदा बना रहूँ' आत्मा के प्रति ऐसा प्रेम तो सब अनुभव करते हैं, इस कारण आत्मा में (अपने आपे के प्रति) प्रेम की विषयता (पात्रता) की असिद्धि नही है। 'मुझ को धिक्कार है' आदि द्वेष की प्रतीति आत्मा की प्रेमपात्रता को हटाने मे असमर्थ है ॥८॥

(शका) आत्मा मे प्रेम की असिद्धि यदि नही होती तो न सही परन्तु आत्मा के प्रति विद्यमान प्रेम सर्वाधिक प्रेम है इसमे कोई प्रमाण नही है, इसलिए 'सर्वाधिकता' की तो असिद्धि है ही। इसका समाधान नीचे लिखे श्लोक से करते हैं :—

---

*यद्यपि आत्मा स्वभाव से दुःख-सम्बन्ध-रहित है तथापि दुःख-सम्बन्धित-युक्त देहादि उपाधियो के योग से आत्मा में दुःख का संबन्ध प्रतीत होता है। क्योकि दुःख-निमित्त से उपाधि द्वेष की विषय बनती है इसलिए उसके अध्यास से आत्मा भी दुःखी प्रतीत होने लगता है, वह स्वभाव से वैसा नही है। लवणनिमित्त से जैसे स्वाभाविक खटाई प्रतीत नही होती अथवा मणि, मन्त्र या औषधि के निमित्त से अग्नि का स्वाभाविक दाहक गुण छिप जाता है वैसे ही दुःख-सम्बन्ध-जन्य द्वेषरूप निमित्त से आत्मा की स्वभावसिद्ध प्रेम की विषयता (प्रियतमता) छिप जाती है।

तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि ।
अतस्तत्परमं तेन परमानन्दतात्मनः ॥९

अन्वय—अन्यत्र प्रेम तत् आत्मार्थम्, एवम् आत्मनि अन्यार्थम् न । अत तत् परमम् । तेन आत्मनः परमानन्दता ।

अपने से भिन्न पुत्र आदि के प्रति जो प्रीति है वह आत्मा के (अपने) लिए ही है, अर्थात् आत्मा की प्रीति के लिए ही पुत्र आदि के प्रति प्रेम है, स्वाभाविक नही है । परन्तु आत्मा के प्रति जो प्रेम है वह किसी दूसरे, पुत्रादि की प्रीति के लिए नही है अर्थात् आत्मा के प्रति किया गया प्रेम पुत्र आदि के निमित्त से आत्मा के निमित्त नही आत्मा के निमित्त से ही है । इसलिए आत्मगत प्रेम ही निरुपाधि (अकारण, निर्व्याज) होने के कारण परम अर्थात् सर्वाधिक है । इसीलिए, निरतिशय प्रेम का पात्र होने के कारण, निरतिशयसुखरूप सिद्ध हो जाता है ॥९॥

ब्रह्म और आत्मा की एकता

इत्थं सच्चित्परानन्द आत्मा युक्त्या तथाविधम् ।
परं ब्रह्म, तयोश्चैक्यं श्रु त्यन्तेषूपदिश्यते ॥१०

अन्वय—इत्थम् युक्त्या आत्मा सत्, चित्, परानन्दः, तथाविधम् पर ब्रह्म । तयो ऐक्यम् च श्रु ति+अन्तेषु उपदिश्यते ।

'शब्द स्पर्शादिक' इस तीसरे श्लोक से सातवें श्लोक तक सवित् की नित्यता सिद्ध करके आठवें श्लोक से वह सवित् (ज्ञान) ही आत्मा है, यह सिद्ध कर देने से आत्मा सत्+चित् है, यह सिद्ध किया और उसी श्लोक के 'परमानन्द' इत्यादि पद से आत्मा की परमानन्दता सिद्ध की । इस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यो मे 'त्वम्' पद का अर्थ सच्चिदानन्द आत्मा है यह सिद्ध हो गया ।

(शङ्का) यदि सच्चिदानन्दरूप आत्मा का भी युक्ति से ही ज्ञान हो जाता है तो क्या उपनिषदे व्यर्थ (निर्विषय) होने से अप्रमाण नही हो जायेंगी ? (समाधान) पर ब्रह्म वैसा ही अर्थात् सच्चिदानन्द रूप है और महावाक्यो में तत् पद का अर्थ यही ब्रह्म है। "तत्-त्वम्" पदो की एकता, इन दोनो पदों का अर्थ करते हुए ब्रह्मात्मा की अखण्ड एकरसता रूप एकता का उपनिषदो मे प्रदिपादन किया गया है, (उपनिषदो का विषय इस एकता का प्रतिपादन है) इसलिए उपनिषदे निर्विषय नही हैं ॥१०॥

आत्मा की परमानन्दता पर शङ्का समाधान

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा ।
अतो भानेऽप्यभाताऽसौ परमानन्दताऽऽत्मनः ॥११

अन्वय—अभाने परम् प्रेम न, भाने विषये स्पृहा न। अत. आत्मन. असौ परमानन्दता भाने अपि अभाता

(शङ्का)—प्रश्न यह है कि परमानन्दरूपता का भान होता है या नही ? यदि कहो इसका भान नही होता तो, आत्मा में सर्वाधिक स्नेह–परमप्रेम–नही होना चाहिए, क्योकि स्नेह विषय की सुन्दरता के ज्ञान से जन्य होता है। यदि कहो कि आत्मा की परमानन्दरूपता का भान होता है तो, सुख के साधन (विषयानद) माला, चन्दन, स्त्री आदि मे अथवा उन विषयो से जन्य सुख में मनुष्य की इच्छा नही होनी चाहिए, क्योकि जब परमसुखरूप फल ही मिल गया तो विषयरूप साधन की इच्छा असम्भव होगी। और नित्य तथा सर्वाधिक आनन्द के मिल जाने पर क्षणिक तथा पराधीनता आदि दोषो से युक्त विषयजन्य सुखके प्रति इच्छा असम्भव है। इसलिये "आत्मा परमानन्दरूप है, यह सिद्ध नही होता।"

(समाधान) क्योकि भान और अभान दोनो पक्षो में दोष है, इसलिए आत्मा की परमानन्दरूपता प्रतीत होती हुई भी प्रतीत नहीं होती।

(शङ्का) यह कैसे ? एक मे ही प्रतीति और अप्रतीति दोनो का योग कैसे सम्भव है ? (समाधान) यह तो बताओ कि यह, "एक ही मे प्रतीति और अप्रतीति का होना", 'कही देखा नही है' यह कहते हो या 'सम्भव नही है' यह कहते हो ? इन दोनो ही विकल्पो का परिहार करते हुए कहते हैं :—

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् ।
भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते ॥१२

अन्वय—अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् भाने अपि अभानम् । भानस्य प्रतिबन्धेन (भाने अपि अभानम्) युज्यते ।

पहले विकल्प का परिहार करते हुए कहते है कि एक ही मे 'प्रतीति' और 'अप्रतीति' देखी गई है। जैसे—वेदपाठियो मे बैठे किसी के पुत्र द्वारा किये गये पठन का शब्द बाहर बैठे उसके पिता को सामान्यरूप से प्रतीत होता भी है—और 'यह मेरे पुत्र के पढने का शब्द है', इस रूप मे विशेषतया प्रतीत नही भी होती। वैसे ही आनन्द भी प्रतीत होता भी अप्रतीत रहता है।

फिर प्रतीति और अप्रतीति एक मे सम्भव भी हैं क्योकि स्फुरणरूप प्रतीत आगे व्याख्यात प्रतिबन्ध* के कारण सामान्यतया प्रतीत होती हुई भी विशेष आकार मे अप्रतीत रहे, यह युक्ति-युक्त ही है।

---

*कार्य के विरोधी को प्रतिबन्ध और प्रतिबन्धक कहते हैं। यहां परमानन्दता की विशेष प्रतीतिरूप कार्य का विरोधी आवरण प्रतिबन्ध है। बात यह है कि अज्ञानी जनो को अविद्याकृत आवरणरूप प्रतिबन्ध

प्रतिवन्ध का लक्षण

प्रतिबन्धोऽस्तिभातीतिव्यवहारार्हवस्तुनि ।
तं निरस्य विरुद्धस्य तस्योत्पादनमुच्यते ॥१३

अन्वय—अस्ति भाति इति व्यवहारार्हवस्तुनि तं निरस्य विरुद्धस्य तस्य उत्पादनम् प्रतिवन्ध. उच्यते ।

"है" "भासता है" इस रीति के व्यवहार अथवा प्रतीति और कथन के योग्य वस्तु मे उस व्यवहार को हटा कर उससे विपरीत 'नही है" "नहीं भासता है" इस (मिथ्या) व्यवहार को उत्पन्न कर देने को 'प्रतिवन्ध' कहते हैं ॥१३॥

अव इस प्रतिवन्ध को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में घटाते हैं:—

तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनिश्रुतौ ।
इहानादिरविद्यैव व्यामोहैकनिवन्धनम् ॥१४

अन्वय—पुत्रध्वनिश्रुतौ तस्य हेतु समानाभिहार., इह व्यामोहैक-निवन्धन अनादि. अविद्या एव ।

पुत्र के शब्द के श्रवणरूप दृष्टान्त में वहुतो के साथ मिलकर पढना प्रतिवन्ध का कारण है और यहाँ, विशेष से परमानन्दता

से परमानन्दता की होते हुए भी विशेप प्रतीत सामान्य प्रतीति नही होती । इसलिए आत्मा मे परमप्रेम भी है और इष्ट-पदार्थों की इच्छा का होना भी ठीक है । और ज्ञानी,शायद व्यवहारमे विज्ञात आत्माका विचार नहीं करता,इसलिए उस विचार से उत्पन्न वहिर्मुख वृत्तिरूप प्रतिवन्ध से परमानन्दता की सामान्य से प्रतीति के होते हुए भी विशेप-रूप से प्रतीति कुछ समय तक नही होती । इसलिए आत्मा मे परमप्रेम भी है और विषय (इष्टपदार्थ) की इच्छा भी होती है । फिर विचार से युक्त प्रतिवध के तिरस्कार से विशेप से परमानन्दता की प्रतीति होती है ।

के भानरूप दार्ष्टान्त मे तो (समस्त) विपरीत ज्ञानो की मुख्य कारण अनादि-उत्पत्ति-रहित अविद्या ही है, वही प्रतिबन्ध का कारण है, इसका वर्णन आगे किया गया है।

अब प्रतिबन्ध की हेतुरूपा अविद्या का प्रतिपादन करने के लिए उसकी मूलभूत प्रकृति का प्रतिपादन करते हैं :—

चिदानंदमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरजःसत्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥१५

अन्वय—चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता । तमोरज.सत्वगुणा प्रकृति. । सा च द्विविधा ।

चिदानन्द ब्रह्म के प्रतिबिम्ब अर्थात् आभास से युक्त और सत्व, रज और तम इन तीन गुणो की साम्यावस्था को प्रकृति कहते है। वह प्रकृति दो प्रकार की होती है। श्लोक मे स्थित "च" (और) शब्द से प्रकृति के तीसरे प्रकार (१८ वे श्लोक मे व्याख्यात तम प्रधानरूप) की सूचना मिलती है ॥१५॥

माया और अविद्या का भेद और ईश्वर का स्वरूप।

सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥१६

अन्वय—सत्वशुद्धचशुद्धिभ्या ते च मायाविद्ये मते । मायाबिम्बः ताम् वशीकृत्य सर्वज्ञः ईश्वर. स्यात् ।

प्रकाशरूप सत्त्वगुण की शुद्धि अर्थात् रजतम से मलिन न होना और सत्व की अशुद्धि अर्थात् रजतम से मलिन होना, इन दोनो कारणो से प्रकृति के क्रमश माया और अविद्या दो भेद हैं। उनमे से विशुद्धसत्त्वगुण प्रधान माया और मलिनसत्वगुण प्रधान अविद्या है।

माया में प्रतिबिम्बित चिदात्मा ब्रह्म उस माया को अपने

अधीन रखता हुआ, सर्वज्ञतादिगुणवान् ईश्वर होता है अर्थात् माया के नियन्ता परब्रह्म को ईश्वर कहते हैं।

जीव का स्वरूप

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।
सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान् ॥१७

अन्वय– अविद्यावशग तु अन्य., तद्वैचित्र्यात् अनेकधा। सा कारण शरीरम्, तत्र अभिमानवाम् प्राज्ञः स्यात्।

अविद्या में प्रतिविम्वित और उसके अधीनस्थ हुए चिदात्मा को 'जीव' कहते हैं। वह जीव उपाधिरूप अविद्या की अशुद्धि के न्यूनाधिकरूप विचित्रता के कारण, देव-पशु-पक्षी आदि भेद से नाना प्रकार का होता है।

आगे ४२ वें श्लोक में तीन शरोरो से विवेचित (प्रथक् किये हुए) जीव का ब्रह्मभाव कहेगे, "वहाँ तीन शरीर कौन से हैं और उस शरीरोपाधि जीव का क्या रूप होता है" इस विज्ञासा का उत्तर देते हुए कहते हैं कि अविद्या स्थूल-सूक्ष्म-शरीरादि की कारणरूप है और प्रकृति की अवस्था विशेष होने से इस अविद्या को भी उपचार से 'कारण' कहते है तथा तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाती है इसलिए इसे 'शरीर' कहते हैं। इस अविद्यारूप कारण शरीर में, अभेदाध्यास से, "मैं अज्ञ हूँ" ऐसा अभिमान करने वाला जीव प्राज्ञ है। जिसकी ज्ञानदृष्टि अविनाशी स्वरूप है वह 'प्रज्ञ' और प्रज्ञ को ही "प्राज्ञ" कहते हैं ॥१७॥

अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतो की उत्पत्ति

क्रम से प्राप्त सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म शरीररूप उपाधि वाले जीव का प्रतिपादन करने के लिए, सूक्ष्म शरीर के कारणभूत आकाश आदि की उत्पत्ति वतलाते है . –

तमःप्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया ।
वियत्पवनतेजोम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे ।।१८

अन्वय—तद्भोगाय तम.प्रधानप्रकृते ईश्वराज्ञया वियत्पवनतेजो-म्बुभुव. भूतानि जज्ञिरे ।

उन प्राज्ञ जीवो को सुख-दु ख का साक्षात्कार कराने के लिये जगत् की उपादानकारणभूत पूर्वोक्त तमोगुण-प्रधान प्रकृति मे से, प्रेरणादि-शक्ति से युक्त ईश्वर की ईक्षणापूर्वक सर्जनेच्छारूपा निमित्तकारण बनी आज्ञा द्वारा, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथवी ये पाँच भूत प्रकट हुए ।।१८।।

भूतो का प्रादुर्भाव बताकर भौतिक सृष्टि [भूतो के कार्यों की सृष्टि] को बताते हुए पहले ज्ञानेन्द्रिय-सृष्टि को कहते हैं ।

सत्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम् ।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते ।।१९

अन्वय—तेषाम् पञ्चभि सत्त्वांशै. श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यम्, धीन्द्रियपञ्चकम् क्रमात् उपजायते ।

उन आकाश आदियो के उपादान-भूत पाँच सत्त्वगुण भागो से क्रमश. कान, त्वचा, आख रसना और घ्राण, ये ५ ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं ।।१९ ।

अन्त.करण की उत्पत्ति और उसके भेद

प्रत्येक भूत के सत्वगुणाशो के साधारण कार्य (एक ही के विशेष कार्य) को कहकर अब सब भूतो के सत्वगुणाश के साधारण (सबका कार्य) कार्य को बताते हैं —

तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्द्विधा ।
मनो विमर्शरूपं स्याद्बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ।।२०

अन्वय—तै सर्वै अन्त.करणम् । तत् वृत्तिभेदेन द्विधा, विमर्शरूपम् मन. स्यात्, निश्चयात्मिका बुद्धि स्यात् ।

सब सम्मिलित भूतो मे जो सत्त्वगुण भाग हैं उनसे मन और बुद्धि का उपादानभूत अन्त करण, वृत्ति (परिणाम) के भेद से, दो प्रकार का है ।

इनमे से विमर्श सशयात्मिका वृत्ति को कहते हैं अन्त.करण का विमर्श (सशयात्मक) रूप 'मन' है । तथा जिस वृत्ति का स्वरूप निश्चित है, वह वृत्ति बुद्धि कहलाती है ।

कर्मेन्द्रियो की उत्पत्ति

क्रम-प्राप्त रजोगुण के प्रत्येक अश के आसाधारण (विशेष) कार्यों को वतलाते हैं—

रजोंशै पञ्चभिस्तेषां क्रमात्कर्मेन्द्रियाणि तु ।
वाक्पादपाणिपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे ॥२१

अन्वय—तेषां पञ्चभि. रजोऽशै. तु क्रमात् वाक् पाणि-पाद्-पायु-उपस्था-भिधानानि कर्मेन्द्रियाणि जज्ञिरे ।

आकाश आदि पाच भूतो के ही पाच उपादानभूत रजोगुण-भागो से क्रमश वाणी, हाथ, पाद, गुदा और शिश्न नाम की, क्रियाजनक पांच कर्मेन्द्रिया उत्पन्न हुईं । एक-एक भूत के एक-एक रजोभाग से एक-एक कर्मेन्द्रिय उत्पन्न हुई ॥२१॥

प्राण की उत्पत्ति और उसके भेद

तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात्स पञ्चधा ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः ॥२२

अन्वय–सहितै तै. सर्वै प्राण । स. वृत्तिभेदात् पञ्चधा । ते पुन. प्राण., अपान., समान., उदानव्यानौ च ॥

उन पांच भूतो के पाँच रजो अंश जव मिलकर कारण वनते

है तो उनसे एक प्राण उत्पन्न होता है। प्राणन, अपानन, समानन, उदानन और व्यानन क्रियाओ के भेद से वह प्राण, प्राण-आपान-समान-उदान और व्यान नामो से पाँच प्रकार का है।

[ऊर्ध्व (ऊँचा) गमनस्वभाव, नासिका के अग्रभाग में स्थित रहने वाला वायु प्राण है। नीचे आने के स्वभाव वाला गुदा आदि मे स्थित रहने वाला वायु अपान है। शरीर के मध्य मे स्थित अन्न के रस आदि को सारे शरीर मे नाडी द्वारा पहुँचाने वाला वायु समान, ऊर्ध्व चलने वाला कण्ठ मे स्थायी उदान और सब नाडियो मे विचरणशील सारे शरीर मे स्थायी वायु को व्यान कहते हैं।] ॥२२॥

सूक्ष्म शरीर का रूप, लिंग देह का कथन

आकाश से प्राण-पर्यन्त पदार्थों की उत्पत्ति बताने का प्रयोजन अब वर्णन करते है :—

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिंगमुच्यते ॥२३

अन्वय—बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकै, मनसा, धिया—सप्तदशभि.—सूक्ष्मम् शरीरम्, तत्, लिङ्गम् उच्यते।

बुद्धि अर्थात् ज्ञान की जनक ज्ञानेन्द्रिय और क्रियाओ की जनक कर्मेन्द्रिय और प्राण, इन तीनो के पचक अर्थात् ये पन्द्रह तथा मन और बुद्धि इन सब सत्रह तत्वो का नाम सूक्ष्म शरीर है उस सूक्ष्म शरीर को ही उपनिषदो मे लिंग कहा है ॥२३॥

तैजस और हिरण्यगर्भ का रूप

जिस सुषुप्ति-अभिमानी को प्रकृष्ट स्वय प्रकाश रूप आनन्दात्मा मे अज्ञान की वृत्तिरूप बोध है, उसे प्राज्ञ कहते हैं। सस्काररूप अस्पष्ट उपाधियुक्त होने से, उस उपाधि से आवृत होने के कारण, अति प्रकाशता के अभाव से इस सुषुप्ति-अभिमानी जीव का प्राज्ञ-

पन है। और सब जीवो का कर्मानुसार ईशिता अर्थात् फलदाता होने के कारण परमात्मा ईश्वर है। यहाँ इन दोनो की दूसरी अवस्था दिखलाते हैं —

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते ।
हिरण्यगर्भतामीशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टिता ॥२४

अन्वय—प्राज्ञ तत्र (लिंग शरीरे) अभिमानेन तैजसत्वम्, प्रपद्यते, ईश हिरण्यगर्भताम्। तयो व्यष्टिसमष्टिता।

वह मलिनसत्वगुणप्रधान-अविद्या-उपाधिवाला कारण शरीर का अभिमानी जीव (प्राज्ञ) तेज. शब्द से वाच्य अन्त.करण से उपलक्षित लिंगशरीर मे अभेद का अभिमान करने से तैजस कहलाता है। और विशुद्धसत्वगुणप्रधान-माया-उपाधिवाला परमेश्वर उस लिंग शरीर मे "मैं हूँ" ऐसा अभिमान कर हिरण्यगर्भ कहलाता है। उन दोनो तैजस और हिरण्यगर्भ का लिंग शरीर में अभिमान एक समान है, भेद क्या है? भेद है—'तयो व्यष्टि-समष्टिता' इन दोनो मे से एक (तैजस या जीव) व्यष्टि है, दूसरा (हिरण्यगर्भ) समष्टि है।

तैजस और हिरण्यगर्भ के व्यष्टित्व और समष्टित्व का कारण क्या है?

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ।
तदभावात्ततोऽन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया ॥२५

अन्वय—ईश सर्वेषाम् स्वात्म्यतादात्म्यवेदनात् समष्टि. । ततः अन्ये तु तत्+अभावात् व्यष्टिसंज्ञया कथ्यन्ते।

हिरण्यगर्भ ईश्वर, लिंग शरीर उपाधिवाले सब तैजस जीवो का जो स्वरूप है उसके साथ अपनी एकता को जानता है–ये सब मिलकर 'मै हूँ' ऐसा समझता है–इस कारण समष्टि हो जाता है।

उस ईश्वर से इतर जीव, उस सर्वस्वात्मा की एकता के ज्ञान के अभाव के कारण (सब के साथ एकत्वज्ञान के न होने से) व्यष्टि कहलाते है ।।२५।।

पञ्चीकरण का निरूपण और उसका प्रयोजन

लिंग शरीर और उस उपाधि वाले तैजस तथा हिरण्यगर्भ दोनो का निरूपण कर अब स्थूल शरीर (ब्रह्माण्ड) आदि की उत्पत्ति वताने के लिए पचीकरण का निरूपण करते है :—

तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने ।
पंचीकरोति भगवान्प्रत्येकं वियदादिकम् ।।२६

अन्वय—भगवान् पुन. तद्भोगाय भोग्यभोगायतनजन्मने वियदादिकम् प्रत्येकम् पञ्चीकरोति ।

सम्पूर्ण ऐश्वर्य धर्म-यश-लक्ष्मी-ज्ञान और वराग्य इन छ गुणो को भग कहते है । वह ऐश्वर्यादिषड्गुणो वाला परमेश्वर, फिर भी उन जीवो को (भोग) सुखदु ख का साक्षात्कार कराने के लिए अन्नपान आदि भोग्य और जरायुज अडज आदि चार प्रकार के शरीर रूप भोग्य स्थान–की उत्पत्ति के लिए आकाश आदि पाच-भूतो मे से प्रत्येक को पाच-पाच प्रकार का करना ही पञ्चीकरण कहलाता है ।।२६।।

पञ्चीकरण का स्वरूप दर्शाते हैं .—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पंच पच ते ।।२७

अन्वय—एकैक द्विधा विधाय पुनः च प्रथमम् चतुर्धा. स्वस्वेतर द्वितीयांशै. योजनात ते पच-पच

आकाश आदि प्रत्येक भूत के पहले दो-दो भाग किये जाँय । फिर उनमे के पहले एक-एक भाग के चार-चार भाग किये जाँय ।

[तथा दूसरे आधे भागों को वैसा ही रखा जाय] अब अपने तथा अपने से भिन्न दूसरे चार भूतो के दूसरे स्थूल भागो के साथ योग करने से ये पाचों भूत प्रत्येक पाँच-पाँच प्रकार के हो जाते हैं। अर्थात् प्रत्येक भूत मे आधा भाग अपना है तथा आधे में शेष ४ भूत हैं।

इस रीति से पचीकरण बताकर उन भूतो से उत्पन्न करने योग्य कार्यो को दिखलाते हैं :—

तैरण्डस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः ।
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन्देहे वैश्वानरो भवेत् ॥२८

अन्वय —तैः अण्ड, तत्र भुवनम् भोग्यभोगाश्रयोद्भव. ।

उपादानकारणभूत उन पचीकृत भूतो से ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है। उस ब्रह्माण्ड के भीतर ऊपर के भाग में भुवन अर्थात् पृथिवी आदि सातलोक और भूमि के नीचे सात अतल आदि पाताल लोक उन भुवनो में नाना प्राणियो के भोगयोग्य अन्न आदि और नाना भुवनो के योग्य शरीर—ये सब उन पचीकृत भूतो से ईश्वर की आज्ञा (इच्छा) से उत्पन्न होते हैं।

हिरण्यगर्भ का वैश्वानर बन जाना

अन्वय—अस्मिन् स्थूले देहे वर्तमानः हिरण्यगर्भः वैश्वानरः भवेत् ।

इस ब्रह्माण्डरूप स्थूल देह मे वर्तमान—इनमे अहभाव करने वाला समष्टिरूप हिरण्यगर्भ, वैश्वानर हो जाता है। [समग्र प्राणियो में 'मैं' अभिमान रखता है इस लिए 'ईश्वर' वैश्वानर कहलाता है। वह वैश्वानर ही विविध प्रकार से प्रकाशमान होने से विराट् भी कहलाता है] ॥२८॥

तैजस का विश्व बनना।

तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादय. ।
तेपराग्दर्शिन: प्रत्यक्तत्वबोधविवर्जिता ॥२६

अन्वय—तैजसा विश्वताम् याता देवतिर्यङ्नरादय । ते पराग्दर्शिन , प्रत्यक्तत्वबोधविवर्जिता ॥२६॥

उस एक-एक स्थूल देह मे अभिमान करने वाले तैजस जीव विश्व कहलाने लगते है, वे ही देव, पशुपक्षी तथा मनुष्य आदि कहलाते हैं। और वे देव आदि जीव बाह्य शब्दादि विषयो को ही देखते हैं, वे प्रत्यगात्मा को नही देखते । श्रुति में कहा भी है—"पराचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियो को बहिर्मुख बना दिया; इसलिए पुरुष बाह्य वस्तुओ को देखता है, अन्तरात्मा को नही । नैयायिक आदि तार्किक जीव, देहभिन्न आत्मा को जानते हैं तो भी उन्हे श्रुतिप्रतिपादित असग आत्मरूप का यथार्थ ज्ञान नही होता वे जीव (प्रत्यक्तत्वबोधविवर्जिता) साक्षीरूप आत्मा के ज्ञान के न होने के कारण बाह्यदर्शी हैं ॥२६॥

कुर्वके कर्म भोगाय कर्म कर्तुंच भुंजते ।
नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते ।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥

अन्वय—भोगाय कर्म कुर्वते च कर्म कर्त्तुम् भुञ्जते, ते नद्याम् आवर्तात् आवर्तान्तरम् आशु कीटा इव जन्मन। जन्म व्रजन्त निर्वृतिम् नैव लभन्ते ॥

वे जीव, प्रत्यक्तत्त्वबोध के न होने कारण सुखादि के अनुभवरूप भोग के लिए मनुष्यादि शरीरो मे रहकर, उस-उस

शरीर के योग्य कर्मों को करते हैं, और कर्म करने के लिए देवादियों के शरीरों से उस-उस फल को भोगते हैं। [यदि फलानुभव न माना जाय तो फल के सजातीय सुख की इच्छा के उत्पन्न न होने के कारण उस-उस इच्छानुकूल साधन का अनुष्ठान नहीं बनता।] जैसे नदी की धार मे पड़े कीडे एक भवर से दूसरी भवर में जाते-आते सुखी नही रहते, इसी प्रकार इस स्थिति मे विद्यमान जीव भी शीघ्र-शीघ्र एक जन्म मे जाते-आते सुखी नही रह पाते ॥३०॥

दुःखनिवृत्ति के लिए कीट का दृष्टान्त

सत्कर्मपरिपाकात्ते करुणानिधिनोद्धृताः ।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथासुखम् ॥
उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात्तत्त्वदर्शिनः ।
पंचकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृतिं पराम् ॥३२॥

अन्वय—ते सत्कर्मपरिपाकात् करुणानिधिना उद्धृता तीरतरुच्छायां प्राप्य यथासुखम् विश्राम्यन्ति ॥ एवम् तत्त्वदर्शिन. आचार्यात् उपदेशम् अवाप्य पञ्चकोशविवेकेन परां निर्वृतिम् लभन्ते ॥३२॥

वे कीडे आदि पूर्वजन्म मे किये अपने कर्मों के फल के कारण किसी दयालु द्वारा नदी-प्रवाह के बाहर निकाले जाते हैं और तट पर लगे किसी वृक्ष की छाया में पहुँच कर विश्राम पाते हैं।३१।

ऐसे ही अपने पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म के परिपाक के कारण ही, प्रत्यक्-अभिन्न ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्दर्शी गुरु से 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यार्थों का आगे बताया गया ज्ञान कराने वाले उपदेश को प्राप्त कर लेते हैं। ३२॥

अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पंच ते ।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ॥

अन्वय—अन्नम्, प्राण., मन', बुद्धि, च आनन्द इति ते पञ्च कोशा., तै आवृत स्वात्मा मसृतिम् व्रजेत् ।

उन पाच कोशो के नाम क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, बुद्धिमय और आनन्दमय हैं। [ये कोश क्रमश भोगायतनरूप, क्रियाशक्तिमान् कार्यरूप, इच्छाशक्तिमान् कारणरूप, ज्ञानशक्तिमान् कर्तारूप और भोक्तारूप हैं।]

इन अन्नमयादि कोशो से ढका हुआ स्वरूपभूत आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर जन्मादिप्राप्ति रूप ससार मे आता है। जैसे कोश, कोश वनाने वाले कीडे को ढाप कर उसके दु ख का कारण वनता है, इसी प्रकार अन्नमय आदि भी आत्मा की अद्वयता-आनन्दरूपता आदि को ढक कर उसके लिए क्लेश हेतु होते हैं, इसीलिये इनको कोश कहते है [सत्ता, चेतनता आनन्द रूपता और अद्वयता ये चार आत्मा के विशेषण है, इसी प्रकार असत्ता, जडता, दु खरूपता और सद्वयता (द्वैत सहितता) ये चार देहादिको के विशेषण हैं। आत्मा की सत्ता-चेतनताने देहादिक की असत्ता (मिथ्यातत्व) और जडता ढकी हुई है, इसीलिए देहादिक सत् और चेतन की तरह प्रतीत होते हैं। और देहादिक की दु ख रूपता और सद्वयता ने आत्मा की आनन्द रूपता और अद्वयता को ढका हुआ है, इसलिए आत्मा दु खी और द्वैत-सहित प्रतीत होता है। इन दो विशेषणो के ढके जाने की तरह ही पूर्णता, नित्यमुक्तता आदि विशेषण भी ढके रहते है। आत्मा और पचकोशो का यही अध्यास है] ॥२३॥

अन्नमय और प्राणमय कोश का स्वरूप

स्यात्पञ्चीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः ।
लिङ्गे तु राजसैः प्राणैः प्राणः कर्मेन्द्रियैः सह ॥

अन्वय—पञ्चीकृतभूतोत्थ स्थूल देह अन्नसज्ञक । प्राण तु लिंगे राजसै प्राणै कर्मेन्द्रियै सह स्यात् ।

पचीकृतभूतो से उत्पन्न स्थूलदेह का नाम 'अन्न' है और कोश अन्नमय कोश कहलाता है। लिंग शरीर में विद्यमान, रजोगुण के कार्यभूत प्राण-अपान आदि पाचवायु और वाक् आदि पाच कर्मेन्द्रिय–इन दस तत्त्वो का नाम प्राणमय कोष है ।।३४।।

मनोमय और विज्ञानमय कोश का स्वरूप

सात्त्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः ।
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ।।३५

अन्वय—विमर्शात्मा सात्त्विकै धीन्द्रियै. साक मनोमय. । निश्चयात्मिका धी: तै एव साक विज्ञानमय ।

विमर्शात्मा अर्थात् सशय रूप तथा पाच भूतो के सत्वांशो का कार्यभूत मन और एक-एक भूत के सत्त्वगुण अश की कार्यभूत कर्णआदि पाँच ज्ञान-इन्द्रिया, इन सव का नाम मनोमय कोश है। निश्चयरूपा तथा उन्ही भूतों के सत्त्वगुण अशो की कार्यरूपा वुद्धि और पूर्वोक्त पाँचो ज्ञानेन्द्रियां मिलकर विज्ञानमय कोश है।

आनन्दमय कोश का स्वरूप

कारणे सत्त्वमानन्दमयो मोदादिवृत्तिभिः ।
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत् ।।

अन्वय—कारणे सत्व मोदादिवृत्तिभिः आनन्दमय । आत्मा तु तत्तत्कोशै. तादात्म्यात् तत्तत्+मय भवेत् ।

कारणशरीररूपा अविद्या मे विद्यमान मलिन सत्वगुण और प्रियवस्तु के दर्शन-लाभ-भोग से जन्य, प्रिय, मोद-प्रमोद नाम वाले सुखो का नाम आनन्दमय कोश है।

(शङ्का) जब कि अन्नमय आदि शब्द तो स्थूल शरीर आदि के वाचक हैं, तब आत्मा को अन्नमय आदि से कैसे वर्णित किया जा सकता है ? जैसे कि 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' से लेकर 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योतर आत्मा प्राणमयोऽन्योतर आत्मा मनोमय' तक की श्रुतियों मे कहा गया है। (समाधान) देहादि तो अन्नादि के विकार होने से अन्नमय शब्द से वाच्य हैं और आत्मा इसलिये अन्नमय आदि शब्द से वाच्य है कि आत्मा का उस उस कोश के साथ अध्यास है। 'आत्मा तु तत्तत्कोशे तादात्म्यात् तत्तन्मय भवेत्, व्यवहार मे अन्नमय आदि कोशो की प्रधानता होती है, अतएव प्रत्यगात्मा के उन-उन कोशो के साथ तादात्म्य का अभिमान होने से अन्नमय आदि शब्दो से वाच्य होता है। (श्लोक मे पड़ा 'तु' शब्द कोशो से आत्मा के भेद को जतलाता है) ॥३६॥

अन्वय-व्यतिरेक से आत्मा के ब्रह्मरूप का ज्ञान

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः ।
स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते ॥३७

अन्वय—अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् पञ्चकोशविवेकत., ततः स्वात्मानम् उद्धृत्य परम् ब्रह्म प्रपद्यते।

आगामी श्लोको मे वर्णित अन्वय और व्यतिरेक से पचकोशो का, प्रत्यगात्मा से भेदज्ञान प्राप्त करके (अथवा अन्नमय आदि पाचकोशो से आत्मा को पृथक् करके) और प्रत्यक् आत्मा अर्थात् अपने आपको उन कोशो से बुद्धि द्वारा निकाल कर अर्थात् अपने चिदानन्द स्वरूप का निश्चय कर अधिकारी पूर्वोक्त (१०-१५ श्लोको मे वर्णित) ब्रह्म को प्राप्त करता अथवा ब्रह्म ही हो जाता है ॥३७॥

अन्वयव्यतिरेक का स्वरूप

अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः ।
सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम् ।।

अन्वय —स्वप्ने स्थूलदेहस्य अभाने आत्मन. यत् भानम् स: अन्वयः तद्भाने अन्यानवभासनम् व्यतिरेक' ।

स्वप्नावस्था मे अन्नमयकोश रूप स्थूलदेह की अप्रतीति के होने पर, साक्षी आत्मा का, स्वप्न का साक्षी होने के कारण, जो स्फुरण है, वह आत्मा का अन्वय है। और उसी स्व नावस्था मे उस आत्मा का स्फुरण होने पर स्थूलदेह की जो अप्रतीति है वह स्थूलदेह का व्यतिरेक है। [इस प्रकरण मे अन्वय और व्यतिरेक शब्दो से क्रमश. अनुवृत्ति (अनुस्यूतता) और व्यावृत्ति (भिन्नता) का ग्रहण होता है।

सुषुप्ति में आत्मा का अन्वय और लिंगदेह का व्यतिरेक

लिङ्गाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः ।
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिङ्गस्याभानमुच्यते ।।३६

अन्वय—सुषुप्तौ लिगाभाने आत्मन भानम् अन्वयः स्यात् । तद्-भाने लिगस्य अभान तु व्यतिरेक. उच्यते ।

सुषुप्ति अवस्था मे सूक्ष्मदेहरूप लिग की अप्रतीति होते हुए आत्मा का अवस्था के साक्षिरूप मे स्फुरण होना आत्मा का अन्वय है और उस आत्मा का भान होते हुए लिग शरीर का अभान होना लिगदेह का व्यतिरेक है ।।३६।।

(प्रश्न) पचकोश का विवेचन करते-करते लिंगदेह का विवेचन करना तो प्रकरण से असगत है ? 'इसका उत्तर देने के लिए 'प्राणमय आदि तीनो कोश लिग शरीर मे ही आ जाते हैं,

अतएव पचकोशो के विवेचन मे लिगदेह का विवेचन अप्रासगिक नही है' यह बात इस प्रकार कहते है —

तद्विवेकाद्विविक्ताः स्युः कोशा प्राणमनोधियः ।
ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात्पृथक्कृताः ॥४०

अन्वय—तद्विवेकात् प्राणमनोधिय. कोशा. विभिक्ता॰ स्यु । हि ते तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात् पृथक कृताः ।

लिंग शरीर के विवेचन से ही प्राणमय, मनोमय और ज्ञानमय कोश आत्मा से भिन्न विवेचित हो जाते है क्यो कि ये तीनों कोश उस लिंग शरीर में ही सत्त्वरजगुण की अवस्था भेद से ही, अर्थात् उनके गुणप्रधानभाव के कारण प्राप्त हुई विशेष अवस्था के कारण ही, पृथक् दिखाये है ॥४०॥

प्राणमय, केवल रजोगुण की अवस्था है। और मनोमय कर्मेंद्रियो से व्यवहार करने से और इच्छादि रजोगुण की वृत्ति से युक्त होने से सत्वरज दोनो की अवस्था है। विज्ञानमय केवल सत्व की अवस्था है। इस प्रकार अवस्था भेद से एक ही लिंग देह मे तीन विभिन्न कोश हो जाते हैं।

समाधि अवस्था मे आत्मा का अन्वय और कारण-देह का व्यतिरेक

सुषुप्त्यभाने भानं तु समाधावात्मनोऽन्वयः ।
व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम् ॥

अन्वय—समाधौ सुषुप्त्यभाने आत्मन. तु भानं अन्वय आत्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम् तु व्यतिरेक ।

आगे वर्णन की गई समाधि अवस्था मे सुषुप्ति शब्द से उपलक्षित कारणदेहरूप अज्ञान की अप्रतीति होने पर आत्मा का ही स्फुरण होता रहता है। वह आत्मा का अन्वय है। आत्मा की स्फूर्ति के होते रहने पर भी सुषुप्ति से उपलक्षित अज्ञान की

अप्रतीति ही, उस अज्ञान (सुपुप्ति) का व्यतिरेक है। यहां अनुमान इस प्रकार है —प्रत्यक् आत्मा अन्नमयादि से भिन्न है, क्योकि उन कोशो के आपस मे भिन्न प्रतीत होते हुए भी वह आप अभिन्न है जो उन कोशो के परस्पर भिन्न प्रतीत होते हुए भी, भिन्न प्रतीत नही होता, वह उन कोशो से भिन्न है, जैसे, फूलो से धागा या टूटे सीग की गौसे उसको गोत्वजाति। [जैसे फूलो के आपस मे भिन्न प्रतीत होते हुए भी उनमे पिरोया धागा आप स्वरूप से अभिन्न प्रतीत होता है, इसलिए पुष्पो से भिन्न है। अथवा जेसे खडित या विना सीग की गौओ की व्यक्ति (आकार) भिन्न प्रतीत होती हुई भी उनमे अनुस्यूत गोत्व जाति आप भिन्न प्रतीत नही होती इसलिए उन व्यक्तियो से पृथक् मानी जाती है] ।।४१।।

पञ्चकोशो द्वारा विवेचित आत्मा को ब्रह्म की प्राप्ति

अभी यह दर्शाचुके हैं कि अन्वय-व्यतिरेक से पचकोशो द्वारा विवेचित आत्मा ब्रह्म हो जाता है। इसकी प्रतिपादक 'अगुष्ठमात्र पुरुपोन्तरात्मा' (अगुष्ठमात्र पुरुप अन्तरात्मा है) से "त विद्यात् शुक्रममृतम्" (अन्तरात्मा को शुद्ध और अमर जाने) तक जो कठवल्ली मे कहा गया है उसका भावार्थ यहा देते हैं —

यथा मुञ्जादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः ।
शरीरत्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते ।।४२

अन्वय–यथा मुञ्जात् इषीका, एव आत्मा युक्त्या शरीरत्रितयात् धीरैः समुद्धृत पर ब्रह्म एव जायते ।

जिस प्रकार मूंज में से उसके वाहर ढक्कन को तरह विद्यमान

पत्तो को तोडकर सीक को बाहर निकालते है, इसी प्रकार ब्रह्म-चर्य आदि साधन-सम्पन्न आधिकारो जन भो जब अन्वय-व्यतिरेक लक्षण उपाय द्वारा पूर्वोक्त तीनो शरीरो से आत्मा को अलग कर लेते है, उसे विविक्तरूप मे पहचान लेते है, तो वह आत्मा ब्रह्म ही हो जाता है, क्योकि आत्मा और ब्रह्म दोनो मे ही चिदानन्द-रूपता लक्षण समानरूप से दीखने लगता है। फिर आत्मा के ब्रह्म होने मे सशय नही रहता ॥४२॥

आगामी ग्रन्थ का प्रयोजन

संभाविता एकता युक्त्या एवं परापरात्मनोः ।
सा तत्वमस्यादि वाक्यैः भागत्यागेन लक्ष्यते ॥४३

अन्वय—एवम् परापरात्मनो. एकता युक्त्या सभाविता, सा तत्व-मस्यादिवाक्यैः भागत्यागेन लक्ष्यते ।

अर्थ— अव तक परात्मा और अपरात्मा की एकता को युक्ति से सिद्ध किया, वही एकता 'तत्वमसि' आदि वाक्यो द्वारा भाग-लक्षणा से सिद्ध होती है ।

'तत्त्वमसि' महावाक्य के क्रमश 'तत्' और 'त्व' पदके अर्थ-भूत परमात्मा और जीवात्मा को एकता को, चिदानन्दरूपतामय लक्षण की समता दिखलाने आदि युक्तियो द्वारा जिज्ञासु अथवा वादी की बुद्धि में विठा दिया गया है। उसी एकता का वोध "तत्वमसि" आदि महावाक्यों द्वारा, विरुद्धाश को छोडकर लक्षणा वृत्ति (भाग त्याग लक्षणा) से यहा कराया जाता है ॥४३॥

'तत्' पद का वाच्यार्थ

जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम् ।
निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्गिरा ॥

अन्वय—यत् तामसीं मायां आदाय जगतः उपादानं, शुद्धसत्वां ता निमित्त ब्रह्म 'तत्' गिरा उच्यते।

अर्थ—जो ब्रह्म तामसी माया अर्थात् प्रकृति को लेकर जगत् का उपादान है और शुद्धसत्वयुक्तमाया को लेकर जो ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है वह ब्रह्म 'तत्' पद का वाच्य है।

सच्चिदानन्द लक्षण ब्रह्म, तमोगुण प्रधान माया को उपाधि-रूप से स्वीकार कर, चर-अचर कार्यसमूह रूप जगत् का उपा-दान, अर्थात् जगत् के अध्यास का अधिष्ठान होता है और विशु-द्धसत्वप्रधान माया को उपाधि रूप मे स्वीकार कर तमः प्रधान-प्रकृति रूप उपादान आदि* का जानने वाला कर्त्ता (निमित्त) हो जाता है, 'तत्व मसि' वाक्य में स्थित 'तत्' पद का वाच्य वही निमित्तोपादान दोनों रूप (जगत् का अभिन्न निमित्तोपादा-नकारण-अन्तर्यामी) ब्रह्म अथवा ईश्वर है ॥४४॥

'त्वं' पद का वाच्यार्थ

यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषिताम्।
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वंपदेन तदोच्यते ॥४५

अन्वय—तत् परं ब्रह्म यदा मलिनसत्वां कामकर्मादिदूषितां तां आदत्ते तदा 'त्वं' पदेन उच्यते।

वही परब्रह्म जिस अवस्था मे, कुछ रज और तमोगुण के मिल

---

*यहाँ आदि शब्द जीवों के—अदृष्ट, अपनी इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न, काल, दिशा, प्रागभाव, प्रतिबन्ध का भाव—इन आठो और निमित्त कारणो का ग्रहण है। जैसे कुम्हार, घट की उपादान मिट्टी तथा दण्ड, चक्र आदि दूसरे निमित्तो को जानने वाला घट का कर्त्ता है, वैसे ही सत्वप्रधानमाया से उपहित ब्रह्म भी जगत् की उत्पत्ति आदि की हेतु-भूत सब वस्तुओं का ज्ञाता है। अतएव वह जगत् का कर्त्ता है।

जाने के कारण मलिन सत्त्वगुण-प्रधान और काम-कर्मादि से दूषित हुई,' अविद्या शब्द की वाच्य, 'माया को उपाधि-रूप मे स्वीकार लेता है, तब वह 'त्व' पद से वाच्य हो जाता है ।।४५।।

लक्षणा से वाक्य के अर्थ का ज्ञान

त्रितयीमपि तां मुक्त्वा परस्परविरोधिनीम् ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते ।।४६

अन्वय—त्रितयीम् अपि परस्पर-विरोधिनी ता मुक्त्वा अखण्ड सच्चिदानद महावाक्येन लक्ष्यते ।

तम प्रधान, विशुद्ध सत्त्वप्रधान और मलिन सत्वप्रधान रूप से तीन प्रकार की बताई गई और इसीलिए परस्पर विरोधिनी माया को छोडकर (श्रुति और युक्ति दानो से ही मिथ्या जानकर अखड अर्थात् भेद-रहित सच्चिदानन्द ब्रह्म का ज्ञान महावाक्य द्वारा लक्षणा से होता है। [जब तीनो प्रकार की परस्पर-विरोधिनी माया का परित्याग कर दिया जाता है तब तत्वमसि' आदि महावाक्य आते है और अधिकारी के सम्मुख सच्चिदानद ब्रह्म को लक्षित करने लगते हैं।] ।।४६।।

लक्षणावृत्ति से वाक्यार्थ ज्ञान का दृष्टान्त

सोऽयमित्यादिवाक्येषु विरोधात्तदिदन्तयोः ।
त्यागेन भागयोरेक आश्रयो लक्ष्यते यथा ।।४७

अन्वय—स अय इत्यादिवाक्येपु तदिद तयोः विरोधात् भागयो. त्यागेन एक आश्रय यथा लक्ष्यते ।

'यह वही देवदत्त है' इत्यादि वाक्यो मे, 'तत्ता' अर्थात् परोक्ष, दूरदेश तथा भूतकाल की विशिष्टतारूप धर्म-और 'इदन्ता' अर्थात्

यह अपरोक्ष-समीप देश तथा वर्तमानकाल की विशिष्टतारूप धर्म-इन दोनो के विरोध के कारण अथवा एकता की सम्भावना न होने के कारण विरुद्ध अशो को छोडने पर ही समानाश्रय देवदत्त पुरुष के शरीर को लक्षणा से जानते हैं।*

---

*किसी देवदत्त को यज्ञदत्त ने पहले कभी दूसरे देश मे देखा था वह देवदत्त अपने देश को छोडकर बहुत पीछे यज्ञदत्त के देश मे गया। वहाँ यज्ञदत्त ने अपने समीप बैठे किसी तीसरे पुरुष से कहा—"वही, अन्य देश मे पूर्वकाल मे देखा इस देश में इस समय प्राप्त, यह देवदत्त है।" यह सुन कर श्रोता ने यज्ञदत्त से पूछा—'अन्य देशकाल और इस देशकाल की एकताओ का विरोध है, अतएव उस देश कालवाले पुरुष का इस देशकालवाला होना कैसे सम्भव है? यज्ञदत्त ने उत्तर दिया—उस देश-कालयुक्तता रूप धर्म पर ध्यान न देकर उन दोनो धर्मों मे अनुस्यूत देवदत्त एक ही है—यह मेरे कहने का अभिप्राय है। यह सुनकर श्रोताने वही यह देवदत्त है ऐसा निश्चय किया।

इसी प्रकार "सृष्टि से पहले एक ही अद्वितीयरूप ब्रह्म था।" श्रुति से यह बात सुनी। उस ब्रह्म को तत्वज्ञानी महात्मा ने अपना आपा करके जाना। वही ब्रह्म पीछे सृष्टि समय में अविद्योपाधिद्वारा जीवरूप हो, ससार मे भ्रमण करता-करता, किसी सत्कर्म के फलस्वरूप विवेकानन्द से सम्पन्न शिष्य बनकर, विधिपूर्वक महात्मा गुरु की शरण मे आया तो गुरु ने कहा—'वह' सृष्टि से पूर्व विद्यमान एक ही अद्वितीय सत्रूपब्रह्म, "तू" सृष्टिरचना के पीछे ससार में भटकने वाला जीव है।" यह सुन कर उस शिष्यरूप जीव ने मनरूप श्रोता द्वारा कहा—"गुरो! मैं अल्पज्ञ अल्पशक्तिवान्, स्वतन्त्र आदि श्रेष्ठ परमेश्वर कैसे हो सकता हूँ?" तब गुरु ने कहा—"ईश्वर की समष्टिस्थूलसूक्ष्मप्रपञ्च सहित माया उपाधि तथा उस माया उपाधि से रचे गये सर्वज्ञता आदि

दार्ष्टान्तिक

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ।।४८

अन्वय-एवम् परजीवयो उपाधी मायाविद्ये विहाय अखण्ड सच्चिदानन्द पर ब्रह्म लक्ष्यते ।

ठीक ऐसे ही (जैसे कि 'सो देवदत्त है, इत्यादि वाक्य में बताया) परमात्मा और जीव की उपाधियो-पूर्वो माया और अविद्या-को छोड देने पर, अखण्डसच्चिदानन्दस्वरूप, परब्रह्म ही महावाक्य द्वारा लक्षित होने लगता है ।।४८।।

सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्यादवस्तुता ।
निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च संभवि ।।

अन्वय-सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य अवस्तुता स्यात् । निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्व न दृष्टम्, च न सम्भवि ।

(शका) महावाक्य के द्वारा लक्षण से ज्ञातव्य ब्रह्म विकल्प सहित है या विकल्परहित ? रस्सी से विपरीत रूप मे कल्पित जैसे साप है वैसे अखण्डसच्चिदानन्द ब्रह्म से विपरीत, खण्डित, असत्

धर्मों को और उत्पत्तिस्थितिप्रलय तथा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूप काल को सपना-सा तथा मनोराज्य की भान्ति कल्पित होने से मिथ्या जानकर, 'ये हैं ही नही' इस प्रकार इनका विचार तक छोडकर, "शेष अखड सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म मैं ही हूँ यह जान ।' इस प्रकार जीव ने मनरूपी श्रोता द्वारा सुनकर, मनन निदिध्यासन करके अपने आपको ब्रह्मरूप में प्रत्यक्ष किया ।

आदि रूप मे कल्पित नाम-जाति आदि धर्म है। विपरीतरूप में कल्पित नाम जाति आदि को ही वेदान्त में विकल्प कहते हैं। इन नाम जाति आदि के सहित विद्यमान को सविकल्प कहते हैं। यदि महावाक्य से जानने योग्य को सविकल्प मानें तो इसका लक्ष्य ब्रह्म मिथ्या सिद्ध हो जायगा, क्योकि नामजाति आदि धर्म-वाली घट पट आदि वस्तुयें मिथ्या दीख पडती हैं।

यदि निर्विकल्प लक्ष्य है ऐसा कहो तो, वात यह है कि नाम जाति आदि से रहित कोई लक्ष्य बना हो ऐसा लोक में न कभी देखा है, न सुना है और ऐसा होना सम्भव भी नही है क्योकि लक्ष्यतारूप धर्म से युक्त को निर्विकल्प कैसे कह सकते हैं। 'लक्ष्य' में रहने वाला 'लक्ष्यत्व' भी तो एक 'विकल्प' ही है। किसी को 'लक्ष्य मानना और उसी को निर्विकल्प कहना 'व्याघातदोष' से युक्त है, जैसे किसी का यह कहना कि मेरी माता वन्ध्या थी-— अपने ही कथन का खण्डन करना है। घट में घटत्व और गौ मे गौत्व की न्याई, लक्ष्य अर्थात् शब्द की लक्षणावृत्ति से ज्ञातव्य वस्तु मे लक्ष्यता एक धर्म है, वही विकल्प हुआ ॥४६॥

सिद्धान्ती द्वारा इस शका मे दोष-दर्शन

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत्।
आद्ये व्याहतिरन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः ॥५०

अन्वय—विकल्प निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत्। आद्ये व्याहृति। अन्यत्र अनवस्थात्माश्रयादय दोषाः।

सिद्धाती—हे वादी! यह बता कि तूने जो यह प्रश्न किया कि 'महावाक्य से लक्षित ब्रह्म निर्विकल्प है या सविकल्प ?' इसमें तूने जो विकल्पकियाहै वह क्या निर्विकल्प ब्रह्म का होगा या सविकल्प ब्रह्म का ? यदि तुम निर्विकल्प ब्रह्म का विकल्प मानो

तो उसमे तो व्याघातदोष ही है। क्योकि उसी ब्रह्म को निर्विकल्प भी कहता है और उसमे विकल्प भी करता है।

यदि 'सविकल्प का विकल्प किया है' यह दूसरा पक्ष मानो तो इसमे आत्माश्रय, अनवस्था आदि चार दोष आते हैं। इनका क्रमश वर्णन करते हैं—

(१) "सविकल्प ब्रह्म का विकल्प' है इस वाक्य में सविकल्प शब्द का क्या अर्थ है? विकल्प के साथ जो विद्यमान हो वह सविकल्प हुआ। यहा विकल्प शब्द दो रूपो मे आया एक तृतीया विभक्ति वाला (विकल्प के साथ) और दूसरा प्रथमा विभक्ति वाला (सविकल्प ब्रह्म मे विकल्प)। इन दोनो मे क्या विकल्प एक ही है या दो हैं? यदि दोनो मे एक विकल्पमानो तो एक ही विकल्प, विकल्पके आश्रय भूत सविकल्प ब्रह्म का विशेषण हुआ और इस प्रकार आप ही अपना आश्रय हुआ।* अर्थात् प्रथमान्तरूप जो तेरा विकल्प है उसका आश्रय, सविकल्प ब्रह्म का विशेषणरूप तृतीयान्त विकल्प भी तेरे प्रथमान्त विकल्प का आश्रय है। क्यो? विशिष्ट मे रहने वाला धम विशेषण में नियम से रहता ही है और फिर उस आश्रय बने तृतीयात विकल्प रूप

---

*एक ही विकल्प तृतीयान्त-रूप से प्रथमान्तरूप अपने आप का आश्रय कैसे हुआ? क्योकि विशेषणसहित वस्तु मे जो धर्म रहता है वह विशेषण मे भी रहता है यह नियम है। 'दण्डी (दण्डवाला)' आया है' इस वाक्य मे दण्ड, विशेषण (आधेय) और पुरुष, विशेष्टा (आधार) है, दण्डरूप विशेषण से युक्त दडी पुरुष मे 'आना' रूप जो धर्म है वही धर्म दण्ड-रूप विशेषण मे भी रहता है—दण्डी पुरुष आया है तो दण्ड भी तो आया है। सिद्धान्त मे दण्डी के स्थान पर सविकल्प ब्रह्मात्मा विशेष्य है और दण्ड के स्थान पर तृतीयान्त विकल्प विशेषण है और दण्ड-विशिष्ट दण्डी के स्थान पर

आप में प्रथमान्त विकल्प रहा तो आप ही (प्रथमान्तरूप विकल्प) आप (तृतीयान्तरूप आश्रय) के आश्रित हो गया, अर्थात् एक ही विकल्प जो तृतीयान्तरूप मे आश्रय है वही विकल्प प्रथमान्तरूप से आश्रित हुआ। यही आत्माश्रय दोष है अर्थात् अपनी सिद्धि मे अपनी ही अपेक्षा करनी पडती है।

(२) यदि प्रथमान्त विकल्प और तृतीयान्त विकल्पो को परस्पर भिन्न दो मानें तो तृतीयान्त विकल्प भी विकल्प है, और उसका आश्रय ब्रह्म भी सविकल्प है इसलिए उस तृतीयान्त विकल्प के आश्रय ब्रह्म का विशेषण कोई विकल्प मानना होगा। इस वाक्य से यह सूचित किया है—प्रत्येक विकल्प, सविकल्प अर्थात् विकल्प सहित आश्रय मे रहता है, निर्विकल्प मे नही, जैसे प्रथमान्त रूप तेरा विकल्प सविकल्प आश्रय मे रहता है, ऐसे ही सब विकल्प-सविकल्प आश्रय मे रहने वाले हुए। इसलिये जैसे प्रथमान्तरूप तेरे विकल्प की स्थिति के लिये तृतीयान्त विकल्प के आश्रय ब्रह्मरूप को सविकल्प किया है वैसे तृतीयान्त विकल्प की स्थिति के लिए कोई भी विशेषणरूप विकल्प का आश्रय सविकल्प करने के योग्य ही है और जो तृतीयान्त विकल्प के आश्रय (ब्रह्म) का विशेषणरूप विकल्प है उस विकल्प को विशेषणीभूत विकल्प कहते हैं। वह विशेषणीभूत विकल्प क्या प्रथमान्तरूप ही है अथवा उन प्रथमान्त और तृतीयान्त दोनो

वस्तु मे रहने वाले 'आना' क्रिया रूप धर्म के स्थान पर प्रथमान्तरूप वादी का विकल्प है। जैसे आना क्रिया का आश्रय, दण्डी पुरुष की भाँति, दण्ड भी है, ऐसे ही, जैसे वादी के प्रथमान्तरूप का आश्रय, ब्रह्म है वैसे ही सविकल्प-ब्रह्म का विशेषण-रूप तृतीयान्त विकल्प भी वादी के विकल्प प्रथमान्त का आश्रय है।

विकल्पो से भिन्न तीसरा विकल्प है ? प्रथमपक्ष मानने मे अन्योन्याश्रयदोष है। यह इस प्रकार है —दो वस्तुओ मे से एक दूसरे की सिद्धि के लिए एक दूसरे की अपेक्षा होना अन्योन्याश्रय दोष है। यहाँ प्रथमान्तरूप विकल्प की सिद्धि के लिए तृतीयान्त की अपेक्षा है और तृतीयान्त की स्थिति के लिए विशेषणीभूत विकल्प की अपेक्षा है। वह विशेषणीभूत विकल्प प्रथमान्तरूप में ही तूने स्वीकार किया है। इस प्रकार तृतीयान्त को प्रथमान्त की अपेक्षा हुई। इस रीति से यह अन्योन्याश्रय दोष है।

(३) यदि विशेषणीभूत विकल्प को प्रथमान्त और तृतीयान्त से भिन्न तीसरा विकल्प मानो तो इस विशेषणीभूत तीसरे विकल्प को भी आश्रय का अन्य विशेषणरूप धर्मि-विशेषणीभूत विकल्प मानना चाहिये क्योंकि प्रथमान्त और तृतीयान्त विकल्प की भाति यह भी विकल्प रूप है और विशेषणी भूत विकल्प के आश्रय ब्रह्म को, सविकल्प रूप होने के कारण, आश्रय का अन्य विशेषणरूप धर्मिविशेषणीभूत विकल्प मानना चाहिये। वह अन्य विशेषणरूप विकल्प क्या प्रथमान्त विकल्परूप है अथवा प्रथमान्त, तृतीयान्त और विशेषणीभूत तीसरे विकल्प से भी भिन्न चौथा विकल्प है ? प्रथम पक्ष मे चक्रिक दोष आता है। क्योकि चक्र की भाति घूमने का नाम चक्रक और चक्रिका है। यहाँ दोनो प्रथमात की स्थिति के लिये तृतीयान्त की अपेक्षा है और तृतीयान्त की स्थिति के लिए विशेषणीभूत तीसरे विकल्प की अपेक्षा है और उस विशेषणीभूत की स्थिति के लिये अन्य विशेषणरूप धर्मिविशेषणीभूत विकल्प की अपेक्षा है। वह अन्य विशेषणरूप ही माना है। फिर प्रथमान्त की स्थिति के लिये तृतीयान्त की, तृतीयान्त के लिये तीसरे विकल्प की और उसके लिये

प्रथमात की अपेक्षा है। इस प्रकार चक्कर में घूमने के कारण चक्रिका दोष होता है।

(४) जब धर्मिविशेषणीभूत विकल्प, प्रथमान्त, तृतीयान्त और विशेषणीभूत विकल्पो मे भिन्न चौथा ही विकल्प है तो क्यो कि यह अन्यविशेषण रूप चौथा विकल्प पूर्व की भान्ति विकल्परूप है, इसलिए, इसके आश्रय-ब्रह्म को भी सविकल्प करने के लिए कोई विशेषण-रूप पाँचवा विकल्प मानना पडेगा और यह पाचवा विकल्प भी, क्यो कि विकल्परूप ही है, अतएव इसके आश्रयभूत ही है, अतएव इसके आश्रयभूत ब्रह्म को सविकल्प करने के लिये कोई विशेषण-रूप छटा विकल्प मानना चाहिए। ऐसे ही आगे भी सातवा, आठवा आदि विकल्प मानने पडे गे, यह अनवस्था–प्रमाण रहित धारा रूप दोष है। लक्ष्य की भान्ति विकल्प पक्ष मे भी इसी प्रकार दोष है, उसे पृथिवी* के सयोगी घट के दृष्टान्त से जानो ॥५०॥

इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसम्बन्धवस्तुषु।
समं तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम् ॥५१

अन्वय—इद गुणक्रियाजातिद्रव्यसम्बन्धवस्तुषु समम्, तेन एतत् सर्वम् स्वरूपस्य इति इष्यताम्।

विकल्प पक्ष मे जो व्याघात-आत्माश्रय आदि बहुत से दोष बताए ये सब, गुण, क्रिया, जाति, द्रव्य, सम्बन्ध इन पाचो वस्तुओ में समान हैं। जैसे कि गुण क्या निर्गुण में रहता है, या सगुण में क्रिया, क्रिया-रहित मे है या क्रियावान् में ? आदि।

*प्रश्न यह है कि शुक्ल घट जो पृथिवी में सयोग-सम्बन्ध से रहता है वह घट-सयोग-रहित पृथिवी मे रहता है या घट-सयोग-सहित पृथिवी मे ? प्रथम पक्ष में तो अपने ही वचन का बाधरूप व्याघात दोष है;

यहाँ प्रथम पक्षो मे व्याघात, दूसरे पक्षों मे आत्माश्रयादि दोष उपस्थित हो जाते हैं।

सिद्धान्ती का सही उत्तर

इस प्रकार प्रतिवादी की शङ्का में दोष दिखा कर सिद्धान्ती सही उत्तर देता है —क्योकि ऊपर दिखाई रीति से विकल्प की सङ्गति नही बैठती इसलिए ये गुणादिक सब धर्म, स्वरूप के हैं। अभिप्राय यह है कि वस्तु के स्वरूप में कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध से रहते हैं ॥५१॥

अन्य अनात्म वस्तुओ में ऐसा हो परन्तु प्रसङ्गागत आत्मा में क्या स्थिति होगी ? इसका उत्तर देते हैं —

विकल्पतदभावाभ्यामसंस्पृष्टात्मवस्तुनि ।
विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसंबन्धाद्यास्तु कल्पिताः ॥५२

अन्वय—विकल्प तत्+अभावाभ्याम् असस्पृष्टात्मवस्तुनि विकल्पि-तत्व-लक्ष्यत्व–सम्बध+आद्या तु कल्पिताः ।

विकल्प और विकल्प के अभाव से जिसका कोई सम्बन्ध नही है उस प्रत्यक् अभिन्नपरमात्मा मे (१) विकल्पितपना, (२) लक्ष्यपना, और ३) सम्बन्ध आदि रस्सी मे साप की प्रतीति की भान्ति कल्पित ही हैं।

पृथिवी घट-सयोग-रहित भी कहते हो और घट सयोग भी बताते हो। यह ऐसा ही है जैसे कोई कहे 'मेरे मुख मे जिह्वा नही है, मेरे पिता बाल-ब्रह्मचारी हैं।' दूसरे पक्ष मे आत्माश्रयादि चार दोष हैं।'

(१) "विकल्प निर्विकल्प मे रहता है या सविकल्प मे ?" 'गुण निर्गुण मे रहता है या सगुण मे ?" इत्यादि विकल्प (सन्देह) का विषय होना विकल्पितपना है। (२) शब्द की लक्षणावृत्ति से जानने योगत्व को लक्ष्यत्व या लक्ष्यपना कहते हैं। (३) सम्बन्ध से संयोग,

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत् ।
युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत् ॥

अन्वय—इत्थ वाक्यै. तदर्थानुसधान श्रवण भवेत् । युक्त्या सम्भावितत्वानुसधान तु मननम् ।

४४ वे श्लोक से ५२ तक बताई गई रीति से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यो के द्वारा उनका, जीव-ब्रह्म की एकता बताने

समवायी और तादात्म्य आदि अनेक सम्बन्धो का ग्रहण है । दो द्रव्यो के सम्बन्ध को सयोग सम्बन्ध कहते हैं । यह सयोग तीन तरह का है—१ कर्मज, २ सयोगज, ३ सहज । कर्मज फिर दो प्रकार है । १ अन्यतर (दो मे से एक) कर्मज और २ उभय कर्मज । पक्षी की क्रिया से वृक्ष और पक्षी का सयोग अन्यतर कर्मज है । और दो मेढो की क्रिया से उनका सयोग उभय कर्मज है । सयोगरूप असमवायि-कारण मे जो सयोग होता है उसे संयोगज कहते हैं । जैसे हाथ और वृक्ष के सयोग से उत्पन्न, शरीर और वृक्ष का सयोग । सयोग के जन्म के साथ जो सयोग उत्पन्न होता है वह सहज कहलाता है । जैसे—सोने में पार्थिव (पीला रङ्ग और भार) और तैजस (द्रवत्व) भागो का सयोग सहज है । न्याय के अनुसार गुण-गुणी का, जातिव्यक्ति का, क्रिया-क्रियावान् का और उपादान कारण व कार्य का आपस मे जो सम्बन्ध है उसे समवाय सम्बन्ध कहते हैं। और स्वरूप सम्बन्ध का नाम तादात्म्य है । पूर्वमीमासा के वार्तिकार भट्ट के मत मे कुछ भेद से युक्त अभेद (भेदाभेद) का नाम तादात्म्य है । सर्वशिरोमणि वेदान्त के अनुसार भेद और अभेद दोनो से भिन्न सम्बन्ध का नाम तादात्म्य है । इसी को अनिर्वचनीय (कल्पित) तादात्म्य भी कहते हैं । भेद से भिन्न का अर्थ व स्तविक अभेद और अभेद मे भिन्न का मतलब कल्पित भेद लिया है । इस प्रकार वेदान्त मे कल्पित भेद से युक्त वास्तविक अभेद का नाम तादात्म्य सम्बन्ध है । न्याय मे जहाँ गुण-गुणी आदि का सम्बन्ध समवाय माना है वहाँ वेदान्त और भट्ट ने उसे तादात्म्य माना है ।

वाला, जो अर्थ का अनुसन्धान है उसे श्रवण कहते है। (यह श्रवण कहते हैं। (श्रवण गुरुमुख द्वारा महावाक्य का उपदेश है, यह ज्ञान का हेतु है और श्रवण कहलाता है। प्रमाणगत सदेह का निवर्तक श्रवण अङ्ग है। इस दूसरे श्रवण का वर्णन आगे किया जायगा।)

३ रे श्लोक से ४३ वे श्लोक तक जिस प्रकार युक्ति द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता बताई है उस प्रकार युक्ति से सुने अर्थ की सम्भावना अथवा शक्यता के ज्ञान को मनन कहते हैं ॥५३॥

---

(४) आदि शब्द से द्रव्य, गुण, जाति और क्रिया का ग्रहण होता है। उनके लक्षण निम्न प्रकार हैं —

गुणो के आश्रय को अथवा समवायिकरण को नैयायिको ने द्रव्य बताया है। ये पृथिवी आदि नौ माने गये हैं। कर्म के सिवा, केवल जाति का आश्रय गुण बताया गया है। रूप, रस आदि भेद से ये २४ हैं। नित्य–एक समवाय सम्बन्ध से अनेक धर्मियो मे अनुगत को सामान्य धर्म कहते हैं, इसी का नाम जाति है। यह जाति दो प्रकार की मानी गई है—१ पर (अधिकवर्ति) २ अपर (न्यूनवर्ती), घट, पट आदि सब पदार्थों मे वर्तमान सत्तारूप जाति को पर और द्रव्यो मे द्रव्यत्व, अनेक कर्मों मे कर्मत्व, चौबीस गुणो मे गुणत्व आदि जो जाति है उसे अपर कहते हैं। सयोग और विभाग के असमवायिकारण के सजातीय का नाम कर्म अथवा क्रिया है। दो कपालो के सयोग-विभाग के समवायिकारण दोनो कपाल हैं। उनमे उनकी चेष्टा समवायिकारण से रहती है जो उनके कार्य–सयोग विभाग–की जनक है। इसलिये दो कपालो की चेष्टा उनके सयोग-विभाग की असमवायि कारण है। इस चेष्टा की सजातीय अर्थात् समान जाति वाली दूसरी चेष्टा का नाम कर्म और क्रिया है। ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, सुकडना, फैलना और गमन भेद से नैयायिको ने इसे पाँच प्रकार का माना है। वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से यह तीन प्रकार का माना गया है।

निदिध्यासन का लक्षण

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत् ।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥५४

अन्वय—ताभ्या निर्विचिकित्से अर्थे स्थापितस्य चेतस: यत् एक-तानत्व एतत् निदिध्यासन उच्यते हि ।

उन श्रवण और मनन से जीव-ब्रह्म की एकता रूप जो अर्थ संशयरहित हो चुका है उसी अर्थ (विषय) मे धारणा से रोके हुए चित्त का जो एकतान हो जाना है उसको योगशास्त्र के अनुसार 'निदिध्यासन' कहते हैं। (चित्त में एक ही विषय की वृत्ति—एकाकार वृत्ति—का प्रवाह वहने लग पड़ना चित्त का एकतान होना कहलाता है ।)

समाधि का लक्षण

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम् ।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥ ५५

अन्वय—ध्यातृध्याने क्रमात् परित्यज्य ध्येयैकगोचर निवातदीपवत् चित्त समाधि. अभिधीयते ।

'निदिध्यासन' में 'ध्याता', (ध्यान करने वाला), 'ध्यान', (ध्येयाकारचित्तवृत्ति का प्रवाह) और 'ध्येय' (ध्यान करने योग्य, यहा ब्रह्म) तीनो प्रतीत होते रहते हैं। परन्तु जव चित्त अभ्यास के कारण क्रमश. 'ध्याता' और 'ध्यान' को छोड़ कर केवल 'ध्येय' (यहाँ 'ब्रह्म') की प्रतीति करने लगता है, तव चित्त की वह समाधि अवस्था कहलाती है। (यह केवल समाधि का स्वरूप है, लक्षण नही । लक्षण आगे चित्रदीप प्रकरण में वताया गया है ।) वायुरहित प्रदेश में जैसे दीपक की लौ स्थिर रहती

है वैसे चित्त भी इस अवस्था मे एक ही ध्येय के आकार का हो जाता है ।।५५।।

(शङ्का) जब समाधि मे वृत्तियो का ज्ञान ही नही होता तब 'वे वृत्तिया केवलमात्र ध्येय को प्रत्यक्ष कर रही हैं,' यह ज्ञान होना भी असम्भव है ? इसका समाधान करते हैं.—

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः ।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात् ।।५६

अन्वय–आत्मगोचरा वृत्तय. तु तदानी आज्ञाताः अपि व्युत्थितस्य समुत्थितात् अनुमीयन्ते ।

समाधिकाल मे यद्यपि आत्मा को विषय करने वाली वृत्तियां अज्ञात हैं तो भी समाधि से उठे पुरुष के, 'इतने समय तक मैं समाधि मे रहा' इस सम्यक् उत्पन्न स्मरण से उन वृत्तियों का अनुमान होता है । क्योकि "जो-जो स्मरण किया जाता है वह पूर्वानुभूत है" यह व्याप्ति है । (यहाँ यह अनुमान है:— समाधि काल मे वृत्तिया हैं, क्योंकि उत्थान काल मे उस समाधि का स्मरण होता है, जैसे निद्रा में जिसका स्मरण होता है उसका पूर्व अनुभव होता है, 'यह मेरा पिता है' की भान्ति ।।५६।।)

(शङ्का) परन्तु समाधिकाल मे वृत्तियो के उत्पादन का तो कोई प्रयत्न नही होता, तो फिर उनकी अनुवृत्ति (एक के पीछे एक का लगातार आते रहना) कैसे बनेगा ? समाधान करते हैं·—

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात्प्रथमादपि ।
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद्भवेत् ।।५७

अन्वय—वृत्तीना अनुवृत्ति. तु प्रथमात् अपि प्रयत्नात् दृष्टासकृद-म्याससस्कारसचिवात् भवेत् ।

योगसूत्र के अनुसार 'कर्माशुक्लकृष्ण योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' योगी का कर्म 'अशुक्लकृष्ण' है और शेष लोगो के कर्म, शुक्ल कृष्ण और उभयरूप (शुक्लकृष्ण) होते हैं। योगी का अशुक्लकृष्ण पुण्यकर्म वह है जो सकामरूप शुभ और अशुभ से भिन्न योगानन्द के निमित्त किया गया है। स्वर्गादि विषय सुख के हेतु किये गये सकाम शुभकर्मों को शुक्ल और नरकादि दु.ख के हेतु अशुभकर्मो को कृष्ण कहते हैं।

योगी के अशुक्ल कृष्ण नामक पुण्यकर्म और समाधि के वार-वार अभ्यास से उत्पन्न भावना (स्मृतिजन्य और स्मृति का हेतु सस्कार), इन दोनो सहकारी कारणो के साथ वर्तमान, समाधि से पूर्वकाल के प्रयत्न (कृति) से अकेले ब्रह्मरूपध्येय को विषय करने वाली वृत्तियो की प्रवाह रूप से अनुगति (अनुवृत्ति) होती है ॥५७॥

(शङ्का) यदि कहो कि इस समाधि का निरूपण किसी आचार्य ने नहीं किया ? समाधान करते हैं.—

यथा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा ।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ॥५८

अन्वय—'यथा निवातस्थ. दीप.' इत्यादिभिः भगवान् अनेकधा इमम् एव अर्थम् अर्जुनाय न्यारूपयत् ।

अर्थ—ज्ञानैश्वर्य आदि षट्सम्पत्तियुक्त भगवान श्रीकृष्ण ने "यथा दीपो निवातस्थ" इत्यादि श्लोको से इसी समाधि का अर्जुन शिष्य के लिए निरूपण किया था ॥५८॥

समाधि का अवान्तर फल

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ।

अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते ॥५९

अन्वय—अनादौ इह ससारे सचिताः कर्मकोटय. अनेन विलय यान्ति, शुद्ध धर्म विवर्धते ।

इस अनादि ससार मे पुण्य-अपुण्य रूप जो करोडो कम किये जाते हैं उनका इस निर्विकल्प समाधि द्वारा प्राप्त ज्ञान से नाश हो जाता है । श्रुति भी कहती है कि—"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" अर्थात् उस परावर (पर अर्थात् ब्रह्म-लोकादिक पुनरावृत्ति वाला पद जिससे अवर अर्थात् निकृष्ट है वह प्रत्यक्अभिन्न परब्रह्म) के अपरोक्ष हो जाने पर इस पुरुष के कर्म नष्ट हो जाते हैं ।" (ज्ञानी के प्रारब्ध कर्म का नाश तो भोग से ही होता है परन्तु ज्ञान के पश्चात् क्रियमाण कर्म का, मैं अकर्त्ता हूँ, अभोक्ता और असङ्ग हूँ । इस निश्चय क बल से ज्ञानी के स्वरूप से स्पर्श ही नही होता, जैसे कमलपत्र को जल का स्पर्श नही होता । अतएव अनन्त जन्मो मे सम्पादित सचित कर्म का ही तत्वज्ञान से नाश होता है (स्मृति कहती है—"ज्ञानाग्नि. सर्वकर्माणि" (गीता) अर्थात् "हे अर्जुन ! ज्ञानाग्नि सब कर्मो को भस्म बना देती है" आदि ।

और चित्त के मल तथा विक्षेप आदि दोषों को हटा कर स्थूल सूक्ष्म कार्यों और अविद्या के निवर्तक साक्षात्कार का साधन बना शुद्ध धर्म बढता है ॥५९॥

समाधि से धर्म की वृद्धि मे क्या प्रमाण है, यह बताते हैं—

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥६०

अन्वय—योगवित्तमाः इमम् समाधिं धर्ममेघ प्राहु । यत एषः धर्मामृतधाराः सहस्रश. वर्षति ।

अतिशय योग के जानने वाले ब्रह्मसाक्षात्कारवान् पुरुष इस निर्विकल्प समाधि को धर्ममेघ* कहते हैं। क्योंकि यह समाधि धर्मरूप अमृत की हजारो धाराओ को वरसाने लगती है ॥६०॥

समाधिका परम-प्रयोजन . अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति

अमुना वासनाजाले निःशेष प्रविलापिते ।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥६१
वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासिते ।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥६२

अन्वय—अमुना वासनाजाले नि शेष प्रविलापिते ' पुण्यपापाख्ये कर्मसचये समूलोन्मूलिते वाक्य अप्रतिबद्धं सत् प्राक्परोक्षाअवभासिते करामलकवत् अपरोक्ष वोध प्रसूयते ।

अर्थ—इस समाधि के प्रताप से, ज्ञान विरोधी, अहङ्कार-ममकार-कर्तृत्व आदि अभिमान के कारणभूत-सस्कारो के सपूर्ण-तया नष्ट हो जाने पर तथा पुण्य-पाप नाम के कर्म सचय के जड़ समेत उखाड दिये जाने पर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य, वेरोक-टोक होकर, कर्म और वासना रूप प्रतिवन्ध से रहित होकर, जो तत्त्व, प्रत्यक्रूप ब्रह्म, अव तक परोक्ष रूप से ज्ञात हो रहा था, उसी तत्व को प्रकाशित करने योग्य, हाथ मे रखे आमले को अथवा निर्मल जल* को प्रकाशित करने वाले उपरोक्त ज्ञान

*योगशास्त्र के अनुसार चित्त की एकाग्रता होने पर भी जब मुमुक्षु विरक्त है अर्थात् जब भी सिद्ध आदि की इच्छा नही करता तब उसको विवेकख्याति (स्वरूप साक्षात्कार) होता है। इसी को धर्ममेघ समाधि सिद्ध होती है ।

*हाथ मे रखा आमला केवल वाहर से ही जाना जाता है भीतर से नहीं, इसलिये दूसरा अर्थ 'निर्मल जल' किया ।

को उत्पन्न कर देते है ॥६२॥

परोक्ष-ज्ञान का फल

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
बुद्धिपूवकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥६३

अन्वय—देशिकपूर्वक शाब्द परोक्ष ब्रह्मविज्ञानम् बुद्धिपूर्वकृत कृत्स्न पाप वन्हिवत् दहति ।

ब्रह्मनिष्ठगुरु के मुख से प्राप्त और 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यो से जन्य, परोक्ष ब्रह्मविज्ञान, ज्ञानपूर्वक किये हुए सब पापो को अग्नि के समान भस्म कर देता है ॥६३॥

अपरोक्ष-ज्ञान का फल

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥६४

अन्वय—शाब्द देशिकपूर्व अपरोक्षात्मविज्ञान ससारकारणाज्ञानतमसः चण्डभास्कर ।

ब्रह्मनिष्ठगुरु के मुख से प्राप्त और 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यो से जन्य अपरोक्ष ब्रह्माभिन्न आत्मा का, सशय-विपर्यय-रहित अपरोक्षज्ञान, जन्मादि ससार के कारणभूत अज्ञान के अन्धेरे को मध्यान्ह काल के सूर्य की भान्ति दूर कर देता है ॥६४)

ग्रन्थ के अभ्यास का फल

इत्थं तत्वविवेकं
विधाय विधिवन्मनः समाधाय ।
विगलितसंसृतिबन्धः
प्राप्नोति परं पदं नरो न चिरात् ॥६५

अन्वय—नर इत्थ तत्वविवेक विधाय, विधिवत् मनः समाधाय, विगलितसृतिबन्धः, न चिरात् पर पद प्राप्नोति ।

मनुष्य इस प्रकरण मे बताई रीति से ब्रह्म और आत्मा की एकतारूप तत्त्व को पचकोश से विवेचन करके (पृथक् जानकर), उस तत्व में शास्त्रोक्त प्रकार से मन को स्थिर कर, अपरोक्षज्ञान के द्वारा ससारबन्ध को हटा कर, शीघ्र ही निरतिशय आनन्दरूप मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है अर्थात् सत्य ज्ञानानन्द लक्षण ब्रह्म ही हो जाता है ।

।। श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के प्रथम प्रकरण-प्रत्यक्तत्वविवेक की श्री पीताम्बर शर्मा कृत तत्व प्रकाशिका व्याख्या

समाप्त ।।



अथ पंचमहाभूतविवेकः-१

मङ्गलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया।
पञ्चभूतविवेकस्य विवृतिः क्रियते मया॥

श्रीयुक्त सब गुरुओं को नमस्कार करके पचदशी के महाभूत-विवेक प्रकरण की व्याख्या भाषा मे करता हूँ।

'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् 'हे सौम्य ! सृष्टि से पहले षट्प्रमाणादि से दीख रहा यह जगत् एक (स्वगत-भेद रहित), ही (सजातीयभेद रहित), अद्वितीय (विजातीयभेद रहित) और सत् (त्रिकालाबाधित) ब्रह्म (निरपेक्ष व्यापक) था, *इस श्रुति से जगत् की उत्पत्ति से पूर्व जिस कारण, सत्रूप, अद्वितीय ब्रह्म का उपदेश सुना है वह ब्रह्म वाणी और मन का विषय नही है, अतएव स्वय ही जाना नही जा सकता उस ब्रह्म के कार्यभूत उसके उपाधिरूप पाचभूतो के विवेक द्वारा उस ब्रह्म का बोध होता है। इस बात को मन मे रखकर पञ्चभूतो का विवेचन करने की भूमिका (उपोद्घात) बाधते हैं.—

सदद्वैतं श्रुतं यत्तत्पञ्चभूतविवेकतः।
बोद्धुं शक्यं ततो भूतपञ्चकं प्रविविच्यते॥१

---

*'था'—यह भूतकाल, काल की वासना से युक्त शिष्य को समझाने के लिए ही है।

अन्वय—यत् सत् अद्वैतं श्रुत तत् पंचभूतविवेकत: वोद्धुम् शक्यम् । तत भूतपञ्चक प्रविविच्यते ।

सद्रूप अद्वैत ब्रह्म को पाच भूतो के विवेक से ही जाना जा सकता है, इसलिए पचभूतो का ब्रह्म से अतिशय विवेचन करते हैं, अर्थात् उन्हे ब्रह्म से पृथक् करके दिखाते हैं ॥१॥

भूतो के गुण

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो भूतगुणा इमे ।
एकद्वित्रिचतु:पञ्चगुणा व्योमादिषु क्रमात् ॥२

अन्वय—शब्दस्पर्शौ, रूपरसौ, गन्ध. इमे भूतगुणा: । व्योमादिषु क्रमात् एकद्वित्रिचतु. पञ्चगुणा: ।

आकाश आदि पांचभूतो का आपसी भेद गुण द्वारा जतलाने के लिए उनके गुणो का कथन करते हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाच-पाच भूतो के गुण हैं ।

क्या ये पाचो गुण सब भूतो के हैं या एक-एक भूत का एक-एक गुण ? इसका उत्तर देते हैं :—आकाश आदि पाँचभूतो में क्रमश एक, दो, तीन, चार और पाच गुण हैं । आकाश में एक, वायु मे दो, तेज में तीन, जल में चार और पृथ्वी मे पाच गुण होते हैं ॥२॥

अगले श्लोको में इसी बात को विस्तार से कहा गया है :—

प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ बीसीति शब्दनम् ।
अनुष्णाशीतसंस्पर्शो वन्हौ भुगुभुगुध्वनि: ॥३
उष्ण: स्पर्श: प्रभारूपं जले बुलबुलुध्वनि: ।
शीत: स्पर्श: शुक्लरूपं रसो माधुर्यमीरितम् ॥४

भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते ।
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः ।।
सुरभीतगन्धौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवेचिताः ।

अन्वय —वियत्+शब्दः प्रतिध्वनिः, वायौ 'सीसी' इति शब्दनम्, अनुष्ण+अशीतसस्पर्शः, वन्हौ भुगुभुगुध्वनिः, उष्ण स्पर्शः प्रभारूप, जले बुलबुलध्वनिः, शीत स्पर्शः शुक्लरूपं, माधुर्यं रसः ईरीतिम्, भूमौ कडकडाशब्दः, काठिन्य स्पर्श इष्यते, नीलादिक चित्ररूप, मधुराम्लादिक. रसः, द्वौ सुरभीतरगन्धौ । गुणा. सम्यग्विवेचिताः ।

आकाश मे प्रतिध्वनि नाम का शब्द ही एक गुण है। वायु मे 'सीसी' ऐसा शब्द और अनुष्णाशीत (न गरम न ठण्डा) स्पर्श, ये दो गुण हैं। अग्नि मे 'भुगु भुगु' शब्द, गरम स्पर्श और भास्वररूप, ये तीन गुण हैं। जल मे 'बुलबुल' शब्द, शीत स्पर्श, शुक्लरूप और मधुर रस ये चारगण है। पृथिवी मे 'कड़ कड' शब्द, कठिन स्पर्श, नीला-पीला आदि रूप, मीठा-खट्टा आदि रस और सुगन्धदुर्गन्ध दो गन्ध, ये पाच गुण हैं। इस प्रकार यह गुणो का विवेचन समाप्त हुआ ।।५।।

ज्ञानेन्द्रियो का वर्णन

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेन्द्रियपंचकम् ।।

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पाच ज्ञानेन्द्रियो के नाम हैं ।।६।।

कर्णादिगोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात् ।
सौक्ष्म्यात्कार्यानुमेयं तत्प्रायो धावेद् बहिर्मुखम्।।

अन्वय—तत् क्रमात् कर्णादिगोलकस्थ शब्दादिग्राहकम् । सौक्ष्म्यात्-कार्यानुमेयम् । तत् प्राय, बहिर्मुख धावेत् ।

ये पाच ज्ञानेन्द्रिया कान आदि छिद्रो मे रहती हैं और शब्द आदि गुणो को ग्रहण किया करती हैं।

इन्द्रियो के होने मे क्या प्रमाण है? इसके उत्तर मे कहते हैं कि वे इन्द्रिया अपञ्चीकृतभूतो से बनी होने से इतनी सूक्ष्म हैं कि दिखाई नही देती, केवल मात्र उनके कार्य से ही उनका अनुमान किया जा सकता है। यह अनुमान इस प्रकार होगा–रूप का ज्ञान करण से जन्य है, क्योकि क्रिया है, जो जो क्रिया है वह करण-जन्य होती है, जैसे छेदन-क्रिया। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय का अनुमान होता है। इसी प्रकार शब्द के ज्ञान आदि से कर्ण आदि अनुमान करना।

तत् प्राय वहिर्मुख धावेत्। अर्थात् वे पाचो इन्द्रिया बहुत करके बाह्य घट-पट आदि विषयो में दौड लगाया करती हैं। श्रुति ने बतलाया है—"पराचि खानि व्यतृणत् स्वयभू." * परमात्मा ने इन्द्रियो को वहिर्मुख बनाया है, इसलिए पुरुष बाहर की ओर देखता है, भीतर की ओर नही।"

ज्ञानेन्द्रियो द्वारा कभी-कभी अन्तर विषय का भी ग्रहण

'इन्द्रिया प्राय वहिर्मुख होती हैं'–इससे यह सूचित होता है कि वे कभी-कभी आन्तर विषयो को भी ग्रहण करती हैं। इसका वर्णन करते है –

कदाचित्पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आन्तरः।
प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपानेऽन्नभक्षणे ॥८
व्यज्यन्ते ह्यान्तराः स्पर्शा मीलने चान्तरं तमः।

---

* स्वयभू नाम ब्रह्मा का भी है, परन्तु इन्द्रियो की उत्पत्ति ब्रह्मदेव से पूर्व ही सिद्ध है अतएव यहाँ परमात्मा ही अर्थ है।

उद्गारे रसगन्धौ चेत्यक्षाणामान्तरग्रहः ॥९

अन्वय—कदाचित् कर्णे पिहिते प्राणवायो जाठराग्नो आन्तर शब्द श्रूयते। जलपाने अन्नभक्षणे हि आन्तरा स्पर्शा व्यज्यन्ते। मीलने च आन्तथ तमः, उद्गारे च रसगन्धौ इति अक्षाणाञ्च आन्तरग्रह.।

कभी-कभी कानो को हाथ आदि से ढापने पर प्राणवायु और पेट की अग्नि का आन्तर (भीतरी) शब्द भी सुनाई देता है। जल पीते और अन्न खाते समय शीत-उष्ण आदि भीतर के स्पर्श प्रकठ हो जाते हैं आंख वन्द करने पर शरीर के भीतर का अन्धेरा दीख पड़ता है। डकार आने पर भीतर के रस तथा गन्ध दोनो का ग्रहण होता है। इस प्रकार ये इन्द्रिया भीतर के विषयो का ग्रहण भी किया करती है।

कर्मेन्द्रियो का व्यापार

ज्ञानेन्द्रियो के कार्य वता कर अब कर्मेन्द्रियो की सत्ता न मानने वाले नैयायिक आदि के सम्मुख कर्मेन्द्रियो की सत्ता सिद्ध करने के लिए, उनके व्यापारो का वर्णन करते हैं :—

पञ्चोक्त्याऽऽदानगमनविसर्गानन्दकाः क्रियाः।
कृषिवाणिज्यसेवाद्याः पञ्चस्वन्तर्भवन्ति हि ॥१०

अन्वय—उक्ति+आदान-गमन विसर्ग-आनदकाः पञ्च क्रियाः हि कृषि वाणिज्य-सेवा-आद्या. पञ्चसु अतर्भवति।

वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्द ये पाच क्रियाऐं प्रसिद्ध हैं। क्यो कि कृषि, वाणिज्य, सेवा (कूदना, दौड़ना) आदि सब क्रियाऐं इन्ही पाच मे आ जाती हैं ॥१०॥

कर्मेन्द्रियां और उनके गोलक

वाक्पाणिपादपायूपस्थैरक्षैस्तत्तत्क्रियाजनिः।
मुखादिगोलकेष्वास्ते तत्कर्मेन्द्रियपञ्चकम् ॥११

अन्वय—वाक् पाणि-पाद-पायु-उपस्थै अक्षै. तत्क्रियाजनिः। तत्क-र्मेन्द्रियपञ्चकम् मुखादि गोलकेषु आस्ते।

वाक् आदि इन्द्रियो से वचन आदि क्रियाओ की उत्पत्ति होती है। यहा भी 'वचन-क्रिया करणपूर्वक है, क्रिया होने से, जैसे छेदन क्रिया" इस प्रकार अनुमान समझना चाहिए।

वे पाच कर्मेन्द्रियाँ मुख हाथ, पैर, गुदाछिद्र और शिश्नछिद्र इन पांच गोलको मे स्थित हैं।

दस इन्द्रियो के प्रेरक मन का वर्णन : उसका आन्तर इन्द्रियत्व।

मनोदशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम्।
तच्चान्तःकरणं बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद्विनेन्द्रियैः॥१२

अन्वय—मन दश-इन्द्रिय-अध्यक्ष हृत्पद्मगोलके स्थितम्, तत् च इन्द्रियैः. विना वाह्ये अस्वातन्त्र्यात् अत करणम्।

मन, दस इन्द्रियो का प्रेरक होने से, उनका अधिपति है। और हृदयकमल रूप गोलक मे स्थित है।* वह मन इन्द्रियो के विना वाह्य शब्द आदि विषयो मे स्वतन्त्रता से प्रवृत्त नही होता, अतएव अन्तः करण अर्थात् भीतर की इन्द्रिय कहलाता है।

मन दस इन्द्रियो का अधिपति है, इसी को स्पष्ट करते हैं.—

अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद्गुणदोषविचारकम्।
सत्वं रजस्तमश्चास्यगुणा, विक्रियते हि तैः॥

---

*यद्यपि पादपीडा और शिरके सुख का एकसाथ ज्ञान होता है और क्योंकि यह वोध मनमे सम्बन्ध हुए विना सम्भव नही है, अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि मन का निवास सारे शरीर में है, केवल हृदय में नही है। तथापि विशेषतया हृदय में मन का मुख्य निवास है अतएव हृदय को मन का निवासस्थान कहा है। जैसे दीपक का प्रकाश घरभर में है तथापि विशेषकर वत्तीवाले पात्र (दीये) मे ही होने से वह उसका मुख्य स्थान है।

अन्वय—अक्षेषु अर्थार्पितेषु एतत् (मन) गुणदोषविचारकम्। सत्व, रज, तम, च अस्य गुणा, हि तै विक्रियते।

जब ज्ञानेन्द्रिया अपने-अपने विषय मे लगी होती है तो, यह मन 'यह अच्छा है या बुरा' इस प्रकार गुण-दोष की विवेचना करता है। अभिप्राय यह है –(चिदाभाससहित) अन्त करणोपहित चेतन) आत्मा तो प्रमाज्ञान का आश्रय, अतएव, प्रमाता है, और चक्षु आदि इन्द्रिया रूपादि विषयो का ज्ञानमात्र उत्पन्न करती हैं, इसलिए गुण दोष का विचार वे आत्मा और इन्द्रियाँ तो कर नही सकते, फिर प्रतीयमान यह गुण-दोष विचार कौन करता है ? यह बात दूसरी रीति से उपपन्न (सिद्ध) नही होती, अतएव इस गुणदोष विचार का कारण मन को स्वीकार करना पडता है।

सत्त्व, रज और तम मन के ये तीन गुण हैं, क्योकि इन से ही यह विकृत होता है।

गुणो के भेद से विविध वृत्ति-रूप मन के विकार

वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्वसंभवाः।
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्या रजसोत्थिताः॥
आलस्यभ्रान्तितन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः।

अन्वय—वैराग्य, क्षातिः, औदार्यं, इत्याद्या सत्वसम्भवाः, कामक्रोधौ, लोभयत्नौ, इत्याद्याः रजसा उत्थिता, आलस्य-भ्रातितन्द्राद्याः तमसा उत्थिता।

वैराग्य, क्षमा, औदार्य आदि शान्तवृत्तिया सत्वगुण से उत्पन्न होती हैं और काम, क्रोध, लोभ, प्रयत्न आदि घोर वृत्तिया रजोगुण से उत्पन्न होती हैं। आलस्य, भ्रान्ति, तन्द्रा आदि मूढ वृत्तिया तमोगुण से उत्पन्न होती है॥*

---

* शान्तवृत्तियां निम्न प्रकार हैं —वैराग्य (त्याग की इच्छा अथवा

गुण विकार का फल

सात्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः ।
तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुःक्षपणं भवेत् ।
अत्राहंप्रत्ययी कर्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः ॥१६

इच्छा रहित होना), क्षमा, औदार्य (धनादिदान देने में निःसङ्कोचता), विवेक (नित्यानित्यवस्तु विचार), शम (मनोनिग्रह), दम (इन्द्रियनिग्रह) उपरति (त्यक्तविषय की अनिच्छा), तितिक्षा (शीतोष्ण आदि के सहन का स्वभाव), श्रद्धा (गुरुशास्त्र वचन में दृढविश्वास), समाधान (सद्-ब्रह्मरूप लक्ष्य में चित्त की एकाग्रता), मुमुक्षुता (मोक्ष की इच्छा होना) तप. (अपने धर्म पर स्थिर रहना), सत्य (समदर्शन), दया, स्मृति, तुष्टि (यथालाभ सतोष), त्याग (दानस्वभाव, अनुचित कर्म मे लज्जा), स्व-निर्वृतिः (आत्मामे प्रीति), अमानिता (आत्मश्लाघारहित होना),अदम्भः अहिंसा, क्षांति और आर्जव (सीधापन) यह दैवी सम्पत् है ।

घोर वृत्तियों के नाम निम्न प्रकार हैं:—

काम (इच्छा), क्रोध वा द्वेष (सतप्तवृत्ति), लोभ, प्रयत्न (उत्साह विशेष), यज्ञादिव्यापार, मद (दर्प), तृष्णा, (लाभ मे भी असन्तोष), स्तम्भ (गर्व), आशीः (धनादि की इच्छा से देव आदि से प्रार्थना), भेद, सुख (विषयानुभव), मन्दोत्साह, यश मे प्रीति, हास्य, वीर्य, बल से उद्यम और राग (सुख मे तृष्णा) यह आसुरी सम्पद् हैं ।

मूढ वृत्तियाँ निम्न प्रकार है:—

आलस्य (चाहते हुए भी काम के प्रति उत्साह का अभाव), भ्रान्ति (मोह), तद्रा (निद्रा सहित आलस्य), प्रमाद, निद्रा (वृत्ति का लय), अप्रकाशः (अविवेक), अप्रवृत्ति, कृपणता, अनृत, हिंसा (परपीड़ा) श्रम, कलह, शोक, चिन्ता, विषाद (खेद), दीनता, आशा, भय और जड़ता ।

अन्वय—सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्ति, च राजसैः पापोत्पत्ति तामसैः न उभयम्, किंतु वृथा आयु क्षपण भवेत्।

सत्वगुणो से उत्पन्न वृत्तियो से पुण्य और रजोगुण से उत्पन्न वृत्तियो से पाप उत्पन्न होता है। तामस वृत्तियो से कुछ भी (न पाप, न पुण्य) उत्पन्न नही होता, आयु व्यर्थ ही खप जाती है।

अन्त करण और उसकी वृत्तियो मे "मै" वृत्ति वाला ही कर्त्ता अर्थात् प्रभु है। इसीलिये लोक मे कार्य के कर्ता को स्वामी कहते हैं।

जगत् की भौतिकता का निश्चय

इस प्रकार जगत् की स्थिति वतलाकर जगत् की भौतिकता के ज्ञान का उपाय वताते हैं—

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वमतिस्फुटम्।
अक्षादावपि तच्छास्त्रयुक्तिभ्यामवधार्यताम्॥१७

अन्वय—स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्व अतिस्फुटम्। अक्षादौ अपि शास्त्रयुक्तिभ्या तत् अवधार्यताम्।

स्पष्ट, शब्द, स्पर्श आदि गुणो वाले घट-पट आदि वस्तुए भूतो की कार्य हैं यह तो स्पष्ट ही ज्ञात हो जाता है, परन्तु इन्द्रिय आदि (आदि अर्थात् मन, मनोवृत्ति, प्राण और देह) भी भूतो के कार्य हैं, इसका निश्चय आगम और अनुमान प्रमाण से होता है। अर्थात् इन्द्रिय आदि भी भूतो से वने हुए है यह वात शास्त्र और युक्ति से निश्चित होती है। शास्त्र प्रमाण जैसे—अन्नमय हि सौम्य! मन आपोमय प्राणस्तेजोमयी वाक्" आदि अर्थात् "हे सौम्य! निश्चय ही, मन, अन्नमय है, प्राण आपोमय है और वाणी तेजोमय है।" यहा अन्न शब्द से अन्न की उपादान पृथ्वी का भी ग्रहण है। अन्न के पापपुण्य-रूप सूक्ष्म भागसे मन वनता है।

अन्न के अभाव मे वालक का मन नही के वरावर होता है, अन्नके सेवन से ही वह वढता है। फिर पृथ्वी के कार्यरूप चावल आदि के खाने से मन वढता है और १६ दिन अन्न न खाने से मन नष्ट होता है, इसलिए मन पृथ्वी भूत का कार्य है। छान्दोग्य उपनिषद् के छठे प्रपाठक मे यह वात स्पष्ट की गई है।

इन्द्रियां भौतिक है, इसकी सिद्धि के लिए अनुमान इस प्रकार है —श्रोत्र आदि इन्द्रिया भौतिक है, क्योकि वे भूतो के अन्वय तथा व्यतिरेक की अनुसारी हैं, जो वस्तु जिस वस्तु के अन्वय-व्यतिरेक की अनुसारी होती है, वह उस वस्तु का कार्य होती देखी गई है। जैसे मृत्तिका के अन्वय तथा व्यतिरेक का अनुसारी घट, मृत्तिका का कार्य है। ऐसे ही श्रोत्र आदि इन्द्रिया भी भूतो के अन्वय तथा व्यतिरेक की अनुसारी हैं, इसलिए भूतो का कार्य हैं। छान्दोग्योपनिषद् में भी मन को भूतो का अन्वय-व्यतिरेकी वताया है–जैसे–"षोडषकल. सौम्य ! पुरुष" अर्थात् पिड तथा ब्रह्माड मे समाया, ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यगात्मा पुरुष, अविद्या से अपने मे आरोपित १६ कलाओ (अवयवो) वाला है। (वस्तुत. तो वह निष्कल है) [प्रश्न उपनिषद् के छठे प्रश्न मे जो १६ कलाएं गिनाई गई हैं उनमे मन भी एक कला है, वह मन समष्टि प्राण (मिले हुए सूक्ष्म-भूतो का कार्य) है।] इसलिए मन भूतो के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसारी है। कर्मेन्द्रिय और प्राण आदि के विषय मे भी ऐसे ही समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार भूतो और उनके कार्य भौतिको को पृथक्-पृथक् दिखलाकर, अव, अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' की व्याख्या करते हुए, पहले 'इदम्' पद का अर्थ वतलाते हैं —

एकादशेन्द्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते ।
यावत्किंचिद्भवेदेतदिदंशब्दोदितं जगत् ॥१८

अन्वय—एकादशेन्द्रियै युक्त्या शास्त्रेण अपि यावत् किंचित् जगत् अवगम्यते, एतत् इद शब्दोदित भवेत् ।

ग्यारह (५ ज्ञानेन्द्रिय ५ कर्मेन्द्रिय और ११ वा मन) इन्द्रियो से शब्दादि विषयो, वचन आदि सब क्रियाओ और सुख आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । युक्ति अनुमान प्रमाण का नाम है । शास्त्र शब्द प्रमाण को कहते है, इससे शब्दप्रमाण के विषय परोक्ष स्वर्ग, धर्म आदि का ज्ञान होता है । 'अपि' शब्द से शेष उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाणो का ग्रहण होता है । इस प्रकार इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है —

प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाणो के ज्ञान से जितना कुछ जगत् जाना जाता है (इन प्रमाणो का विषय प्रपच है) वह 'सदेव'—इत्यादि श्रुति मे आये 'इद* पद का अर्थ है ।

---

*'इद' पद का अर्थ—"वर्तमान काल का सम्मुख देश से सम्बन्ध" होता है । इसलिए सब प्रमाणो से जन्यज्ञान का विषय, परोक्ष-अपरोक्ष, भूत-भविष्यत् और वर्तमान काल मे होने वाले पदार्थ के रूप मे विद्यमान समग्र प्रपच 'इद' शब्द का अर्थ नही हो सकता । परन्तु सर्वज्ञ ईश्वर अथवा सर्वज्ञ उद्दालक की दृष्टि मे सब पदार्थ प्रत्यक्ष सम्मुख देश मे स्थित से और सब कालो मे एकरस दीखते हैं इस कारण वे सब वर्तमान ही हैं इसलिए ईश्वर अथवा उद्दालक मुनि द्वारा उच्चारित इस श्रुतिमे आये 'इद' पद का अर्थ सर्वकाल सम्बन्धी सर्वपदार्थ है ।

उक्त श्रुति का स्वरूप

इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम् ।
सदेवाऽऽसीन्नामरूपे नास्तामित्यारुणेर्वचः ।।१९

अन्वय—'इद सर्वं सृष्टे पुरा एक एव अद्वितीयकम् सत् एव आसीत, नामरूपे न आस्ताम्' इति आरुणे वच. ।

अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक ने अपने पुत्र से कहा—यह प्रतीयमान जगत् सृष्टि से पूर्व (जैसा अव दीख रहा है वैसा नही था, किन्तु) एक ही—अद्वितीयरूप सत् कारण—था, उस समय नाम और रूप (आकार) कुछ नही थे ।।१६

यह श्रुति मे 'एकम् एव अद्वितीयम्' ये तीन पद आये हैं वे सत् वस्तु मे स्वगत आदि तीनो प्रकार के भेदो का निवारण करते हैं—कैसे ? यह बताने से पूर्व तीनो प्रकार के भेदो का वर्णन करते हैं—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः ।।२०

अन्वय—वृक्षस्य पत्रपुष्पफलादिभिः स्वगत. भेद , वृक्षान्तरात् सजातीय शिलादित. विजातीय. ।।२०।।

'स्वगत' अर्थात् अवयवो से किये गये भेद का नाम स्वगत भेद है । वृक्ष का उसके पत्तो, फूल आदि से जो भेद है वह स्वगत भेद है । दूसरे वृक्ष से इसका भेद सजातीय है और पत्थर आदि विरुद्ध जाति वालो से जो भेद वह विजातीय भेद है ।

सद्वस्तु मे तीनो भेदो का अभाव

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते ।
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ।।२१

अन्वय—तथा सद्वस्तुनः प्राप्त भेदत्रय ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधै स्त्रिभि. क्रमात् निवार्यंते ।

अनात्म वस्तु की भाति सद्वस्तु भी वस्तु है, इसलिए सद्वस्तु मे ये तीनों भेद होने चाहिये, परन्तु श्रुति मे आये 'एकता अवधारण और द्वैत का निषेध' इन तीन अर्थों के वाचक 'एकम्' एव, अद्वितीयम्' ये तीन क्रमश. 'स्वगत' 'सजातीय' और 'विजातीय' भेदो को नही रहने देते ।।२१।। इसी की व्याख्या आगामी श्लोको मे करते है --

सद्वस्तु मे स्वगतभेद का अभाव

सतो नावयवाः शङ्क्यास्तदंशस्यानिरूपणात् ।
नामरूपे न तस्यांशौ तयोरद्याप्यनुद्भवात् ।।२२

अन्वय—सत॰ अवयवा न शक्या, तदशस्य अनिरूपणात् । नामरूपे तस्य अशौ न, तयो अद्य अपि क्षनुद्भवात् ।

सत् वस्तु के भी अवयव होगे ऐसी शङ्का मत करना क्योकि उसके अश का निरूपण (१) नही हो सकता। (स्वगतभेद होने के लिये अवयवो का होना आवश्यक है, परन्तु सद्वस्तु के अवयवो के स्वरूप का निरूपण–वे कैसे हैं ऐसा निर्णय—आज तक नही हो सका ।)

---

(१) सद्वस्तु जड हो तो सावयव बने, जड विनाशी होता है अतएव अविनाशी सद्वस्तु जड नही हो सकती, वह चेतन है। और चेतन वस्तु सावयव नही हो सकती । सद्वस्तु को सावयव मानने वाले उसके अवयवो को यदि चेतन तथा भिन्न मानें तो अद्वितीय की प्रतिपादक श्रुतियो से विरोध होगा,यदि चेतन और अभिन्न मानें तो उनका अवयव अवयवी भाव नही बन सकता । यदि अवयवो को जड़ मानें तो उनसे बनी सद्वस्तु भी जड हीं होगी । अतएव सत् के अवयव सिद्ध नही होते।

नाम और रूप को सत् का अंश मानना सम्भव नही है, क्योकि अब तक अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व तक उन नाम और रूप की उत्पत्ति ही नही होती ॥२२॥

सृष्टि से पूर्व नाम रूप का अभाव

नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात्सृष्टितः पुरा ।
न तयोरुद्भवस्तस्मान्निरंशं सद् यथा वियत् ॥२३

अन्वय—नामरूपोद्भवस्य एव सृष्टित्वात् सृष्टितः पुरा तयो उद्भवः न । तस्मात् यथा वियत् सत् निरंशम् ।

नाम तथा रूप का उद्भव हो जाना ही 'सृष्टि' कहाती है। बस इसी से यह समझ लो कि सृष्टि से पहले नाम और रूप की उत्पत्ति नही हुई थी। इसीसे यही निष्कर्ष निकलता है कि सद्वस्तु आकाश के समान निरवयव पदार्थ है—सत् वस्तु स्वगतभेद से रहित होने के अयोग्य हैं, क्योकि निरवयव है, जैसे आकाश ॥२३॥

सत् मे सजातीय भेद का लक्षण

सदनन्तरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात् ।
नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा ॥२४

अन्वय—सजातीय सदन्तरं न, वैलक्षण्यवर्जनात् । नामरूपोपाधिभेद विना सद भिदा न एव ।

सत् मे सजातीयभेद तभी सम्भव है जबकि दूसरा सजातीय सत् हो, वह दूसरा सत् होना सम्भव नही है, कारण यह है कि विलक्षणता नही है। दूसरे सत् पदार्थ मे इस पदार्थ से कुछ विलक्षणता नही होती।

यदि यह कहो कि 'घटसत्ता' 'पटसत्ता' इस प्रकार सब सत्ताओ मे प्रतीत होता है तो इसका उत्तर यह है कि नामरूपो-

पाधिभेद विना सतः भिदा न एव'। इन में जो भी कुछ विलक्षणता दीख पडती है वह नामरूप की उपाधियो के भिन्न-भिन्न होने से ही है, सद्वस्तु मे स्वभाव से कोई भेद नही है। अनुमान इस प्रकार का है—सद्वस्तु सजातीयभेद से रहित है, क्योकि उपाधिभेद के बिना उसमे कोई भेद प्रतीत नही होता, जैसे आकाश मे स्वतः कोई भेद नही होता, तो भी घट-मठ आदि उपाधियो के भेद से उसमे भेद की भ्रान्ति होने लगती है ॥२४॥

सत् में विजातीय भेद का अभाव

विजातीयमसत्तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते ।
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः ।२५

अन्वय—विजातीय असत् तत् तु 'अस्ति' इति खलु न गम्यते। अतः अस्य प्रतियोगित्व न, विजातीयात् भिदा कुत. ?

यदि सत् का विजातीय से भेद हो तो सत् का विजातीय तो असत् होगा। भेद अन्योन्याभाव को कहते है। इस अभाव में एक अनुयोगी और दूसरा प्रतियोगी होता है। इन दोनो के ज्ञान के होने से ही अभाव का ज्ञान होता है, इसलिए ये अनुयोगी और प्रतियोगी सत्रूप ही होने चाहिए। यहा सत का प्रतियोगी तो 'असत्' है। अतएव 'वह है' ऐसा निश्चयपूर्वक इसका ज्ञान नही हो सकता। इसलिए वह असत् प्रतियोगी भी नही बन सकता। तब भला सद्वस्तु मे विजातीय वस्तु से भी भेद कैसे सिद्ध हो सकता है ?

परिणाम

एकमेवाद्वितीयं सत्सिद्धमत्र तु केचन ।
विह्वला असदेवेदं पुरासीदित्यवर्णयन् ॥२६

अन्वय—एकम् एव अद्वितीयम् सत् सिद्धम् । अत्र तु विह्वलाः केचन 'असत्' एव इद पुरा 'आसीत्' इति अवर्णयन् ।

इस प्रकार एक ही अद्वितीय सत् ब्रह्म है, यह सिद्ध हो गया ।

परन्तु कुछ उन्मार्गगामियो ने इस सत् को यह 'नही था' यह कहा है । [यह शून्यवादियो का पूर्व पक्ष केवल इसलिये उद्धृत किया है कि सत् के स्वरूप के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की अदृढ़ता न रह जावे । जैसे खूटे को हिला डुलाकर देखते हैं कि मजबूत गडा है या नही वैसे ही अद्वितीयसत्रूप खूटे को पूर्वपक्ष द्वारा हिलाकर फिर उसके समाधान से दृढ करते हैं ।]

मग्नस्याब्धौ यथाऽक्षाणि विह्वलानि तथाऽस्य धीः ।
अखण्डैकरसं श्रुत्वा निष्प्रचारा बिभेत्यतः ॥२७

अन्वय—अब्धौ मग्नस्य अक्षाणि यथा विह्वलानि तथा अस्य धीः अखण्डैकरस श्रुत्वा अप्रचारा, अतः बिभेति ।

जैसे समुद्र में डूबते मनुष्य की इन्द्रिया व्याकुल हो घबरा जाती हैं वैसे इस असद्वादी का मन, अखण्डैकरसवस्तु को सुन, गतिरहित होकर डरा करता है । साकारवस्तु में तो बुद्धि चलती है, समुद्र के समान अखण्ड एक-रस वस्तु मे बुद्धि वैसी स्वतन्त्रता से प्रवृत्त नही होती । यही कारण है कि असद्वादी अपनी दुर्वासना वश इस सद्वस्तु का नाम सुनकर ही चौक उठते हैं ॥२७॥

व्यर्थविभीषिका के सम्बन्ध मे गौडपादाचार्य की सम्मति

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम् ।
शकासब्रह्मनिष्ठानामत्यन्तं भयमूचिरे ॥२८

अन्वय—गौडाऽऽचार्या साकारब्रह्मनिष्ठाना अन्ययोगिना निर्विकल्पे समाधौ अत्यन्त भय ऊचिरे ।

गौडाचार्य ने भी यह बात कही है कि, द्विभुज चतुर्भुज आदि साकारब्रह्म के उपासक योगियो को इस निर्विकल्प समाधि से बहुत भय लगा करता है ॥२८॥

उन गौडपादाचार्य (१) के शब्द ये हैं —

अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दशः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥२९

अन्वय—अस्पर्शयोग नाम एष. (समाधि) सर्वयोगिभि दुर्दर्श । हि योगिन अभये भयदर्शिन अस्मात् बिभ्यति ।

यह जो (२) अस्पर्शयोग नाम की निर्विकल्प समाधि है उसका दर्शन, साकारब्रह्म का ध्यान करने वाले किसी भी योगी को नही हो सकता । क्योकि ये द्वैतदर्शी योगी भयशून्य मे भी, निर्जन स्थान मे बालको की भान्ति डरते हैं और भयके कारण की कल्पना कर इस अस्पर्शयोगरूप निर्विकल्प समाधि से डरते हैं । इसलिए यह निर्विकल्प समाधि उन्हे दुर्लभ है ॥२९॥

श्री शङ्कराचार्य की सम्मति

भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटूनमून् ।
आहुर्माध्यमिकान्भ्रान्तानचिन्त्येऽस्मिन्सदात्मनि ।३०

---

(१) श्री शङ्कराचार्य के गुरु श्री गोविन्दपादाचार्य के गुरु और श्री व्यासजी के पुत्र श्री शुकदेवजी के शिष्य ।

(२) जिसका स्पर्श (सम्बन्ध) वर्णाश्रमादि धर्म, पापरूप मल अथवा किसी भी अनात्म वस्तु से नही होता और जो जीव को ब्रह्मभाव से जोडता है वह अद्वैत (ब्रह्म) का साक्षात्कार 'अस्पर्शयोग' नाम से प्रसिद्ध है ।

अन्वय—भगवत्पूज्यपादा. च शुष्कतर्कपटून् अमून् माध्यमिकान् अचिन्त्ये अस्मिन् सदात्मनि भ्रान्तान् आहुः ।

और भगवान् पूज्यपाद (१) श्री शकराचार्य जी ने भी सूखे तर्ककुशल (२) इन माध्यमिको (माध्यमिकमत के अनुयायी शून्य-वादी बौद्धो) को अचिन्त्य सदात्मा के विषय में सदा भ्रम में रहने वाला बताया है ॥३०॥

श्री शङ्कराचार्य ने इस सम्बन्ध मे कहा है—

अनादृत्य श्रुति मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः ।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः ॥६१

अन्वय—तमस्विनः अनुमानैकचक्षुष. इमे बौद्धाः मौर्ख्यात् श्रुतिम् अनादृत्य निरात्मत्वम् आपेदिरे ।

ये तमोगुणी (अज्ञानी) बौद्ध अपनी मूर्खता से अर्थात् अल्पज्ञ होते हुए भी अपने आपको सर्वज्ञ मानते हुए, श्रुति की बात को न मानकर निःस्वरूप शून्यभाव-निरात्मवाद-को मान बैठे हैं, क्योकि वे शास्त्र को छोड़ कर मुख्यतया अनुमान की ही आँख से देखते हैं ॥३१॥

असद्वाद मानने का दोष

शून्यमासीदिति ब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम् ।
शून्यस्य न तु तद्युक्तमुभयं व्याहतत्वत, ॥३२

---

(१) ऐश्वर्य सम्पन्न राजा आदि, अथवा, पादपद्मादि विष्णु आदि के अवतार जिनके चरणो को पूजते हैं, अथवा भगवद् गोविन्दपाद के चरण जिनके पूज्य हैं—वे शङ्कराचार्य ।

(२) श्रुति के अविरुद्ध को सुतर्क और श्रुतिविरुद्ध को कुतर्क कहते हैं। कुतर्क रसहीन और निष्फल होने के कारण शुष्कतर्क कहलाता है।

अन्वय—'शून्यम् आसीत्' इति सद्योग ब्रूषे वा सदात्मताम् ? नत् उभय शून्यस्य व्याहतत्वत: न तु यूक्तम् ।

हे शून्यवादी ! यह तो वता कि 'शून्य था' इस तेरे अपने वाक्य मे तू शून्य के साथ 'सत्ता जाति' (होना) का योग मानता है या शून्य को 'सदात्मा' (सत्स्वरूप) ही मान लेता है ? शून्य के ये दोनो ही पक्ष सिद्ध नही होते, क्योकि दोनो अवस्थाओ मे व्याघात दोष आता है। [उस शून्य को असत् भी कहता है और फिर उसको अन्धकार युक्त अथवा अन्धकाररूप सूर्य की भान्ति सत् सम्वन्धो वा सत्रूप भी कहता है। इसलिए व्याघातदोष है।] इसलिए न तो शून्य के साथ सत्ता का सम्वन्ध सम्भव है और न शून्य कभी सद्रूप ही हो सकता है ।।३२।।

उदाहरण द्वारा व्याघात का समर्थन

न युक्तस्तमसा सूर्यो नापि चासौ तमोमयः ।
सच्छून्ययोर्विरोधित्वाच्छून्यमासीत्कथं वद ।।३३

अन्वय—सूर्यः तमसायुक्त न, च असो तमोमय. अपि न। सत्-शून्ययो. विरोधित्वात् 'शून्य आसीत्' कथ वद ?"

जैसे सूर्य न तो अन्धकार से युक्त हो सकता है और न वह कभी तमोमय ही हो सकता है, ऐसे ही सत् और शून्य का परस्पर विरोध है इसलिए, हे शून्यवादी ! यह वता कि 'शून्य था' यह तेरा वचन कैसे बनता है ? व्याघातदोष के कारण तेरा यह कथन सर्वथा असगत है।

(शङ्का) यदि यह कहो कि वेदान्त मे भी निर्विकल्प ब्रह्म मे आकाश आदियो की सत्ता सङ्गत नही होती, इसका उत्तर देते हैं :—

वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पिते ।
शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम् ॥३४

अन्वय—वियत् आदे नामरूपे मायया सुविकल्पिते शून्यस्य नामरूपे च तथा चेत्, चिर जीव्यताम् ।

आकाश आदि के नाम तथा रूप तो सत् मे माया द्वारा कल्पित हैं और यदि बौद्ध कहे कि इसी प्रकार शून्य के नामरूप भी कल्पित है, तब तो भाई ऐसा कहने वाला बौद्ध जुग-जुग जीवे, अर्थात् इस प्रकार तो वह ठीक सिद्धान्त पर ही आ गया । (अपने सिद्धान्त को छोडकर वेदान्त के सिद्धान्त को मानने वाले बौद्ध का यह उपहास ही है) ॥३४॥

वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार सब जगत् मिथ्या है,—"आकाश है" इत्यादि रूप मे जो सत्ता दीख रही है वह इसलिए कि अधिष्ठान (यहा सद्ब्रह्म) का धर्म अध्यस्त पदार्थ (यहा आकाश) में प्रतीत हुआ करता है । इसी प्रकार यदि बौद्ध भी शून्य की सत्ता को माने तो फिर सिद्धान्त का कोई अन्तर नही है ।

सतोऽपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत्तदा वद ।
कुत्रेति निरधिष्ठानो न भ्रमः क्वचिदीक्ष्यते ॥३५

अन्वय—सत अपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत् ? तदा कुत्र ? इति वद । निरधिष्ठान' भ्रम क्वचित् न ईक्ष्यते ।

यदि शून्यवादी यह कहे कि यो तो सत् के नाम रूप भी कल्पित है क्योकि वेदान्तमत में वास्तविक नामरूप तो होते ही नही । ऐसा कहने वाले शून्यवादी से सिद्धान्ती पूछता है—हे शून्यवादी ! यह तो बता कि सत् के नामरूप किस-किस में कल्पित हैं ?

यहां तीन पक्ष सम्भव हैं। (१) या तो वे सत् अधिष्ठान में कल्पित हो। अथवा (२) असत् में अथवा (३) जगत् मे। प्रथम-पक्ष तो बनता हीं नही है क्योकि रजत आदि नामरूप की कल्पना उससे भिन्न शक्ति आदि में दीख पडती है। इसलिए सत् के नामरूप की कल्पना सत् मे ही नही हो सकती। असत् की तो सत्ता ही नही है इसलिए भ्रम का अधिष्ठान ही जब नही है तो भ्रम (असत् मे नामरूप की कल्पना) किसमे हो ? तीसरा पक्ष भी नही सिद्ध होता क्योकि 'सत्' के नाम रूप का अधिष्ठान नहीं हो सकता।

यदि यह कहो कि विना अधिष्ठान के ही नाम की कल्पना क्यो नही कर लेते ? उत्तर देते हैं कि अधिष्ठान रहित भ्रान्ति कभी नही दीख पड़ी।

वादी की एक शङ्का और उसका उत्तर

सदासीदिति शब्दार्थभेदे वैगुण्यमापतेत्।
अभेदे पुनरुक्तिः स्यान्मैवं लोके तथेक्षणात् ॥३६

अन्वय—'सत् आसीत्' इति शब्दार्थभेदे वैगुण्यमापतेत्, अभेदे पुनरुक्ति स्यात् ? एवम् मा। लोके तथा ईक्षणात्।

(शका) 'असदेवेमग्र आसीत्' शून्यवादी के इस पक्ष मे जैसे व्याघात दोष दिखाया है वैसे ही "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इस वाक्य मे भी एक वड़ा दोष है। यह बताओ कि 'सत् आसीत्— अर्थात् "सत् था" इस वाक्य में 'सत् और था' इन दोनो शब्दो के अर्थ भिन्न भिन्न है या नही ? यदि कहो, शब्दार्थ भिन्न है तब तो सिद्धान्त-भगरूप विगुणता अर्थात् विरुद्धता आ जाती है अद्वैत-वाद ही तव नही ठहरता। यदि अर्थ को अभिन्न मानो तो पुन-रुक्ति दोष है। (उत्तर) यहा अर्थ अभिन्न है, और पुनरुक्ति दोष

इसलिए नही हैं कि लोक में समानार्थक शब्दो का प्रयोग देखा जाता है।

कर्तव्यं कुरुते वाक्यं ब्रूते धार्यस्य धारणम् ।
इत्यादिवासनाविष्टं प्रत्यासीत्सदितीरणम् ॥३७

अन्वय––कर्तव्य कुरुते, वाक्य ब्रूते, धार्यस्य धारणम्, इत्यादि-वासनाविष्टं प्रति 'सत् आसीत्' इति ईरणम् ।

इसी का उदाहरण देते हैं– कर्तव्य करता है, वाक्य बोलता है, धार्य धारण करता है, आदि (इसी प्रकार खेंच-खेच-अहो-अहो, मारो-मारो, पकडो-पकडो आदि प्रयोग) समानार्थक दो-दो शब्दों का प्रयोग करने की वासना जिन श्रोताओ के कान मे बैठी हुई है उनके प्रति श्रुति ने उनके मुहावरे मे यह कह दिया कि उस समय 'सत् ही था' ॥३७॥

(शंका) अद्वितीय वस्तु ब्रह्म मे जब काल का ही अभाव है तो, सृष्टि से 'पूर्व सत् था' ऐसा कथन अयुक्त है ?, उत्तर देते हैं —

कालाभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम् ।
शिष्यं प्रत्येव तेनात्र द्वितीयं न हि शंक्यते ॥३८

अन्वय––कालाभावे 'पुरा' इति उक्ति कालवासनया युतम् शिष्य प्रति एव । तेन अत्र द्वितीय न हि शक्यते ।

काल के अभाव में भी 'पहले हुआ' श्रुति का यह कथन भूत, भविष्य आदि रूप कालवासना से युक्त शिष्य या श्रोता के लिए कहा गया है, वास्तविकता के अभिप्राय से नही है ।

जगत् की उत्पत्ति से पहले जगत् का प्रागभाव था, अतएव ब्रह्म सद्वितीय था अर्थात् दूसरा ब्रह्म है । इस शका के उत्तर में कहते हैं कि श्रुति का यह कथन तो द्वैत के सस्कार रूप वास-नाओ वाले श्रोता को समझाने के लिए है, इसमें दूसरे ब्रह्म के

होने की शंका नहीं करनी चाहिए ॥३८॥

सिद्धान्त-रहस्य

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया ।

अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम् ॥३६

अन्वय—चोद्य वा परिहार: वा द्वैतभाषया क्रियता, अद्वैतभाषया चोद्य न अस्ति । तदुत्तर अपि न ।

आक्षेप और परिहार अर्थात् शङ्का और समाधान तो द्वैत-भाषा (अज्ञान की दृष्टि से आरोपित द्वैत को प्रत्यक्ष करने की भाषा) मे, अर्थात् व्यवहार-दशा मे—ही सम्भव हैं, अद्वैत-भाषा मे अर्थात् परमार्थ से तो अद्वैत ही यथार्थ वस्तु है ।।३६।।

स्मृति का प्रमाण

तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।

अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ॥४०

अन्वय – तदा स्तिमतगम्भीर, न तेज., न तम:, तत, अनाख्यम् अनाभिव्यक्तम् तत् किंचित् अवशिष्यते ।

स्मृति मे कहा है कि क्रिया-रहित, गम्भीर (दुरवगाह्य मन का अविषय), तेज से भिन्न (तेजस्त्व जाति का आश्रय) और तेज के विरोधी तम से भिन्न (अनावरण स्वभाव), व्यापक, अकथ-नीय, अप्रकट (इन्द्रियो का अविषय) और सत् अर्थात् शून्य से भिन्न, किंचित् अर्थात् 'यह' शब्द से अभिधेय कुछ पदार्थ शेष रह जाता है । सम्पूर्ण द्वैत का निषेध करते-करते, निषेध की अवधि के रूप में जो तत्व शेष रह जाता है—जिसका निषेध नहीं हो सकता, वह शेष रहा तत्व "सत्" है ॥४०॥

एक शङ्का

ननु भूम्यादिकं मा भूत्परमाण्वन्तनाशतः ।

कथं ते वियतोऽसत्त्वं बुद्धिमारोहतीति चेत् ॥४१

अन्वय—ननु परमाण्वन्तनाशत भूम्यादिक मा भूत्, वियतः असत्व ते वुद्धि कथ आरोहति इति चेत् ?

परमाणुपर्यन्त पदार्थों का नाश हो जाने के कारण भूमि, जल, वायु और अग्नि न रहे, यह तो हम मान सकते हैं। परन्तु नित्य आकाश का न रहना तुम कैसे मान लेते हो ?

उक्त शङ्का का समाधान

अत्यन्तं निर्जगद्व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम् ।
तथैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम् ॥४२

अन्वय—अत्यन्तम् निर्जगद् व्योम यथा ते वुद्धि आश्रितम् तथा एव निराकाश सत् मति कुतः न आश्रयते ?

हे वादिन् ! जैसे तेरी वुद्धि मे यह आया हुआ है कि यह आकाश सम्पूर्ण जगत् से रहित भी हो सकता है वैसे ही कुछ और अधिक आगे वढ़कर तू यह क्यो नही समझ लेता कि सद्-वस्तु भी विना आकाश की हो सकती है।

निर्जगद्व्योम दृष्टं चेत्प्रकाशतमसो विना ।
क्व दृष्टं कि च ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत्खलु ॥

अन्वय—निर्जगद्व्योम दृष्टं चेत्, प्रकाशतमसो विना क्व दृष्टम् ? किं च, ते पक्षे वियत् प्रत्यक्ष न ।

यदि यह सोच कर कि देखे हुये पदार्थ को असम्भव कैसे मान लू, यह कहे कि आकाश को जगत् से रहित देखा है, यह कहना भी तेरा असिद्ध है क्योकि सूर्य आदि के प्रकाश और अन्धकार के सिवा अकेले आकाश को तुमने देखा ही कहां है ? इन दोनो के विना आकाश कभी रहता ही नही है।

[सूर्यादि के प्रकाश और अन्धकार दोनो के सम्बन्ध से रूप-रहित आकाश मे भ्रान्ति से नीलापन प्रतीत होता है। यह नीलता ही दिखाई देती है, आकाश नही। आकाश मे इस नीलता का आरोप करके वादी 'मैंने आकाश देखा है' ऐसा कहता है। वस्तुतः प्रकाश और अन्धकार के विना आकाश की प्रतीति नही होती।]

फिर तेरे सिद्धान्त में तो आकाश इन्द्रियगोचर भी नही है।*

सद्वस्तु शुद्धं त्वस्माभिर्निश्चितैरनुभूयते।
तूष्णीं स्थितौ न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात्॥

अन्वय—शुद्धम् सद्वस्तु तु निश्चितैः अस्माभिः तूष्णीं स्थितौ अनुभूयते। च शून्यबुद्धेः वर्जनात् शून्यत्व न।

सद्वस्तु के विषय मे यह नही कहा जा सकता कि वह दीखती नही है, क्योकि उस (सद्वस्तु) को निश्चयवान् हम लोग, विकल्परहित उदासीन दशा मे, चुप बैठकर अनुभव किया करते है।

(प्रश्न) चुपचाप मौन की स्थिति मे तो शून्य ही है, क्योकि दूसरी कोई और वस्तु भी उस अवस्था मे प्रतीत नही होती।

(उत्तर) मौन हो जाने पर, दूसरी किसी वस्तु का ज्ञान नही होता, इसलिये शून्य ही रह गया, ऐसा समझना ठीक नही है,

---

*शून्यवादी के मत मे आकाश आवरण के अभाव का अधिकरण सिद्ध होता है, इसलिये प्रत्यक्ष नही है। न्याय के मत मे उद्भुत रूप-वाली पृथिवी, जल और तेज द्रव्य का नेत्र इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। उद्भूत रूप और स्पर्श वाले पृथिवी, जल और तेज का त्वक् इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। श्रोत्र, रसना और घ्राण इन इन्द्रियो से द्रव्य का प्रत्यक्षज्ञान नही होता, केवल एक-एक गुण का ग्रहण होता है। आकाश रूप-स्पर्श गुणवाला है नही इसलिए आकाश प्रत्यक्ष नही होता।

क्योकि शून्य को शून्य की प्रतीति नही हो सकती। (यहां यह रहस्य हैकि यदि शून्य का ज्ञान सम्भव है तो शून्य का जानने वाला भी होगा इसलिये शून्य अर्थात सब का अभाव सिद्ध नही होता। यदि यह माने कि शून्य का ज्ञान नही होता तो भी साक्षिरहित शून्य सिद्ध नही होगा। क्योकि निस्फुरणरूप मौन दशा मे किसी वस्तु का ज्ञान नही होता, इसलिये शून्य के भी ज्ञान के अभाव से तव शून्य नही है) ॥४४॥

स्वगोचर बुद्धि न होने पर भी सद्वस्तु का ज्ञान

'सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति माऽस्त्वस्य स्वप्रभत्वतः।
निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात्सन्मात्रं सुगमं नृणाम् ॥

अन्वय––सद्बुद्धि अपि न अस्ति चेत् ? अस्य स्वप्रभत्वतः मा अस्तु। निर्मनकस्त्वात् सन्मात्र नृणाम् सुगमम्।

यदि कहो कि समाधि अवस्था मे सद्बुद्धि भी नही रह जाती है–उस समय यह ध्यान भी नही रहता कि सत् नाम की भी कोई वस्तु इस ससार मे है–तो, इसका उत्तर यह है कि उस समय सद्-बुद्धि चाहे न रहे, पर यह सत् तत्त्व तो स्वयप्रकाश पदार्थ है, यह चाहे बुद्धि का विषय न भी रहे तो भी इसका ज्ञान तो होता ही है।

वह सद्वस्तु उस समाधि अवस्था की, निर्मनस्कस्थिति की, साक्षी होती है, इस कारण निर्मनस्कस्थिति को जानने वाले (साक्षी) के रूप मे सन्मात्रवस्तु का परिज्ञान होना मनुष्यो को सुगम है ॥४५॥

इस प्रकार समाधि-अवस्था मे प्रपच रहित साक्षी प्रत्यगात्मा का ज्ञान होना दिखाकर, सृष्टि से पहले भी सद्वस्तु का ज्ञान ऐसे ही सम्भव है, यह दर्शाते हैं —

मनोजृम्भणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः ।
मायाजृम्भणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम् ।।४६

अन्वय—मनोजृम्भणराहित्ये यथा साक्षी निराकुल. तथा एव मायाजृम्भणत पूर्वं सत् निराकुलम् ।

मनोव्यापार न होने की अवस्था में जैसे साक्षी (आत्मा) निराकुल (मन के सकल्पविकल्परूप विक्षेप से रहित) होता है, वैसे ही, सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व प्रलय अवस्था मे भी जब कि माया का परिणामस्वरूप कार्य (जृम्भण) नही हो पाया था, तब सद्ब्रह्म अव्याकुल (माया के कार्य स्थूल-सूक्ष्म-प्रपचरूपविक्षेप से रहित) था ।।४६।।

माया का लक्षण

निस्तत्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत् ।
न हि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्बुध्यते कार्यतः पुरा ।। ४७

अन्वय—निस्तत्वा कार्यगम्या अस्य शक्ति माया, अग्निशक्तिवत् । कैश्चित् क्वचित् कार्यत. पुरा शक्ति न हि बुध्यते ।

जगत् के कारणभूत वस्तु-ब्रह्म से पृथक् (तत्त्व) वास्तविकता जिसकी नही है, आकाश आदि कार्यभूत लिङ्गो से जिसकी पहचान* होती है और जो सद्वस्तु की शक्ति है—आकाश आदि कार्यों के उत्पादन की सामर्थ्यरूप है, उसको 'माया' कहते है ।

जैसे अग्नि आदि शक्तिमान् के अपने स्वरूप से भिन्न, शक्ति उसमे रहती है जिसका अनुमान स्फोट आदि से होता है, ऐसे ही माया सद्वस्तु की शक्ति है ।

'कैश्चित् क्वचित् कार्यतः पुरा शक्ति न हि बुद्धयते क्योंकि कोई भी कभी कार्य की उत्पत्ति से पहले शक्ति को नही जान

* माया अनुमान प्रमाण से जानी जाती है । यहाँ अनुमान इस

सकता इसलिए शक्ति कार्यरूप लिंग से ही पहचानी जाती है ॥४७॥

माया की निस्तत्त्वरूपता

न सद्वस्तु सतः शक्तिर्न हि वन्हेः स्वशक्तिता ।
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्वमुच्यताम् ॥४८

अन्वय—सद्वस्तु सत. शक्ति' न। हि वन्हे. स्वशक्तिता न। सद्विलक्षणताया तु शक्ते किं तत्व उच्यताम् ।

यह सत् की शक्ति सत् रूप हो सकती है अथवा असत्-रूप। इनमे प्रथम पक्ष नही है अर्थात् वह सत् की शक्ति, सद्वस्तु ही हो यह नही हो सकता, क्यो कि यदि सत् से अभिन्न होगी तो सत् की शक्ति क्यो कर होगी ? देखते हैं कि अग्नि स्वयं अपनी शक्ति नही होती। यदि अग्नि ही अग्नि की शक्ति हो तो, मणिमन्त्र आदि प्रतिवन्धो के कारण जो दाह नही होता अथवा प्रतिवन्ध के निरोधक मणिमत्र औषधि आदि उत्तेजक की विद्यमानता में, प्रतिवन्ध के रहते भी जो दाह होता है वे दोनो ही होने चाहिएँ। इन दोनो अवस्थाओ को देखते हुए यह मानना पडता है अग्नि की दाहादि की शक्ति अग्निरूप नही, अग्नि से भिन्न है।

यदि सत् की शक्ति को सत् से भिन्न असत् मानें तो उसका स्वरूप वताना चाहिए कि वह कैसा है ? असत् के दो अर्थ हैं—(१) एक निस्वरूप-शून्य-और (२) दूसरा वोधयोग्य स्वरूपवान्-

---

प्रकार होगा —आकाश आदि प्रपञ्चरूप कार्य, अपने कारण विवर्तोपदानब्रह्म मे स्थित शक्ति से जन्य है, कार्य होने से, प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण मे स्थित शक्ति से जन्य है। अग्नि मे स्थित शक्ति से जन्य विस्फोट आदि कार्य की भान्ति और मृत्तिका मे स्थित शक्ति से जन्य घट आदि कार्य की भान्ति ।

मिथ्या। यदि सत् की शक्ति असत् है तो इन में से उनका स्वरूप कौन सा है?

मायां की सदसदनिर्वचनीयता

शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम्।
न शून्यं नापि सद्याहक्ताहक्तत्वमिहेष्यताम् ॥ ४९

यदि उस शक्ति का स्वरूप शून्य (नि स्वरूप) बताया जाय तो शून्य तो माया का कार्य है (देखो इसी प्रकरण का ३४ वा श्लोक)। इस कारण यही कहना पड़ता है कि वह माया न तो नरश्रृङ्ग की भान्ति नि स्वरूप ही है और न अबाध्य (सत्य) ही है। यदि तुम ऐसा कोई सदसद्विलक्षण तत्त्व समझ सकते हो तो वैसा तत्त्व माया को समझ लो। उस माया का निर्वचन सत् अथवा असत् इन दोनो शब्दो से नही हो सकता, इसलिए उसको सदसदनिर्वचनीय कहा है ॥४९॥

श्रुति का प्रमाण

नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानी किं त्वभूत्तमः।
सद्योगात्तमसः सत्वं न स्वतस्तन्निषेधनात् ॥५०

अन्वय—तदानी न असत् आसीत, नो सत् आसीत्, किन्तु, तमः अभूत्। सत्+योगात् तमसः सत्वम्, न स्वत., तन्निषेधनात् ॥

'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' इस श्रुति ने भी इस बात का अनुमोदन किया है। इस का अभिप्राय यह है कि 'उस समय न तो सत् था और न असद् था, सब तम ही तम (अज्ञान) था। अज्ञानपद की वाच्य मायाकी सदसदनिर्वचनीयता मे ये श्रुतिया प्रमाण हैं।

सत् अधिष्ठानरूप, ब्रह्म के कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध से ही अज्ञान मे सत्ता आ जाती है, स्वभाव से सत्ता अज्ञान मे नही है।

क्योंकि श्रुति ने अपने मुख से उसके सत् होने का स्पष्ट निषेध कर डाला है ॥५०॥

माया की द्वितीयता अमान्य

अत एव द्वितीयत्वं शून्यवन्न हि गण्यते ।
न लोके चैत्रतच्छक्त्यो जीवितं लिख्यते पृथक् ॥

अन्वय—अतः एव शून्यवत् द्वितीयत्व न हि गण्यते । लोके चैत्र-तच्छक्त्यो. जीवित पृथक् न लिख्यते ।

इस सब का निष्कर्ष यह है कि क्योकि माया की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती, इसलिए जैसे शून्य को दूसरा पदार्थ नही गिना जाता इस प्रकार माया को भी ब्रह्म से भिन्न नही गिना जाता । लोक मे भी शक्तिमान् पुरुष और उसकी कार्य करने की आजीविका रूप सामर्थ्य का पृथक् उल्लेख नही किया जाता ॥५१॥

शक्त्याधिक्ये जीवितं चेद्वर्णते तत्र वृद्धिकृत् ।
न शक्तिः किंतु तत्कार्य युद्धकृष्यादिकं तथा ॥५२

अन्वय—शक्ति+आधिक्ये जीवित वर्धते चेत् ? तत्रवृद्धिकृत् तत्कार्यं युद्धकृष्यादिकम्, न शक्तिः ।

(शंका) परन्तु शक्ति के अधिक होने पर आजीविका बढ़ जाती है, यह देखकर प्रतीत होता है कि शक्ति पुरुष से पृथक् है । (उत्तर) आजीविका की वृद्धि का कारण शक्ति नही अपितु खेती, व्यापार, सेवा आदि हैं । इस प्रकार माया शक्ति ब्रह्म से भिन्न नही है ।

सर्वथा शक्तिमात्रस्या न पृथग्गणना क्वचित् ।
शक्तिकार्यं तू नैवास्ति द्वितीयं शंक्यते कथम् ॥

अन्वय—शक्तिमात्रस्य सर्वथा पृथक्गणना क्वचित् न । शक्तिकार्यं तु नैव अस्ति, द्वितीय कथ शङ्क्यते ?

केवल शक्ति की अलग गिनती कही नही होती। यदि यह कि मायाशक्ति से द्वितीय ब्रह्म को न मानो परन्तु मायाशक्ति से कार्यो (स्थूल सूक्ष्म प्रपच) के कारण तो ब्रह्म द्वितीय (पृथक्) मानना पड़ेगा ? इसके उत्तर मे कहते है कि उस प्रलयकाल मे शक्ति का कार्य नामरूप भी कुछ नही है। फिर दूसरे के होने की आशङ्का क्यो करते हो ? प्रलयकाल मे ब्रह्म और उसकी शक्ति दोनो होते हैं परन्तु शक्ति की गिनती ब्रह्म से पृथक् नही की जाती। सृष्टि रचना के पश्चात् शक्ति के नाना कार्य हो जाते हैं, परन्तु सृष्टि रचना के पीछे के कार्यों से, सृष्टिरचना के पूर्व-काल मे द्वितीयपन कैसे आयेगा ?

सच्छक्ति की एकदेशता

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किं त्वेकदेशभाक् ।
घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते ॥५४

अन्वय—सा शक्तिः कृत्स्नब्रह्मवृत्ति न, किन्तु एकदेशभाक्, यथा भूमौ घटशक्ति स्निग्धमृदि एव वर्तते।

माया शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्म मे है या उसके एक देश में। यदि सम्पूर्ण ब्रह्म मे मानेगे तो मुक्तो की प्राप्तिके योग्य शुद्ध ब्रह्म (१) ही नही रहेगा। यदि एक देश मे शक्ति माने तो ब्रह्म को निर-वयव कैसे मानोगे ? इसके उत्तर मे कहते है कि शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्म मे नही रहती शक्ति एकदेशी है। जैसे घट को उत्पन्न करने की शक्ति सारी पृथ्वी में नही अपितु उसके एकदेश—एक अवयव, चिकनी मिट्टी रूप-मे ही रहती है ॥५४॥

---

(१) वेदान्त के अनुसार ज्ञानी को माया-अविद्या-आदि प्रपञ्च-रहित शुद्धब्रह्म की प्राप्ति होती है। यदि माया सम्पूर्ण ब्रह्म मे मानो तो मायाविशिष्ट हो जाने के कारण ब्रह्म शुद्ध कैसे रह सकेगा ?

शक्ति की एकदेशता मे प्रमाण

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः।
इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः ॥५५

अन्वय—अस्य पाद सर्वाभूतानि त्रिपाद् स्वयंप्रभः अस्ति इति श्रुति मायाया एकदेशवृत्तित्वम् वदति।

"सम्पूर्ण भूत इसके एक-चतुर्थांश में ही हैं–इसका तीन चौथाई अश अव भी स्वय प्रकाश है" इस श्रुति (यजुर्वेद अ० ३१) के आधार पर ब्रह्म की माया उसके एकदेश में ही रहती है ॥५५॥

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।
इति कृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम् ॥

अन्वय—"अह इद कृत्स्नं जगत् एक+अंशेन विष्टभ्य स्थितः" इति कृष्ण' अर्जुनाय जगत. एकदेशताम् आह।

"हे अर्जुन ! मैं परमेश्वर इस सम्पूर्ण, परिदृश्यमान जगत् को अपने एक अश से धारण किये हुए हूँ" यह कह कर गीता मे भगवान् कृष्ण ने भी जगत् की एकदेशता अर्थात् ब्रह्म के एकदेश में रहने की वात कही है ॥५६॥

ब्रह्म के निर्माय स्वरूप में प्रमाण

स भूमिं विश्वतो वृत्वा ह्यत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।
विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुतिसूत्रकृतोर्वचः ॥५७

अन्वय—स. भूमिं विश्वत. वृत्वा दशागुल अति+अतिष्ठत्। 'विकारावर्ति' च अत्र श्रुतिसूत्रकृतो. वच अस्ति।

"उस परमात्मा ने भूमि, अर्थात् प्रपञ्च को सव ओर से लपेट लिया है, फिर भी उससे दस अगुल वाहर निकला हुआ है।" यह श्रुतिका और विकारावर्ति अर्थात् 'विकाररूप कार्यप्रपञ्च से

पृथक् है' यह सूत्रकार व्यास भगवान् का वचन है। ये दोनो वचन इस बात मे प्रमाण हैं कि ब्रह्म का मायारहित स्वरूप भी है ॥५७॥

श्रुति का अभिप्राय

निरंशेऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः ।
तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतृहितैषिणी ॥५८

अन्वय—श्रोतृहितैषिणी श्रुति. कृत्सने अशे वा इति पृच्छत तद्+भाषया निरशे अपि अश आरोप्य उत्तर ब्रूते ।

ब्रह्म है तो वास्तव में निरश, परन्तु श्रोताओ का हित चाहने वाली श्रुति की शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्म मे रहती है या अश मे ? इस प्रकार का प्रशन करने वाले श्रोता को उसकी भाषा में उत्तर देने के लिए निरश मे अश का आरोप करके उसकी भाषा मे ही उत्तर दिया है, वस्तुत तो ब्रह्म निरवयव है ॥५८॥

सद्ब्रह्म और पञ्चमहाभूतो का विवेक, शक्तिवर्णन का प्रयोजन

सत्तत्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत्सति विक्रियाः ।
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं यथा ॥

अन्वय—यथा भित्तिगता वर्णा भित्तौ नानाविधम् चित्रम्, (तथा) सततत्व समाश्रिता शक्ति सति विक्रिया. कल्पयेत् ।

जैसे भीतपर पोते हुए पीले, लाल, नीले आदि रग भीत पर अनेक प्रकार के चित्रो को अङ्कित कर देते है वैसे ही सत्-तत्त्व मे रहने वाली माया, उस सत् तत्त्व में विक्रिया अर्थात् विविध कार्यविशेषो को उत्पन्न किया करती है ॥५९॥

माया का प्रथम कार्य

आद्यो विकारः आकाशः सोऽवकाशः स्वरूपवान्
आकाशोऽस्तोति सत्तत्वमाकाशेऽप्यनुगच्छति

अन्वय आद्य. विकार. आकाश, स अवकाश. स्वरूपवान् ।

आकाश 'अस्ति' इति सत्+तत्व आकाशे अपि अनुगच्छति ।

शक्ति का पहला विकार–कार्य–आकाश है, वह अवकाश-स्वरूप है। "आकाश' यह कहना ही बता रहा है कि सत्त्व आकाश में भी अनुगत हो रहा है· आकाश ब्रह्म का विवर्त्तक कार्य है। [यदि आकाश सत् से बना न होता तो 'आकाश है' में आकाश के साथ होना [सत्ता] का योग कैसे होता ?] ॥६०॥

एकस्वभावं सत्वमाकाशो द्विस्वभावकः ।
नावकाशः सति व्योम्नि स चैषोऽपि द्वयं स्थितम् ॥

अन्वय—सत्व एकस्वभावम्, आकाश द्विस्वभावकः, सति अवकाशः न, व्योम्नि च एष अपि, द्वय, स्थितम् ।

सत् वस्तु एक (सत्तारूप)—स्वभाववाली है और आकाश दो स्वभाववाला है। सद्वस्तु में 'अवकाश' नही है—केवल अकेला सत्स्वभाव है, आकाश मे वह–सत्स्वभाव–और यह–अवकाश स्वभाव दोनो हैं ॥६१॥

यद्वा प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुणो नासौ सतीक्ष्यते ।
व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनि तेन सदेकं द्विगुणं वियत् ॥

अन्वय—यद्वा प्रतिध्वनिः व्योम्न' गुण., असो सति न ईक्ष्यते । व्योम्नि सद्ध्वनी–द्वौ, तेन सत् एक, वियत् द्विगुणम् ।

अथवा इसी विषय को यो समझो कि प्रतिध्वनिरूपशब्द का गुण है यह प्रतिध्वनिगुण सद्वस्तु में नही पाया जाता। आकाश मे सत् और ध्वनि दोनों हैं इस प्रकार सत् एक स्वभाव वाला और आकाश दो स्वभाव का है ॥६२॥

सत् और आकाश का मायाकृत विपरीत धर्मधर्मिभाव

यदि आकाश सत्ब्रह्म का कार्य है तो 'आकाश की सत्ता' सत् आकाश का धर्म कैसे प्रतीत होता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं —

या शक्तिः कल्पयेद्व्योम सा सद्व्योम्नोरभिन्नताम्
आपद्य धर्मधर्मित्वं व्यत्ययेनावकल्पयेत ।।६३

अन्वय—या शक्तिः व्योम कल्पयेत् सा सद्व्योम्नो. अभिन्नता आपद्य व्यत्ययेन धर्मधर्मित्व कल्पयेत् ।

जिस माया शक्ति ने सत्वस्तु मे आकाश की कल्पना की है वही शक्ति पहले सत्वस्तु और आकाश के अभेद की कल्पना करती है और पश्चात् विपरीत रूप से धर्म और धर्मीभाव की कल्पना करती है अर्थात् आकाश को धर्मी और सत् को धर्म बना देती है। सत्रूप जो धर्मी (आधार) है उसको धर्म (आश्रित) और आकाशरूप धर्म (कल्पित आश्रित) को धर्मी (आश्रय) कल्पित कर लेती है। इस प्रकार आकाश की सत्ता का भान होता है ।।६३।।

सतो व्योमत्वमापन्नं व्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः ।
तर्किकाश्चावगच्छन्ति मायाया उचितं हि तत् ।।

अन्वय—लौकिकाः सतः व्योम्नत्व आपन्न, च तार्किका व्योम्न सत्ता अवगच्छन्ति, तत् हि मायाया उचितम् ।

वस्तुतत्त्व का विचार करने पर ज्ञात होता है जैसे मिट्टी घटाकार होजाती है इसी प्रकार सत्ही आकाशभाव को प्राप्त हो गया है। लौकिक जन ऐसा ही जानते हैं। परन्तु नैयायिक इससे विपरीतरूप मे आकाशरूप धर्मी की सत्ता को और सत्रूपधर्ममय सत्ता को मानते हैं। यह विपरीतरूप मे दिखाने का कारण माया मे विद्यमान है ही ।।६४।।

माया की विपरीत प्रतीति की कारणता का समर्थन

यद्यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः ।
अन्यथात्वं भ्रमेणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः ।।६५

अन्वय–यत् यथा वर्तते तस्य तथात्व मानत भाति, अन्यथा त्व भ्रमेण, इति अय न्याय सार्वलौकिक ।

जो वस्तु (सीप आदि) जिस रूप में रहती है उसका यथार्थरूप तो प्रमाण से ज्ञात होता है और उसी का दूसरा अयथार्थरूप भ्रान्ति से ज्ञात होता है। यह न्याय सर्वलोक प्रसिद्ध है ॥६५॥

भ्रान्ति जन्य विपरीत ज्ञान की निवृत्ति का उपाय

एवं श्रुतिविचारात्प्राग्यथा यद्वस्तु भासते ।
विचारेण विपर्येति ततस्तच्चिन्त्यतां वियत् ॥६६

अन्वय—एव श्रुतिविचारात् प्राक् यत् वस्तु यथा भासते, विचारेण (तत्) विपर्येति । तत तत् वियत् चिन्त्यताम् ।

इस प्रकार यह निश्चय हो गया कि श्रुति के रहस्य का विचार करने से पूर्व, जो वस्तु सद्ब्रह्म, भ्रान्ति से जैसा—गगनादिरूप में, दीख पडता है, श्रुति के अर्थ के विचार से उस वस्तु का यथार्थरूप ज्ञात होता है, इसलिए आकाश पर विचार करो कि वह वास्तव में क्या है ? ॥६६॥

विचार का स्वरूप

भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद्बुद्धेश्च भेदतः ।
वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्न तु व्योमेति भेदधीः ॥६७

अन्वय—भिन्ने वियत्सती, शब्दभेदात्, च बुद्धे. भेदत । वायु आदिषु सत् अनुवृत्त, न व्योम इति भेदधी. ।

आकाश और सत् परस्पर भिन्न हैं, क्योंकि उन दोनो के वाचक शब्द (नाम) भिन्न-भिन्न हैं, आकाश और सत्–ये दोनो शब्द आपस में पर्याय नही हैं, इसलिए भिन्न-भिन्न हैं। तथा इन दोनो से उत्पन्न होने वाली बुद्धियां भी भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिये भी ये भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि वायु, तेज, जल और

पृथिवी के साथ तो 'सत् वायु' 'सत तेज' आदि वाक्यो से, सत् अनुस्यूत प्रतीत होता है परन्तु आकाश सत् के साथ इस प्रकार अनुस्यूत प्रतीत नही होता यही भेदबुद्धि है *

सत् का धर्मित्व और आकाश का धर्मत्व

सत और आकाश में भेद सिद्ध करने के पश्चात् 'आकाश की सत्ता है' इस प्रकार जो आकाश का धर्मिभाव (आश्रयभाव) और सत्त का धर्मभाव (आश्रित भाव) भ्रान्ति (अविचार) से प्रतीत होता है, विचार द्वारा उसकी विपरीतता दिखलाते हैं —

सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वाद्धर्मि व्योम्नस्तु धर्मता ।
धिया सतः पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किमात्मकम् ।।६८

अन्वय—अधिकवृत्तित्वात् सद्वस्तु धर्मि, व्योम्न तु धर्मता । धिया सत पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किम् आत्मकम् ?

जैसे रूप रस आदि गुणो मे रहने वाला द्रव्य पदार्थ धर्मी होता है इसी प्रकार आकाश आदि सब मे अनुवृत्त हुआ 'सत्' धर्मी अर्थात् आश्रय है। अधिक मे वृत्ति होने से सद्वस्तु धर्मी है। अधिक वृत्तिको व्यापक कहते हैं। वही आधाररूप धर्मी होता है। जैसे रूप रस आदि गुणो का आश्रय द्रव्य, रूप आदि एक-एक गुण से अधिक वृत्ति (व्यापक) होने से, धर्मी है।

जो वस्तु न्यूनवर्ती (अल्प) होती है उसे व्याप्य कहते हैं। उसी को आधेयरूप धर्म कहा है। जैसे रूप आदि गुण न्यूनवर्ती (परस्पर और अपने आश्रय द्रव्य से व्यावृत्त रहने वाले) होने के

---

*प्रत्यक्तत्त्वविवेक के ३ से ७ वें श्लोक तक ज्ञान का अभेद सिद्ध किया है और यहाँ ज्ञानका भेद बताते हैं तथापि वह पूर्वोत्तर विरोध नही है क्योकि वहा प्रथम प्रकरण मे चेतनरूप ज्ञान का अभेद बताया है और यहाँ बुद्धि की वृत्तिरूप ज्ञान का भेद अभीष्ट है ।

कारण व्याप्य–आधेय–धर्म हैं। इसी प्रकार यहाँ आकाश, वायु आदि से भिन्न है अतएव वह धर्म अथवा आधेय है।

(शका) यदि ऐसी बात है तो जैसे घटद्रव्यसे भिन्न रूप, वास्तविक है, ऐसे हो सत् से भिन्न आकाश भी वास्तविक होगा। इसका उत्तर देते है कि वास्तव मे तो सत् किसी भी वस्तु से पृथक् नही हो सकता, परन्तु,

यदि बुद्धि की सहायता से तुम सत् को पृथक् कर भी लो तो यह तो बताओ कि फिर आकाश किस स्वरूप वाला रह गया? ॥६८

अवकाशात्मकं तच्चेदसत्तदिति चिन्त्यताम्।
भिन्नं सतोऽसच्च नेति वक्षि चेद्व्याहृतिस्तव॥

अन्वय—तत् अवकाशात्मक चेत्? असत् इति चिन्त्यताम्। सत' भिन्न च असत् न, इति वक्षि चेत्? तव अव्याहृति।

यदि आकाश को सत्स्वभाव न बताकर अवकाशरूप बताओ तो, सत् से विलक्षण असत् मानना पडेगा? सत् से विलक्षण असत् ही तो होता है।

'यदि यह कहो कि वह सत् से भिन्न भी है और असत् भी नही है' तो तुम्हारा यह कथन व्याघात, विपरीत अथवा अमान्य है।

मिथ्या का लक्षण

भातीति चेद्भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत्।
यदसद्भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत् ॥७०

अन्वय—भाति इति चेत्? भातु नाम, तत् मायिकस्य भूषणम्, यत् असत्—भासमानम्—तत् स्वप्नगज+आदिवत् मिथ्या।

/ असत् होते हुए भी आकाश प्रतीत होता है, तो हुआ करे।

असत् होने पर भी प्रतीत होना मायावादी का भूषण है। मिथ्या कहते हो उस वस्तु को हैं, जो असत् हो, अर्थात् स्वरूप से न हो परन्तु प्रतीत होती हो, जैसे स्वप्नावस्था के हाथी आदि ॥७०॥

एक साथ प्रतीयमान वस्तुओ का भेद

जातिव्यक्ती देहिदेहौ गुणद्रव्ये यथा पृथक् ।
वियत्सतोस्तथैवास्तु पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः ॥७१

अन्वय—यथा जातिव्यक्ती, देहिदेहौ, गुणद्रव्ये पृथक्, तथा एव वियत्सत पार्थक्य, अत्र क विस्मय ?

जैसे नियम से सदा साथ दीखने वाले भी जाति तथा व्यक्ति, देही तथा देह, और गुण तथा द्रव्य, पृथक्-पृथक् है, इसी प्रकार आकाश और सत् भी पृथक् पृथक् है, इसमे आश्चर्य की क्या बात है ?

बुद्धोऽपि भेदो नो चित्ते निरूढिं याति चेत् तदा ।
अनैकाग्र्यात्संशयाद्वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद ॥७२

अन्वय—'बुद्ध अपि भेदः चित्ते निरूढिं न याति' इति चेत् ? तदा अस्य ते रूढ्यभाव. अनैकाग्र्यात् सशयात् वा इति वद ।

'आकाश और सत् का यह भेद समझा हुआ भी, यदि चित्त मे न जमता हो तो यह बता कि इस अस्थिरता का कारण चित्त की एकाग्रता का न होना है अथवा तुम्हारे चित्त मे बैठा हुआ कोई सशय है ? ॥७२॥

अप्रमत्तो भव ध्यानादाद्येऽन्यस्मिन्विवेचनम् ।
कुरु प्रमाणयुक्तिभ्यां ततो रूढतमो भवेत् ॥७३

अन्वय—आद्ये ध्यानात् अप्रमत्त भव, अन्यस्मिन् प्रमाणयुक्तिभ्या विवेचनम् कुरु, ततो रूढतम. भव ॥

यदि इस अरूढि का कारण अनेकाग्रता है, तब तो अपने मन को सावधान कर। यदि कोई संशय रह गया हो तो, प्रमाण और युक्तियों द्वारा उसका विवेचन कर, उसे मिटा डाल। इन दोनों साधनों द्वारा सत् और आकाश का भेद निश्चित हो जायगा।

ध्यानान्मानाद्युक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः।
न कदाचिद्वियत्सत्यं सद्वस्तु च्छिद्रवन्न च ॥७४

अन्वय—ध्यानात् मानात् युक्तित. अपि वियत्सतो: भेदे रूढे, वियत कदाचित् न सत्यम्, च, सद्वस्तु अपि छिद्रवत् न।

ध्यान (प्रत्यय की एकतानता), प्रमाण (६७ वें श्लोक में कहा गया) तथा ६८ वें श्लोक मे वर्णित युक्ति द्वारा अथवा निदिध्यासन आदि द्वारा आकाश और सत् का भेद जब चित्त में भली भांति जम जायगा तो आकाश कभी सत्य प्रतीत न होगा और यह भी ज्ञात हो जाएगा कि सद्वस्तु में छिद्र अर्थात् आकाश नाम की कोई वस्तु नही है ॥७४॥

सत् और आकाश के विवेक का फल

ज्ञस्य भाति सदा व्योम निस्तत्वोल्लेखपूर्वकम्।
सद्वस्त्वपि विभात्यस्य निश्छिद्रत्वपुरःसरम् ॥७५

अन्वय—ज्ञस्य व्योम सदा निस्तत्वोल्लेखपूर्वक भाति। अस्य सद्+वस्तु अपि निश्छिद्रत्वपूर्वकं विभाति॥

ज्ञानी पुरुष को जब कभी व्यवहार मे आकाश की प्रतीति होती है तब उसे साथ-साथ आकाश की निस्तत्त्वता का भी ज्ञान रहता है और उसको जब-जब सद्वस्तु का भान होता है तब तब यह ज्ञान भी रहता है कि यह सद्वस्तु आकाश रहित है ॥७५॥

वासनायां प्रवृद्धायां वियत्सत्यत्ववादिनम् ।
सन्मात्रबोधमुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते बुधः ।।७६

अन्वय—वासनाया प्रवृद्धाया वियत्सत्यत्ववादिन सन्मात्रबोधमुक्त च दृष्ट्वा बुधः विस्मयते ।

[आकाश की असत्यता और सत् की सत्यता के बार-बार अनुभव करने से उत्पन्न, जो पीछे स्मृति का हेतु होता है वह सस्कार दृढ होकर वासना बनता है ।] वासना जब (बढ) दृढ हो जाती है, तब आकाश और सत् की यथार्थता को जानने वाला ज्ञानी, आकाश को सत्य मानने वाले और आकाशरहित सत् वस्तु को न जानने वाले पुरुष को देखकर आश्चर्य करने लगता है ।।७६।।

सत् का वायु आदि से विवेक

एवमाकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते ।
न्यायेनानेन वाय्वादेः सद्वस्तु प्रविविच्यताम् ।।७७

अन्वय—एव आकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते अनेन न्यायेन वायु+आदे. सद्वस्तु प्रविविच्यताम् ।

इस प्रकार जब आकाश का मिथ्यापन और सत् का सत्यपन भले प्रकार चित्त मे जम जाय तो, इसी न्याय-शैली-के द्वारा वायु आदि चारो भूतो से सद्वस्तु को भिन्न करके ज्ञान जान लेना चाहिए ।।७७।।

वायु का सद्वस्तु से परम्परागत तादात्म्य सम्बन्ध

आकाश के कार्य वायु का अकारण सत् से तादात्म्य सम्बन्ध तो है नही, फिर उसका सत् से भेद-विवेचन व्यर्थ ही है, इस आशका के उत्तर में कहते हैं.—

सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया तत्रैकदेशगम् ।

वियत्तत्राप्येकदेशगतो वायुः प्रकल्पितः ।।७८

अन्वय—सद्वस्तुनि एकदेशस्था माया, तत्र एकदेशग वियत् । तत्र अपि एकदेशगत वायु प्रकल्पित ।

सद्वस्तु के किसी एक देश मे माया पड़ी हुई है और माया के किसी एक देश में आकाश है, उस आकाश के भी एक देश में वायु की कल्पना* की गई है ।।७८।।

सत् और वायु का धर्म से भेद-ज्ञान कराने के लिए वायु के धर्मों का उल्लेख करते हैं—

शोषस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमे मताः ।
त्रयः स्वभावाः सन्मायाव्योम्नां ये तेऽपि वायुगाः।।

अन्वय—शोषस्पर्शौ, गति॰, वेग., इमे वायुधर्मा मता. । सन्माया-व्योम्ना ये त्रयः स्वभावा॰, ते अपि वायुगा. ।

शोष, स्पर्श, गति तथा वेग–ये चार–वायु के अपने धर्म हैं । सत्, माया और आकाश के जो क्रमश. तीन स्वभाव-सत्ता, मिथ्यापन और शब्द–हैं, वे भी वायु मे है ।।७९।।

वायुरस्तीति सद्भावः सतो वायो पृथक्कृते ।
निस्तत्त्वरूपता मायास्वभावो व्योमगो ध्वनिः ।।

अन्वय—वायु अस्ति इति सद्भाव वायो, सत पृथक्कृते निस्त-त्वरूपता मायास्वभाव. व्योमग॰ ध्वनि. ।

'वायु है' इस व्यवहार के हेतु सद्रूपता है : वह सद्रूपता वायु में सत्वस्तु का धर्म है । वायु के सत्वस्तु से पृथक् कर लेने

*आकाश, माया-उपहित-चेतन मे कल्पित है, इसलिये अन्य कल्पित का अधिष्ठान नही बन सकता । अतएव यहाँ आकाश+उपहित+चेतन में वायु कल्पित (अध्यस्त) है, यह अभिप्राय है।

पर जो निस्तत्वरूपता (मिथ्यात्व) है वह वायु मे माया का धर्म आया हुआ है। और आकाश से वायु मे आता हुआ शब्द उसका तीसरा धर्म है ॥८०॥

एक शङ्का

सतोऽनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नोनेति पुरेरितम् ।
व्योमानुवृत्ति रधुना कथं न व्याहतं वचः ॥८१

अन्वय—'सत सर्वत्र अनुवृत्ति., व्योम्न न' इति पुरा ईरितम्। अधुना व्योमानुवृत्ति (उच्यते), वचः कथ व्याहत न ?

इसी प्रकरण के ६७ वें श्लोक मे कहा है कि सत् की सर्वत्र अनुवृत्ति है, आकाश की नही। अव उसके विपरीत वायु मे आकाश की अनुवृत्ति वता रहे हो, तुम्हारे कथन मे क्या यह व्याघात (पूर्वापर विरोध) दोष नही है ? ॥८१॥

समाधान

छिद्रानुवृत्तिर्नेतीति पूर्वोक्तिरधुनात्वियम् ।
शब्दानुवृत्तिरेवोक्ता वचसो व्याहतिः कुतः ॥८२

अन्वय—'छिद्रानुवृत्ति न' इति पूर्वोक्ति, अधुना तु इय शब्दानुवृत्ति एव उक्ता वचहः व्याहतिः कुत ?

इस शंका का समाधान यह है कि ६७ वें श्लोक मे कहा गया था कि छिद्र अर्थात् अवकाश रूप लक्षण वाले आकाश की अनुवृत्ति नही होती। अव तो शब्द की अनुवृत्ति कही है, अवकाशरूप स्वरूप की अनुवृत्ति नही, इसलिए वचन का व्याघात कैसे हुआ ?

वायु मे माया की अकार्यता की शंका

ननु सद्वस्तुपार्थक्यादसत्वं चेत्तदा कथम् ।
अव्यक्तमायावैषम्यादमायामयतापि नो ॥८३

अन्वय—ननु सद्वस्तुपार्थक्यात् असत्व चेत्, तदा अव्यक्तमाया-वैषम्यात् अमायामयता अपि कथ नो ?

हे सिद्धान्ती ! यदि तुम वायु को सद्ब्रह्म से विलक्षण होने के कारण असत् (मायामय) मानते हो तो यह बताओ कि जब यह वायु, जो कि व्यक्त है, अव्यक्तरूपा माया से भी विलक्षण है तो फिर इसे अमायामय–सत्य–भी क्यों नही मान लेते ? ॥८३॥

समाधान

निस्तत्त्वरूपतैवात्र मायात्वस्य प्रयोजिका ।
सा शक्तिकार्ययोस्तुल्या व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः ॥८४

अन्वय—अत्र मायात्वस्य प्रयोजिका निस्तत्त्वरूपता एव । सा, व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः शक्तिकार्ययो. तुल्या ।

मायामय होने का कारण अव्यक्तता नही अपितु निस्तत्वता ही है, निस्तत्वता के कारण ही वायु को मायामय (असत्) कहा गया है। और वह निस्तत्वरूपता ही, व्यक्त और अव्यक्त मे भेद रखने वाली शक्ति मे तथा उसके कार्यों में—दोनो मे-समान है। [निस्तत्वरूपता अव्यक्त माया मे भी है और माया के कार्य व्यक्त वायु आदि मे भी पाई जाती है। माया और माया के कार्यों मे केवल अव्यक्तता और व्यक्तता का भेद है।] ॥८४॥

व्यक्तता-अव्यक्तता का विचार प्रस्तुतानुपयोगी

सदसत्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात्स चिन्त्यताम् ।
असतोऽवान्तरो भेद आस्तां तच्चिन्तयाऽत्र किम् ॥

अन्वय—सदसत्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात् सः चिन्त्यताम्, असत. अवान्तर भेद आस्ताम्। अत्र तच्चिन्तया किम् ?

जब माया और उसके कार्य वायु आदि में निस्तत्वरूपा समानता है तो उनमे व्यक्त+अव्यक्त का भी भेद क्यो हो ? इसके

उत्तर मे कहते हैं कि यहां तो सत् और असत् के विवेक का ही प्रसंग हैं, उसी का विचार हमे करना चाहिए। माया और माया के कार्यभूत असत् पदार्थ के जो व्यक्तता-अव्यक्तता-रूप अवान्तर भेद हैं उन्हे रहने दो, उनका यहा प्रसग ही नही है, तो उनका यहां विचार ही क्यो करे।

सद्वस्तु ब्रह्म शिष्टोंऽशो वायुर्मिथ्या यथा वियत्।
वासयित्वा चिरं वाशोर्मिथ्यात्वं मरुत् त्यजेत् ॥८६

अन्वय—सत् वस्तु ब्रह्म, शिष्ट अश वायु मिथ्या, यथा वियत्। इत्थं चिरं वायो मिथ्यात्व वासयित्वा मरुत् त्यजेत्।

वायु में जितना सत् अश है, वह ब्रह्मरूप है, शेष अश निस्तत्वता, शब्द, स्पर्श आदि वायु का स्वरूप है। वह वायु आकाश के समान निस्तत्वरूप (अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न सत्ता के अभाव वाला होने से मिथ्या) हैं। इस प्रकार चिरकाल तक वायु के मिथ्याभाव का निश्चय करके, मुमुक्षु, वायु को छोड दे 'वायु सत्य है' इस बुद्धि को छोड दे ॥८६॥

सत् और अग्नि का विवेक

चिन्तयेद्वह्निमप्येवं मरुतो न्यूनवर्तिनम्।
ब्रह्माण्डवरणेष्वेषा न्यूनाधिकविचारणा ॥८७

अन्वय—एव मरुत न्यूनवर्तिन वह्निम् अपि चिन्तयेत्। ब्रह्माण्डावरणेषु एषा न्यूनाधिकविचारणा ॥

वायु से दस अश न्यून देश में रहने वाली वह्नि का भी इसी प्रकार विचार करे। [और अन्त मे उसकी भी सत्यत्वबुद्धि का परित्याग कर दे)। ८८ वे श्लोक मे आकाश आदि का जो न्यूनाधिक विचार बताया है वह लोक मे चाहे न होता हो, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि समस्त आवरणो मे किया जाता है ॥८७॥

वायोर्दशांशतो न्यूनो वह्निर्वायौप्रकल्पितः ।
पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैर्भूतपञ्चके ॥८८

अन्वय—वह्नि वायो दशांशतः न्यून', सः च वायौ प्रकल्पितः । भूतपञ्चके पुराणोक्त तारतम्य दशांशे (वर्तते) ।

अग्नि वायु के दसवें भाग के बराबर है (यदि दस भाग वायु है तो अग्नि एक भाग है) अग्नि भी वास्तविक पदार्थ नही है,वह वायु में कल्पित है, वायु-उपहित-चेतन मे कल्पित है । यह न्यूनाधिकता स्वकपोलकल्पित नही है अपितु पुराणो के कथनानुसार इन पाच भूतो मे १।१० भाग के अनुसार क्रम से न्यूनाधिकभाव है ॥८८॥

वह्नि का स्वरूप

वह्निरुष्णः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्र च ।
अस्ति वह्निः सनिस्तत्वः शब्दवान् स्पर्शवानपि ॥

अन्वय- वह्नि, उष्ण प्रकाशात्मा च । अत्र च पूर्वानुगतिः । अस्ति वह्नि , स निस्तत्व , शब्दवान् स्पर्शवान् अपि ।

वह्नि उष्ण है और प्रकाशस्वरूप है। इसमें भी वायु की भाति पूर्वानुगति (कारण के धर्मो की अनुगति) हो रही है। इसीलिए कहा जाता है कि वह्नि 'है', मिथ्यारूप है, शब्दवान् है और स्पर्शवान् है ।

सन्मायाव्योमवाय्वंशैर्युक्तस्याग्नेर्निजो गुणः ।
रूपं तत्र सतः सर्वमन्यद्बुद्ध्या विविच्यताम् ॥

अन्वय—सन्मायाव्योमवाय्वंशै. युक्तस्य अग्नेः निजः गुणः रूपं अस्ति । तत्र सतः अन्यत् सर्व बुद्धया विविच्यताम् ।

सत्, माया, आकाश तथा वायु इन चार कारणों के अश क्रमश अस्तित्व, मिथ्यात्व शब्द और स्पर्श ये चार धर्म हैं,

उनसे युक्त अग्नि का अपनागुण (धर्म) 'रूप' है। इनमे से 'सत्' को छोड़ कर शेष सब धर्म मिथ्या है, बुद्धि द्वारा इस बातका विवेचन (पृथक्करण) कर लेना चाहिये ॥६०॥

सत् और जल का विवेक

सतो विवेचिते वह्नौ मिथ्यात्वे सति वासिते ।
आपो दशांशतो न्यूनाः कल्पिता इति चिन्तयेत् ॥

अन्वय—वह्नौ सतः विवेचिते, (तथा वह्नौ) मिथ्यात्वे वासिते, आप दशांशत न्यूना इति चिन्तयेत् ।

सत् से अग्नि के विविक्त कर लेने और अग्नि के मिथ्यात्व के दृढनिश्चित हो जाने पर यह चिन्तन करना चाहिये कि जल भी अग्नि से दस अश कम है, और वह भी अग्नि उपहित-चेतन मे कल्पित है ।

सन्त्यापोऽमूः शून्यतत्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः ।
रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्या स्वीयो रसो गुणः ॥६२

अन्वय—अन्यधर्मानुवृत्या अमू आप सन्ति, शून्यतत्वा, सशब्दस्पर्शसयुता रूपवत्य । स्वीय गुण रस ॥

कारणो के धर्मों की अनुगति होने से ही 'यह जल है', 'यह जल मिथ्या है', 'यह शब्द, स्पर्श और रूपवाला है', ऐसा कहा जाता है। जल का अपना गुण केवल 'रस' है ॥६२॥

सत् और पृथिवी का विवेक

सतो विवेचितास्वप्सु तन्मिथ्यात्वे च वासिते ।
भूमिर्दशांशतो न्यूना कल्पिताप्स्विति चिन्तयेत् ।

अन्वय—अप्सु सत विवेचितासु तन्मिथ्यात्वे च वासिते, भूमिः दशांशत न्यूना अप्सु कल्पिता इति चिन्तयेत् ।

सत् से जलो को विविक्त कर लेने और उनके मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर फिर यह निश्चय करे भूमि जल से दस अश कम है और वह भी जल-उपहित चेतन मे कल्पित है ॥६३॥

अस्ति भूस्तत्वशून्यास्याँ शब्दस्पर्शौ सरूपकौ ।
रसश्च परतो गन्धो नैजः सत्ता विविच्ययाम् ।६४
पृथक्कृतायाँ सत्तायाँ भूमिर्मिथ्यावशिष्यते ।

अन्वय—भू अस्ति, तत्वशून्या, अस्या सरूपकौ च रस परत., गन्ध नैज, सत्ता विविच्यताम् । सत्ताया पृथक् कृताया भूमि. मिथ्या अवशिष्यते ।

भूमि है', वह निस्तत्त्व (मिथ्या) है,' इस पृथिवी मे शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस ये गुण दूसरो (क्रमश सत्, माया, आकाश, वायु, तेज और जल कारणो) से आये हैं । पृथ्वी का अपना गुण (धर्म) गन्ध है । उन सब मे से सत्ता को पृथक् करना है ॥६४॥

सत्ता के पृथक् कर लेने पर भूमि नाम का पदार्थ 'मिथ्या' रह जाता है ।

सत् और भूतो के कार्य-ब्रह्माण्ड आदि का विवेक

भूमेर्दशांशतो न्यूनं ब्रह्माण्डं भूमिमध्यगम् ॥६५

अन्वय—भूमिमध्यग ब्रह्माण्ड भूमे. दशाशत न्यूनम् ।

भौतिक ब्रह्मांड आदि से सत् का विवेक करने के लिए, ब्रह्माड आदि की स्थिति का वर्णन करते हैं—पृथ्वी से दस अश कम चौदह भुवनो के रूप मे विद्यमान 'ब्रह्माण्ड' है, वह पृथ्वी के मध्य मे स्थित है । [इसका एक अर्थ यह भी है कि वह ब्रह्मांड आकाश में घूमते रहने वाले भूमि के खण्डो (परमाणुओ) से बना हुआ है । परन्तु 'पृथिवी जिस ब्रह्माण्ड के मध्य मे स्थित है'—

ऐसा अर्थ होना ठीक प्रतीत होता है।] यहा अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल ये सातलोक नीचे और भू, भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्य ये सात ऊपर, इस प्रकार चौदह भुवन है।

ब्रह्माण्डमध्ये तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश।
भुवनेषु वसन्त्येषु प्राणिदेहा यथायथम् ॥९६

अन्वय—ब्रह्माण्ड मध्ये चतुर्दश भुवनानि तिष्ठन्ति। एषु भुवनेषु प्राणिदेहा यथायथ वसन्ति।

ब्रह्माण्ड मे चौदहभुवन (लोक) विद्यमान हैं, इन चौदहभुवनो मे प्राणियो के देह व्यवस्थानुसार रहते हैं।

ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते।
असन्तोऽण्डादयो भान्तु तद्भानेऽपीह का क्षतिः ॥

अन्वय—ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते, असन्त अण्डादय: (यदि भान्ति) भान्तु, तद्भाने अपि इह का क्षति. ?

ब्रह्माण्ड, चौदह भुवन और प्राणियो के देहो मे से सद्वस्तु के पृथक् कर लेने पर भी यदि असत् ब्रह्माण्ड आदि का भान होता है, तो होता रहे। इनका असत् रूप से भान होने पर भी अद्वैतवस्तु मे कोई हानि नही है जैसे, मृगजल की प्रतीति से उसकी अधिष्ठान पृथ्वी गीली नही होती ऐसे ही जगत् की मिथ्याप्रतीति से उसके अधिष्ठान अद्वैत ब्रह्म की कोई हानि नही होती ॥९७॥

भूतभौतिकमायानामसत्वेत्यन्तवासिते।
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित् ॥९८

अन्वय—भूतभौतिकमायाना असत्वे अत्यन्तवासिते 'सदवस्तु अद्वैत' इति धी क्वचित् न विपर्येति।

आकाश आदि पाचभूत, ब्रह्माण्ड आदि भौतिक और इनकी

कारणरूप माया–इन तीन–की असत्ता अर्थात् मिथ्यात्व की वासना के विवेक और ध्यान से चित्त मे दृढ जम जाने पर, "सद्वस्तु अद्वैत ही है" यह वुद्धि कभी नष्ट नही होती ॥९८॥

मिथ्यात्व के निश्चय होने पर भी व्यवहार का अलोप

सदद्वैतात्पृथग्भूते द्वैते भूम्यादिरूपिणि ।
तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथैव सा ॥९९

अन्वय––भूम्यादिरूपिणि द्वैते सदद्वैतात् पृथक्भूते तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथा एव सा ।

जव भूमि आदि रूपधारी इस द्वैत जगत् को, सत् अद्वैत से पृथक् (मिथ्या) जान लिया जाता है तव भी उन भूमि आदि में उस-उस निमित्त से जो प्रवृत्ति (क्रिया) है वह लोक मे वैसी ही रहती है जैसी कि पूर्व अज्ञानकालमे अनुभव की जाती रही है। विवेक, व्यवहार को रोकता नही है. जो काम क्षुद्र देहाभिमान की प्रेरणा से होते थे वे अव आत्मा की अमरता, सच्चिदानन्द-रूपता तथा सार्वात्म्य की दृष्टि से होने लगते हैं ॥९९॥

सांख्यकाणादवौद्धाद्यैर्जगद्भेदो यथा यथा ।
उत्प्रेक्ष्यतेनेतयुक्त्या भवत्वेष तथा तथा ॥१००

अन्वय––साख्यकाणादवौद्धाद्यैः अनेकयुक्त्या यथा यथा जगद्भेदः उत्प्रेक्ष्यते एष तथा तथा भवतु ।

कपिलमत के अनुयायी साख्यवादी, कणादमत के अनुयायी वैशेपिक और माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक ये चार वुद्ध के शिष्य–वौद्ध–तथा नैयायिक आदि ने अनेक युक्तियों से जिस जगद्भेद की कल्पना की है वह वैसा ही रहे, उस व्याव-हारिक भेद को हम भी मानते हैं। इसलिए उसके खण्डन का प्रयत्न नही करते ॥१००॥

अवज्ञातं सदद्वैत निःशंकैरन्यवादिभिः ।
एवं का क्षतिरस्माकं तद्द्वैतमवजानताम् ॥१०१

अन्वय—अन्यवादिभि. नि.शकै. अवज्ञात, सद-द्वैत तद्-द्वैत अवजानता अस्माक एव का क्षति: ?

यदि यह शका करो कि जिस सत्वभेद को अन्यवादियो ने प्रमाणों से सिद्ध किया है उसकी उपेक्षा करना उचित नही है तो हमारा उत्तर यह है कि जब अन्यवादियोने नि शक होकर श्रुति आदि से सिद्ध सद् अद्वैत की अवज्ञा की है तो श्रुति, युक्ति और अनुभव द्वारा उनके द्वैत की अवज्ञा करने मे हमारी क्या हानि है ? कुछ भी हानि नही है ॥१०१॥

द्वैतावज्ञा का प्रयोजन—जीवन्मुक्ति

द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीः स्थिरा भवेत् ।
स्थैर्ये स्वताः पुमानेष जीवन्मुक्त इतोर्यते ॥१०२

अन्वय—द्वैतावज्ञा सुस्थिरा चेत्, धीः अद्वैते स्थिरा भवेत् । तस्याः स्थैर्ये एष. पुमान् जीवन्मुक्त इति ईर्यते ।

द्वैतावज्ञा से यह लाभ होता है कि जब द्वैतावज्ञा पूर्णरूप से दृढ हो जाती है तब साधक की बुद्धि अद्वैत मे स्थिर हो जाती है। उस बुद्धि के स्थिर हो जाने पर वह स्थिरबुद्धि पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहलाने लगता है ॥१०२॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामंतकालेपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥१०३

अन्वय—पार्थ ! एषा ब्राह्मी स्थितिः, एना, प्राप्य न विमुह्यति । अन्तकाले अपि अस्या स्थित्वा ब्रह्म निर्वाण ऋच्छति ।

केवल जीवन्मुक्ति ही नही, अपितु, विदेहमुक्ति भी द्वैतावज्ञा का फल है। भगवद्गीता अध्याय २ श्लोक ७२ मे कहा है–हे

अर्जुन ! यहां तक ब्राह्मीस्थिति–(सब कर्मो को छोडकर ब्रह्मस्वरूप से स्थिति) बतलाई। इस स्थिति को प्राप्त हुआ मनुष्य फिर भ्रांत नही होता। यदि मनुष्य अन्तकाल में भी इस स्थिति मे ठहर सकता हो तो वह ब्रह्मभावरूप विदेहमुक्तिमय ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त करता है। [जब प्रपच की प्रतीति न हो और अद्वैत-ब्रह्मस्वरूप से स्थिति हो तब विदेहमुक्ति होती हैं] ॥१०३॥

'अन्तकाल' का अर्थ

सदद्वैतेनृतद्वैते यदन्योन्यैक्यवीक्षणम् ।
तस्यान्तकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः ॥१०४

अन्वय—सदद्वैते अनृतद्वैते यदन्योन्यैकवीक्षण तद्भेदबुद्धिः एवं तस्य अन्तकाल, न इतर.।

यहाँ अन्तकाल का अर्थ वर्तमान देह का विनाश नही है, अपितु सद्रूप अद्वैत और मिथ्यारूप द्वैत मे जो अन्योन्याध्यासरूप एकता का ज्ञानरूप भ्रम हो रहा था उस एकता के भ्रमज्ञान का अन्तकाल अर्थात् 'सद् अद्वैत' और मिथ्याद्वैत को क्रमश सत्य और मिथ्या जानकर उन में भेद समझना ही अन्तकाल है ॥१०४॥

यद्वान्तकालः प्राणस्य वियोगोस्तु प्रसिद्धितः ।
तस्मिन्कालेपि नभ्रान्तेर्गतायाः पुनरागमः ॥१०५

अन्वय—यद्वा प्रसिद्धितः प्राणस्य वियोग. अन्त काल अस्तु। तस्मिन् काले अपि गतायाः भ्रान्तेः पुन. आगमः न।

अथवा लोक में प्रसिद्ध होने के कारण देह से प्रधानलिंग प्राणो के वियोग को ही अन्तकाल मान लो–इस मे भी कोई दोष नही है। क्योकि जो भ्रान्ति उस समय नष्ट हो जाएगी वह फिर कभी लौटकर आने वाली नही है ॥१०५॥

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन्भुवि ।

मूर्च्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान्भ्रांतिर्न सर्वथा ।।

अन्वय—एष नीरोग उपविष्ट ,वा भुवि विलुठन् रुग्ण , वा मूर्छित प्राणान् त्यजतु भ्रान्ति. सर्वथा न ।

जिस ज्ञानी की द्वैतावज्ञा स्थित हो चुकी है वह चाहे तो नीरोग होकर, चाहे बैठे-बैठे, चाहे रोगी होकर या भूमि पर पडा-पडा, या मूर्छावस्था मे, प्राणो का त्याग करे, उसे फिर भ्रान्ति नही हो सकती ।

ज्ञानी चाहे 'ब्रह्म वाह' या 'राम-राम' कहता हुआ, या पीडा से व्याकुल हो 'हाय-हाय' करता हुआ प्राणत्याग करे, वह चाहे काशी आदि पवित्र देश में अथवा मघाक्षेत्र आदि अपवित्र स्थान मे,उत्तरायण आदि उत्तम काल मे अथवा दक्षिणायन आदि निकृष्टकाल मे प्राण त्याग करे—उसको 'मैं देहाविक हूँ' 'जीव हूँ' आदि भ्रान्ति नही होती । ज्ञानी के देहत्याग मे कोई नियम नही है, परन्तु उपासक के देहत्याग के विषय मे नियम है ।।१०६।।

दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृतेप्ययम् ।
परेद्युर्नानधीतः स्यत्तद्वद्विद्या न नश्यति ।।१०७

अन्वय'—यथा दिने-दिने अधीते (वेदे) स्वप्नसुप्त्यो विस्मृते अपि अयम् परेद्यु अनधीत न स्यात् तद्वत् विद्या न नश्यति ।

जैसे प्रतिदिन पढा गया वेद, स्वप्न और सुषुप्ति मे विस्मृत हो जाने पर भी वह अगले दिन अनधीत (न पढा हुआ) नही होता, ऐसे ही मरते समय मूर्छा सन्निपात आदि के कारण तत्व का विचार न कर सकने पर भी ज्ञानी का ज्ञान नष्ट नहीं होता ।।१०७।।

प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रमाणं प्रबलं विना ।
न नश्यति न वेदान्तात्प्रबलं मानमीक्ष्यते ।।१०८

अन्वय—प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रबल प्रमाण विना न नश्यति, वेदान्तात् प्रबल मानं न ईक्ष्यते।

'तत्त्वमसि' आदि प्रमाणों से उत्पन्न हुई विद्या (ज्ञान), प्रबलतर प्रमाणो के बिना नष्ट नही हो सकती, और वेदान्त से प्रबलतर दूसरा प्रमाण दिखाई नही देता। इसलिए यह ज्ञान मूर्छा आदि मे नष्ट नही होता ॥१०८॥

तस्माद्वेदान्तसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते।
अंतकालेप्यतो भूतविवेकान्निर्वृतिः स्थिता ॥१०९॥

अन्वय—तस्मात् वेदान्तसंसिद्ध सत्-अद्वैत अंतकाले अपि न बाध्यते। अत: भूतविवेकात् निर्वृति स्थिता।

इससे यही सिद्ध हुआ कि वेदान्तसिद्ध अद्वैत की बाधा अन्तकाल में भी नही होती। इसीलिए यह कहना सर्वथा उचित है कि सत् से पचभूतो का भेदज्ञानरूप विवेचन कर लेने पर निरतिशय सुख की प्राप्तिरूप मुक्ति निश्चित रूप से होती है ॥१०९॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के द्वितीय प्रकरण-पच महाभूतविवेक की श्री पीताम्बर शर्मा कृत तत्त्व प्रकाशिका व्याख्या समाप्त



अथ पंचकोशविवेकः—३

मङ्गलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया।
पंचकोशविवेकस्य कुर्वे तत्वप्रकाशिकाम् ॥

श्रीयुक्त सब गुरुओ को नमस्कार करके पचदशी के तीसरे, पञ्चकोशविवेक नाम के, प्रकरण की तत्व प्रकाशिका नाम की व्याख्या करता हूँ।

यह तीसरा प्रकरण यजुर्वेदके अन्तर्गत तैत्तिरीय उपनिषद्के तात्पर्य का व्याख्यानरूप है। इसका आरम्भ करने से पूर्व अधिकारी श्रोता की प्रवृत्तिके लिए इसका प्रयोजन एव विषय बतलाते हैं:—

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत्पञ्चकोशविवेकतः।
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपञ्चकं प्रविविच्यते ॥१

अन्वय—गुहाहित यत् ब्रह्म तत् पञ्चकोशविवेकत् बोद्धु शक्य, ततः कोशपञ्चक प्रविविच्यते।

'यो वेद निहित गुहाया परमे व्योमन्' तैत्तिरीय उपनिषद् के इस वाक्य मे जिस ब्रह्मको गुहा मे स्थित बताया है, वह ब्रह्म गुहा शब्द से वाच्य अन्नमयादि पंचकोशो के विवेक से जाना जा सकता है, इसलिए उन पाचो को अन्तर-आत्मा से भली भान्ति पृथक् करके दिखाया जा रहा है ॥१॥

गुहा शब्द का अर्थ

देहादभ्यंतरः प्राणः प्राणादभ्यंतरं मनः।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा ॥२

अन्वय—देहात् प्राण आभ्यन्तर । प्राणात् मन. आभ्यन्तर । ततः कर्त्ता । तत भोक्ता । सा इय परम्परा गुहा ।

देह (अन्नमय-कोश) से प्राणमयकोश भीतर का है । प्राणमय कोश से मन भीतर का है । मनोमयकाश से कर्त्ता अर्थात् विज्ञानमय कोश भीतर का है । उस विज्ञानमयकाश के भीतर आनन्दमयकोश है । इस प्रकार अन्नमय से लेकर आनन्दमय तक की यह परम्परा (माला) 'गुहा' कहलाती है ॥२॥

[किसी पहाड में पाच द्वारवाली कोई गुफा हो, उसमे अतिशय तेजोरूप मणिमयी भगवत्-प्रतिमा विद्यमान हो—वैसे ही आकाश आदि सवको अवकाश देने वाले, अव्याकृत मायारूप आकाश में विद्यमान पाच कोशो से ब्रह्म ही प्रत्यगात्मारूप से विद्यमान है । ये पचकोश उसके आच्छादक हैं, इसलिये गुहा कहलाते हैं ।]

अन्नमयकोश

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नैव वर्द्धते ।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः॥३

अन्वय—पितृभुक्तान्नजात् वीर्यात् जात अन्नेन एव वर्धते । स. देह. अन्नमय· आत्मा, न प्राक् ऊर्ध्वं च तदभावत. ।

माता-पिता के खाये अन्न से उत्पन्न वीर्य से जो पैदा होता है और जन्म के पश्चात् क्षीरादि भोजनो (अन्न) से ही जो वढता है, वह देह ही अन्नमयकोश है । वह अन्नमय (देह) आत्मा नही है क्योकि जन्म से पहले और मरण के पश्चात् वह देह नहीं रहता, (अर्थात् प्रागभाव और प्रध्वसाभाव होने के कारण) । यहाँ अनुमान इस प्रकार है .—(चार्वाक और साधारणजन देह को आत्मा मानते हैं—इसलिये विवाद का विषय यह जो देह है,

वह आत्मा नही है, क्योकि यह 'कार्य' अर्थात् उत्पत्ति और विनाशवान् है, जैसे घट) ॥३॥

पूर्वंजन्मन्यसन्नैतज्जन्म संपादयेत्कथम् ।
भाविजन्मन्यसत्कर्म न भुञ्जीतेह संचितम् ॥४

अन्वय—(अय देह) पूर्वजन्मनि असत् एतत् जन्म कार्य सम्पादयेत्? भाविजन्मनि असत् इह सचित कर्म न भुजीत ।

यदि यह देहरूप आत्मा पूर्व जन्म मे नही था तो इसने इस जन्म को कैसे पाया ? जब आत्मा को देहरूप ही मान लिया जाता है तो पूर्वजन्म मे न यह था, न इसको उत्पन्न करने वाला अदृष्ट ही था। फिर भी इस जन्म की उत्पत्ति मानने से अकृताभ्यागम दोष आता है। जो इस शरीरात्मा ने किया नही था उसे अब यह भोग रहा है ।

और यह देहरूप आत्मा भावी जन्म में भी नही रहेगा, तब इस जन्म में किये भले-बुरे कामो (सचित पाप-पुण्यो) का फल यह नही भोग सकेगा। इस प्रकार भोग के बिना ही कर्म का नाश होना अर्थात् कृतनाश दोष आता है इसलिए आत्मा को कार्य अथवा अन्न का विकार देहरूप मानना ठीक नहीं है ॥४॥

प्राणमय कोश का स्वरूप और उसकी अनात्मता

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः ।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ॥५

अन्वय—य देहे पूर्ण (स') वल यच्छन् अक्षाणा प्रवर्तक. वायुः प्राणमय' । चैतन्यवर्जनात् असौ आत्मा न ।

जो वायु पैर से लेकर मस्तकपर्यन्त सम्पूर्ण देह मे पूर्ण होकर व्यान रूप से शक्ति देता चक्षु आदि इन्द्रियो का प्रेरक है, वह वायु प्राणमयकोश है। चेतनता न होने से, जड़ होने के

कारण वह भी आत्मा नही है। विवाद का विषय प्राणमयकोश आत्मा नही है, जड होने से, जैसे घट आदि ।।५।।

मनोमय और विज्ञानमय का भेद

अहंतां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः ।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः ।।६

अन्वय—देहे अहता गेहादौ ममता च य. करोति (स) मनोमय', कामाद्यवस्थया भ्रान्त. असौ आत्मा न ।

जो देह में 'मैं भाव और गृह आदि मे 'मेरा है' ऐसा अभिमानरूप ममता को करता है, वह मनोमयकोश है। वह भी आत्मा नही है, क्योकि काम, क्रोध आदि अवस्थाओ से भ्रान्त (कभी कामी, कभी क्रोधी आदि) रहने से उसका स्वभाव नियत या नियमित नही है। मनोमय कोश, आत्मा नही है, क्योकि वह विकारी (पूर्व वृत्ति अर्थात् अवस्था को छोडकर दूसरी वृत्ति को ग्रहण करने वाला) है, जैसे देह, बाल्य आदि अवस्थाओ वाला होने से विकारी है, और आत्मा भी नही है ।।६।।

विज्ञानमय का स्वरूप और उसकी अनात्मता

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा ।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक् ।।७

अन्वय—चिच्छायोपेतधी सुप्तौ लीना, बोधे आनखाग्रगा, वपुः व्याप्नुयात् (सा) विज्ञानमयशब्दभाक्, आत्मा न ।

चेतन के प्रतिविम्ब रूप चिदाभास से युक्त जो वुद्धि सुषुप्तिकाल में लीन होकर शरीर में व्याप्त रहती है तथा जाग्रत अवस्था मे नखाग्रपर्यन्त शरीर में व्याप्त रहती है, वह विज्ञानमय कहलाती है, वह भी आत्मा नही है। घटादि की भान्ति विलय आदि अवस्थावाली वुद्धि आत्मा कैसे हो सकती है ! ।।७।।

मनोमय और विज्ञानमय का भेद

(शङ्का) मन और बुद्धि दोनो ही अन्त करण हैं, अतएव दो पृथक् कोशो की कल्पना ठीक प्रतीत नही होती। इसका उत्तर देते है—

कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रयेतान्तरिन्द्रियम्।
विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चैते परस्परम् ॥८

अन्वय—अन्तरिन्द्रियम् कर्तृत्वकरणात्वाभ्याम् विक्रियेत, एते विज्ञानमनसी। एते च परस्पर अन्त' वहि ।

भीतर की इन्द्रिय (मन) कभी कर्तारूप (क्रिया के आश्रय रूप) से और कभी कारणरूप (क्रिया के साधन रूप) से विकृत (परिणत) होती रहती है, जव कर्तारूप से परिणत होती है तब उसको विज्ञान (बुद्धि) मयकोश और जब करणरूपसे परिणत होती है तब उसको 'मनोमयकोश' कहते हैं। विज्ञान का अर्थ निश्चयरूप वृत्ति और मन का वाच्य सशयरूप वृत्ति है। ये दोनो परस्पर भीतर और बाहर रहा करते है। [बुद्धि भीतर रहती है, मन वाहर रहता है, इसीलिए एक अन्त करण के दो कोश हो गये हैं] ॥८॥

आनन्दमयकोश का स्वरूप

काचिदंतर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक्।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते ॥९

अन्वय—पुण्यभोगे काचित् वृत्ति अन्तर्मुखा आनन्दप्रतिबिम्बभाक्, भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते ॥

जब हम किसी पुण्यकर्म के सुखरूप फल को अनुभव करते हैं तव कोई बुद्धिवृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है और उस पर आत्म स्वरूप आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है और भोगो के शान्त

हो जाने पर वही वुद्धिवृत्ति निद्रारूप से विलीन् अर्थात् सस्कार रूप हो जाती है। उस वृत्ति को ही "आनन्दमयकोश" कहते हैं ॥ ९ ॥

आनण्दमयकोश की अनात्मता

कादाचित्कत्वतो नात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम् ।
बिम्बभूतो य आनन्द आत्माऽसौ सर्वदास्थितेः ॥१०

अन्वय—अयं आनन्दमय अपि कादाचित्कत्वत· आत्मा न स्यात् । विम्बभूत य· आनन्द असौ, आत्मा, सर्वदा स्थिते· ।

यह आनन्दमय भी मेघ की भान्ति कभी-कभी होता है, सदा नही रहता, इसलिए आत्मा नही है। किन्तु वुद्धि आदि मे प्रतिविम्वरूप से स्थित प्रिय आदि शब्दो के वाच्य आनन्दमय का विम्व अर्थात् कारणभूत आनन्द ही सच्चा आत्मा है। क्योंकि वह सदा वना रहता है, नित्य है। यहां अनुमान इस प्रकार है – विवाद का विषय आनन्द आत्मा है, नित्य होने के कारण, जो आत्मा नही है, वह नित्य भी नही है, जैसे देह आदि। आकाश आदि तो उत्पन्न होते हैं, इसलिए अनित्य हैं, इसलिए नित्यतारूप हेतु आकाश आदि मे अतिव्याप्त नही है ॥१०॥

ननु देहमुपक्रम्य निद्रानन्दान्तवस्तुषु ।
मा भूदात्मत्वमन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते ॥११

अन्वय—ननु देह उपक्रम्य निद्रा-अन्त-वस्तुषु आत्मत्व मा भूत्, अन्य· तु कश्चित् न अनुभूयते ।

(शका) अन्नमय देह से लेकर निद्रा तथा आनन्दपर्यन्त पदार्थों में, वताये हुए कारणो से, आत्मभाव नही घटता हो मत घटे परन्तु इनके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु भी तो ऐसी अनुभव में नही आती जिसे आत्मा कहा जा सके ? ॥११॥

बाढं निद्रादयः सर्वेऽनुभूयन्ते न चेतरः ।
तथाप्येतेऽनुभूयन्ते येन तं को निवारयेत् ॥१२

अन्वय—'निद्रादय सर्वे अनुभूयन्ते, च इतर. न,—बाढम् । तथापि येन एते अनुभूयन्ते त क. निवारयेत् ?

(उत्तर) 'निद्रा अर्थात् निद्रागत आनन्द, अतएव, आनन्दमय । उस 'आनन्दमय से लेकर (देह) अन्नमयकोश तक पाच कोश ही उपलब्ध होते हैं अन्य कोई भी पदार्थ उपलब्ध नही होता' यह तुम्हारा कथन सर्वथा ठीक है । परन्तु जिसके बल से आनन्दमय आदि कोशो की प्रतीति होती है उस अनुभव को तुम क्यो स्वीकार नही करते ? ॥१२॥

आत्मा की अज्ञेयता का कारण

स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता ।
ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया ॥१३

अन्वय—स्वयम् एव अनुभूतित्वात् अनुभाव्यता न विद्यते । ज्ञातृज्ञानान्तराभावात् अज्ञेय , असत्तया तु न ।

(शङ्का) पर आत्मा तो अज्ञेय है—जाना नही जाता, फिर उसे कैसे माने ? (उत्तर) नित्यज्ञानरूप होने के कारण वह स्वय ही अनुभूतिरूप है । इसलिये आत्मा किसी का अनुभाव्य नही होता · अन्य के अनुभव का विषय नही है । और क्योकि आत्मा से भिन्न अन्य ज्ञाता और उससे भिन्न अन्य ज्ञान नही होता इसलिये वह अज्ञेय कहलाता है, उसकी अज्ञेयता का हेतु उसकी असत्ता'='अभाव' नही है । १२ वे श्लोक मे, निद्रा आनन्द आदि का साक्षी होने के कारण, आत्मा के असद्भाव का निषेध किया जा चुका है । अतएव आत्मा अपने अभाव के कारण अज्ञेय नही है अपितु वह स्वय विद्यमान होता भी अपने से भिन्न

ज्ञाता और ज्ञान के अभाव के कारण अज्ञेय* अर्थात् स्वप्रकाश रूप है।

आत्मा के अनुभाव्य न होने मे दृष्टान्त

माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्र स्वगुणार्पिणाम्।
स्वस्मिंस्तदर्पणापेक्षा नो न चास्त्यन्यदर्पकम् ॥१४

अन्वय—अन्यत्र स्वगुण-अर्पिणा माधुर्य-आदि स्वभावाना स्वस्मिन् तदपणापेक्षा नो। च अन्यत् अर्पक न अस्ति।

गुड आदि स्वभाव से मीठे (खट्टे आदि) पदार्थ अपने से बनाये गये गेहूँ, चने आदि मे अपने मिठास आदि गुणो को अर्पित कर देते हैं, उन गुड आदि को अपने आप को मिठास आदि अर्पण करने की आवश्यकता नहीं होती—वे यह कभी नही चाहते कि कोई हमको आकर मीठा करदे और फिर गुड आदि को मिठास आदि देने वाला दूसरा पदार्थ है भी तो नही ॥१४॥

अर्पकान्तरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता।
मा भूत्तथानुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ॥१५

अन्वय—अर्पकान्तर-राहित्ये अपि एषा एतत्स्वभावता अस्ति। तथा अनुभाव्यत्व मा भूत्। बोध-आत्मा तु न हीयते।

गुड आदि को मिठास आदि के देने वाले किसी दूसरे पदार्थ

* 'अज्ञेय' (ज्ञान का अविषय) तीन प्रकार का होता है—१. असत् जैसे वन्ध्यापुत्र। २ कदाचित्वृत्तिसम्बन्धरहित और अज्ञान के सम्बन्ध-वाला, जैसे घट और ३ स्वप्रकाश। आत्मा न तो असत् है और न कदाचित्वृत्तिसम्बन्ध रहित और अज्ञान के सम्बन्ध वाला ही है। वह सत्, सर्वदावृत्ति और अज्ञान के वास्तवसम्बन्ध से रहित है। अतएव वह स्वप्रकाश होने से ही अज्ञेय है।

के न होते हुये भी, गुड आदि मे मिठास आदि गुण है ही। ऐसे ही आत्मा भले ही (किसी के) अनुभव का विषय न होता हो, तो भी उसमे अनुभवरूपता रहती है ॥१५॥

अब आत्मा की अज्ञेयता (स्वप्रकशता) मे प्रमाण उपस्थित करते हैं —

स्वयंज्योतिर्भवत्येष पुराऽस्माद्भासतेऽखिलात् ।
तमेव भान्तमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत् ॥१६

अन्वय—एष, स्वयज्योति भवति। अस्मात् अखिलात् पु०. भासते त एव भान्त अनु एति, तद्-भासा जगत् भास्यते।

'अत्राय पुरुष स्वयज्योतिर्भवति।' 'अस्मात् सर्वस्मात् पुरत सुविभाति' 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिद विभाति'-अर्थात् स्वप्नावस्था मे यह पुरुष स्वयप्रकाश होता है।' 'उस आत्मा के भान के पीछे सारा प्रपञ्च भासित होता है और उस आत्मा के प्रकाश से यह सारा जगत भासता है।' इत्यादि श्रुतिया आत्मा का स्वप्रकाशता को बता रही हैं ॥१६॥

येनेदं जानते सर्वं तं केनान्येन जानताम् ।
विज्ञातारं केन विद्याच्छक्तं वेद्ये तु साधनम् ॥१७

अन्वय—येन इद सर्वं जानने तत् केन अन्येन जानताम् (पुमास-इतिशेप ? विज्ञातार केन विद्यात् ? साधन तु वेद्ये शक्तम्।

वृहदारण्यक उपनिषद (४ ४-१५) के 'येनेद सर्वं विजानाति' आदि वाक्य का अभिप्राय कहते है – जिस साक्षिचैतन्यरूप आत्मा से समस्त प्राणी, सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् को जान रहे हैं, उस साक्षी आत्मा को लोग किस दूसरे साक्ष्य जड से जानेंगे ? सब दृश्य पदार्थों के जानने वाले को किस दृश्य-साधन से जानें ? किसी से भी नही। ज्ञान का साधन जो मन है वह ज्ञान के

विषय (वेद्य) को तो जान सकता है, परन्तु ज्ञाता* आत्मा को नही जान सकता। श्रुति मे कहा है–नैव वाचा न मनसा" न वह वाणी से और न मन से ही जाना जाता हैं। यदि आत्मा को अपना ही ज्ञेय माने तो वह स्वय ही विषय (ज्ञेय-कर्म) और स्वय ही ज्ञातारूप कर्ता हो—यह परस्पर विरोध आता है। अतएव आत्मा अनुभव का विषय नही है। वह स्वप्रकाश है ॥१७॥

स वेत्ति वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता।
विदिताविदिताभ्यां तत्पृथग्बोधस्वरूपकम् ॥१८

अन्वय—स: तत् सर्वं वेद्य वेत्ति, तस्य वेदिता अन्य: न अस्ति। तत् बोधस्वरूपक विदित-अविदिताभ्यां पृथक्।

वह आत्मा वेद्य, विषयमात्र को जानता है, उसका ज्ञाता दूसरा कोई नही है। वह बोधस्वरूप, बोधस्वरूप है, इसीलिए प्रत्यक्-अभिन्नब्रह्म, विदित अर्थात् व्याकृत वस्तु तथा, अविदित अर्थात् व्याकृत रूप जगत् की बीज भूत अविद्यारूप अव्याकृत–दोनो प्रकार की वस्तुओ से विलक्षण, भिन्न रूप, है ॥१८॥

बोधानुभव की अङ्गीकार्यता

बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथंचन जायते।
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम् ॥१९

अन्वय—यस्य बोधे अपि अनुभव: कथचन न जायते त नरसम-आकृति लोष्ट शास्त्र कथ बोधयेत्।

---

* बुद्धि उपाधि के कारण आत्मा को ज्ञाता, (ज्ञान का आश्रय) अर्थात् वृत्तिज्ञानरूप क्रिया का कर्ता बताया है, वास्तव मे तो आत्मा निरपेक्षज्ञानरूप ही है।

कदाचित् कोई शका करे कि विदित और अविदित से भिन्न (विलक्षण) तो कोई बोध देखा ही नहीं उसे मान कैसे ले ? उत्तर देता है कि यह ठीक नही है क्योकि विदित (बोधके विषय) मे जो 'वेदन' विशेषण है और जो कि ज्ञात एव अज्ञात वस्तु मे व्यावर्तक है, वही बोध कहलाता है। उस बोध का अनुभव यदि नही मानो तो विदित (ज्ञात वस्तु) का भी अनुभव नही होगा। इसलिए बोध का अनुभव अवश्य मानना होगा। अतएव वादी को उपहासपूर्वक उत्तर देते हैं कि जिस मदबुद्धि को घट आदि के स्फुरणरूप बोध का भी अनुभव (साक्षात्कार) किसी प्रकार नही होता उस मनुष्याकार ढेले (जड) को शास्त्र भी कैसे समझावेगा ? अर्थात् मूर्ख को ज्ञान होना असम्भव है ॥१९॥

जिह्वा मेऽस्ति न वेत्युक्तिर्लज्जायै केवल यथा।
न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी ॥२०

अन्वय—'मे जिह्वा अस्ति न वा' इति उक्ति यथा केवल लज्जायै, मया बोध न बुध्यते बोद्धव्य ? इति तादृशी।

फिर जैसे किसी उन्मत्त पुरुष का यह कहना कि "मेरी जिह्वा नही है" उसे केवल लजाता ही है जब जिह्वा के बिना भाषण असम्भव है तब किसी का ऐसा कहना उसकी मूर्खता को जतलाता है। ऐसे ही 'मै बोध (घटादि के स्फुरणरूप ज्ञान) को अब तक नही जानता, उस बोध को मुझे अभी जानना है" यह कथन भी वैसा ही लज्जाजनक है, क्योकि बोध के बिना यह बात भी नही कही जा सकती। २०॥

ब्रह्मनिश्चय का स्वरूप

यस्मिन्यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे।
यद्बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येवंधीर्ब्रह्मनिश्चयः ॥२१

अन्वय—लोके यस्मिन् यस्मिन् बोध अस्ति तदुपेक्षणे यत् बोधमात्र तत् ब्रह्म, एव धी॰ ब्रह्मनिश्चयः।

लोक मे जिन घट आदि नाम वाले विषयो का ज्ञान होता है उन-उन विषयो की उपेक्षा (अनादर) कर देने पर उन घटादि विषयो में जो केवल ज्ञानरूप से स्फुरण है, वही ब्रह्म है अर्थात् ऐसी बुद्धि का हो जाना ही 'ब्रह्मनिश्चय'–ब्रह्मज्ञान कहलाता है।

पञ्चकोश विवेक का फिर भी उपयोग

घटादि विषयो की अपेक्षा से ही उस-उस घटादि विषयो का ज्ञानरूप ब्रह्म जाना जाता है तो फिर पचकोश-विवेक की क्या आवश्यकता है ? यह बताते हैं–

पञ्चकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः।
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम्॥२२

अन्वय– पचकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषत स॰ एव स्वस्वरूप स्यात्। तस्य शू यत्व दुर्घटम्।

बुद्धि से अन्नमय आदि पाचकोश 'अनात्म' हैं ऐसा निश्चय कर लेने पर वह साक्षी प्रत्यगात्मारूप बोध ही शेष रह जाता है, वह साक्षीरूप बोध ही स्वस्वरूप ब्रह्म है। यदि यह कहो कि अनुभव-सिद्ध अन्नम्य आदि कोशो के परित्याग-(आत्मा न मानने) से तो शून्य ही रह जायगा, तो यह कथन ठीक नही है, क्योकि साक्षीरूप बोध, शून्य नही हो सकता॥२२॥

'साक्षिबोध की शून्यता असम्भव है'— इसका समर्थन

अस्ति तावत्स्वयं नाम विवादाविषयत्वतः।
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत्प्रतिवाद्यत्र को भवेत्॥२३

अन्वय—स्वय तावत् अस्ति नाम विवादाविशयत्वत.। स्वस्मिन् अपि विवाद. चेत्, अत्र प्रतिवादी क. भवेत ?

पहली वात तो यह है कि स्वयं शब्द का वाच्य 'स्वस्वरूप' (अपना आपा) नाम की वस्तु लौकिक एव वैदिक (शास्त्रवेत्ता) सव के मत में विद्यमान है ही। यह स्वस्वरूप मे हूँ या नही' ऐसी विप्रतिपत्ति (विवाद) का विषय नही है। यदि अपने आपे मे भी विवाद हो तो इस विवाद मे प्रतिवादी कौन होगा ? ॥२३॥

यदि यह कहो कि आत्मा को असद् मानने वाला ही यहा प्रतिवादी होगा इसका उत्तर देते हैं —

स्वासत्त्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं विना ।

अत एव श्रुतिर्बाधं ब्रूते चासत्त्ववादिनः ॥२४

अन्वय—स्व असत्त्व तु विभ्रम विना कस्मैचित् न रोचते। अतएव च श्रुति. असत्त्ववादिन. बाध ब्रूते।

भ्रान्ति (पागलपन) अवस्था को छोडकर दूसरी किसी भी दशा मे अपना अभाव तो कोई भी नही मानता। इसीलिये श्रुति भी असत्वादी अर्थात् शून्यवादी का निषेध करती है ॥२४॥

वह कौन सी श्रुति है यह बताते है-

असद्ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत् ।

अतोऽस्य मा भूद्वेद्यत्वं स्वसत्त्वं त्वभ्युपेयताम् ॥२५

अन्वय-ब्रह्म असत् इति वेद चेत् ? स्वय एव असत् भवेत्। अत अस्य वेद्यत्व मा भूत्, स्वसत्व तु अभ्युपेयताम्।

यदि कोई यह समझता है कि 'ब्रह्म असत्' है तो वह स्वय भी असत् हो जाता है। इसलिए यह आत्मा ज्ञान का विषय भले ही न हो, अपनी सत्ता को तो मान ही लेना चाहिए ॥२५॥

वेद्यत्वाभाव में आत्मा का स्वरूप

कीदृक्तर्हीति चेत्पृच्छेदीदृक्ता नास्ति तत्र हि ।

यदनीदृगताहक् च तत्स्वरूपं विनिश्चिनु ॥२६

अन्वय—तर्हि कीदृग् इति पृच्छेत् चेत् ? तत्र ईदृक्ता नहि अस्ति। यत् अनीदृक् तत् स्वरूप विनिश्चिनु।

आत्मा वेद्य नही है तो कैसा है ? इस प्रश्नके उत्तरमे 'आत्मा ऐसा है' इस प्रकार किसी भी रूप मे विशिष्टता स्वीकार करने से उस ही रूप मे आत्मा वेद्य हो जायगा और यदि 'ऐसा है' इसको किसी भी रूप मे स्वीकार न करें तो फिर वह शून्य' हो जायगा, इसलिए कहते हैं कि आत्म तत्त्व मे 'ईदृक्ता' (ऐसापन) है ही नही। इसी प्रकार उसमें 'तादृक्ता' (वैसापन) भी नही है। जो ऐसा भी नही और वैसा भी नही उसी को आत्मा का अपना स्वरूप समझो।

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक्परोक्षस्तादृगुच्यते।
विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता ॥२७

अन्वय—अक्षाणाम विषय. तु ईदृक्, परोक्ष. तादृक् उच्यते। विषयी अक्षविषय न। स्वत्वात् अस्य परोक्षता न।

इन्द्रियजन्यज्ञान के विषय घट आदि 'ऐसा' (ईदृक्) शब्द के वाच्य होते हैं और परोक्ष, धर्माधर्म स्वर्ग आदि 'वैसा' (तादृक्) शब्द के वाच्य है। आत्मा प्रत्यक्ष तो है नही और स्वस्वरूप होने से परोक्षता भी उसमे नही है, अतएव न वह 'ईदृक्' शब्द का और न ही 'तादृक' शब्द का वाच्य है।

आत्मा की स्वप्रकाशता के बहाने शून्यता का निषेध

अवेद्योऽप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम् ॥२८

अन्वय—अय अवेद्य' अपि अपरोक्ष'। अतः स्वप्रकाशः भवति। इह सत्य ज्ञान च अनन्त इति ब्रह्मलक्षण अस्ति।

यह आत्मा इन्द्रियजन्यज्ञान का अविषय होता हुआ भी

अपरोक्ष है, इसलिए स्वप्रकाशरूप है।

यहा यह अनुमान है—आत्मा स्वप्रकाशरूप है, संवित् (ज्ञान) का विषय हुए विना अपरोक्ष होने से, जैसे सवेदन (इन्द्रियजन्य वृत्तिज्ञान)। इस अनुमान मे हेतु का विशेषण 'संवित् का विषय हुए विना' असिद्ध नही है, क्योकि यदि आत्मा संवित् का कर्म (विषय) भी होवे तो वही कर्त्ता भी होगा और इस प्रकार विरोध होगा।

यदि यहा यह कहो कि वही आत्मा चेतनमात्र साक्षीरूप में ज्ञान का कर्ता या ज्ञाता है और अन्तःकरणविशिष्ट रूप से कर्म (ज्ञान का विषय) है, और इस प्रकार विरोध नही है, तो यह वात ठीक नही है क्योकि यो तो गमन क्रिया मे भी एक ही पुरुष जीवरूप मे कर्ता और देहविशिष्टरूप से गमनक्रिया का कर्म होगा और इस प्रकार मर्यादा का उल्लघन होगा।

यदि यह कहो कि इस अनुमान मे सवेदन की न्याई' यह दृष्टान्त सिद्धिरहित है, सो भी ठीक नही है। क्योकि सवेदन को यदि अपनी सिद्धि के लिए दूसरे सवेदन की चाह रहेगी तो इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।

यदि यह कहो कि न्याय के मत में घट का ज्ञान घटाकार वृत्ति से और घटज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसायज्ञान से होता है। ("यह घट है" यह घटज्ञान का आकार है और 'मैं घट को जानता हूँ' यह अनुव्यवसाज्ञान का आकार है।) इस प्रकार "सवेदन की भान्ति" यह दृष्टान्त असिद्ध है। यह भी ठीक नही है क्योकि एक इन्द्रियजन्यवृत्ति ज्ञान दूसरे इन्द्रियजन्यवृत्तिरूप ज्ञान से भासमान नही है। इसलिए उक्त दृष्टान्त असिद्ध नही।

इस प्रकार आत्मा स्वप्रकाश है यह सिद्ध हो जाने पर भी वह आत्मा ब्रह्म है यह वताते हैं— श्रुति ने ब्रह्म का जो सत्य,

ज्ञान और अनन्त रूप लक्षण बताया है वह लक्षण इस आत्मा में विद्यमान है। इसलिए इस स्वयं प्रकाश तत्त्व को ब्रह्म मान लेना चाहिये ॥ २८ ॥

सत्यता का लक्षण और आत्मा की सत्यरूपता

सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः ।

बाधः किंसाक्षिको ब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते ॥२६

अन्वय—बाधराहित्य सत्यत्वम् । जगद् बाध-एकसाक्षिण. बाधः कि-साक्षिक ? ब्रूहि । असाक्षिक तु न इष्यते ।

बाधशून्यता ही सत्यता है सत्य उसी को कहते हैं जिसकी बाधा (मिथ्यापन का निश्चय) कभी न होती हो. जो बाधयोग्य है वह असत्य है–सत्य और मिथ्या का यह विवेक पूर्वाचार्यो ने किया है। और जो इस जगत् के बाध का एकमात्र साक्षी आत्मा है उस के बाध का साक्षी कौन हो सकता है ? कोई नही। अभिप्राय यह है कि सुषुप्ति, मूर्छा और समाधि अवस्था मे जब स्थूल, सूक्ष्म देहादिरूप यह जगत् नहीं रहता, तब उसके अभाव का साक्षी (उस अभाव को जानने वाला) आत्मा ही है, उस आत्मा के रहने का साक्षी कोन है ? कोई भी नही है। अतएव आत्मा अबाध्य है क्योंकि साक्षिरहितबाध तो माना नहीं जाता, नही तो अतिप्रसग–मर्यादा का उल्लघन–होता है ॥२६॥

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत् ।

शक्येषु बाधितेष्वन्ते शिष्यते यत्तदेव तत् ॥३०

अन्वय—मूर्तेषु अपनीतेषु अमूर्तं वियत् हि शिष्यते । शक्येषु बाधितेषु अन्ते यत् शिष्यते तत् एव तत् ।

घर आदि मे रखे आकारवान् पदार्थों को घर से निकाल देने पर भी निकालने के अयोग्य अमूर्त (निराकार) आकाश ही शेष

रह जाता है, इसी प्रकार आत्मा से भिन्न सब वाधयोग्य, मूर्तामूर्त देह, इन्द्रिय आदि का "यह भी नही है" "यह भी नही है" (नेति, नेति)* इत्यादि श्रुतिवाक्यो द्वारा निराकरण कर दिये जाने पर अन्त मे सब अनात्म पदार्थो के बाध का साक्षी जो बोध (ज्ञान) मात्र शेष रह जाता है वही बाधरहित आत्मा है ॥३०॥

सर्वबाधे न किंचिच्चेद्यन्न किंचित्तदेव तत् ।
भाषा एवात्र विद्यन्तो निर्बाधं तावदस्ति हि ॥३१

अन्वय——सर्वबाधे न किंचित् चेत् ? यत् न किंचित् तत्+एव तत् । अत्र भाषा एव भिद्यन्ते, निर्बाध तावत् अस्ति हि ।

यदि यह कहो कि प्रतीयमान मात्र का निषेध करने से तो कुछ भी शेष नही रहेगा, फिर कैसे कहते हो कि जो शेष रहे वह आत्मा है ? इस का उत्तर यह हैं–'कुछ शेष नही रहता' ऐसे कहनेवाले शून्यवादी को भी सद के अभाव का ज्ञान अवश्य मानना पडेगा, वही ज्ञान हमारा अभीष्ट आत्मा का रूप है। क्योकि 'कुछ नही' (न किंचित्) इस शब्द से जिस चैतन्य का उल्लेख किया जाता है वही वह ब्रह्म है ।

यदि यह कहो कि 'कुछ नही हैं' इस अभाववाचक शब्द से भावरूप चैतन्य का उल्लेख कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि बाध (अभाव) का साक्षी तो मानना ही पड़ेगा। यहा वाचक-

---

* जैसे किसी वन की एक ही गुफा मे रहने वाले दो शेर पिता-पुत्र मेढो मे से एक-एक मेढे को खा जावें, वैसे ही ब्रह्मरूपवन की "नेति नेति" इस श्रुति रूप गुफा मे निषेध अर्थ के वाची दो 'नञ्' प्रत्यय है। वे कारण (अज्ञान) और कार्य (स्थूल सूक्ष्म) रूप दोनो प्रपञ्चो का क्रम से निषेध करते हैं ।

शब्दो (भाषा) मे ही हेर फेर है, 'नकिंचित्' कह दो या 'साक्षी' कह दो। इनके वाच्य, बाध के साक्षी, बाधरहित प्रत्यगात्मा के विषय मे तो कोई विवाद नही है, बाध का साक्षी तो हमें मानना ही पड़ेगा।

अत एव श्रुतिर्बाध्यं बाधित्वा शेषयत्यदः ।
स एष नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः ॥३२

अन्वय—अतएव "स एष आत्मा न इति, न इति" इति श्रुतिः अतद्व्यावृत्तिरूपत' बाध्य बाधित्वा अदः शेषयति।

क्योकि साक्षिचैतन्य अबाध्य है इसलिए "यह आत्मा यह नही है यह है" यह श्रुति अनात्मपदार्थों का निराकरण करते-करते बाधयोग्य सब अनात्म पदार्थो का निषेधकर, निराकरण के अयोग्य इस प्रत्यक् आत्मस्वरूप को शेष रख लेती है ॥३२॥

बाधशक्य और बाधाशक्य का विभाग

इदं रूपं तु यद्यावत्तत्त्यक्तुं शक्यतेऽखिलम् ।
अशक्यो ह्यनिदंरूपः स आत्मा बाधवर्जितः ॥३३

अन्वय—यत् यावत् इद रूप तत् तु अखिल त्यक्तु शक्यते अनिद-रूप अशक्य हि बाधवर्जित स आत्मा।

'यह' इस प्रकार दृश्य रूप मे अनुभूयमान जो भी देह-आदि है वह सबका सब त्यागा जा सकता है। और जो प्रत्यक् रूप होने के कारण 'यह' से मानने के योग्य नही है, वह साक्षी आत्मा त्यागा नही जा सकता। जो बाधरहित साक्षी है वही आत्मा है, अहकार आदि दृश्य पदार्थ आत्मा नही हैं ॥३३॥

आत्मा की ज्ञानरूपता

सिद्धं ब्रह्मणि सत्यत्वं ज्ञानत्वं पुरेरितम् ।
स्वयमेवानुभूतित्वादित्यादिवचनैः स्फुटम् ॥३४

अन्वय—ब्रह्मणि सत्यत्व सिद्धम् । ज्ञानत्व तु 'स्वयमेवानुभूतित्वाद्' इत्यादि वचनै पुरा स्फुट ईरितम् ।

इस प्रकार आबाध्य होने से, ब्रह्म मे जो सत्यत्व कहा है वह आत्मा मे सिद्ध हो गया । ज्ञानरूपत्व (चिद्‌रूपता) तो पहले ही 'स्वयमेवानुभूतित्वात्' इत्यादि वचनो से (११ से २२ श्लोक तक) सिद्ध कर चुके हैं ।

ब्रह्म की अनन्तरूपता मे प्रमाण

न व्यापित्वाद्देशऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः ।
न वस्तुतोपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ।।३५

अन्वय—व्यापित्वात् देशत. अन्त. न, नित्यत्वात् कालत अपि न (अन्त), सार्वात्म्यात् वस्तुत अपि न (अन्त) । (एव) ब्रह्मणि त्रिधा न आनन्त्य (अस्ति) । तत ब्रह्मानान्त्य स्फुटम् ।

पहले ब्रह्म की अनन्तता सिद्ध करते है और कहते हैं कि— नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्म (मुण्डक १-१-६) 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य.' 'नित्यो नित्याना चेतनश्चेतनानाम्' (कठ २-४-१३) 'इद सर्वं यदयमात्मा' [बृ.२-४-६] 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म' (माण्डू २) 'ब्रह्म वेद ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियो मे ब्रह्म की व्यापकता, नित्यता और सर्वात्मकता का प्रतिपादन है । इसलिए ब्रह्म मे तीन प्रकार की अनन्तता माननी चाहिए, व्यापक होने से उसका देशकृत अन्त नही है, नित्य होने के कारण उसका कालकृत अन्त नही है और सब का आत्मा होने के कारण उसका वस्तुकृत अन्त भी नही है ।* इस प्रकार देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित होने के कारण वह ब्रह्म तीन प्रकार से अनन्त है ।।३५।।

---

* अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी भाव देशपरिच्छेद होता है । जो वस्तु किसी देश मे हो और किसी मे न हो तो वह वस्तु देश परिच्छेद

युक्ति से ब्रह्म की अनन्तता की सिद्धि

देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया ।
न देशादिकृतोन्तोस्ति ब्रह्मानन्त्यं स्फुटं ततः ॥३६

अन्वय—च देशकालवस्तूना मायया कल्पितत्वात् देश-आदि कृतः अन्त. न अस्ति । तत. ब्रह्मानन्त्य स्फुटम् ।

परिच्छेद [अन्त] के हेतु देश, काल और पदार्थों की कल्पना माया ने की है। जैसे कल्पित गन्धर्वनगर, नीलपन, कढाई जैसे आकारवाला आदि भेद आकाश में सम्भव नही हैं, वैसे ही ब्रह्म में माया से कल्पित देश आदि का परिच्छेद, वास्तविक नही होता। अतएव ब्रह्म की अनन्तता स्पष्ट ही है। और 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म और आत्मा को एक बता रही हैं। अतएव आत्मा की अनन्तता स्वत सिद्ध हो जाती है।

[आत्मा मे ब्रह्म के लक्षण को घटाते हुए ब्रह्म की अनन्तता

वाली कहलाती है, जैसे घट, पट आदि। ब्रह्म देशपरिच्छेद रहित है, क्योकि वह व्यापक है, जो देश परिच्छेद रहित नही है, वह व्यापक भी नही है जैसे घटपट आदि।

प्रागभाव और प्रध्वसाभाव का प्रतियोगी भाव काल परिच्छेद कहलाता है। जो वस्तु किसी समय मे हो पर दूसरे समय मे न हो तो वह कालपरिच्छेद वाली कहलाती है। ब्रह्म उत्पत्ति-विनाश रहित होने से नित्य है इसलिए कालपरिच्छेद रहित है।

अन्योन्याभाव का प्रतियोगी भाव वस्तु परिच्छेद कहलाता है। जब कोई वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न हो तो उन दोनो का परस्पर परिच्छेद होता है। ब्रह्म तो सब कल्पित वस्तुओ का अधिष्ठान (विवर्तोपदान-कारण) है, इसलिए सबका स्वरूप है। कल्पित की अधिष्ठान से भिन्न सत्ता नही होती। इसलिए ब्रह्म की वस्तुओ से भिन्नता नहीं है।

सिद्ध की गई है, इसलिए जैसे महाकाश से घटाकाश भिन्न नही होता वैसे ही ब्रह्म से अभिन्न आत्मा है और उस आत्मा की अनन्तताका प्रतिदपादन ग्रन्थकर्ता की इच्छा है—इसलिए यह अर्थ किया गया।]

[शका] जड जगत् का ब्रह्म में आरोप किया गया है अतएव वह चाहे ब्रह्म का परिच्छेदक न हो, पर चेतन जीव और ईश्वर तो ब्रह्म में कल्पित नही है, अतएव उनके किए परिच्छेदवाला होने से ब्रह्म अनन्त नही हो सकता। इसका उत्तर देते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत् ।
ईश्वरत्वं च जीवत्वमुपाधिद्वयकल्पितम् ॥३७

अन्वय—सत्य ज्ञान अनन्त (च) यद् ब्रह्म तद् वस्तु। तस्य ईश्वरत्व च जीवत्व तत् उपाधिद्वय कल्पितम्।

सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म ही एक पारमार्थिकवस्तु है, उस ब्रह्म को लोक मे ईश्वर या जीव कहना तो, आगे [३८ से ४१ वे श्लोक तक] कही गई दो उपाधियो—माया और पचकोश—से कल्पित है। कल्पित होने से ही जड़ की भान्ति जीव-ईश्वर भी ब्रह्म के परिच्छेदक नही है।

शक्ति का निरूपण

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका ।
आनन्दमयमारभ्य गूढ़ा सर्वेषु वस्तुषु ॥३८

अन्वय—काचित् (अनिर्वचनीया) सर्ववस्तुनियामिका शक्तिः अस्ति। (सा) आनन्दमय आरभ्य सर्वेषु वस्तुषु गूढा।

कोई सत् अथवा असत् या दोनो रूप, अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न अथवा अभिन्न, या दोनो रूप, निरवयव, सावयव अथवा दोनो रूप—इसमें से किसी भी शब्द से निरूप्य न होने वाली,

बृहदारण्यकोपनिषद् के तृतीय अध्याय के अन्तर्यामीब्राह्मण नामक प्रकरण से वर्णित, नियम मे रखने योग्य पृथिवी आदि पदार्थों को नियम मे रखने वाली ईश्वर की उपाधिभूत,ईश्वर की ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाली शक्ति है, वह शक्ति आनन्दमय से ब्रह्माण्ड तक सब वस्तुओ में गूढभाव से छिपी बैठी है। इसीलिए दीख नही पडती ॥३८॥

(शङ्का) जो शक्ति नियम से उपलब्ध नही होती उसको असत् ही क्यो न मान लिया जाय ? इसके उत्तर में कहते है—

वस्तुधर्मा नियम्येरञ्शक्त्या नैव यदा तदा ।
अन्यान्यधर्मसांकर्याद्विप्लवेत जगत् खलु ॥३९

अन्वय—वस्तु धर्मा यदा शक्त्य न+एव नियम्येरन् तदा अन्योन्यधर्मसाकर्यात् खलु जगत् विप्लवेत ।

पृथिवी आदि वस्तुओ के कठिनता आदि धर्मों का यदि मायारूप शक्ति से नियमन (व्यवस्था) न हो तो वे गड्डम गड्ड होकर एक ही स्थान में इकट्ठे हो जांय और निश्चय ही जगत् में अव्यवस्था फैल जाय ॥३९॥

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा ।
तच्छक्त् युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ॥४०

अन्वय—सा शक्ति चिच्छायावेशतः चेतना इव विभाति । तद्+शक्ति+उपाधिसयोगात् ब्रह्म एव ईश्वरता व्रजेत् ।

वही शक्ति चिदाभास के प्रवेश से चेतन सी प्रतीत होती है। इसीलिए जड होते हुए भी नियामक अर्थात् नियम की कर्त्री है। वही, चिदाभासयुक्त शक्ति ही उपाधि है, उससे जो कल्पिततादात्म्यसम्बन्ध है उसके कारण, सत्य आदि लक्षणवाला ब्रह्म ही ईश्वर अर्थात् सर्वज्ञता आदि धर्मो से युक्त बन जाता है ॥४०॥

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् ।

पिता पितामहश्चैकः पुत्रपौत्रो यथा प्रति ।।४१

अन्वय—कोशोपाधिविवक्षाया ब्रह्म एव जीवता याति, यथा एकः (देवदत्तादि) पुत्र पौत्रौ प्रति पिता च पितामहः ।

जब कोश (पचकोश) रूपी उपाधि (विशेषण) की पर्यालोचना की जाती है, तब सत्यतादिलक्षणवाला ब्रह्म ही (जो कभी ईश्वर भी बनता है, वही) 'जीव' भी बन जाता है। जैसे एक ही देवदत्त आदि पुरुष एक ही समय मे पुत्र का पिता और पौत्र का पितामह होता है ऐसे ही ब्रह्म भी एक ही समय में कोशरूप उपाधि की दृष्टि से जीव और शक्तिरूप उपाधि की दृष्टि से ईश्वर कहलाता है ।।४१।।

पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः ।
तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशाविवक्षणे ।।४२

अन्वय—पुत्रादे अविवक्षाया पिता न पितामह. न । तद्वत् शक्तिकोशाविवक्षणे ईशः न जीव अपि न ।

जैसे पुत्र आदि की विवक्षा न रहने पर मनुष्य न किसी का पिता होता है, न पितामह, वैसे ही जब किसी को शक्ति और कोश की विवक्षा नही रहती—जब इन उपाधियो की ओर साधक की दृष्टि नही रहती—तब वह ब्रह्म 'ईश्वर' या 'जीव' कुछ नही रहता। ।४२।।

य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।
ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेष न जायते ।।४३

अन्वय—य. एव ब्रह्म वेद एष स्वय ब्रह्म एव भवति । ब्रह्मणः जन्म न अस्ति अत. एष पुन. न जायते ।

विवेक आदि चारसाधनो से सम्पन्न अधिकारी जब कथित प्रकार से पाचो कोशो का विवेक करके प्रत्यक्आत्मा से अभिन्न

सच्चिदानन्द लक्षण ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। और क्योंकि ब्रह्म का जन्म नहीं होता इसलिए फिर वह ज्ञानी भी स्वात्मा की ब्रह्मरूपता का ज्ञान हो जाने के कारण जन्मता नहीं है।* "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। ब्रह्मविदाप्नोति परम्" 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के तृतीय प्रकरण-पञ्चकोशविवेक की श्री पीताम्बरशर्मकृत तत्त्वप्रकाशिका व्याख्या समाप्त।



* जैसे निर्विकार कुन्ती के पुत्र कर्ण में राधापुत्रभाव की प्रतीति होती है वैसे निर्विकारचिदानन्दघन ब्रह्म में अविद्या के कारण जीव भाव की प्रतीति होती है। वास्तव में तो सब सर्वदा ब्रह्मरूप ही हैं इसलिये यद्यपि वास्तविक जन्म आदि संसार का अभाव है, तो भी अविद्याकृत जीवभाव के कारण अज्ञानियों को अपने जन्म आदि की प्रतीति होती है। फिर जैसे सूर्य के कहने से कर्ण का कुन्ती पुत्र होना ज्ञात होने पर उसके राधापुत्र होने की भ्रान्ति मिट गई थी, वैसे ही, गुरु के उपदेश से अपने निर्विकार ब्रह्मत्व का ज्ञान होने पर जन्मादि संसार की निवृत्ति हो जाती है।

अथ द्वैतविवेक:-४

मङ्गलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया।
कुर्वे द्वैतविवेकस्य व्याख्यां तत्वप्रकाशिकाम् ॥

श्रीयुक्त सब गुरुओ को नमस्कार करके पचदशी के द्वैतविवेक प्रकरण की तत्वप्रकाशिका व्याख्यान करता हूँ।

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते।
विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटीभवेत् ॥१

अन्वय'—ईश्वरेण, अपि जीवेन, सृष्ट द्वैत विविच्यते। विवेके सति जीवेन हेय बन्ध. स्फुटीभवेत्।

मायारूपकारणोपाधिवाले अन्तर्यामी ईश्वर और अन्त करण-रूप कार्योपाधिवाले, 'मैं' की प्रतीतिवाले जीव के बनाए द्वैतो को पृथक् करके दिखाया जाता है। कौनसा द्वैत ईश्वरकृत है और कौन सा जीवकृत है, यह ज्ञात हो जाने पर, पचकोशरूप उपाधि वाले जीव को स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि परित्याग करने योग्य सुखदुःखरूप बन्ध का हेतु जगत् कितना है। (तब यह ज्ञात हो जायगा कि जीव कितना द्वैत छोड सकता है और कितने द्वैत को हटाना उसके बस का नही है, ईश्वर के सकल्प से बना द्वैत हटाना उसके बस का नहीं है, उसको तो अपना बनाया हुआ द्वैत ही हटाना है।) ॥१॥

ईश्वर के स्रष्टा होने मे श्रुति प्रमाण

जीवके अदृष्ट (धर्माधर्म) आदि किसी को भी जगत् का कारण मानना ठीक नही है, क्योंकि अनेक श्रुतियाँ इस स्था-

पना का विरोध करती हैं। इन श्रुतियों का क्रमशः दिग्दर्शन कराते हैं—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

स मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतरशाखिनः ॥२

अन्वय—"माया तु प्रकृति विद्यात्, मायिन तु महेश्वर (विद्यात्) स म'यी सृजति" इति श्वेताश्वतरशाखिनः आहुः।

श्वेताश्वरशाखावाले कहते हैं कि माया प्रकृति उपादान-करण) है और माया का अधिष्ठान ब्रह्म महेश्वर है। वह माया उपाधिवाला परमेश्वर जगत् की रचना करता है। "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" ॥२॥

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत्स ईक्षत सृजा इति ।

सङ्कल्पेनासृजल्लोकान्स एतानिति बह्वृचाः ॥३

अन्वय—"इद अग्रे आत्मा वा अभूत् सः सृजै इति ईक्षत। सः सकल्पेन एतान् लोकान असृजत्"–इति बह्वृचाः।

ऋग्वेदगत ऐतरेय उपनिषद् के वचन (आत्मा वा इदम् एक एव अग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत् २-१-१ इत्यादि) के अनुसार बह्वृच शाखा वालो ने कहा है कि पहले अकेला आत्मा ही था, उसने सकल्प किया कि मै लोको की रचना करूं,' इस सकल्प से ही उस ने लोको को बनाया ॥३॥

खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी ।

संभूता ब्रह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलाः ॥४

बहु स्यामहमेवातः प्रजायेयेति कामतः ।

तपस्तप्त्वाऽसृजत्सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः ॥५

अन्वय—"ख-वायु–अग्नि–जल ऊर्वि-औषधि-अन्न–देहाः अमी अखिला क्रमात् तस्मात् एतस्मात् ब्रह्मण. सम्भूता.।" "अत एव

बहु स्याम्, अत· प्रजायेय—इति कामत· तप· तप्त्वा सर्वं जगत् असृजत् ।"—इति तित्तरि: आह ।

'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' 'तस्मात् वा एतस्मादात्मन आकाश· सभूत· "अन्नात् पुरुष." "सो कामयत बहुस्या प्रजायेय" इत्यादि तैत्तिरीय उपनिषद् में तित्तिरि ने कहा है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, औषधि, अन्न और देह, क्रमश. उस (वेद के परिमित अक्षररूप मन्त्रभाग मे प्रतिपादित) और इस (वेद के अपरिमित अक्षररूप ब्राह्मण भाग से प्रतिपादित आत्मारूप ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं।

और कि 'मैं बहुत हो जाऊ प्रजारूप से उत्पन्न हो जाऊ- इस कामना से तप को तपकर (विचार करके) इस सब जगत् को उत्पन्न कर डाला। इस प्रकार तित्तिरि के मत मे जगत् के सर्जन की इच्छा और विचारात्मक तप द्वारा ब्रह्म जगत् का स्रष्टा है ॥४,५॥

इदमग्ने सदेवासीद्बहुत्वाय तदैक्षत ।
तेजोऽबन्नाण्डजादीनि ससर्जेति च सामगाः ॥६

अन्वय—"अग्रे इद सत् एव आसीत्, तत् बहुत्वाय ऐक्षत, च तेज-अप्-अन्न-अण्डजादीनि ससर्ज"—इति सामगा ।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति ततेजोऽसृजत' "तेषा ख वेषा भूताना त्रीण्येव वीजानि भवन्त्यण्डज जरायुजमुद्भिज्जम्" इत्यादि सामवेदगत छान्दोग्योपनिषद् के वाक्यो से सामवेद के गायन करने वाले ब्राह्मण कहते हैं कि सृष्टि से पहले यह जगत् सद् ब्रह्म ही था, उस ब्रह्म ने बहुत होने के लिए आलोचन (विचार) किया और तेज, जल, पृथिवी अन्न तथा अण्डज, जरायुज और उद्भिज प्राणियो को रचा ॥६॥

विस्फुलिङ्गा यथा वह्नेर्जायन्तेऽक्षरस्तथा ।
विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिका श्रुतिः ॥७

अन्वय—"यथा वह्ने विस्फुलिङ्गाः जायन्ते तथा अक्षरतः विविधा चित्+जडा (जायन्ते)–इति आथर्वणिका श्रुतिः ।

"तदेतत्सत्य यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिङ्गा सहस्रश प्रभवन्ते सरूपा तथाऽक्षराद्विविधा सोम्य भावा. प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मुण्ड २-१-१) इत्यादि अथर्ववेद की श्रुति मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि—जैसे अग्नि* से सूक्ष्मअंशरूप चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही अविनाशी ब्रह्मतत्त्व से विविध प्रकार के चेतन और जड पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं ॥७॥

जगदव्याकृतं पूर्वमासीद्व्याक्रियताधुना ।
दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिषु ते स्फुटे ॥८
विराण्मनुर्नरा गावः खराश्वाजावयस्तथा ।

---

*महातेज अग्नि के दो रूप है, एक निरुपाधिक सामान्य और दूसरा काष्ठ आदि उपाधिवाला विशेष। विशेषरूप उपाधिभेद से नानाविध और परिच्छिन्न है। उस सोपादिक अग्नि के ढेर से उसकी अंशभूत चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं और वे फिर उपाधि के अंशो के विलय के साथ-साथ विलीन हो जाती है। वास्तविक अग्नि की नानारूप से उत्पत्ति और विनाश नहीं होते। ऐसे ही चेतन के भी निरुपाधिक ब्रह्म और माया-अविद्या-उपाधि विशिष्ट चिदाभास ये दो क्रमश. सामान्य और विशेष रूप हैं। विशेष रूप ही विविध और परिच्छिन्न है और उपाधि अंश के कारण ही उसमे नानात्व एवं उत्पत्ति-विनाशशीलता है। वास्तविक चेतन मे नानाभाव अथवा उत्पत्ति, विलय आदि नहीं है। इस प्रकार जीव ब्रह्म का वास्तविक अंशांशीभाव नही है।

पिपीलिकावधिद्वन्द्वमिति वाजसनेयिनः ॥९

अन्वय—'पूर्वं जगत् अव्याकृत आसीत्, अधुना दृश्याभ्या नामरूपाभ्या व्याक्रियत, ते विराडादिषु स्फुटे। (विराडादयश्च इत्थ)—विराट् मनु', नर , गावः, खर+अश्व+अजावय., तथा पिपीलिकावधि द्वन्द्वम्'—इति वाजसनेयिन ।

"तद्धेद तर्हि अव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्यक्रियतासौ नामायमिद रूपम्" (बृ १-४-७) शुक्लयजुर्वेदगत बृहदारण्यक उपनिषद के इन वाक्यो मे वाजसनेयियो ने यह कहा है कि—यह जगत् सृष्टि से पहले आव्याकृत (ब्रह्म) रूप था और अब, सृष्टि के पश्चात् द्रष्टा के विषय (दृश्य) - नाम तथा रूप–इन दो से व्याकृत अर्थात् स्पष्ट हो गया। वे नाम और रूप विराट् आदि स्थूल कार्यों मे स्पष्ट दीख पडते हैं ॥८॥

और 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविध' एवमेव यदिद किंच मिथुनमापिपीलिकाभ्य स्तत्सर्वमसृजत्–इत्यादि वाक्यो मे विराट् आदि का वर्णन किया है। वे निम्नलिखित है–विराट्, मनु, मनुष्य, गौ, गर्दभ, घोडे, बकरे, पक्षी, मेढा और चींटी पर्यन्त स्त्रीपुरुषमय मिथुन (जोडे) ॥९॥

कृत्वा रूपान्तरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः।
इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात् ॥१०

अन्वय—"ईश्वर. जैव रूपान्तर कृत्वा देहे प्र+अविशत्" इति ता श्रुतय प्राहु प्राणधारणात् जीवत्वम्।

ये ही श्रुतिया यह भी बताती हैं कि वही ईश्वर अपना एक विकारी रूपान्तर करके अर्थात् अपने अविकारी ब्रह्मत्व से विलक्षण विकारी जीवरूप को धारण करके देहो मे प्रविष्ट हो गया है, और प्राणधारण करने से अर्थात् इन्द्रिय आदि वस्तुओ

का स्वामी बन कर उनका प्रेरक होने से ही वह जीव हो गया है अर्थात् जीव का रूप धारण करके शरीरों में प्रविष्ट हो गया है ॥१०॥

जीव का स्वरूप

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः ।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते ॥११

अन्वय—यत् अधिष्ठानं चैतन्य पुनः यः च लिङ्गदेहः, लिङ्गदेहस्था चिच्छाया च–तत्संघः जीव उच्यते ।

लिंगदेह की कल्पना का आधारभूत अधिष्ठान चैतन्य अर्थात् घटाकाशस्थानीय कूटस्थ है, एक तो यह, दूसरा उस कूटस्थ में अध्यस्त, जलपूरितघटस्थानीय लिंगदेह और तीसरा उस लिंगदेह में वर्तमान चिदाभास, महदाकाश के प्रतिबिम्बस्थानीय ब्रह्म का प्रतिबिम्ब—ये तीनों मिलकर 'जीव' कहलाते हैं ॥११॥

जब ईश्वर ही जीव बना है तो उसमें अज्ञता, दुःखता आदि विरोधी धर्म कहाँ से आगये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत् ।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ॥१२

अन्वय—माहेश्वरी तु या माया तस्याः निर्माणशक्तिवत् मोहशक्तिः च विद्यते, असौ जीवं मोहयति ।

'मायिनं तु महेश्वरम्' इस श्रुति में बताई गई महेश्वर की माया अर्थात् मूलप्रकृति जैसे जगत् की रचना में समर्थ है, वैसे ही वह मोहने में भी समर्थ है । श्रुति में कहा भी है–'तदेज्जडं मोहात्मकम्' । यह मोहन शक्ति ही जीव को मोहित कर देती है अर्थात् जीव को इस शक्ति के प्रभाव से ही अपने चिदानन्दस्वरूप का ज्ञान नहीं रहता ॥१२॥

मोहदनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति ।
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः ।।१३

अन्वय—मोहात् अनीशता प्राप्य वपुषि मग्न. शोचति—इति इद ईशसृष्ट सर्वं अद्वैत समासतः उक्तम् ।

मोह के कारण उस जीव मे इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति का सामर्थ्य नही रहता–वह अनीश वन जाता है। और इस प्रकार शरीर मे तादात्म्यरूप अहभाव से डूबकर शोक करने लगता है। 'मैं दु खी हूँ' ऐसा अपने आप को मानने लगता है। मुंडक उपनिषद् (३-१-१) मे भी कहा है—समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान ।। ईश्वररचित जडचेतनमय द्वैत वर्णन के पश्चात् अव जीव रचित द्वैत का वर्णन करते हैं ।।१३।।

जीव के द्वैतस्रष्टा होने का प्रमाण

सप्तान्नब्राह्मणे द्वैतं जीवसृके प्रपञ्चितम् ।
अन्नानि सप्त ज्ञानेन कर्मणाऽजनयत्पिता ।।१४

अन्वय – सप्तान्नब्र ह्मणे जीवसृष्ट द्वैत प्रपञ्चितम् । पिता ज्ञानेन कर्मणा (च) सप्त अन्नानि विनियोजनम् ।

बृहदारण्यक उपनिषद् के सप्तान्नब्राह्मण मे 'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत् पिता' (वृ. १-५-१) ऐसा कह कर जीवरचित द्वैत का विस्तार से वर्णन किया गया है। उस वाक्य का अभिप्राय यह है कि–पिता अर्थात् अपने अदृष्ट द्वारा जगत् की उत्पत्ति करने वाले सर्वलोकपालक, जोव, ने सप्त अन्नो को ज्ञान (चिन्तन) और कर्म द्वारा उत्पन्न किया ।।१४।।

सप्तान्न सृष्टि का विनियोग

मर्त्यान्नमेकं देवान्ने द्वे पश्वन्नं चतुर्थकम् ।

अन्यत्त्रितयमात्मार्थमन्नानां विनियोजनम् ॥१५

अन्वय—एकं मर्त्यान्नं, द्वे देवान्ने, चतुर्थक पश्वन्नम्। अन्यत् त्रितय आत्मार्थम्, (इति) अन्नाना विनियोजनम्।

'एकमस्य साधारण, द्वे देवानभाजयत् त्रीण्यात्मनेऽकुरुत, पशुभ्य एक प्रायच्छत (वृ० १·५-२) बृहदारण्यक के इस वाक्य के अनुसार उन सातो अन्नो का विनियोग यो किया है-चावल आदि रूप एक मर्त्यान्न है, दर्श और पूर्णमासरूप ये दो देवताओ के अन्न हैं। दूध के रूप मे चौथा पश्वन्न है। मन, वाणी और प्राण रूप तीन अन्न स्वय जीव के हैं।

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः।
वाक् प्राणश्चेति सप्तत्वमन्नानामवगम्यताम् ॥१६

अन्वय—व्रीहि+आदिक, दर्शपूर्णमासौ, क्षीरं, तथा मन., वाक्, च प्राणा'—इति अन्नाना सप्तत्व अवगम्यताम्।

इन सात अन्नो के नाम ये हैं—व्रीहि आदि, दर्श, पूर्णमास, दुग्ध, मन, वाक् और प्राण। इनका वर्णन 'एकमस्य साधारण-मितीदमेवास्य तत्साधारणमन्न यदिदमद्यत' से लेकर 'अयमात्मा वाङ्मयो मनोमय प्राणमय·' इस वाक्य तक किया है। यहां साधारण का अर्थ 'सब भूतप्राणियो मे बाटने योग्य' है। भूतयज्ञ मे यही अन्न प्रसिद्ध है ॥१६॥

जीव ने ही ईश्वर रचित पदार्थो को भोग्य बनाया

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः।
तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवोऽकार्षीत्तदन्नताम् ॥१७

अन्वय—यद्यपि एतानि स्वरूपत. ईशेन निर्मितानि, तथापि, जीव: ज्ञानकर्माभ्या तदन्नता आकार्षीत्।

यद्यपि ये सात अन्न स्वरूप से ईश्वररचित है तथापि जीव ने ज्ञान और कर्म के सहारे इनको अन्न (भोग्य) बना लिया है। ज्ञान का अर्थ विषय का ध्यान है। वह शास्त्रोक (विहित) और निषिद्ध (शास्त्रनिषिद्ध) दो प्रकार का होता है। देवतादि विषय का ध्यान अथवा उपासना विहित है और परस्त्री आदि विषय का चिन्तन निषिद्ध है। इसी प्रकार यज्ञादि विहित और हिंसा आदि निषिद्ध दो प्रकार के कर्म है। इन दो प्रकार के ज्ञान और कम के सहारे ही तडुल से लेकर प्राण तक के सातो अन्न जीव के भोग्य (अन्न) बनते हैं। ईश्वर ने तो इनके स्वरूप का निर्माण किया परन्तु जीव ने अपने ज्ञान और कर्मो के सहारे इनको अपना अन्न (भोग्य) बना लिया ॥१७॥

ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद्द्वाभ्यां समन्वितम् ।
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्यताम् ॥

अन्वय—ईशकार्यं जीवभोग्य जगत् द्वाभ्या समन्वितम्। यथा योषित् पितृजन्या भर्तृभोग्या तथा इष्यताम् ।

सप्तान्नरूप से जिस जगत् का उल्लेख किया है उस जगत् का सम्बन्ध ईश्वर और जीव दोनो से है, यह ईश्वर का तो कार्य है और जीव का भोग्य (भोग का साधन) है। ईश्वर इस जगत् को बनाने वाला है और जीव इसको भोगने वाला। जैसे एक ही स्त्री, पिता से उत्पन्न होती है और पति की भोग्य होती है, ऐसे ही यह जगत् भी ईश्वर-जीव दोनो से सम्बद्ध है ॥१८॥

मायावृत्यात्मको हीशसङ्कल्पः साधनं जनौ ।
मनोवृत्यात्मको जीवसंकल्पो भोगसाधनम् ॥१९

अन्वय—मायावृत्त्यात्मक. हि ईश सङ्कल्प. जनौ साधनम्। मनोवृत्यात्मक. जीव सङ्कल्प भोगसाधनम्।

जब ईश्वर माय वृत्तिरूप सकल्प करता है तो उस सकल्प से यह जगत् उत्पन्न होता है। और अत करण की वृत्ति (मनोवृत्ति) रूप जीव के सकल्प से यह जगत् सुखादिअनुभवरूपभोग बनता है। (यह जगत् अज्ञान अर्थात् माया के बल से बनता और मनसे भोगा जाता है।) ॥१९॥

ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते।
भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात्तद्भोगो बहुधेष्यते ॥२०

अन्वय—ईशनिर्मितमण्यादौ एकविधे वस्तुनि स्थिते भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात् तद्भोग बहुधा इष्यते।

ईश्वर रचित मणि आदि के एक प्रकार की होने पर भी भोक्ता बुद्धि वृत्तियो के नाना प्रकार की होने से, उस एक ही मणि आदि का भोग विविध प्रकार का हो जाता है। एक ही पदार्थ मे जो बहुत प्रकार का भोग देखा जाता है वह अपने (भोग-भेद के) प्रयोजक अर्थात् निमित्त कारण भोग्याका (विषयाकार) भेद को सिद्ध करता है ॥२०॥

हृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः।
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति ॥२१

अन्वय—एक मणि लब्ध्वा हृष्यति हि अन्य. अलाभत क्रुध्यति। अत्र विरक्त पश्यति एव, न हृष्यति न कुप्यति।

मणि का लालची एक आदमी उसे पाकर प्रसन्न हो उठता है और दूसरा लालची उसके न मिलने से क्रुद्ध हो उठता है। मणि के प्रति वैराग्य (उदासीनता) रखने वाला तीसरा पुरुष उसी मणि को केवल देखता ही है, न प्रसन्न होता है और न क्रुद्ध होता है। इस प्रकार भोगभेद होने से भोग्यभेद भी मानना पड़ता है ॥२१॥

जीवरचित भोगभेद मे रजित आकारभेद

प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः ।
सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ॥२२

अन्वय—मणिगाः, प्रिय अप्रिय. च उपेक्ष्य. इति त्रय, आकाराः जीवै सृष्टा । त्रिषु साधारण रूप ईशसृष्टम् ।

मणि मे जो प्रिय, अप्रिय और उपेक्षा ये तीन आकार पाये जाते हैं वे तीनो जीवो के बनाये हुए हैं। और इन तीनो में सामान्य (सर्वनिष्ठ) अनुस्यूत जो मणिरूप है वह ईश्वर का बनाया हुआ है ॥२२॥

भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा ।
प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपयः ॥२३

अन्वय—भार्या, स्नुषा, ननान्दा, याता च माता इति अनेकधा योषित् प्रतियोगिधिया भिद्यते, न स्वरूपतः ।

देखते है कि एक ही ईश्वररचित स्त्री, पति-श्वसुर आदि सम्बन्धियो को भिन्न-भिन्न बुद्धियो के कारण 'पत्नी', 'पुत्रवधू', 'ननद' 'देवरानी' और 'माता' कहलाने लगती है, परन्तु वह स्त्रोशरीर शरीर से भिन्न नही होता, शरीर का स्वरूप तो वही का वही रहता है ॥२३॥

एक शङ्का

ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते ।
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः ॥२४

अन्वय—ननु ज्ञानानि भिद्यन्ता, आकार. तु न भिद्यते । योषिद्वपुषि जीवनिर्मित अतिशय न दृष्टः ।

स्त्रीविषयक ज्ञान, 'भार्या है' 'पुत्रवधू है' आदि भिन्न-भिन्न

उपलब्ध होते हैं उन ज्ञानों का विषय बनी हुई स्त्री का आकार या स्वरूप भिन्न नहीं होता–वह वैसे का वैसा ही रहता है। स्त्री के शरीर मे जीव से निर्मित कोई विशेषता नहीं पायी जाती, इसलिए यह कहना कि "सम्बन्धियों की भिन्न-भिन्न बुद्धि से स्त्री भी भिन्न-भिन्न हो जाती है" अयुक्त है ॥२४॥

इस शङ्का का समाधान

मैवं मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी ।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी ॥२५

अन्वय— मा एवम् । काचित् मांसमयी योषित्, अन्या मनोमयी । मांसमय्या अभेदे अपि मनोमयी हि भिद्यते ।

यह बात ठीक नहीं है कि स्त्रीके देह मे जीव-निर्मित कोई अतिशय या अधिक आकार नहीं है। एक स्त्री में दो स्त्रियां होती हैं–एक तो, ईशरचित मांसमयी और दूसरी जीवरचित मनोमयी। मांसमयी स्त्री के अभिन्न (एक) होने पर भी मनोमयी स्त्री भिन्न-भिन्न होती हैं। सिद्धान्त यह है कि ज्ञेय पदार्थ की विलक्षणता के बिना ज्ञान मे विलक्षणता नहीं आती, जब ज्ञान में भिन्नता है तो ज्ञेय में आकार-भेद मानना ही पड़ेगा ॥२५॥

भ्रान्तिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिष्वस्तु मनोमयम् ।
जाग्रन्मानेन मेयस्य न मनोमयतेति चेत् ॥२६

अन्वय—भ्रान्तिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिषु मनोमयम् अस्तु । जाग्रन्मानेन मेयस्य मनोमयता न इतिचेत् ?

फिर शंका होती है कि भ्रान्ति, स्वप्न, मनोराज्य तथा स्मृति के समय जब कि बाह्य विषय नहीं होते तो, वहाँ की वस्तुएँ मनोमय हुआ करें, परन्तु जो वस्तु जाग्रत् कालीन मान अर्थात्

प्रत्यक्षादि प्रमाण की प्रमेय है उसको 'मनोमय' कसे मान सकते हैं ? ॥२६॥

बाढं माने तु मेयेन योगात्स्याद्विषयाकृतिः ।
भाष्यवार्तिककाराभ्यामयमर्थ उदीरितः ॥२७

अन्वय—माने विषयाऽऽकृति तु तस्य मेयेन योगात् (सम्बन्धात्) स्यात् । भाष्यवार्तिककाराभ्याम् अयम् अर्थ. उदीरितः ।

इसका समाधान करते हैं कि—यह ठीक है कि प्रमिति के स्थल मे वाह्य विषय रहा करता है, तो भी उस विषय को मनोमय इसलिए कहते हैं कि नाले के समान आकृति वाली मनोवृत्ति मे विषयाकार (मनोमय स्वरूप), इन्द्रिय से विषय तक मेय पदार्थ के सयोग से पहुँचता है । भाष्यकार श्री शकराचार्य और वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य—दोनो ने यह वात कही है ॥२७॥

इस विषय मे भाष्यकारने उपदेशसाहस्री के दो श्लोको में कहा है –

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते ।
रूपादीन्व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ॥२८

अन्वय—यथा ताम्रम् मूषासिक्तम् तन्निभम् जायते । तथा रूपादीन् व्याप्नुवत् चित्तम् ध्रुवम् तन्निभम् दृश्यते ।

जैसे पिघले हुए ताम्बे को जव साचे मे ढाल दिया जाता है तो वह साचे के आकार का ही हो जाता है, वैसे ही रूपादि विषयो को व्याप्त करने वाला चित्त भी, अवश्य ही, उन रूपादि के समान मनोमय दीखने लगता है ॥२८॥

जो कहो कि ताम्बे आदि को अग्निसयोग से पिघलाकर जब साचे मे ढाला जाता है तो वहा ठोस साचे के सयोग से ठडे होकर, वे साचे के आकार के हो जाते हैं, परन्तु चित्त तो अमूर्त और

इसीलिए ताम्बा आदि से विलक्षण है, वह विषय को व्याप्त करके भी विषयाकार कैसे हो सकता है ? इस शंका के निवारणार्थ दूसरा दृष्टान्त देते है–

व्यञ्जको वा यथालोको व्यङ्ग्यस्याकारतामियात् ।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥२९

अन्वय– यथा वा व्यञ्जक. आलोक व्यङ्ग्यस्य आकारता इय तु । धी सर्वार्थव्यञ्जकत्वात् अर्थाकारा प्रदृश्यते ।

अथवा जैसे व्यञ्जक, सूर्य आदि का प्रकाश, प्रकाश्य घट आदि के आकारवाला हो जाता है, वैसे ही, सब पदार्थों की प्रकाशिका होने से बुद्धि भी पदार्थ के आकार को दीखने लगती है। जैसा आकार पदार्थ का ह.ता है वैसा ही आकार उस पदार्थ को देखने वाली बुद्धि का भो हो जाता है ॥२९॥

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत् ।
मेयाभिसङ्गतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥३०

अन्वय—मातु. मानाभिनिष्पत्ति । निष्पन्नम् तत् मेयम् एति च । मेयाभत्वम् तत् मेयाभिसङ्गतम् प्रपद्यते ।

इसी विषय में वार्तिककार ने कहा है -पहले प्रमाता अर्थात् कूटस्थ अधिष्ठानसहित बुद्धिस्थ चिदाभासरूप प्रमाता, जीव से चिदाभाससहित अन्त करणको वृत्तिरूप प्रमाण की उत्पत्ति होती है। जब वह प्रमाण उत्पन्न हो जाता है तब वह घटादि मेय पदार्थो के पास पहुँचता है और इस प्रकार मेय पदार्थ से सम्बद्ध हुआ वह प्रमेय के-से आकार का दीखने लगता है ॥३०॥

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तौ घटौ मृन्मयधीमयौ ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात् साक्षिभास्यस्तु धीमयः ॥

अन्वय—एवं सति मृन्मयधीमयौ घटौ विषयौ द्वौ स्तः। मृन्मयः मातृमेयः धीमयः तु साक्षिभास्यः स्यात्।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रमाण के विषय-घट, दो होते हैं--एक मिट्टी का और दूसरा मनोमय। जिस प्रकार मृन्मय घट मनोवृत्ति द्वारा प्रमाज्ञानका विषय अर्थात् प्रमाताभास्य है, (प्रमाणवृत्ति द्वारा जिनको साक्षी प्रकाशित करता है वे बाह्य घट पट आदि प्रमाताभास्य हैं।) वैसे ही, मनोमय घट साक्षि-भास्य है, (साक्षी से भीतर ही उत्पन्न हुई वृत्ति द्वारा जिनको साक्षी-प्रकाशित करता है वे स्वप्न, सुख दुःख और काम आदि मनोमय पदार्थ साक्षिभास्य है।)

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत्।
सत्यस्मिन् सुखदुःखे स्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम्॥

अन्वय—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयः जीवबन्धकृत्। अस्मिन् सति सुख दुःखे स्तः। असति तस्मिन् न द्वयम्।

अन्वय-व्यतिरेक से यह बात सिद्ध होती है कि ईश्वररचित और जीवरचित द्वैतो मे से जीवरचरित धीमय (मनोमय) द्वैत संसार ही जीव को बन्धन मे डालने वाला है। (इसलिए वही हेय भी है।)

अन्वयव्यतिरेक दिखाते हैं—कि जीव के बनाये मनोमय प्रपञ्च के होने पर ही सुख दुःख होते हैं (यह अन्वय है) और उसके न होने पर दोनो ही नही होते। (यह व्यतिरेक है)॥ ३२॥

सुख दुःख का जो अन्वय-व्यतिरेक मनोमय पदार्थों में बताया वह बाह्य पदार्थ अर्थात् ईश्वर चित-प्रपञ्च का सम्बन्धी क्यो नही है, यह दर्शाते हैं--

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः ।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते ।।३३

अन्वय—नर स्वप्नादौ बाह्यार्थे च असति अपि बद्धयते । समाधिसुप्तिमूर्छासु अस्मिन सति अपि न बद्धयते ।

मनुष्य आदि प्राणी, स्वप्न या स्मृति आदि के समय, स्त्री आदि अनुकूल और व्याघ्र आदि प्रतिकूल और सच्चे बाह्यार्थ की अविद्यमानता में भी सुखी या दुःखी हुआ करते हैं, इसके विपरीत, समाधि सुषुप्ति और मूर्छा के समय, बाह्यपदार्थों के विद्यमान रहने पर भी सुखी या दुःखी नहीं होते । इससे यही सिद्ध होता है कि सुखदुःख के साथ ईश्वर-रचित बाह्यप्रपंच के अन्वयव्यतिरेक नहीं हैं, किन्तु सुखदुःख के साथ जीवरचित मनोमय पदार्थों के ही अन्वयव्यतिरेक हैं । जीव अपने मनोमय प्रपञ्च से ही सुखी या दुःखी होता है ।।३३।।

दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता ।
विप्रलम्भकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ।।३४
मृतेऽपि तस्मिन्वार्तायामश्रुतायां न रोदिति ।
अतः सर्वस्य जीवस्य बन्धकृन्मानसं जगत् ।।३५

अन्वय—दूरदेश गते पुत्रे जीविति एव अत्र तत्पिता विप्रलम्भकवाक्येन मृत मत्वा प्ररोदिति ।।३४

तस्मिन मृते अपि वार्ताया अश्रुतायां न रोदिति । अत. सर्वस्य जीवस्य मानस जगत् बन्धकृत् ।।३५।।

किसी का पुत्र दूर देश (विदेश) में गया हो और वहाँ राजी खुशी रहता भी हो तो भी किसी ठग के झूठ-मूठ वाक्य (तेरा पुत्र मर गया) को सुन कर अपने पुत्र को (मनोमय पुत्र को) मृत मान कर घर में बैठा ही उसका पिता रोने लगता है, और उसी

परदेश में गये पुत्र के यथार्थ में मर जाने पर भी, उसके मरने का समाचार न सुनने पर नही रोता। इससे यही सिद्ध होता है कि मानस जगत् ही सब जीवो को बन्धन मे डालता है ॥३४-३५॥

विज्ञानवादो बाह्यार्थवैयर्थ्यात्स्यादिहेति चेत्।
न हृद्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षितत्वतः ॥३६

अन्वय—बाह्यार्थवैयर्थ्यात् इह विज्ञानवाद स्यात् इति चेत्? न। हृदि आकार आधातु बाह्यस्य अपेक्षितत्वतः।

जब मनोमय पदार्थ ही बन्ध का हेतु है तो बाह्य पदार्थ व्यर्थ मानने पडेगे और इस प्रकार विज्ञानवाद आ खड़ा होगा यह शका ठीक नही, क्योकि बुद्धि मे आकार को जमाने के लिए बाह्य पदार्थ की अपेक्षा है ही। (यद्यपि बन्धका कारण बाह्य प्रपच नही है परन्तु मानस-प्रपच की उत्पत्ति तो बाह्य प्रपच पर निर्भर है, अत बाह्य पदार्थ को भी स्वीकार करने के कारण विज्ञानवाद को कोई स्थान नहीं है।)

अन्त करण मे आकार जमाने के लिए बाह्य पदार्थ की अपेक्षा बताना उचित नही है, क्योकि पूर्व-पूर्व मानस प्रपच ही उत्तरवर्ती मानस प्रपच का हेतु हो सकता है--इस आशका को प्रौढिवाद (दुर्जनतोषन्याय से अपना उत्कर्ष दिखाने वाले वाक्य को प्रौढिवाद कहते हैं।) से स्वीकार करते हुए कहते हैं—

वैयर्थ्यमस्तु वा बाह्यं न वारयितुमीश्महे।
प्रयोजनमपेक्षन्ते न मानानीति हि स्थितिः ॥३७

अन्वय—वा वैयर्थ्यम् अस्तु। बाह्य वारयितु न ईश्महे। मानानि प्रयोजनम् न अपेक्षन्ते इति स्थिति।

बाह्यवस्तु व्यर्थ ही मानलो तो भी हम (विज्ञानवादी की भांति) बाह्य अर्थ का निषेध नही करते बाह्य पदार्थों को केवल

प्रयोजनरहित मानते है। विज्ञानवादीके और हमारे सिद्धान्त में यही अन्तर है कि हम वाह्य पदार्थो को प्रयोजनरहित मानते हुए भी, उनको भांति वाह्य पदार्थो का अपलाप नही करते।

वात यह हैकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, वस्तु की सिद्धि मे, प्रयोजन के आधीन नही है। प्रत्यक्षादि प्रमाणो से जो वाह्य पदार्थ सिद्ध हैं भले ही उनका कुछ प्रयोजन न हो तो भी लोग अथवा वादी उनको अस्वीकार नही कर सकते* ॥३७॥

बन्धश्चेन्मानसद्वैतं तन्निरोधेन शाम्यति।

अभ्यसेद्योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद ॥३८

अन्वय––मानस द्वैत वन्ध चेत् ? तत् निरोधेन शाम्यति। अतः योग एव अभ्यसेत्। ब्रह्मज्ञानेन कि वद ?।

यदि मानस द्वैत ही वन्ध का हेतु है तो मन का निरोध करने से उस मानसद्वैत को निवृत्ति हो जायगी। इसलिए मुमुक्षु चित्त के निरोधरूप योग का ही अभ्यास करे, ब्रह्मज्ञान की क्या आवश्यकता है ? ॥३८॥

तात्कालिकद्वैतशान्तावप्यागामिजन्मिक्षयः।

ब्रह्मज्ञानं विना न स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः॥ ३९

अन्वय––तात्कालिकद्वैतशान्तौ अपि "आगामिजनिक्षयः ब्रह्मज्ञान विना न स्यात्' इति वेदातडिडिम"।

योग से द्वैत की तात्कालिक (केवल चित्त निरोध के समय ही) निवृत्ति होती है या आत्यन्तिक, (एकवार निवृत्ति होकर फिर द्वैत की उत्पत्ति न होना)। यहां, वेदान्त की घोषणा यह है कि योग से चित्तनिरोधकाल मे तो द्वैत की निवृत्ति हो जाती है,

* रास्ते मे पडे तिनके व कांटे आदि व्यर्थ हैं तो भी उनकी सत्ता माननी ही पडती है।

पर आत्यन्तिक निवृत्ति ब्रह्मज्ञान के विना नही होती। 'ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैर्ज्ञात्वा शिव शान्तिमत्यन्तमेति। यदा चर्मवदाकाश वेष्टयिष्यन्ति मानवा, तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।" इत्यादि श्रुतियो ने भी अन्वव्यतिरेक द्वारा यही बताया है कि ब्रह्मज्ञान से ही वन्ध की निवृत्ति होती है ॥३९॥

अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम्।
बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं बोद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः॥

अन्वय—ईशसृष्टे अद्वैते अनिवृत्ते अपि तस्य मृषात्मता बुद्ध्वा वस्त्वैक्यवादिन अद्वय ब्रह्म बोद्धुं शक्यम्।

यदि यह कहो कि वाह्य द्वैत की निवृत्ति के विना अद्वितीय-ब्रह्मज्ञान ही नही होगा तो मुक्ति कैसे होगी? इसके उत्तर में कहते है—ईश्वररचित अद्वैत के निवृत्त न होने पर भी (उसके वने रहने पर भी) उसको मिथ्या समझ लेने मात्र से वास्तविक एक वस्तुवादी को अद्वैतब्रह्म का ज्ञान होना सम्भव है ॥४०॥

"अद्वैत ज्ञान का प्रेरक द्वैत का मिथ्यात्वज्ञान नही अपितु द्वैत की निवृत्ति है"—इसके समर्थको को कहते है—

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः।
विरोधिद्वैताभावेऽपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम् ॥४१

अन्वय—प्रलये तन्निवृत्तौ तु विरोधिद्वैताभावेपि गुरुशास्त्राद्यभावत अद्वय बोद्धुं शक्य न।

प्रलयावस्था मे जव द्वैत की निवृत्ति हो जाती है तव, अद्वैतज्ञान क विरोधी द्वैत के निवृत्त हो जाने पर भी, ज्ञान के साधन गुरु शास्त्र आदि के न होने के कारण, अद्वैत का ज्ञान नही हो सकता, अतएव ईश्वरचरित द्वैत का विनाश, अद्वैतज्ञान का कारण नही ॥४१॥

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम् ।
अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद्द्विष्यते कुतः ।।४२

अन्वय—ईश्वरनिर्मित द्वैत अबाधक च साधक च अपनेतु अशक्यं इति तत् आस्ताम् । कुत द्विष्यते ?

पर यह तो बताओ कि ईश्वर द्वैत के रहते अद्वैतज्ञान कैसे सम्भव है ? कहते हैं–ईश्वरनिर्मित द्वैत अबाधकं च साधक च अपनेतु अशक्य इति तत् आस्ताम् । कुत द्विष्यते ? अर्थात् ईश्वरनिर्मित द्वैत, अद्वैत के ज्ञान का बाधक* नहीं है, क्योंकि जैसे द्वैत का मिथ्यापन ज्ञात होने पर ही अद्वैतज्ञान होता है–यह श्रुति मे कहा है । फिर, ईश्रद्वैत, अद्वैतज्ञान का साधक भी है, क्योकि गुरु-शास्त्र आदि रूप मे वह ईश्वरद्वैत, ज्ञान का साधन है । तीसरी बात यह है कि आकाश आदि ईश्वरद्वैत को हम नष्ट भी तो नही कर सकते । इसलिए ईश्वररचित द्वैत को ऐसे ही रहने दो, उससे द्वेष क्यो ? ।।४२।।

जीवसृष्टद्वैत के भेद

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा ।
उपाददीत शास्त्रीयमाऽऽतत्त्वस्यावबोधनात् ।।४३

अन्वय—जीवद्वैत तु शास्त्रीय अशास्त्रीय इति द्विधा । तत्त्वस्य अवबोधनात् आ शास्त्रीय उपाददीत ।

जीवरचित द्वैत 'शास्त्रीय' और 'अशास्त्रीय' भेद से दो प्रकार

*जैसे घट, कुण्डल आदि का आकार, मिट्टी-सोने आदि के ज्ञान मे बाधक नही है और दर्पण का प्रतिबिम्ब, आकाश की नीलता, मरुभूमि का पानी और स्वप्न का ससार—ये क्रमश मुंह, आकाश, मरुभूमि और पुरुष के अद्वैतज्ञान में बाधक नही है वैसे ही ईश्वरद्वैत भी, अद्वैत ब्रह्म के ज्ञान का विरोधी नहीं है, अपितु मिथ्या होने से अबाधक है ।

है। इनमे से तत्वज्ञान की प्राप्ति तक शास्त्रीय द्वैत को पकडे रहना चाहिए ।।४३।।

आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत् ।
बुद्धे तत्त्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम् ।।४४

अन्वय—आत्मब्रह्मविचाराख्य शास्त्रीय मानस जगत् । तत्त्वे बुद्धे तत् च हेयम् इति श्रुत्यनुशासनम् ।

प्रत्यक्तत्त्व आत्मारूप से ब्रह्म का विचार अर्थात् श्रवण-मनन आदि विचार (मनकी कल्पनारूप होने से) शास्त्रीय मानस अर्थात् जीवकृत जगत् है। इस शास्त्रीयद्वैतको तत्त्वज्ञान के पश्चात् छोडना चाहिए, श्रुति ने यही आज्ञा दी है।

"ब्रह्म और आत्मा की एकतारूप तत्त्व का ज्ञान होने तक श्रवणमनन आदि शास्त्रीय द्वैत का अवलम्बन करना चाहिए" यह कहा है तो फिर 'दद्यान्नावसर किंचित्कामादीना मनागपि । आसुप्तेरामृते कालत्रये वेदान्तचिन्तनम्' इस वाक्य मे जो "सुप्ते" अर्थात् सुषुप्तिपर्यन्त वेदान्त का चिन्तन वताया है वह क्यो ? इसका उत्तर देते हैं कि इसके पूर्वार्ध मे जो यह कहा है कि जीवन्मुक्तिमुख के विरोधी काम आदि को अवसर न दे—सो काम आदि को अवसर न देना ही अभीष्ट है, सुषुप्ति या मरणकाल तक वेदान्त चिन्तन का विधान इस वाक्य मे नही है ।।४४।।

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ।।४५
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानी विज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ।।४६
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्।।

अन्वय—मेधावी ग्रन्थाणि अधीत्य च पुनः पुनः अभ्यस्य परम ब्रह्म विज्ञाय अथ उल्कावत् तानि उत्सृजेत् ।।४५।।

अन्वय—मेधावी ग्रन्थ अभ्यस्य ज्ञानविज्ञानतत्पर. सन् धान्यार्थी पालालमिव, अशेषत. ग्रन्थ त्यजेत् ।।४६।।

अन्वय—धीर. ब्राह्मण त एव विज्ञाय प्रज्ञाकुर्वीत वहून् शब्दान् न अनुध्यायात्, हि तत् वाच विग्लापनम् ।।४७।।

विवेक आदि से युक्त अधिकारी शास्त्रो का गुरुमुख से श्रवण और वार-वार उनका मनन करके, परमब्रह्म को विशेषतया अर्थात् सशयादिरहित जान लेने के पश्चात् शास्त्रो को उल्का की भान्ति व्यर्थ जानकर त्याग दे, जैसे पाकार्थी पुरुष रसोई वनाने के पश्चात् वची जली लकड़ियोको व्यर्थ समझकर छोड़ देता है, वैसे ही मुमुक्षु परव्रह्म को जानकर शास्त्र को छोडे, वोध से पहले न छोड़े। क्योकि व्रह्म का जानना ही शास्त्र का एकमात्र प्रयोजन है ।।४५।। वुद्धिमान् पुरुष ग्रन्थो के अभ्यास से ज्ञान (परोक्षानुभव या श्रवण-मनन से उत्पन्न अथवा गुरु शास्त्र से जन्य, जगत् के मिथ्यात्वसहित व्रह्म एव आत्मा की एकता का निर्णय) और विज्ञान (अपरोक्षानुभव या निदिध्यासन से जन्य अथवा गुरु शास्त्र द्वारा निर्णीत अर्थ का अपने को वैसा का वैसा अनुभव) में कुशल हो जाने पर, ग्रन्थ को पूरी तरह ऐसे छोड़ दे जैसे धान्य चाहने वाला किसान धान्य निकालकर भूसे को छोड देता है ।।४६।। व्रह्मचर्य आदि साधन से सम्पन्न धीर व्राह्मण प्रत्यक् अभिन्न परमात्मा को ही विशेषरूप से जानकर उसमे निष्ठा (प्रज्ञा) अर्थात् व्रह्म में निरन्तर वृत्तिरूप एकाग्रता को सिद्ध करे–अपनी वुद्धि को सदा तदाकार वनाये रखे, और वहुत से शब्दो का ध्यान, चिन्तन और कथन–भी न करे। क्योकि ऐसा चिन्तन वाणी और मन को व्यर्थ मे थकाता ही है ।।४७।।

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः ।

अन्वय—एक त एव विजानीथ हि, अन्या वाचः विमुञ्चथ । प्राज्ञ. वाङ्मनसी यच्छेत् इत्याद्या' श्रुनय स्फुटा' ।

'तमेवैक जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतु' । मुण्डकोपनिषद् (२-२-५) के इस वाक्यका उद्धरण देते हुए कहते हैं कि—उम एक ब्रह्माभिन्न आत्मा को ही जानो दूसरी सब वाणियो—शास्त्रो को छोडो, "यच्छेद्वाङ्*मनसी प्राज्ञ." (कठ १-३-१) अर्थात् ज्ञानीपुरुष वाणी को मन मे लीन करे' इत्यादि श्रुतियाँ इस बात मे प्रमाण है कि ज्ञान होने के पश्चात् श्रवणादिरूप शास्त्रीय द्वैत त्याज्य है ॥४८॥

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा ।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ॥४६

अन्वय—अशास्त्रीय द्वैत अपि, तीव्र मन्द इति, द्विधा । कामक्रोधादिक तीव्रम्' । तथा मनोराज्य इतरत् ।

अशास्त्रीय द्वैत भी तीव्र और मन्द भेद से दो प्रकार का है । काम क्रोध आदि तीव्र अशास्त्रीय जीवरचित द्वैत है और मनोराज्य मन्द अशास्त्रीय जीव रचित द्वैत है ॥४६॥

---

* यहाँ वाणी से दसो इन्द्रियो का ग्रहण करना चाहिए । अर्थात् श्रोत्र आदि दसो इन्द्रियो को मन से लीन करे—इन्द्रियो से विषयो का ग्रहण न करे । "मन को नि सङ्कल्प कर -निश्चय रूप बुद्धि मे, निश्चय बुद्धि (ज्ञान आत्मा) को 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्तिरूप अव्यक्त मे और निर्विकल्प महदात्मा को शान्त आत्मा (निरुपाधिक परमात्मा) मे लीन करे—केवल मात्र परमात्मा शेष रहे ।" यह इस श्रुति का अर्थ है ।

उभयं तत्त्वबोधात्प्राङ्निवार्यं बोधसिद्धये ।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ॥५०
बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये ।
कामादिक्लेशबन्धेन युक्तस्य न हि मुक्तता ॥५१

अन्वय – बोधसिद्धये उभय तत्त्वबोधात् प्राक् निवार्यम् । यत शम. च समाहितत्व साधनेपु श्रुतम् ॥५०॥

अन्वय––च बोधात् ऊर्ध्वं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये तत् हेयम् । कामादि-क्लेशबन्धेन युक्तस्य मुक्तता न हि ॥५१॥

इन दोनो का निवारण बोध की सिद्धि के लिए तो तत्त्वबोध से पहले ही होना चाहिए। इसीलिए ब्रह्मज्ञान के साधनो, नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि में "शान्ति" और 'समाधि' साधनो के नाम भी सुने जाते हैं। यहा शान्ति का अर्थ है, कामादि तीव्र जीवद्वैत का निषेध और समाधि का अर्थ है, मनोराज्यरूप मद जीवद्वैत का निपेध ॥५०॥ और तत्वबोध के पश्चात् जीवन्मुक्ति की सिद्धि के लिए इन दोनो अशास्त्रीय द्वैतो को त्याग देना चाहिए क्योकि कामादि क्लेश रूप बन्धसे बन्धा हुआ जीव जीवन्मुक्त नही हो सकता ॥५१॥

जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहं कृती ।
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात्कृतो भवान् ॥

अन्वय––इय जीवन्मुक्ति' मा भूत् । तु जन्माभावे अह कृती । तर्हि जन्म अपि ते अस्तु एव । स्वर्गमात्रात् भवान् कृति. ।

"यह जीवन्मुक्ति न मिले तो चाहे न मिले, मैं तो भावी जन्म के न होने मात्र से ही–विदेहमुक्ति से ही–कृतार्थ हो जाऊगा"– अर्थात् 'जन्म मरणादिरूप ससार से दु खी जीव को तो नित्यानन्दरूप विदेहमुक्ति ही पर्याप्त है' ऐसा माननेवाले को उत्तर

देते हैं कि जब तुम इस लोक के भोगो की निवृत्ति के लोभ मे 'जीवन्मुक्ति' का त्याग कर रहे हो तो स्वर्गादिपरलोकके भोगोके लोभ मे विदेहमुक्ति को भी क्यो न छोड दोगे ? जन्म भी तुम्हे स्वीकार रहे, क्योकि स्वर्गमात्र से ही तुम अपने आपको कृतार्थ समझो ।।५२।।

क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा ।
स्वयं दोषतमात्मायं कामादिः किं न हीयते ।।५३

अन्वय—यदा क्षयातिशयदोषेण स्वर्ग हेय, तदा स्वय दोषतमाऽऽत्मा अय कामादि कि न हीयते ?

यदि यह कहो कि क्षय और अतिशय दोष के कारण स्वर्ग तो त्याज्य है, (पुण्यक्षय के पश्चात् अथवा प्रलयकाल मे स्वर्ग का नष्ट होना क्षय दोष और देवो का पुण्य अपने से अधिक है—यह अतिशय दोष) तो, यदि स्वर्गादि, दोषयुक्त होने से त्याज्य हैं तो सकलपुरुषार्थ का नाशक होने के कारण स्वय अत्यन्त दूषित काम आदि तो त्याज्य है ही, उसे क्यो नही जोडते ? ।।५३।।

यदि यह कहो कि वैराग्य के सम्पादन के लिए तो अनर्थ के हेतु काम आदि हेय है, पर (१) इस लोक मे भोग के हेतु तो उनको स्वीकार करने मे दोष नही है ? इसका उत्तर देते हैं—

तत्त्वं बुद्ध्वापि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत् ।
यथेष्टाचरणं ते स्यात्कर्मशास्त्रातिलंघिनः ।।५४

---

(१) स्वेच्छा से प्राप्त स्त्री आदि विषयक काम और प्रतिकूल प्राणियो के प्रति क्रोध प्रारब्ध भोग मे उपयोगी हैं—उनका अङ्गीकार करना कैसे बाधक है ?

(२) वासिष्ठ के मुमुक्षुप्रकरण मे बताया है कि प्रारब्धरूप पूर्व जन्मो के पुरुषार्थ और इस जन्म के पुरुषार्थों मे से अधिक बली की जीत

अन्वय––तत्त्व बुद्ध्वा अपि निःशेष कामादीन् न जहासि चेत् ? कर्मशास्त्रातिलंघिन ते यथेष्टाचरण स्यात् ।

तत्व को जानकर भी, 'मैं तत्ववेत्ता हूँ', 'मुझे क्या दोष है' इस प्रकार तत्वज्ञानी होने का अभिमान करके, (२) यदि काम आदि का सर्वथा त्याग नही करोगे तो, ऐसा करना, विधि-निषेध शास्त्र का उल्लघन कर काम आदि के अधीन होने वाले तुम्हारा, पशु और नीच पुरुष की भाँति यथेष्टाचरणरूप (३) प्रमाद ही कहलायेगा ।।५४।।

यथेष्टाचरण का दोष

बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ।।५५

होती है । इस प्रकार इस जन्म के अधिक पुरुषार्थ से प्रारब्धजनित काम आदि जीते जा सकते हैं । इसलिए प्रारब्ध के बहाने, प्रयत्न मे ढील देकर जीवन्मुक्ति सुख के विरोधी कामादि मे नही फँसना चाहिए ।

(३) विषयो के अधीन होना या कर्त्तव्य को भूल जाना प्रमाद कहलाता है । ज्ञानी को, मोक्ष या तत्वज्ञान अथवा इस तथा उस लोक के लिए कुछ भी कर्त्तव्य नही है परन्तु लोक सग्रह अर्थात् लोगो को कुमार्ग मे जाने से रोकने के लिये तो शास्त्रानुसार आचरण करना ही चाहिये अथवा जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द के हेतु ब्रह्मविचार करना चाहिए । इनको छोडकर अन्यथाचरण ही प्रमाद है । यह प्रमाद, कामचार-कामवाद-कामभक्षण आदि अनेक प्रकार का है । विधिनिषेध से परे हुआ विद्वान् प्रमाद कर ही नहीं सकता । भागवतपुराण और स्मृतियो के प्रमाण के अतिरिक्त इसमें युक्ति यह है कि दुराचार में जो प्रवृत्ति होती है वह पूर्वजन्म के पाप की अधिकता से होती है, वह अधिकता ज्ञानी मे होती ही नहीं, इसीलिए ज्ञानी की निषिद्ध कर्मरूप पाप मे प्रवृत्ति ही नहीं होती ।

अन्वय—यदि वुद्धाद्वैततत्त्वस्य यथेष्टाचरणम्, (तर्हि) अशुचिभक्षणे (सति) शुना च एव तत्त्वदृशा क भेद ? ॥५५॥

अद्वैत स्वरूप ब्रह्मको जानने वाला तत्वज्ञानी यथेष्टाचरण करेगा तो वह अपवित्र वस्तुभक्षण भी करेगा, उस अवस्था मे कुत्तो मे और ऐसे गर्हित आचरण करने वाले तत्वज्ञानियोमें क्या भेद रहेगा ?

बोधात्पुरा मनोदोषमात्रात्क्लिश्नास्यथाधुना ।
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम् ॥५६

अन्वय—बोधात् पुरा मनोमात्रदोषात् क्लिश्नासि । अथ अधुना च अशेषलोकनिन्दा । इति ते बोधवैभवम् अहो ॥५६॥

ऐसे तत्वज्ञानीको हंसीमे कहते हैं—अरे ! वोधसे पहले, तत्व-ज्ञानके उदयसे पूर्व, तो तुम काम-क्रोध आदि मनके दोषो से ही कष्ट पा रहे थे और अव, ज्ञानकी दशामे, सब लोको की निन्दा के पात्र बने हो ! वाहरे तुम्हारा बोधवैभव ! ऐसा बोध तो न हो तभी अच्छा है ! ॥५६॥

विड्वराहादितुल्यत्वं मा काङ्क्षीस्तत्त्वविद्भवान् ।
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ॥५७

अन्वय—तत्त्ववित् भवान् । विड्वराहादितुल्यत्वम् मा काक्षी , सर्व-धीदोषसत्यागात् लोकै देववत् पूज्यस्व ॥५७॥

इसलिए मैला खाने वाले ग्राम्यसूअर आदि की भाति मत होना चाहो, तुम तत्वज्ञानी हो, ग्राम्यसूअर आदि तो कामादि के त्याग में असमर्थ हैं—अतएव अधमाचरण हैं, तुम सर्वश्रेष्ठता के हेतु तत्व ज्ञानसे युक्त हो, उनकी तरह मत होओ। अपितु मनके सवकामादि दोषो को छोडकर, विष्णु आदि देवो की भाति सव लोगो के पूजनीय बनो ॥५७॥

कामादि के त्याग का उपाय

काम्यादिदोषदृष्टयाद्याः कामादित्यागहेतवः।
प्रसिद्धा मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव ॥५८

अन्वय—मोक्षशास्त्रेषु काम्यादिदोषदृष्ट्याद्या. कामादित्यागहेतवः प्रसिद्धा , तान् अन्विष्य सुखी भव ॥५८॥

मोक्षशास्त्रो (श्रीमद्भागवत, आत्मपुराण, वासिष्ठ आदि) में कामनाके विषय (भोगसाधन) माला-चन्दन स्त्री आदि तथा अन्य लोभ-भय द्वेष आदि के विषयसाधनो मे अनित्यता, सातिशयता आदि दोषो को देखना, क्रोधादि के स्वरूप का विचार* आदि बातें कामक्रोध आदि के त्याग के साधन बताये है, उन सब साधनो को ढूंढकर सुखी बनो ॥५८॥

त्यज्यतामेष कामादिर्मनोराज्ये तु का क्षतिः।
अशेषदोषबीजत्वात्क्षतिर्भगवतेरिता ॥५९

अन्वय—एष कामादि. त्यज्यताम्। तु मनोराज्ये का क्षति ? अशेषदोषबीजत्वात् भगवता क्षति ईरिता ॥५९॥

कामादि अनर्थके कारण हैं, उन्हे छोड़ दो, पर मनोराज्य तो वैसा नही है, उसे न छोड़ने मे क्या हानि है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मनोराज्य यद्यपि साक्षात् रूप से अनर्थका हेतु है ही, भगवान् श्रीकृष्णने विषयचिन्तनरूप मनोराज्य को सब दोषो का कारण होने से उसमे हानि बताई है ॥५९॥

---

* काम के विषय स्त्री आदि मे दोषदृष्टि काम के त्याग का हेतु है। क्रोध के स्वरूप को अनर्थकारी विचारना क्रोध के त्याग का हेतु है। क्रोधी और राक्षस मे से क्रोधी अधिक क्रूर है, राक्षस तो दूसरो का ही खून पीता है, क्रोधी अपना खून भी पीता है, राक्षस तो रात मे ही नाचता है, क्रोधी दिन-रात नाचता फिरता है। इत्यादि रूप से क्रोध अनर्थकारी है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६०

अन्वय—विषयान् ध्यायत पुंस. तेषु सङ्ग. उपजायते । सङ्गात् काम. सञ्जायते । कामात् क्रोध' अभिजायते ॥६०॥

गीता के २ ६२ को उद्धृत करते है कि—जब मनुष्य बुद्धि से विषयोका ध्यान करता (मनोराज्य) रहता है, उसको उन विषयो से आसक्ति हो जाती है, सग से इच्छा (उनकी चाह) उत्पन्न होती है और उस इच्छा भग होने से, इसमे रुकावट पडने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है । ६०॥

मनोराज्य की निवृत्ति के उपाय

शक्यं जेतुं मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः ।
सुसंपादः क्रमात्सोऽपि सविकल्पसमाधिना ॥६१

अन्वय—निर्विकल्पसमाधित. मनोराज्यम् जेतुम् शक्यम् । सः अपि क्रमात् सविकल्पसमाधिना सुसम्पाद ॥६१॥

मनोराज्य को निर्विकल्प समाधि से जीता जा सकता है और वह निर्विकल्पसमाधि, क्रमश सविकल्पसमाधि करते-करते सरलता से प्राप्त हो जाती है ॥६१॥

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकान्तवासिना ।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते ॥६२

अन्वय—बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येन एकान्तवासिना दीर्घम् प्रणवम् उच्चार्य मनोराज्यम् विजीयते ॥६२॥

और जो यमसे लेकर सविकल्पसमाधितकके अष्टांग योगका अभ्यासी नही है वह भी यदि ब्रह्मात्मैक्यरूपतत्व का ज्ञानी, काम क्रोध आदि बुद्धि दोषो से रहित, और एकान्तवासी है, तो लम्बे अर्थात् ६,८,१०,१२ मात्रा के प्रणव का उच्चारण कर मनो-

राज्यको जीत सकता है। [मनके चार आधार (पाद) हैं--वाणी, श्रोत्र, चक्षु और संकल्प-विकल्पादि भीतरी कल्पना। एकान्तवास करने से वहा वाणी आदि के विषयो--वचन, श्रवण और दृश्य-का अभाव होने के कारण निरोध हो ही जाता है और इन तीन के निरोध के पश्चात् जैसे आना रोकने से तालाब में जल नहीं आता वैसे ही भीतरी कल्पनायें भी रुक जाती हैं] ।।६२।।

जिते तस्मिन्वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत् ।

एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम् ।।६३

अन्वय—तस्मिन् जिते मन. वृत्तिशून्यम् मूकवत् तिष्ठति। एतत् पदम् वसिष्ठेन रामाय बहुधा ईरितम् ।।६३।।

मनोराज्य के जीत लेने र उस पुरुष का मन, गूंगे मनुष्य की भान्ति सकल्प-विकल्परूप सकलव्यापारसे रहित हो जाता है। वशिष्ठमुनिने मनकी इस दशाकी ओर रामको अनेक प्रकार से प्रेरित किया है, अत. यह वृत्तिरहित मनकी स्थिति पुरुषार्थ ही है ।।६३।।

वसिष्ठ मुनि के दो श्लोको को इस विषय में प्रमाण रूप उद्धृत करते हैं–

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।

संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ।।६४

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ।

संत्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ।।६५

अन्वय–'दृश्य नास्ति' इति बोधेन मनस. दृश्यमार्जनम् सम्पन्न चेत्, तत् परा निर्वाणनिवृत्ति. उत्पन्ना ।।६४।।

अन्वय—शास्त्रम् अलम् विचारितम्। मिथः चिरम् उदग्राहितम्। सन्त्यक्तवासनात् मौनात् ऋते उत्तमम् पदम् न अस्ति ।।६५।।

'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुतियोसे जब अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त जगदभावका ज्ञान होकर मनसे दृश्यका, अर्थात् द्रष्टा के विषय भूत जगत् का, निवारण सिद्ध हो जाता है तब परम अर्थात् निरतिशय निर्वाणनिर्वृति-(मोक्षसुख)-सिद्ध हो जाती है।६४। हमने अद्वैत-शास्त्र अथवा वेदान्त का खूब विचार किया और गुरुशिष्य आदिके सवाद द्वारा परस्पर एक दूसरे का समझा भी इस प्रकार करने से यही निश्चय हुआ कि कामादिवासनाओ से रहित मौनभाव से अधिक पद (पुरुषार्थ) नही है ।।६५।।

वृत्तिरहित चित्त मे यदि प्रारब्ध के कारण कोई विक्षेप उठे तो उनके निवारण का उपाय बताते हैं :—

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना ।
पुनः समाहिता सा स्यात्तदैवाभ्यासपाटवात् ॥६६

अन्वय—भोगदायिना कर्मणा कदाचित् धी. विक्षिप्यते, सा अभ्यासपाटवात् तदा एव पुन समाहिता स्यात् ।

भोगप्रद प्रारब्धकर्मों के कारण यदि कभी चित्त विक्षिप्त होने लगे तो वह बुद्धि प्रवल अभ्यास के सामर्थ्य से फिर उसी समय समाहित हो सकती है । ६६।।

विक्षेपो यस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते ।
ब्रह्मैवायमिति प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः ॥६७

अन्वय—यस्य विक्षेप. न अस्ति अस्य ब्रह्मवित्त्वम् न मन्यते । पारदर्शिन मुनय 'अयम् ब्रह्म एव' इति प्राहु. ।

जिसको कभी भी विक्षेप नही होता उसको ब्रह्मवित् नही माना जाता । वेदान्त के पारदर्शी मुनिलोग कहते हैं कि वह तो साक्षात् ब्रह्म ही है । (विक्षेपरहित महापुरुष को गौणरूप मे ही 'ब्रह्मवित्' कहा जाता है वह तो वस्तुत. 'ब्रह्म' ही है।) ।।६७।।

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः ।

यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम् ॥६८

अन्वय—य दर्शनादर्शने हित्वा स्वय केवलरूपत. तिष्ठति, स तु ब्रह्मन् स्वय ब्रह्म ब्रह्मवित् न ।

इस विषय मे वशिष्ठजी ने कहा है–जो महापुरुष ब्रह्म के दर्शन (ज्ञान) और अज्ञान—दोनो पचडो का छोडकर, 'ब्रह्म को जानता हूँ' 'नही जानता हूँ' इन दोनो प्रतीति एव कथन रूप व्यवहारो को छोडकर, आप केवल चिद्रूप से, अद्वितीय चैतन्य रूप मे अवस्थित हो बैठता है, वह महापुरुष तो ब्रह्मवित् नही, साक्षात् ब्रह्म ही है ।

द्वैत विवेचन का उपसंहार

जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात् ।

लभ्यतेऽसावतोऽत्रेदमीशद्वैताद्विवेचितम् ॥६९

अन्वय—असौ जीवन्मुक्ते. परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात् लभ्यते । अत· अत्र इदम् ईशद्वैतात् विवेचितम् ।

इस प्रकार जो जीवन्मुक्ति की अन्तिम अवस्था वर्णित की है वह मनोमय प्रपञ्चरूप जीव द्वैत को छोडने पर प्राप्त होती है । इसीलिए यहा जीवरचित जगत् को ईश्वर रचित जगत् से पृथक् करके दिखाया है ॥६९॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के चतुर्थ प्रकरण-द्वैतविवेक की श्री पीताम्बर शर्मा कृत तत्त्वप्रकाशिका व्याख्या समाप्त ।



अथ महावाक्य-विवेकः–५

मङ्गलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया।
कुर्वे महावाक्यविवेकस्य व्याख्यां तत्वप्रकाशिकाम् ॥

श्रीयुक्त सब गुरुओ को नमस्कार करके पचदशी के महावाक्यविवेक प्रकरण की तत्त्वप्रकाशिका व्याख्यान करता हूँ।

'प्रज्ञान ब्रह्म' (ऐत० ५–१), 'अह ब्रह्मास्मि' (बृ० १-४-१०) 'तत्वमसि' (छा० ६ ८-७) 'अयमात्मा 'ब्रह्म' (बृ० २-५-१६) ये चार महावाक्य हैं। मुमुक्षु को मोक्ष के साधन ब्रह्मात्मैकता का ज्ञान इनसे ही होता है। इस प्रकरण मे इन्ही चारो वाक्यो के अर्थ का निरूपण किया है। आचार्य श्री विद्यारण्य स्वामी प्रथम 'प्रज्ञान ब्रह्म के 'प्रज्ञान' पद का अर्थ कहते हैं–

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥१

अन्वय—येन इदम् ईक्षते, शृणोति, जिघ्रति, व्याकरोति च स्वाद्व स्वादू विजानाति। तत् 'प्रज्ञानम्' उदीरितम्।

यह पुरुष, चक्षु द्वारा बाहर निकली अन्त करण की वृत्ति से युक्त जिस चैतन्यसे दर्शनयोग्यरूप आदि को देखता है, श्रोत्र द्वारा निकली अन्त.करण की वृत्ति सहित जिस चैतन्यमे शब्दोको सुनता है, नासिका द्वारा निर्गत अन्त.करण की उपाधिसहित जिस चैतन्य से गन्धो को सूंघता है, वागिन्द्रिय से युक्त जिस चेतन्य से शब्दो का उच्चारण करता है, रसना इन्द्रिय द्वारा निर्गत अन्त करण

वृत्तिरूप उपाधिवाले जिस चैतन्य से स्वादु-अस्वादु दोनो प्रकार के रसो को चखता है, च–अर्थात् उक्तानुक्त सभी इन्द्रियों और अन्त करण की धेय है। इस प्रकार 'येन वा पश्यति' से लेकर 'सर्वण्येतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि' ऐतरेयाण्यक के पष्ठाध्याय में आए इन अवान्तर वाक्यो का अर्थ भी संक्षेप से दिखला दिया।१। (इन वाक्यो द्वारा सव इन्द्रियो और उनकी वृत्तियोसे भिन्न,सवके साक्षी, सव वृत्तियो मे अनुगत एक आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।)

ब्रह्मपद का अर्थ

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु ।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि ।।२

अन्वय—चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिपु एकम् चैतन्यम् ब्रह्म। अत. मयि अपि प्रज्ञानम् ब्रह्म।

ब्रह्मा, इन्द्र और देव आदि उत्तम, अधम मनुष्य, नीच गाय, घोड़ा आदि, सव देहधारियो और आकाश आदि भूत पदार्थों में जो जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय का कारण भूत एक चैतन्य है-वह ब्रह्म है। इससे ' एष ब्रह्मेष इन्द्र" से लेकर "प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' तक के ऐतरेण्यायक के छठे अध्याय के आत्मा के स्वरूप के जतलाने वाले अवान्तर वाक्यो का अथ स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार 'प्रज्ञान' और 'ब्रह्म' दोनो पदो का अर्थ वतलाकर 'प्रज्ञान ब्रह्म' इस सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ वतलाते हैं—–अत.मयि अपि प्रज्ञान ब्रह्म' क्योकि सर्वत्र अवस्थित रहने वाला 'प्रज्ञान' हो 'ब्रह्म' है, इसलिए मुझसे भी जो 'प्रज्ञान' है वह भी 'ब्रह्म' है, क्योकि मेरे और उनके 'प्रज्ञान' की प्रज्ञानता में कोई अन्तर नही है ।।२।।

* अहं ब्रह्मास्मि के 'अहं' पद का अर्थ

परिपूर्णः परात्माऽस्मिन्देहे विद्याधिकारिणि।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते॥३

अन्वय—परिपूर्णः परात्मा अस्मिन् विद्याधिकारिणि देहे बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन् 'अहम्' इति ईर्यते।

स्वभावतः देश, काल और वस्तु मे अपरिच्छिन्न—परिपूर्ण परमात्मा, इस मायाकल्पित जगत् मे, शमादिसाधनो से सम्पन्न होने से ब्रह्मविद्या को पाने की योग्यता वाले, श्रवण-मननाद्यनुष्ठान वाले इस मनुष्यादिदेह मे बुद्धि अर्थात् सूक्ष्मशरीर का साक्षी अर्थात् अविकारी अतएव अवभासक रूप में स्थित हो प्रकाशित होता हुआ लक्षणा से 'अहं' पद का लक्ष्य बनता है॥३॥

स्वतःपूर्णः परात्माऽत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम्॥४

अन्वय—स्वतः परिपूर्ण परात्मा अत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः। 'अस्मि' इति ऐक्यपरामर्शः। तेन अहम् ब्रह्म भवामि।

स्वतः परिपूर्ण अर्थात् स्वभाव से देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न परमात्मा ही यहां—'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य मे—ब्रह्म शब्दका लक्षणा से वाच्य है। और इस वाक्य मे जो "अस्मि" पद है वह "अहं" और 'ब्रह्म' इन दोनो पदो को समानाधिकरण :- (एकार्थवाची) बतलाता है, अतएव जीव और ब्रह्म दोनो की एकता का बोधक होता है। इस प्रकार इस वाक्य का सारांश यह है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' ॥४॥

---

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् प्रपाठक ३, ब्राह्मण ४, कण्डिका १०।

:- भिन्नार्थक पदो की समान विभक्ति के बल से जो एक ही अर्थ मे प्रवृत्ति होती है वह 'समानाधिकरणता' कहलाती है। यहाँ 'अहं'

सामवेद की छान्दोग्योपनिषद्के 'तत्वमसि * महावाक्य के 'तत्' पद का लक्ष्य अर्थ वतलाते हैं :-

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम् ।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥५

अन्वय—सृष्टे पुरा एकं एव अद्वितीय नामरूपविवर्जितं सत् । अस्य अधुना अपि तादृक्त्वम् 'तत्' इति ईर्यते ।

'सवेद सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्' इस वाक्य से सृष्टि से पहले स्वगतादिभेदरहित, नामरूपरहित जिस 'सत्' वस्तु का प्रतिपादन किया है, अव सृष्टि के पश्चात् भी, वह सद्वस्तु 'वैसी की वैसी ही है' यह वात विचार से ठीक प्रतीत होती है। 'तत्' शब्द उसी अविकृत सद्वस्तु की ओर निर्देश कर रहा है । ५॥

त्वपद का अर्थ और वाक्य का अभिप्राय

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम् ।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥६

अन्वय—श्रोतु देहेन्द्रियातीतम् वस्तु अत्र त्वम्पदेरितम् । 'असि' इति एकता ग्राह्यते । तत् ऐक्यम् अनुभूयताम् ।

और 'ब्रह्म' पद क्रमश 'आत्मा' और 'ब्रह्म' के बोधक हैं परन्तु समान प्रथमा विभक्ति के वल से वे दोनो पद अखण्ड एकरसता के बोधक हैं। इसीलिए ब्रह्मात्मा की एकता सिद्ध होती है। 'अस्मि' पद इसी को स्मरण कराता है।

* उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ६ वार ६ प्रकार से इस महावाक्य को समझाया है। छान्दोग्योपनिषद् का ६ठा अध्याय और उस पर श्रीभाष्य तथा आनन्दज्ञान टीका देखो।

श्रवण आदि के अनुष्ठान से महावाक्य के अर्थ का निश्चय करने वाला श्रोता कहलाता है। उसके देह, इन्द्रिय आदि स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप तीन शरीरो से भिन्न उनकी साक्षीभूत जो सदवस्तु है, इस महावाक्य के 'त्वत्' पद से वही अभिप्रेत है। इस वाक्यगत 'असि'* पद से शिष्य को यह बोध होता है कि क्योकि 'तत् त्व' ये दोनो पद समानाधिकरण हैं अतएव ब्रह्म और आत्मा एक ही अर्थ के बोधक है ॥६॥

'अयमात्मा ब्रह्म' के 'अयम्' और 'आत्मा' पदो का अर्थ

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ।
अहङ्कारादिदेहान्तात्प्रत्यगात्मेति गीयते ॥७

अन्वय—'अयम्' इति उक्तित स्वप्रकाशापरोक्षत्वम् मतम् । अहङ्कारादिदेहान्तात् प्रत्यक आत्मा इति गीयते ।

अथर्ववेदकी माण्डूक्योपनिषद् के अन्तर्गत 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) इस महावाक्य की व्याख्या करते हुए 'अयम्' और 'आत्मा' पदो के अथ क्रमश. स्पष्ट करते हैं :—'अय' इस शब्द से साक्षी आत्मा की, स्वप्रकाश होने से, अपरोक्षता कही गई है। अर्थात् यह तत्व (अदृष्ट धर्माधर्म) की न्याईं सदा परोक्ष भी नही है और घटादिकी न्याईं दृश्य (परप्रकाश्य तथा अपरोक्ष) भी नही है।

जो चेतन तत्त्व अहकारसे लेकर देह पर्यन्त सघात (अहकार, प्राण, मन, इन्द्रिय और देहरूप सघात) से पृथक् अर्थात् उक्त-सघात का अधिष्ठान एव साक्षी अन्तरात्मा है, उसको इस महावाक्य मे 'आत्मा कहा गया है।

---

* 'असि' पद को ब्रह्म कहना तो सर्वथा विरुद्ध है, क्योकि 'असि' का वाच्यार्थ 'है' या 'हो' है, लक्षणा की प्रवृत्ति 'तत्' तथा 'त्व' पदो के अर्थों मे ही है। अतएव 'असि' का लक्ष्यार्थ 'ब्रह्म' भी नही हो सकता।

'ब्रह्म' पद का अर्थ और एकतारूप वाक्यार्थ

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते ।
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥८

अन्वय—दृश्यमानस्य सर्वस्य जगत. तत्वम् ब्रह्म शब्देन ईर्यते तत् ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ।

दृश्यमान अर्थात् दृश्य होने से मिथ्याभूत आकाशादि सकल जगत् जो अधिष्ठान है एव इस जगत् का वाध हो जाने पर भी जो शेष रह जाता है वह पारमार्थिक (वास्तविक) सच्चिदानद रूप तत्त्व ही 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है ।

इस प्रकार इस महाकाव्य का अर्थ यह हुआ कि उक्त लक्षण वाला ब्रह्म स्वप्रकाशात्म स्वरूप है . जो मनुष्य का स्वय प्रकाश आत्मा है वही ब्रह्म है तथा जो ब्रह्म है वह मनुष्य का यह स्वयप्रकाश आत्मा है, इस आत्मा से भिन्न किसी को ब्रह्म नही समझना चाहिये ।

मुमुक्षुजनो को चाहिये कि वे इन चार महाकाव्यो के ब्रह्मात्मा के एकता रूप अर्थ को वेदान्तशास्त्र द्वारा तथा ब्रह्म-निष्ठ गुरु से जान और सुनकर, वाच्य एव लक्ष्यार्थ के विचार द्वारा पदार्थ का शोधन कर, उसकी यथार्थता जानकर, श्रवण-मननादिसे सशय-विपर्यय का निवारण करते हुए, दृढ-अपरोक्ष निष्ठा से अज्ञान तथा उसके कार्य रूप अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्तिरूप जीवन्मुक्ति और देह मुक्ति को अनुभव करें ॥ ८ ॥

कुछ महत्वपूर्ण वेदान्त-सिद्धान्त

वेदान्त के सिद्धान्त को समझाने के लिये उत्तम-मध्यम और कनिष्ठ अधिकारी भेद से तीन पक्ष माने जाते है–(१) अजातवाद,

(२) दृष्टिसृष्टिवाद और (३) व्यवहारिकपक्ष अर्थात् सृष्टिदृष्टिवाद।

(१) मुख्य अजातवाद मे एक ही परमार्थ सत्ता चेतन को माना गया है-यह विद्वानो के लिए है। इसमे आरोप और अपवाद दोनो नही हैं अतएव वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थकी कल्पना तक नही होती।

(२) दृष्टि सृष्टि वाद में परमार्थसत्ता और प्रातिभासिकसत्ता दोनो को स्वीकार किया जाता है। यहा स्वप्नकलिपत राजा की न्याई जीवकल्पित ईश्वर 'तत्' पद का वाच्यार्थ है और अविद्यावृत अज्ञात ब्रह्मरूप जीव 'त्व' पदका वाच्यार्थ है। दोनो पदोका लक्ष्यार्थ शुद्ध ब्रह्म है।

(३) व्यवहारिकपक्ष या सृष्टि दृष्टिवाद के पांच भेद हैं (क) विम्व-प्रतिविम्ववाद (ख) कार्यकारणोपाधिवाद (ग) अवच्छिन्न-अनवच्छिन्नवाद (घ) अवच्छेदवाद और (ङ) आभासवाद।

(क) बिम्वप्रतिबिम्ववादकी रीति से अज्ञानोपहित शुद्ध ब्रह्म रूप विम्व ईश्वर 'तत्' पद का वाच्य है और समष्टि-अज्ञान के सम्बन्ध के कारण भ्रान्ति से प्रतिबिम्वरूप हुआ ब्रह्म रूप जीव, 'त्व' पद का वाच्यार्थ है। दोनो पदो का लक्ष्यार्थ, विम्वप्रतिबिम्व भाव की कल्पना से रहित असग शुद्ध चैतन्य है।

(ख) कार्यकारणोपाधिवादकी रीति से मायारूप कारणोपाधिवाला चेतन ईश्वर, 'तत्' का वाच्य और अन्त करणरूप कार्योपाधिवाला चेतन जीव 'त्व' पद का वाच्य है। दोनो पदो का लक्ष्यार्थ दोनो उपाधियो से रहित शुद्ध ब्रह्म है।

(ग) अवच्छिन्नानवच्छिन्नवाद की रीति से अन्त करणानवच्छिन्न चेतन,ईश्वर ('तत्' का वाच्य) और अन्त करणावच्छिन्न चेतन जीव ('त्व' पदका वाच्य) हैं। इन दोनो उपाधियो से रहित शुद्ध ब्रह्म, दोनो पदो का लक्ष्यार्थ है।

(घ) अवच्छेदवाद की रीति से मायाविशिष्ट चेतनरूप ईश्वर 'तत्' पद का वाच्यार्थ है और मायानवच्छिन्न ब्रह्म चेतन 'तत्' का लक्ष्यार्थ है। और अन्तःकरण अथवा व्यष्टि अज्ञान से विशिष्ट चेतनरूप जीव 'त्व' पद का वाच्यार्थ और अन्तःकरण अथवा व्यष्टि-अज्ञानानवच्छिन्नकूटस्थ चेतन 'त्व' पद का लक्ष्यार्थ है। यहा इन दोनो लक्ष्यार्थो–ब्रह्म और कूटस्थ–की अखण्ड एकरसता है।

(ङ) इस ग्रन्थ मे वर्णित आभासवाद की रीति से चिदाभाससहित मायाविशिष्ट चेतनरूप ईश्वर 'तत्' पद का वाच्यार्थ और साभासमायाभाग को त्याग करके, अवशेष शुद्ध ब्रह्म उसका लक्ष्यार्थ है। 'त्व' पद का वाच्यार्थ साभासअन्तःकरण ,अथवा व्यष्टि-अज्ञान अंशविशिष्ट चेतन रूप जीव है। इसका लक्ष्यार्थ साभासअन्तःकरण या व्यष्टि -अज्ञानअंशरूप उपाधिरूप उपाधिभाग का छोडकर अवशेष चेतन अर्थात् कूटस्थ है। इन दोनो लक्ष्यार्थो–कूटस्थ और ब्रह्म–का अखण्ड एक रसता है।

इन सब प्रक्रियाओ का तात्पर्य एक ही–अर्थात् जीव भाव, ईश्वर भाव और जगत् का आरोप करके उनके निराकरण द्वारा अद्वैत ब्रह्म का बोध कराना है। जिस मुमुक्षु को जिस रीति से अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान हो, उसके लिए वही उपयुक्त है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य मे जो वाच्य-लक्ष्य की रीति दिखाई है वही शेष तीन महावाक्यो मे भी समझनी चाहिए। इस प्रकरण मे दो दो पदो के लक्ष्यार्थ बताकर जो एकता समझाई है, मुमुक्षु के लिए वही उपादेय है, परन्तु वाच्यार्थ के ज्ञान के विना उसमे प्रदिष्ट लक्ष्यार्थ का भी ज्ञान नही हो सकता अतएव वाच्य-लक्ष्य दोनो अर्थो का उल्लेख किया है।

इन चार महावाक्यो में क्रमश. विद्यमान 'प्रज्ञान' 'अहं' 'त्व' और 'अयम्' इन चार विशेषणो वाला, आत्मा, इन पदो का वाच्यार्थ जीव है और 'ब्रह्म' 'ब्रह्म' 'तत्' और ब्रह्म' इनचार पदो का वाच्यार्थ ईश्वर है। ये जीव और ईश्वर अल्पज्ञतादि तथा सर्वज्ञतादि विरुद्ध धर्म वाले हैं, अतएव, यद्यपि इन दोनो में घटाकाश-मठाकाश की न्याईं एकता असम्भव है, तथापि, घट-मठकी दृष्टिको छोडकर दोनो मे विद्यमान 'आकाश' मात्र की दृष्टि से जैसे एकता सम्भव है वैसे ही लक्षणा से धर्म सहित उपाधिभाग को छोड़कर, जीव-ईश्वर दोनो मे जो लक्ष्यार्थ चेतन मात्र है उसकी एकता सम्भव है।

इन महावाक्यो के दोनो-दोनो पदो मे 'सो यह देवदत्त है' इस दृष्टान्त के समान विरोधीभाग को छाडकर और अविरोधी भाग को ग्रहण करके एकता सभव है अतएव भागत्यागलक्षणा से ही इनके लक्ष्याथ हैं।

ओत-प्रोत भाव की रीति

इस रीति से आचार्य द्वारा दोनो पदो के लक्ष्यार्थ की एकता का वोध कराने पर भी यथार्थ एकता का ज्ञान नही होता और एकता अश मे स्थित माया-अविद्यारूप कारण से परोक्षता और परिच्छिन्नता को भ्रान्ति होती है, उसके निवारणार्थ ओतप्रोत-भाव की रीति करनी चाहिए। वह इस प्रकार है—

'तत्' पदके अर्थ मे परोक्षता की भ्रान्ति के निवारण के लिए 'तत् त्व' (सो तू है)—कहकर 'तत्' पदके अर्थ के उद्देश्य से 'त्व' पदका अर्थ विधेय है और 'त्व' पद के अर्थ मे परिच्छिन्नता भ्रान्ति के निवारणार्थ 'त्व तत्' (तू सो है) मे त्व' पद के अर्थ के उद्देश्य 'तत्' पद की अर्थरूपता विधेय है। क्योकि 'तत् पद के अर्थ 'ब्रह्म' की परोक्षता भ्रान्ति का नाश 'त्व' पद के अर्थ नित्य

अपरोक्षसाक्षीरूपता से होता है और 'त्व' पद के अर्थ 'साक्षी' की परिच्छिन्नताभ्राति का नाश 'तत्' पद के व्यापकब्रह्मरूप अर्थ से होता है। इसी प्रकार 'अह ब्रह्म' 'प्रज्ञान ब्रह्म' 'आत्मा ब्रह्म' इस प्रकार के ज्ञान से तो परिच्छिन्नता नष्ट होती है और 'ब्रह्म अह' 'ब्रह्म आत्मा' इस प्रकार जानने से परोक्षता की हानि होती है।

ओत-प्रोत-भाव की यही रीति श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध ५म अध्याय के १२वे श्लोक में श्री शुकदेवजी ने परीक्षित् राजा को समझाई है।

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के पचम प्रकरण-महावाक्यविवेक

की श्री पीताम्बर शर्मा कृत तत्त्वप्रकाशिका

व्याख्या समाप्त।



अथ चित्रदीपः-६

मङ्गलाचरणम्

वाणीविनायकावीशौ सर्वसिद्धिविधायकौ ।
भवतां भवतां ग्रन्थरचने च सहायकौ ॥

दोनो ईश्वर–सरस्वती और गणपति–सब सिद्धियो को सिद्ध कराने वाले और ग्रन्थरचना मे सहायक हो ।

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पचदश्या नृभाषया ।
कुर्वेऽहं चित्रदीपस्य व्याख्यां तत्वप्रकाशिकाम् ॥

यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ।
परमात्मनि विज्ञेयं तथाऽवस्थाचतुष्टयम् ॥१

अन्वय—यथा चित्रपटे अवस्थाना चतुष्टय दृष्टम् तथा परमात्मनि अवस्थाचतुष्टय विज्ञेयम् ।

अर्थ—जैसे चित्रयुक्त वस्त्र पर आगे कही हुई चार अवस्थायें दीख पडती हैं, इसी प्रकार परमात्मा में भी आगे कही चार अवस्थाए जाननी चाहिए ।

इस श्लोक मे पडा 'परमात्मनि' पद प्रसगगत अर्थ को तो जतलाता ही है, साथ ही, मगल के प्रयोजक मृदग आदि की ध्वनि की भान्ति मगल का भी प्रयोजक है । ग्रन्थकर्त्ता ने चित्रदीप-प्रकरण की रचना को निर्विघ्न समाप्त करने की इच्छा से 'परमात्मनि' पद द्वारा पृथक् अभिन्नतत्त्व का स्मरणरूप मगल ही

---

* अधिष्ठानचेतनरूप वस्त्र पर जगत् रूप चित्र को प्रकाशित करने वाला होने से इस प्रकरण का नाम 'चित्रदीप' है ।

किया है। तथा प्रकरणागत वेदान्तशास्त्र के विषय आदि चार अनुबन्धो के द्वारा उन अनुबन्धो वाले की सिद्धि करना भी अभीष्ट है पर उस निष्प्रपच का निरूपण सीधा तो हो नही सकता इसलिए (१) अध्यारोप और (२) अपवाद की सहायता से इनका वर्णन किया जाता है, इस न्याय के अनुसार परमात्मा मे आरोपित (कल्पित) जगत् की स्थिति कैसी है, इसका स्पष्टीकरण यहां किया गया है ॥१॥

चार अवस्थाओ के नाम

यथा धौतो घट्टितश्च लाञ्छितो रञ्जितः पटः ।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ॥२

अन्वय—यथा पट, धौत, घट्टित, लाञ्छित च रञ्जित. तथा आत्मा चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा च विराट् ईर्यते ।

अर्थ—जैसे, धौत, घट्टित, लाछित और रञ्जित-वस्त्र की ये चार अवस्थाए होती हैं, वैसे ही परमात्मा की भी चार अवस्थाए–चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा और विराट्—हैं ॥२॥

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद्घट्टितोऽन्नविलेपनात् ।
मष्याकारैर्लाञ्छितः स्याद्रञ्जितो वर्णपूरणात्॥३

अन्वय—अत्र: स्वत शुभ्र धौत स्यात, अन्नविलेपनात् घट्टित', मष्याकारै लाञ्छित. स्यात्, वर्णपूरणात् रञ्जित. ।

अर्थ - इनमें से स्वभाव से, किसी अन्य द्रव्य के सयोग के विना ही, (शुभ्र) धुला हुआ, 'धौत' कहलाता है. अन्न से लिप्त,

(१) असर्प रज्जु मे सर्प के आरोप की न्याई वस्तु ब्रह्म मे अवस्तु-अज्ञान और उसके कार्य का आरोप अध्यारोप कहलाता है।

(२) रज्जु का विवर्त सर्प जैसे रज्जुमात्र है वैसे ही अवस्तुरूप-अज्ञान-आदि प्रपच ब्रह्मरूपवस्तुमात्र है यह अपवाद कहलाता है।

मांड दिया हुआ 'घट्टित', स्याही जैसे धब्बों से युक्त, यों ही देव-मनुष्य आदि आकृतियों से भरा, लाञ्छित और यथोचित रंगों से सज्जित एवं पूरित 'रञ्जित' कहलाता है ॥३॥

स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी, सूक्ष्मसृष्टितः ।
सूत्रात्मा, स्थूलसृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः ॥४

अन्वय—परः स्वतः चित्, मायावी तु अन्तर्यामी, सूक्ष्मसृष्टितः सूत्रात्मा, स्थूलसृष्ट्या एव विराट् इति उच्यते ।

अर्थ—परमात्मा स्वतः हो तो चित्, माया से युक्त होने पर अन्तर्यामी, सूक्ष्मसृष्टि से युक्त होने पर सूत्रात्मा और स्थूलसृष्टि के कारण विराट् कहा जाता है ।

अर्थात् परमात्मा जब तक माया और उसके कार्य के सम्बन्ध से रहित हो, स्वरूप से ही हो, तब तक 'चित्' तादात्म्यसम्बन्ध द्वारा माया से युक्त होने पर वही परमात्मा अन्तर्यामी, अपञ्चीकृत पंचभूतों के कार्यभूत समष्टि सूक्ष्म शरीर से संयुक्त होने पर सूत्रात्मा और पंचीकृतपंचभूतों के कार्यभूत समष्टि स्थूल शरीर (ब्रह्माण्ड) रूप उपाधि के योग होने पर विराट् कहलाता है ।

ब्रह्मादिरूप चित्र

ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ता प्राणिनोऽत्र जडा अपि ।
उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते पटचित्रवत् ॥५

अन्वय—अत्र ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ताः प्राणिनः, जडा अपि उत्तमाधमभावेन पटचित्रवत् वर्तन्ते ।

अर्थ—इस परमात्मा में ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (जड़ से ही पत्तों वाले तुच्छ घास आदि) पर्यन्त सब, चेतन (जंगम) एवं अचेतन (स्थावर) प्राणी और गिरि नदी आदि जड़ जगत्,

ऊंच-नीच भाव से ऐसे रह रहे है जैसे वस्त्र पर चित्र विद्यमान रहते हैं।

चित्रार्पितमनुष्याणां वस्त्राभासाः पृथक् पृथक् ।
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः ॥६

अन्वय—चित्रार्पितमनुष्याणा पृथक् पृथक् वस्त्राभासा, चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिता ।

अर्थ—चित्र मे अङ्कित मनुष्यो के ही पृथक्-पृथक् वस्त्र से लगने वाले वस्त्राभास, चित्र के आधारवस्त्र के समान लगने वाले कल्पित किये जाते हैं।

जैसे चित्र मे बनाये गये मनुष्यादि शरीरो के हो विविध रङ्ग के, पर शीतादिको हटाने योग्य न होने के कारण वस्त्र नहीं, अपितु वस्त्राभास (वस्त्र सरीखे दीखने वाले), चित्र के आधार वस्त्र के समान दीखने वाले, कल्पित किये जाते हैं ॥६॥

पृथक् पृथक्चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम् ।
कल्प्यन्ते जीवनामानो बहुधा संसरन्त्यमी ॥७

अन्वय— चैतन्याध्यस्तदेहिनां पृथक्-पृथक् जीवनामान, चिदाभासाः कल्प्यन्ते । अमी बहुधा संसरन्ति ।

अर्थ— चैतन्य में अध्यस्त देहधारियो के पृथक्-पृथक् जीवनाम के चिदाभास कल्पित कर लिए जाते हैं, यही अनेक प्रकार से ससार को भोगते हैं।

परमात्मा मे आरोपित देवादिक के प्रत्येक शरीर के लिए पृथक्-पृथक् जीव नाम का एक-एक चिदाभास कल्पित किया जाता है, पर्वत आदि जडपदार्थों के चिदाभास नही कल्पित करते। (चिदाभास का अर्थ है चेतन न होते हुए भी चेतन की भांति प्रतीति होने वाला।) देवादिक के शरीरो के चिदाभास कल्पित

करने का कारण यह है कि ये जोव, देवादि के शरीरो को प्राप्त कर अनेक प्रकार से जन्ममरणादिरूप से ससार बनाते है, ससार मे अनेक प्रकार से चक्कर लगाते हैं। परमात्मा निर्विकार है, वह संसार मे नही फसता ॥७॥

आत्मा की ससार-प्रतीति का कारण, अज्ञान

वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वदाधारवस्त्रगान् ।
वदन्त्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ॥८

अन्वय—यथा अज्ञाः वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् आधारवस्त्रगान् वदन्ति तथा, जीवससार चिद्गत विन्दु ।

अर्थ—जैसे वस्त्राभास (बनावटी कपडो) में भरे रङ्गो को आधाररूप वस्त्र मे भरे बतलाते हैं ऐसे ही अज्ञानीजन (तथा नैयायिक आदि वादी भी) जीवगत ससार को साक्षीचेतनगत समझते हैं। वे अज्ञान से कहने लगते हैं कि आत्मा ससार में भ्रमण कर रहा है। आत्मा नाम का असग तत्त्व कभी ससार में नही फसता।) ॥८॥

चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते ।
सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासस्तथा नहि ॥९

अन्वय—(यथा) चित्रस्थपर्वतादीनाम् वस्त्राभासो न लिख्यते तथा सृष्टिस्थमृत्तिकादीनाम् चिदाभास. नहि।

अर्थ—जैसे चित्रो मे पर्वत आदि का वस्त्राभास अङ्कित नही होता, ऐसेही सृष्टिस्थ मिट्टी आदि जड पदार्थोंका चिदाभास नही होता—क्योकि ऐसा करने का कोई प्रयोजन (ससाररूप फल) ही नही है।

अविद्या का स्वरूप और उसकी निवृत्ति

संसारः परमार्थोऽयं संलग्नः स्वात्मवस्तुनि ।
इति भ्रान्तिरविद्या स्याद्विद्ययैषा निवर्तते ॥१०

अन्वय—'अय ससारः परमार्थः, स्वात्मवस्तुनि सल्लग्न.' इति भ्रान्ति' अविद्या स्यात्, एशा विद्यया निवर्तते ।

अर्थ—'यह कर्तृत्वादिरूप ससार पारमार्थिक (वास्तविक) है और वह स्वात्मवस्तु में संलग्न अर्थात् आत्मा का धर्म है'' यह भ्राति (अन्यथाबुद्धि) अविद्या, कार्यरूप अज्ञान है। इस अविद्या का निवारण विद्या (ज्ञान) से होता है ॥१०॥

विद्या का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः ।
इति बोधो भवेद्विद्या लभ्यते सौ विचारणात् ॥११

अन्वय—'(अय) ससार. आत्माभासस्य जीवस्य, आत्मवस्तुन. न इति बोध विद्या भवेत्, असौ विचारणात् लभ्यते ।

अर्थ—''यह ससार आत्माभास (चिदाभास) जीव का है, आत्मवस्तु का नही है'' यह ज्ञान ही विद्या है। यह विद्या अध्यात्मविचार (विवेक) करते रहने से मिला करती है ॥११॥

सदा विचारयेत्तस्माज्जगज्जीवपरात्मनः ।
जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते ॥१२

अन्वय—तस्मात् जगत्–जीव–परात्मन सदा विचारयेत्, जीवभाव–जगद्भाव–बाधे स्वात्मा एव शिष्यते ।

इसलिए मुमुक्षुको चाहिए कि वह जगत् जीव और परमात्मा, इन तीन का सदा विचार करे। जीव और जगत् का भी विचार इसलिए कि इनका 'बाध' होने पर ब्रह्म से अभिन्न आत्मा (स्वात्मा) ही शेष रहता है ॥१२॥

'बाध' का अर्थ

नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः ।
नो चेत्सुषुप्तिमूर्च्छादो मुच्येतायत्नतो जनः ॥१३

अन्वय—(किन्तु) बाधः तयोः अप्रतीत न, किन्तु मिथ्यात्व-निश्चयः नोचेत् सुषुप्तिमूर्छादौ जन. अयत्नतः मुच्येत ।

परन्तु 'बाध' उन जीव और जगत् की अप्रतीति को नही कहते अपितु उनके मिथ्या होने के निश्चय को 'बाध' कहते हैं। यदि ऐसा मानोगे तो, सुषुप्ति, मूर्छा, मरण और प्रलय आदि के समय मनुष्य बिना ही प्रयत्न के मुक्त हो जायगा, क्योंकि उस समय बिना ही प्रयत्न के द्वैत की प्रतीति नष्ट हो जाती है अत-एव तत्त्वज्ञान के बिना ही मुक्ति माननी पड़ेगी ॥१३॥

परमात्मावशेष का अर्थ

परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः ।
न जगद्विस्मृतिर्नो चेज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत् ॥१४

अन्वय—परमात्मावशेष अपि तत सत्वत्वविनिश्चय. न जगत्-विस्मृति. । नो चेत् जीवन्मुक्ति न सम्भवेत् ।

अर्थ—परमात्मावशेष (१२ वें श्लोक मे वर्णित 'स्वात्मैव शिष्यते' का अभिप्राय) का अभिप्राय भी परमात्मा को सत्य समझ लेना ही है, परमात्मा के अतिरिक्त सब जगत् को भूल जाना 'परमात्म शेष' का अर्थ नही है, यदि जगत् को भूल जाना ही इसका अर्थ हो तो, 'जीवन्मुक्ति' ही सम्भव न होगी ॥१४॥

विचार की अवधि

परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा ।
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते ॥१५

अन्वय—विचारजा विद्या परोक्षा च अपरोक्षा इति द्वेधा। तत्र अपरोक्षविद्याप्तौ अय विचार समाप्यते।

अर्थ—विचार से उत्पन्न होने वाली विद्या 'परोक्ष और 'अपरोक्ष' दो प्रकार की है, जगत्, जीव और परमात्मा का यह विचार अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति पर समाप्त होता है ॥१५॥

परोक्षज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान का स्वरूप

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥१६

अन्वयः—'अस्ति ब्रह्म' इति वेद तत् परोक्षज्ञानम् एव, चेत् 'अहं-ब्रह्म' इति वेद स साक्षात्कार. उच्यते।

अर्थ—'ब्रह्मतत्त्व है' इतना समझ लेना 'परोक्षज्ञान' है और जव यह जान ले कि "मैं ब्रह्म हूँ" तव इसको साक्षात्कार अथवा अपरोक्ष ज्ञान कहते है ॥१६॥

आत्मतत्त्व का विवेचन

तत्साक्षात्कार सिद्ध्यर्थमात्मतत्त्वं विविच्यते।
येनायं सर्वसंसारात् सद्य एव विमुच्यते ॥१७

अन्वय-येन अय सर्वससारात् सद्य एव विमुच्यते, तत्साक्षात्कार-सिद्ध्यर्थं आत्मतत्व विविच्यते।

अर्थ—जिस साक्षात्कार से, उसके उत्पन्न होते ही, पुरुष मुक्त हो जाता है, उस साक्षात्कार की सिद्धि के लिए आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हैं ॥१७॥

कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा ॥१८

अन्वय–चित्त 'कूटस्थ', ब्रह्म, जीवेशौ' इति चतुर्धा। यथा घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशभ्रखे।

अर्थ–कूटस्थ, ब्रह्म, जीव और ईश्वर-एक ही चैतन्य के वे चार प्रकार हैं।* जैसे एक ही अकाश के घटाकाश, महाकाश, जलाकाश और अभ्र–(मेघ)–आकाश ये चार भेद हैं।

घटोपहित घटाकाश और घटानवविच्छन्न महाकाश को सब जानते ही है–अतएव जलाकाश का स्वरूप बताते हैं–

घटावच्छिन्नखे नीरं यत्तत्र प्रतिबिम्बितः।
साभ्रनक्षत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते॥१९

अन्वय–घटावच्छिन्नते यत् नीर तत्र प्रतिबिम्बित. साभ्रनक्षत्रः आकाश जलाकाश उदीर्यते।

अर्थ–घटोपाधि आकाश मे (घट के भीतर के आकाश) मे जो जल भरा है उसमे मेघ और नक्षत्र सहित जिस आकाश का प्रतिविम्ब -. पडता है उसे जलाकाश कहते है।

---

*वार्तिककार ने शुद्धचेतन, जीवचेतन, अविद्या, अविद्या तथा चेतन का परस्पर सम्बन्ध और पाचो का परस्पर भेद–ये छ अनादि गिनाये हैं। इसलिये कुछ विद्वान् चेतन के तीन ही प्रकार मानते हैं। तीन चेतन के मानने से भी मुमुक्षु को ब्रह्म-आत्मा की एकता का बोध सम्भव है ही, इसलिये कूटस्थ चेतन मानने मे गौरव है। इसलिये कूटस्थ और ब्रह्म का नाम मात्र का ही भेद है–ऐसा मानना चाहिये। विद्यारण्य स्वामी ने स्वय 'दृग्-दृश्य–विवेक' नाम के ग्रन्थ मे कूटस्थ का जीव मे अन्तर्भाव बताया है–इस प्रकार भी चेतन तीन ही सिद्ध होते हैं। समझाने मे सुगमता के हेतु चेतन को चार प्रकार का वर्णन करने मे गौरवदोष नहीं है–यह समझना चाहिये।

-: यहा यह शङ्का हो सकती है कि जलपूर्ण घट मे प्रतिबिम्ब तो

अभ्राकाश का स्वरूप

महाकाशस्य मध्ये यन्मेघमण्डलमीक्ष्यते ।
प्रतिबिम्बतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ॥२०

अन्वय—महाकाशस्यमध्ये यत् मेघमण्डल ईक्ष्यते तत्र जले प्रतिबिम्बतया स्थित मेघाकाशः ।

अर्थ—महाकाश के मध्य जो मेघमण्डल दीख पडता है और उस मेघ मण्डल में जो जल विद्यमान है उस जल मे प्रतिबिम्बित आकाश 'मेघाकाश' कहलाता है ॥२०॥

मेघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम् ।
तत्र खप्रतिबिम्बोऽयं नीरत्वादनुमीयते ॥२१

अन्वय—मेघाशरूप उदक तुशाकार सस्थित, नीरत्वाद् तत्र अय खप्रतिबिम्बः अनुमीयते ।

अर्थ—मेघ का अश रूपी जल तुषार के रूप मे रहता है, जल होने से ही उसमें आकाश के प्रतिबिम्ब का अनुमान कर लिया जाता है ।

यदि यह कहो कि मेघ का जल तो अप्रत्यक्ष है, उसमें आकाश का प्रतिबिम्ब कैसे दीख पड़ेगा ? इसका उत्तर देते हैं—वृष्टिरूप कार्य से वृष्टि के उपादान कारण, सूक्ष्म अवयव अर्थात् बिन्दुरूप जल का अनुमान* होता है और उदक के सद्भावरूप हेतु

घटाकाश ही होगा इसकी निवृत्ति के लिये बादल और नक्षत्र सहित प्रतिबिम्ब का ग्रहण है । फिर जघापरिमाण घट के जल मे जो गंभीरता प्रतीत होती है वह घट भीतर के आकाश में प्रतीत नही होती, अपितु बाहर के आकाश में ही है, अतएव महाकाश का ही वह प्रतिबिम्ब है ।

*यह अनुमान इस प्रकार है—मेघों में जल है, वृष्टिरूपकार्य होने

(लिङ्ग) से उसमे आकाश के प्रतिबिम्ब का भी अनुमान हो जाता है। यह सनुमान इस प्रकार होगा--विवाद का विषय मेघ का जल, आकाश के प्रतिबिम्ब वाला होने योग्य है, क्यो कि जल है, जैसे घट मे स्थित जल। इस अनुमान से मेघ के अश जल मे भी आकाश के प्रतिविम्व की विद्यमानता सिद्ध होती है।

दृष्टान्तरूप चार आकाशो की व्याख्या के पश्चात् घटाकाशस्थानीय कूटस्थ चेतन की व्याख्या करते है-

अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः ।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ॥२२

अन्वय—अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतन कूटस्थ. उच्यते, (स हि)कूटवत् निर्विकारेण स्थित. ।

अर्थ—अधिष्ठान होने से दोनो देहो से घिरा चेतन कूटस्थ कहलाता है, (कूटस्थ इसलिये कि वह) लोहार के ऐरन की भान्ति निर्विकार रहता है ।

चेतन आत्मा, पचीकृत और अपचीकृत भूतो के कार्यरूप स्थूल और सूक्ष्म देहो का अविद्याकल्पित आधार बना रहता है अतएव इन दोनो देहो से अवच्छिन्न आत्मा (जीवसाक्षी) कहलाता है, और जैसे दूसरे लोहो के पोटे जाने का आधारभूत, लुहार का ऐरन स्वय निर्विकार रहने से इसे कूटस्थ कहा जाता है ॥२२॥

कूटस्थ मे कल्पित जो वुद्धि उसमे प्रतिविम्वित, कूटस्थ की वरावरी के जलाकाश स्थानीय, जीव की व्याख्या करते हैं—

से जहाँ वृष्टि होती है, वहा-वहा जल अवश्य है, पर्वत के झरने से गिरे जल बिन्दुओ से युक्त पर्वत की भान्ति ।

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बितः।
प्राणानाँ धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥२३

अन्वय – कूटस्थे बुद्धिः कल्पिता, तत्र चित्प्रतिबिम्बितः प्राणानां धारणात् जीवः। स संसारेण युज्यते।

अर्थ--कूटस्थ में कल्पित की गई बुद्धिमें चेतन का प्रतिबिम्बही जीव है। वह सब प्राणो को धारण करता है इसलिये उसे जीव कहते हैं। वह जीव ही ससार मे फँसा रहता है।

यहा प्रतिबिम्ब का अर्थ है चिदाभास। घटाकाश के आश्रित जलपूरित घट मे महाकाश के प्रतिबिम्ब की भान्ति, कूटस्थ में कल्पित स्थूलदेह रूप घट मे स्थित अन्तःकरण या अविद्याश रूप जल में प्रतीयमान, व्यापक चेतन का प्रतिबिम्ब चिदाभास है। अधिष्ठान कूटस्थ सहित उस चिदाभास को ही जीव कहते हैं।

यहाँ यह आशका है कि रूप सहित आकाश का रूप सहित जल में और रूप रहित लालगुण का रूप सहित दर्पण आदि में यो प्रतिबिम्ब देखा जाता है परन्तु रूपरहित उपाधि मे प्रतिबिंब कहीं नही दीख पडता, इस प्रकार रूप रहित, अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियो के अप्रत्यक्ष अन्तःकरण अथवा अविद्याश मे रूपरहित चेतन का प्रतिबिंब सम्भव ही नही है।

इसका समाधान यह है कि रूपसहित वस्तु मे अवश्य ही प्रतिबिंब हो ऐसा कोई नियम नही है। क्योकि नीलादि रूप सहित घट आदि में प्रतिबिम्ब नही दिखाई देता। हां, स्वच्छ वस्तु मे अवश्य प्रतिबिम्ब दिखाई पडने का नियम है। इसलिए रूप सहित वस्तु में प्रतिबिम्ब का साधक नही है।

अन्तःकरण या अविद्याश रूपसहित है। पर तो भी अत्त्व-गुणयुक्त होने से स्वच्छ है। इसलिये उनमे चेतन का प्रति-बिम्ब है

सच बात तो यह है कि श्रुतिप्रतिपादित विषय मे तर्क असङ्गत है और दृष्ट कल्पानारूप युक्ति तो पुरुष की बुद्धि से कल्पित ही है अतएव, श्रुति प्रतिपादित विषय मे उसका प्रयोग नही करना चाहिये। इसलिये 'रूप रूप प्रतिरूपो वभूव' छाया-तपौ ब्रह्मविदो वदन्ति' इत्यादि श्रुतियो ही से चिदाभास सिद्ध है।

फिर प्राणधारण का नाम ही जीवन है। प्राण के निकलने के पश्चात् जो स्थित नही रह सकती और प्राण की शरण मे रहने के कारण जिन्हे प्राण कहा जाता है, उन वाणी आदि इन्द्रियो की शरीर मे स्थिति का कारण प्राणधारण है ॥२३॥

जीव और कूटस्थ क अन्योन्याध्यास

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते ॥२४

अन्वय–यथा जलव्योम्ना घटाकाश॰ सर्वत तिरोहित तथा जीवेन कूटस्थ. स॰ अन्योन्याध्यास उच्यते।

अर्थ—जैसे जलाकाश से घटाकाश सारा ढका रहता है वैसे ही जीव से कूटस्थ (आवृत रहता है) इसका नाम अन्योन्या-ध्यास है।

जव कूटस्थ जीव से भिन्न है,तव वह प्रतीत क्यो नही होता? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि वह जीव से ऐसे आवृत रहता है जैसे जलाकाश से घटाकाश। और इस तिरोधान का नाम शारीरिक भाष्य आदि मे 'अन्योन्याध्यास' वताया है ॥२४॥

आध्यास का कारण—भेदाप्रतीतिरूप अविद्या

अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन ।
अनादिरविवेकोऽयं मूलविद्येति गम्यताम् ॥२५

अन्वय—अय जीव कदाचन कूटस्थ न विविनक्ति अय अनादि. अविवेक. मूलाविद्या इति गम्यताम् ।

अर्थ—यह जीव कभी भी अपने कूटस्थरूप को पहचानता नही, यह अनादि काल का अविवेक (कार्यअज्ञान) 'मूलाविद्या' है--ऐसा जानो । (इस अविद्या से ही अन्योन्याध्यास की उत्पत्ति हुई है) ।

२३ वें श्लोक में जीव को अविद्या से कल्पित कहा है, इसको स्पष्ट करने के लिए अविद्या के भाग बताते हैं—

विक्षेपावृतिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यापादनमावृतिः ॥२६

अन्वय—विक्षेपाऽऽवृतिरूपाभ्यां द्विधा अविद्या व्यवस्थिता, कूटस्थः 'न भाति' 'न अस्ति' इति अपादान आवृति. ।

अर्थ—उस अविद्या के 'विक्षेप' और 'आवृत्ति' ये दो भेद हैं । 'कूटस्थ न तो प्रतीत होता है' 'ना ही वह है ही' इस मिथ्या-व्यवहार का हेतु 'आवृति-अविद्या' अथवा 'आवरण' है ।

'आवृति-अविद्या' विक्षेप की हेतु है–अतएव उसका लक्षण पहले किया गया है ।

अविद्या और उसके कार्य आवरण के सद्भाव में क्या प्रमाण है ? यह बताते हैं ।

अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्ध्वा वदत्यपि ॥२७

अन्वय—विदुषा पृष्ट अज्ञानी 'कूटस्थ न प्रबुध्यते'। अपितु 'न भाति न अस्ति' इति बुध्वा वदति।

अर्थ—ज्ञानी जब अज्ञानी से पूछता है कि 'तू कूटस्थ को जानता है या नही तब "मैं कूटस्थ को नही जानता" यह उत्तर वह अनुभव के आधार पर ही देता है। यह अविद्या का अनुभव है। फिर वह केवल अज्ञान का अनुभव ही नही बताता अपितु 'कूटस्थ नही है और भासमान भी नही होता' यह बात कूटस्थ के अभाव को और उसकी अप्रतीति को अनुभव के कारण ही बताता है–यही आवरण का अनुभव है। इसलिए अविद्या और आवरण दोनो मे अनुभव प्रमाण है।

(शका) वेदान्तमत से आत्मास्वप्रकाश है उसमे अविद्या का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? क्योकि प्रकाश और अन्धकार की भाति आत्मा और अविद्या परस्पर विरुद्धस्वभाव के है फिर उनका सम्बन्ध कैसा ? जब अविद्या का ही अभाव है तो उसका किया आवरण कैसे होगा ? जब आवरण नही हुआ तो उसके कारण होने वाला विक्षेप भी सिद्ध नही होगा। विक्षेप के अभाव में ज्ञान मे नष्ट होने वाला अनर्थ भी नही होगा और इस प्रकार ज्ञान ही जब व्यर्थ होगा तो उसका प्रतिपादक शास्त्र भी अप्रमाण होगा। इन प्रश्नो का उत्तर देते हैं —

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृतिः।
इत्यादितर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ ॥२८

अन्वय—'स्वप्रकाशे अविद्या कुत ? ता विना आवृति कथम् ?" इत्यादि तर्कजालानि असौ स्वानुभूति ग्रसति।

अर्थ—"आत्मा मे अविद्या कहा से आयी ? तथा अविद्या के विना आवरण कैसे हुआ ?" इत्यादि तर्कों को तो (पहले श्लोक

मे प्रदर्शित) स्वानुभव ग्रस लेता है।

जो वस्तु दृष्ट अर्थात् अनुभूत होती है उसको असिद्ध या असम्भव नही माना जाता।

अनुभव विरुद्ध तर्क का अनादर

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः।
कथं वा तार्किकंमन्यस्तत्त्वनिश्चयमाप्नुयात् ॥

अन्वय—स्वानुभूतौ अविश्वासे तर्कस्य अपि अनवस्थितेः तार्किकम्मन्य तत्त्वनिश्चय कथ वा आप्नुयात्।

अर्थ—यदि अपने अनुभव पर विश्वास नही किया जायगा तो तर्क की भी स्थिति नही होगी—इससे अपने आपको तार्किक मानने वाला किस प्रकार तत्त्वनिश्चय पर पहुँचेगा ? किसी भी प्रकार नही।

वादी कहता है कि २७ वें श्लोक में वताया गया अनुभव २८ वें श्लोक मे वर्णित तर्क से विरुद्ध है अतएव वह आभासमात्र है और उससे निश्चय नही हो सकता–इसके उत्तर मे कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है, क्योकि यदि तार्किक स्वानुभव को ही प्रमाण न मानेगा और केवल तर्क को ही निश्चायक मानेगा तो फिर उसे तत्वज्ञान ही न होगा क्योकि तर्क तो अनवस्थित है। जो जितना वडा तार्किक होता है उसका तर्क उतना प्रवल होता है। अपना अनुभव ही एक ऐसी वस्तु है जिससे किसी वात का निर्णय हो सकता है ॥२९॥

यद्यपि, अनुभव से तत्व का निश्चय होता है तथापि, अनुभव किये तत्व की सभावितता के लिए तर्क आवश्यक है, ऐसा कहने वाले वादी को कहते हैं–

बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेदपेक्षेत तथा सति।

स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम् ॥३०

अन्वय— बुद्ध्यारोहाय तर्क अपेक्षत चेत् तथासति, स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यताम्, मा कुतर्क्यताम् ।

अर्थ—बुद्धि मे पदार्थ के आरूढ होने के लिए जब तर्क की अपेक्षा है तो अपने अनुभव के अनुसार ही तर्क करना चाहिए, कुतर्क नही करना चाहिए ॥३०॥

वह अनुभव कौनसा है ? बताते है —

स्वानुभूतिरविद्यायामावृतौ च प्रदर्शिता ।
अतः कूटस्थचैतन्यमविरोधीति तर्क्यताम् ॥३१
तच्चेद्विरोधि केनेयमावृतिर्ह्यनुभूयताम् ।

अन्वय—अविद्याया च आवृतो स्वानुभूति प्रदर्शिता । अतः 'कूटस्थचैतन्य अविरोधि' इति तर्क्यताम् । तत् विरोधि चेत् इह आवृति केन अनुभूयताम् ?

अथ—अविद्या और आवृति विषयक अनुभव का वर्णन (२७ वें श्लोक में) कर चुके है । इसलिए कूटस्थ चैतन्य अविद्या और आवरण का विरोधी नही है, ऐसी तर्कणा करनी चाहिए ॥३१॥

यदि कूटस्थचैतन्य विरोधी हो तो इस आवरण को कौन अनुभव करेगा, उसको बताओ ?

अविद्या और आवरण का साधक चैतन्य ही यदि उनका विरोधी हो तो "कूटस्थ का मैं नही जानता हूँ" इस आकारवाली अविद्या की प्रतीति ही न होगी, जब यह प्रतीति होती है तब यह मानना पडता है कि कूटस्थ अविद्या का विरोधी नही है ॥३२॥

तब अविद्या का कौन विरोधी है ? इसका उत्तर देते हैं—

विवेकस्तु विरोध्यस्यस्यास्तत्त्वज्ञानिनि दृश्यताम् ॥

अन्वय—विवेक तु अस्या. विरोधी । तत्त्वज्ञानिनि दृश्यताम् ।

अर्थ—विवेक अर्थात् उपनिषद्विचारजन्य ज्ञान इस अविद्या का विरोधी है। और वह अविद्या का विरोधी विवेक तत्त्वज्ञानी मे स्पष्ट ही देख लो ॥३२॥

अविद्या और आवरण की व्याख्या कर अब विक्षेपाध्यास का वर्णन है:-

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः।
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एव हि ॥३३

अन्वय—अविद्यावृतकूटस्थे शुक्तौ रूप्यवत् अध्यस्ता देहद्वययुता चिति विक्षेपाध्यास एव।

अर्थ—पूर्वोक्त अविद्या और आवरण वाले कूटस्थरूप प्रत्यगात्मा मे, सीपी मे चादी की भ्रान्ति, आरोपित सूक्ष्म दोनो देहो से युक्त चिदाभास का नाम ही विक्षेपाध्यास है ॥३३॥

विक्षेप को अध्यास सिद्ध करने के लिए इसकी शुक्तिरजताध्यास के साथ साम्यता दिखाते हैं—

इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते।
स्वयंत्वं वस्तुता चैवं विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम् ॥३४

अन्वय—शुक्तिग इदमश च सत्यत्व रूप्ये ईक्ष्यते एव अन्यग स्वयत्वं वस्तुता च विक्षेपे वीक्ष्यते।

अर्थ—शुक्तिगत इद अश और सत्यत्व जैसे चादी मे दिखाई देते है ऐसे ही अन्यग अर्थात् कूटस्थगत आपपना और वस्तुपना (सत्यपना) ये दोनो धर्म विक्षेप अर्थात् चिदाभास मे दिखाई देते हैं।

'इद अश' का अर्थ है सन्मुख देश मे तथा वर्तमान काल मे स्थिति और अबाध्यता–शुक्ति के ये दोनो धर्म जैसे आरोपित चादी मे दीखने लगते हैं वैसे ही, कूटस्थ मे स्थित स्वयपना और सत्यत्व ये दोनो धर्म आरोपित चिदाभास मे दीखते हैं—

इस प्रकार शुक्ति कूटस्थ दोनो मे* सामान्याश की प्रतीति दिखाकर दोनों मे विशेष अश की अप्रतीति दिखाते है—

नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथा शुक्तौ तिरोहितम् ।
असङ्गानन्दताद्यैवं कूटस्थेऽपि तिरोहितम् ॥३५

अन्वय—यथा शुक्तौ नीलपृष्ठत्रिकोणत्व तिरोहितम् । एव कूटस्थे अपि असङ्गाऽऽनन्दतादि तिरोहितम् ।

अर्थ—जसे सीप का नीला पृष्ठ और त्रिकोणपना (ये दोनो विशेषअश) ढक गये हैं इसी प्रकार कूटस्थ में से भी असङ्गता और आनन्दता आदि -: विशेष अश तिरोहित हो गये हैं॥३५॥

अन्य साम्य दिखाते हैं:—

आरोपितस्य दृष्टान्ते रूप्यं नाम यथा तथा ।
कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहमिति निश्चयः ॥३६

अन्वय—यथा दृष्टान्ते आरोपितस्य रूप्य नाम, कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामा 'अह, इति निश्चय. ।

अर्थ—जैसे दृष्टान्त सोपी मे आरोपित पदार्थ का नाम 'चादी' है, ऐसे ही दार्ष्टान्त कूटस्थ मे कल्पित चिदाभासरूप विक्षेप का नाम 'अह अर्थात् मैं है, यह निश्चय है ॥३६॥

सामने पडी सीप मे इन्द्रिय सन्निकर्ष से 'चादी है' इस प्रकार

---

* सामान्याश अथवा आधार वह है जो भ्रान्ति के साथ ही प्रतीत होता है और जिसकी प्रतोति के बिना भ्रान्ति नही होती : दृष्टान्त मे 'इदअश' और अबाध्यता, सामान्य अश है और सिद्धान्त मे स्वयपना और वास्तवपना सामान्य अश है ।

:- भ्रान्तिकाल में जिसकी प्रतीति न हो और जिसकी प्रतीति होने पर भ्रान्ति दूर हो वह विशेष अश कहलाता है । इसी को अधिष्ठान भी कहते हैं ।

का एक अतिरिक्त 'रजतज्ञान' उत्पन्न होता है—यहां कूटस्थ में वह कैसे होता है, यह दिखाते हैं—

इदमंशं स्वतः पश्यन् रूप्यमित्यभिमन्यते ।
तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहमित्यभिमन्यते ॥३७

अन्वय—इदमंश स्वत पश्यन् रूप्य इति अभिमन्यते तथा स्वं स्वतः पश्यन् 'अहम्' इति अभिमन्यते ।

अर्थ – जैसे 'इद' भाग को स्वत देखता हुआ पुरुष भी झूठ-मूठ 'चादी है' ऐसा मान लेता है ऐसे स्वयं को निजरूप से देखकर 'मैं' ऐसा मान लेता है ॥३७॥

(शंका) 'स्वय' और 'अहं' शब्द तो एकार्थक हैं, फिर शुक्ति और आत्मा की समता कैसे सिद्ध होगी ? इसका उत्तर देते हैं—

इदंत्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वांहन्ते तथेष्यताम् ।
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्रापि गम्यते ॥३८

अन्वय—(यथा) इदंत्वरूप्यते भिन्ने तथा स्वत्वाहंते इष्यताम्, सामान्य च विशेष च उभयत्र अपि गम्यते ।

अर्थ—जैसे 'यह पना' और 'रूप्यपना' दोनों भिन्न हैं ऐसे ही 'स्वयता' और 'अहता' भी परस्पर भिन्न हैं (दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनो में ही) ये क्रमशः सामान्य और विशेषरूप हैं ॥३८॥

स्वयशब्द का सामान्यरूप से लौकिकव्यवहार दर्शाते हैं—

देवदत्तः स्वयं गच्छेत् त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा ।
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ॥३९

अन्वय—'देवदत्त. स्वय गच्छेत्' तथा 'त्व स्वय वीक्षस्व' अहं स्वयं न शक्नोमि' इति एव लोके प्रयुज्यते ।

अर्थ—'देवदत्त अर्थात् अमुक पुरुष (स्वयं) आप जाता है' 'तू आप देख' 'मैं स्वय समर्थ नही हूँ' इस प्रकार के प्रयोग लोक

में होते हैं। (इन प्रयोगो से स्पष्ट है कि 'स्वय' सामान्य रूप का 'अह' विशेषरूपहोता है) ॥३६॥

इदं रूप्यमिदं वस्त्रमिति यद्वदिदं तथा।

असौ त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते ॥४०

अन्वय—'इद रूप्यम्' 'इद वस्त्रम्' इति यद्वत् इद तथा 'असौ, त्व, अहम्' एषु, 'स्वय' इति अभिमन्यते।

अर्थ—"यह रूप्य है', यह वस्त्र है' यहा जैसे सर्वत्र इद शब्द का प्रयोग होने से उसके अर्थ की समान्यरूपता मानी जाती है, इसी प्रकार असौ (वह), त्व (तू) और अह (मैं) इन तीनो के साथ स्वयं का प्रयोग उसके अर्थ की सामान्य रूपता को दर्शाता है।

स्वय शब्द का अर्थ कूटस्थ है, भिन्न नही

अहत्वाद्भिद्यतां स्वत्वं कूटस्थे तेन किं तव।

स्वयंशब्दार्थ एवैष कूटस्थ इति मे भवेत् ॥४१

अन्वय—स्वत्व अहत्वात् भिद्यता, तेन कूटस्थे तव किम्? "स्वयं-शब्दार्थ एव एष कूटस्थ" इति मे भवेत्।

अर्थ—स्वपन, अहपन से भिन्न रहे इससे तेरे कूटस्थ (आत्मा) मे क्या सिद्ध हुआ? इसका उत्तर यह है कि 'सामान्य रूप जो जो स्वय शब्दार्थ है वही कूटस्थ है' यह मेरी बात सिद्ध हो जाती है ॥४१॥

अन्यत्ववारकं स्वत्वमिति चेदन्यवारणम्।

कूटस्थस्यात्मतां वक्तुरिष्टमेव हि तद्भवेत् ॥४२

अन्वय—'अन्यत्ववारक स्वत्व' इतिचेत्? तत् अन्यवारण कूटस्थ-स्थस्यात्मता वक्तु, इष्ट एव।

अर्थ—यदि कहो स्वत्वरूप धर्म तो अन्य का निवारण करता

है, (वह कूटस्थपने का बोध नही कराता है) तो ऐसा कहना अर्थात् अन्यत्वका वारण, कूटस्थ को आत्मा बताने वाले मुझे, अभीष्ट ही है।

यहा शका यह है कि जो 'स्व' है वह अन्य नही हो सकता फिर वह स्वत्वरूपधर्म, कूटस्थता का बोध कैसे होन देगा ? समाधान यह है कि स्वय शब्द का अर्थ कूटस्थ तत्त्व ही हमारा अभीष्ट आत्मा है, यदि स्वत्व से अन्य (अनात्मा) का वारण हो जाता है तो आत्मा तो स्वय शेष रह जाता है–और यही अभीष्ट है ॥४२॥

स्वय और आत्मा शब्द पर्याय हैं–यह दिखाते हैं–

स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह ।
प्रयोगोनास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम्॥४३

अन्वय—'स्वय आत्मा' इति पर्यायौ, तेन लोके तयो. सह प्रयोगः न अस्ति। अत स्वत्व च आत्मत्व च अन्यवारकम्।

अर्थ—स्वय और आत्मा शब्द दोनो आपस में हस्त और कर भान्ति पर्याय हैं। इसीलिए लोक मे इनका एक साथ प्रयोग नही होता। इसलिए स्वत्त्व और आत्मत्व दोनो शब्द अन्यत्व के वारक है ॥४३॥

घटः स्वयं न जानातीत्येवं स्वत्वं घटादिषु।
अचेतनेषु दृष्टं चेद्दृश्यतामात्मसत्त्वतः ॥४४

अन्वय—'घट. स्वय न जानाति' इति एव घटादिषु अचेतनेषु अपि स्वत्व दृष्ट चेत् ? दृश्यताम् आत्मसत्त्वत ।

अर्थ यदि कहो कि घट स्वय नही जानता' इस रूप मे अचेतन घटादि पदार्थो मे भी स्वत्व देखा जाता है, फिर स्वत्व और आत्मत्व एक कैसे हुए ? इसका उत्तर देते हैं—उसमे स्वय-

पना दीखता है तो दीखे-क्योकि उनमे भी भातिरूप-स्फुरण रूप से आत्मचैतन्य रहता है।

जब घटादि जड पदार्थों मे भी आत्मचैतन्य मान लिया तो फिर चेतन और अचेतन का भेद किस कारण से होगा ? इसका उत्तर देते हैं :-

चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता न हि।
किंतु बुद्धिकृताऽऽभासकृतैवेत्यवगम्यताम् ॥४५

अन्वय- चेतन,चेतनभिदा कूटस्थात्मकृता न हि, किन्तु बुद्धिकृता ऽऽभासकृता एव इति अवगम्यताम्।

अर्थ—चेतन और अचेतन का भेद कूटस्थ आत्मा का किया हुआ नही है किन्तु बुद्धिकृत आभास (चिदाभास) का किया हुआ है। बुद्धि के अधीन चेतन का प्रतिबिम्ब ही उनके भेद का कारण है ॥४५॥

चेतनाचेतन का विभाग चिदाभास की सत्ता और असत्ता से ही माना जाय तो फिर अचेतनो मे आत्मा का स्वीकार करना निष्प्रयोजन होगा ? इसका उत्तर देते हैं :—

यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः।
अचेतनो घटादिश्च तथा तत्रैव कल्पितः ॥४६

अन्वय—यथा कूटस्थे चेतन आभास भ्रान्तिकल्पित तथा तत्र एव अचेतन. घटादि च कल्पित।

अर्थ—जैसे कूटस्थ में चेतन का आभास भ्रान्ति से कल्पित है इस प्रकार अचेतन घट आदि भी उसी कूटस्थ मे भ्रान्ति से कल्पित हैं।

अर्थात् यह ठीक है कि चेतन और अचेतन के विभाग का हेतु कूटस्थ नही है परन्तु वह कूटस्थ अचेतन पदार्थों की कल्पना

का अधिष्ठान तो ठीक वैसे ही है जैसे कि वह चिदाभास की कल्पना का अधिष्ठान है, इस कारण अचेतनों में भी आत्मा की सत्ता को मानना निष्प्रयोजन नहीं है ॥४६॥

स्व और आत्मा को एक मानने में दोष

तत्तेदन्ते अपि स्वत्वमिव त्वमहमादिषु ।
सर्वत्रानुगते तेन तयोरप्यात्मतेति चेत् ॥४७

अन्वय—'तत्तेदन्ते' स्वत्व इव 'त्वम्' 'अहम्' आदिषु सर्वत्र अनुगते तेन तयोः अपि आत्मता' इति चेत् ?

अर्थ—जैसे तुम 'त्वम्' (तू) 'अहम्' (मैं) आदि मे सर्वत्र रहने वाले स्वपन (स्वत्व) को आत्मा मानते हो, 'तत्ता' (वह पन) और ,इदन्ता (यह पन) भी इसी प्रकार सर्वत्र अनुगत हैं : उनको भी आत्मा मानना पड़ेगा । इनका समाधान करते हैं :–

ते आत्मत्वेऽप्यनुगते तत्तेदन्ते ततस्तयोः ।
आत्मत्वं नैव संभाव्यं सम्यक्त्वादेर्यथा तथा ॥४८

अन्वय—ते तत्तेदते आत्मत्वे अपि अनुगते, तत. तयो आत्मत्व न एव सम्भाव्यम् । यथा सम्यक्त्वादेः तथा ।

अर्थ—वे 'तत्ता' और 'इदन्ता' आत्मपन मे भी अनुगत हैं, इसलिये उनकी आत्मारूपता सम्भव नही है जैसे सम्यक्त्व (समीचीनता) आदि को आत्मस्वरूपना सम्भव नही है वैसे ।

'तत्ता' और 'इदन्या' स्वयपन की भान्ति 'त्व' 'अहम्' में तो अनुगत हैं हो, पर 'त्व' और 'अहम्' में अनुस्यूत जो आत्मता है उसमें भी वे अनुगत हैं । "तदात्मत्वम्" 'इद आत्मत्वम्' (वह आत्मता, यह आत्मता) इत्यादि व्यवहार सम्भव है ही, अर्थात् 'तत्ता' और 'इदन्ता' आत्मता से अधिक देशवर्ती हैं इसलिये वे आत्मस्वरप नही हैं । इसमें उदाहरण देते हैं कि जैसे 'यह आत्मा

सम्यक् (समीचीन) है' या 'यह असम्यक् (असमीचीन) है' इत्यादि व्यवहार मे आत्मत्व मे भी वर्तमान सम्यक्त्व अथवा असम्यक्त्व की आत्मस्वरूपता नही है वैसे ही 'इदन्ता' और 'तत्ता' की भी आत्मरूपता नही है ॥४८॥

तत्तेदन्ते स्वतान्यत्वे त्वन्ताहन्ते परस्परम् ।

प्रतिद्वन्द्वितया लोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः ॥४९

अन्वय—लोके तत्ता+इदन्ते, स्वता+अन्यत्वे, त्वत्ता+अहन्ते परस्पर प्रतिद्वन्द्वितया प्रसिद्धे (अत्र) सशय न अस्ति ।

अर्थ—लोक में 'वह'—'यह' । स्वयम् दूसरा' 'तू–मैं' परस्पर प्रतिद्वन्द्वी (प्रयोग मे विरोधी) प्रसिद्ध है—इनमे कोई सन्देह नही है । ४९॥

प्रतिद्वन्द्वी होने का यहाँ प्रसङ्ग में क्या परिणाम है ?

अन्यतायाः प्रतिद्वंद्वी स्वय कूटस्थ इष्यताम् ।

त्वन्तायाः प्रतियोग्येषोऽहमित्यात्मनि कल्पितः ॥

अन्वय—अन्यताया प्रतिद्वन्द्वी स्वय कूटस्थ इष्यताम् । त्वन्ताया' प्रतियोगी एष अहम् इति आत्मनि कल्पित ।

अर्थ—अन्यता का प्रतिद्वन्द्वी (बराबरी का) दूसरा जो स्वय है वह कूटस्थ है यह मानो और 'त्वता' का प्रतियोगी (प्रतिद्वन्द्वी) जो यह 'अहम्' है वह आत्मा मे कल्पित है। अर्थात् अन्यपन का प्रतियोगी, स्वय शब्द का अर्थ कूटस्थ है और त्वपन के प्रतियोगी अह शब्द का अर्थ चिदाभास है वह चिदाभास कूटस्थ मे कल्पित है ।

फिर, जीव-कूटस्थ के एकत्व का बोध क्यो ?

अहन्तास्वत्वयोर्भेदे रूप्यतेदन्तयोरिव ।

स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे ॥५१

अन्वय—रूप्यतेन्दन्तयोः इव अहन्तास्वत्वयो. भेदे स्पष्टे अपि मोहं आपन्ना एकत्व प्रपेदिरे।

अर्थ—रूप्यता और इदन्ता की भान्ति अहन्ता और स्वयंता में भेद स्पष्ट है . फिर भी भ्रान्ति में पड़े जीव उनको एक समझते हैं।

वुद्धि का साक्षी कूटस्थ वुद्धि से प्रत्यक्ष तो हो नही सकता इसलिये 'अहम्' रूप वृत्ति मे भासमान जो दोनो जीव और कूटस्थ हैं उनको अज्ञजन भ्रान्ति से एक मान लेते हैं। 'अह' से एक ही समय मे चिदाभास और कूटस्थ की प्रतीति होती है। 'भेद इतना ही है कि चिदाभास तो कूटस्थ के विषय रूप मे प्रतीत होता है और कूटस्थ अर्थात् आत्मा, अहवृत्तिसहित चिदाभास को प्रकाशित करता हुआ स्वय प्रकाशता से प्रतीत होता है ॥५१॥

जीव कूटस्थ की एकता की भ्रान्ति का कारण अविद्या

तादात्म्याध्यास एवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः।
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते ॥५२

अन्वय—तादात्म्याध्यास अत्र पूर्वोक्ताविद्यया एव कृतः। अविद्यायां निवृत्ताया तत्कार्यं विनिवतते ।

अर्थ.—यह तादात्म्याध्यास (जीव और कूटस्थ की एकता का भ्रम) इस प्रकरण के 'अनादिरविवेकोयम्' इस २५ वें श्लोक में वर्णित अविद्या का किया हुआ है,जीव और कूटस्थ की एकता का भ्रम अविद्या का कार्य है। अतएव अविद्या के निवृत्त हो जाने पर (उसकी निवृत्ति करने वाले ज्ञान से) उसका कार्य भ्रम भी नष्ट होजाता है ॥५२॥

अविद्या का कार्य होने के कारण अध्यास 'अविद्या की निवृत्ति से हट जाता है यह सिद्ध नही होता, क्योकि हम देखते

है कि ब्रह्म और आत्मा की एकतारूप ज्ञान के उत्पन्न होने पर भी अविद्या के कार्य देह आदि वर्तमान रहते ही है। इस शङ्का का समाधान करते हैं —

अविद्यावृतितादात्म्य विद्ययैव विनश्यतः ।
विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥५३

अन्वय—अविद्यावृतितादात्म्ये विद्यया एव विनश्यत । विक्षेपस्य स्वरूप तु प्रारब्धक्षय ईक्षते ।

अर्थ—अविद्याकृत आवरण और तादात्म्य (जीव कूटस्थ की एकता का भ्रम) ये दोनो तो मुख्यतया अविद्या के कार्य होने के कारण) विद्या से ही नष्ट हो जाते है परन्तु विक्षेप का स्वरूप तो प्रारब्ध की अपेक्षा करता है।

स्थूल सूक्ष्म शरीर सहित चिताभास को विक्षेप कहते है, उस विक्षेप का स्वरूप प्रारब्ध कर्मोपाधि सहित अविद्या से जन्य है, उसमे अविद्या और कम दोनो कारण हैं, अतएव कर्म के अवसान-पर्यन्त विक्षेप तो रहेगा ही इसीलिए ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञानहो जाने पर भी देहादिक की उपलब्धि होती रहती है ॥५३॥

प्रारब्धकर्म तो निमित्त मात्र हैं, वे चाहे बने रहे, उपादान कारण अविद्या है उसके नष्ट हो जाने पर भी कार्यरूपविक्षेप कैसे बना रहता है? इसके उत्तर मे न्याय मे प्रसिद्ध दृष्टान्त दिखाते हैं:—

उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते ।
इत्याहुस्तार्किकास्तद्वादस्मकं न संभवेत् ॥५४

अन्वय—'उपादाने विनष्टे अपि क्षण कार्य प्रतीक्षते' इति तार्किका आहु । तद्वत् अस्माक कि न सम्भवेत् ।

अर्थ—तार्किक कहते हैं कि उपादान के नष्ट हो जाने पर भी

कार्य क्षणभर ठहरा रहता है : (जब तार्किकों ने अपने कार्य-कारणभाव को सिद्ध करने के लिये यह बात मानली है तब) उनके समान हमारे सिद्धान्त में भी विक्षेप का बना रहना सम्भव क्यों नहीं है ?

तन्तूनां दिनसंख्यानां तैस्तादृक् क्षण ईरितः ।

भ्रमस्यासंख्यकल्पस्य योग्यः क्षण इहेष्यताम् ॥५५

अन्वय—तैं दिनसंख्यानां तन्तूनां तादृक् क्षण ईरितः, इह असंख्यकल्पस्य भ्रमस्य योग्यः क्षण इष्यताम् ।

अर्थ—उन नैयायिकों ने, जैसे, दिनों में गिने जाने योग्य तन्तुओं का क्षण वैसा ही (छोटा सा क्षण मान लिया है वैसे यहां भी असंख्य-कल्पों की आयु वाले भ्रम के योग्य क्षण को (उसी अनुपात में लम्बा) मानना चाहिये ।

संसार तो आदिकाल से चला आ रहा है, संस्कारवश वह भ्रमरूप संसार अविद्यारूप उपादान के नष्ट हो जाने पर भी चिरकाल अर्थात् प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति तक ऐसे ही बना रहता है जैसे कि कुलाल का चक्का एक बार घुमाकर छोड़ देने पर भी देर तक घूमता रहता है ॥५५॥

नैयायिकों की भान्ति तुम्हारा कथन भी तो अयुक्त है ? इस आशङ्का का उत्तर देते हैं :—

विना क्षोदक्षमं मानं तैर्वृथा परिकल्प्यते ।

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किं नु दुःशकम् ॥५६

अन्वय—क्षोदक्षमं मानं विना तैः वृथा परिकल्प्यते श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः वदतां किं नु दुःशकम् ।

अर्थ—विचार करने पर भी बने रहने वाले प्रमाणान्तर के विना ही उन नैयायिकों ने व्यर्थ ही कल्पना कर डाली है परन्तु

श्रुति, युक्ति और अनुभव के आधार पर कहने वाले हमारे लिए क्या कठिनाई है ?

"तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" छादोग्य श्रुति का प्रमाण है अर्थात् ज्ञानी को मोक्ष मे इतनी ही देरी है कि जब तक देहपात नही होता। देहपात होते ही ज्ञानी मुक्त हो जाता है। कुलालचक्र का भ्रमण हमारे सिद्धान्त मे युक्ति है और विद्वानो का अनुभव है ही। अतएव इतने प्रमाणो के रहते प्रारब्धकर्मो की समाप्ति तक विक्षेपका कारण बना रहना हमारे मत मे सिद्ध करना कठिन नही है ॥५६॥

अब पुन प्रसङ्ग पर आते हैं·

आस्तां दुस्तार्किकैः साकं विवादः प्रकृतं ब्रुवे ।
स्वाहमोः सिद्धमेकत्वं कूटस्थपरिणामिनोः ॥५७

अन्वय—दुस्तार्किकै स क विवाद. आस्ताम्,प्रकृत ब्रुवे स्वाहमोः कूटस्थपरिणामिनो एकत्व सिद्धम् ।

अर्थ—अच्छा, कुतार्किको के साथ छिडे इस विवाद को जाने दो, प्रसग की बात को ही कहता हू—स्व का अर्थ कूटस्थ-निर्विकार साक्षी है और अहम् का अर्थ परिणामी-विकारी चिदाभास है। उन दोनो की एकता भ्रान्ति से सिद्ध हो गई ॥५७॥

जब कूटस्थ और जीवकी एकता भ्रान्ति से सिद्ध है तो 'यह भ्रान्ति है' इस बात को कितने ही क्यो नही जानते ? इस प्रश्न का उत्तर देते है—

भ्राम्यन्ते पण्डितम्मन्याः सर्वे लौकिकतैर्थिकाः ।
अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यात्केवलां युक्तिमाश्रिताः ॥५८

अन्वय—पण्डितम्मन्या लौकिकतैर्थिका सर्वे मौर्ख्यात् श्रुतिम् । अनादृत्य केवला युक्ति आश्रिता भ्राम्यन्ते ।

अर्थ—पण्डित न होते हुए भी अपने आपको पण्डित समझने वाले अज्ञानी और नैयायिक आदि शास्त्रवेत्ता जन सब (अपनी) मूर्खता से श्रुति का अनादर कर निरे तर्क का जो कि, उनकी कल्पना ही है, आश्रय लिए चक्कर खा रहे हैं। यदि वे श्रुति के तात्पर्य का विचार करें तो उन्हे ज्ञान हो जाय कि कूटस्थ और जीव की एकता श्रुति सिद्ध है और वे दोनो को एक न मान बैठे ॥५८॥

श्रुत्यर्थ के कुछ वक्ता भी ऐसा क्यो नहीं जानते ?

पूर्वापरपरामर्शविकलास्तत्र केचन ।

वाक्याभासान्स्वस्वपक्षे योजयन्त्यप्यलज्जया ॥५९

अन्वय—तत्र केचन पूर्वापरपरामर्शविकला अलज्जया स्वस्वपक्षे वाक्याभासान् अपि योजयन्ति ।

अर्थ—उन्ही मे से पूर्वापर का विचार करने में असमर्थ कुछ (श्रुत्यर्थ को थोडा जानने वाले) पुरुष अप निर्लज्ज होकर अपने पक्ष (मत) मे वाक्याभासो को भी लगा लिया करते हैं।

पूर्वापरके विरोध से अन्यार्थ बताने वाले वाक्य को वाक्याभास कहते हैं। ५९॥

आत्मा के सम्बन्ध मे अनेक मत

केवलमात्र प्रत्यक्षको प्रमाण मानने वाले लोकायतादि का अतिस्थूल पक्ष

कूटस्थादिशरीरान्तसंघातस्यात्मतां जगुः ।

लोकायताः पामराश्च प्रत्यक्षाभाससमाश्रिताः ॥६०

अन्वय—लोकायता च पामरा. प्रत्यक्षाभासम् आश्रिता कूटस्थादिशरीरसघातस्य आत्मता जगु ।

अर्थ—(चार्वाक के अनुयायी) लोकायत तथा (महामूर्ख)

पामर लोग प्रत्यक्ष का, नही अपितु प्रत्यक्षाभास का आश्रय लेकर कूटस्थ से लेकर शरीरपर्यन्त का जो यह सघात (जमघट्ट) है, इसी को आत्मा कहते रहते हैं।

जैसे 'अह' प्रतीति के द्वारा देह का प्रत्यक्षभान होता है ऐसे ही इन्द्रियो का भी 'अह' प्रतीति मे प्रत्यक्षाभान होता है। इसलिए देह को विषय करने वाला प्रत्यक्षज्ञान व्यभिचारी होने से प्रत्यक्षाभास ही है ॥६०॥

और वे अपने पक्ष को श्रुति से भी प्रमाणित करते हैं।

श्रौतीकर्तु स्वपक्षं ते कोशमन्नमयं तथा।
विरोचनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे ॥६१

अन्वय—ते स्वपक्ष श्रौतीकर्तुं अन्नमय कोश तथा विरोचनस्य सिद्धान्त प्रतिजज्ञिरे।

अर्थ—वे अपने पक्ष को श्रुतिसिद्ध करने के लिए अन्नमयकोश और प्रह्लादपुत्र विरोचन के सिद्धान्त को प्रमाण स्वीकार करते है। 'अन्नमयकोश' से यहा उसके प्रतिपादक 'स वा एष पुरुषोन्नरसमय' इत्यादि वाक्यो का ग्रहण है। विरोचन का सिद्धान्त 'आत्मैव देहमय' यह वाक्य है। ये लोग इन वाक्यो को प्रमाण तो मानते हैं परन्तु प्रसग के विरोध के कारण इन वाक्यो से अपने पक्ष का उपपादन नही कर पाते ॥६१॥

इन्द्रियात्मवादी दूसरे लोकायतो का सिद्धान्त

जीवात्मनिर्गमे देहमरणास्यात्र दर्शनात्।
देहातिरिक्त एवात्मेत्याहुर्लोकायताः परे ॥६२

अन्वय—परे लोकायता जीवात्मनिगमे अत्र देहमरणस्य दर्शनात् देहातिरिक्त एव आत्मा इति आहु।

अर्थ—(इन्द्रियात्मवादी) कुछ दूसरे लोकायत जीवात्मा के

निकल जाने पर देह को मरा हुआ देखकर कहते हैं कि आत्मा देह से भिन्न ही है ॥६२॥

चार्वाक और लोकायतमत

ये लोग क्रमश वायु आदि चार और आकाश आदि पांच भूतो के सघट्टरूप देह को आत्मा मानते हैं। इसमें निम्न युक्तिया देते हैं–

(१) अह बुद्धि का विषय ही आत्मा है। 'मैं मनुष्यं हूँ' मैं स्थूल हूँ–आदि मे मनुष्यत्व आदि धर्मविशिष्ट स्थूल देह ही अह प्रतीति का विषय है, अतएव देह ही आत्मा है।

(२) अथवा परमप्रीति का विषय ही आत्मा है स्त्री, धन आदि भी इसीलिए मनुष्य को प्यारे हैं कि वे इस देह के उपकारक हैं, अतएव यह देह परमप्रीति का विषय है और इसीलिए वही आत्मा है।

(३) उस देहरूप आत्मा का स्नान, मजन, अजन, वस्त्राभूषण और नानाविध भोजन से शृङ्गार पोषण जन्य भोग्य ही परमपुरुषार्थ है।

(४) मरण ही मोक्ष है। केवलमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है–अन्य कोई प्रमाण नही आदि, आदि।

चार्वाक मत की असङ्गति

चार्वाकमत को असगति में निम्न युक्तियां हैं–(१) मैं देखता हूँ' मैं सुनता हूँ' इत्यादि प्रयोग से इन्द्रिया भी तो अह प्रतीति की विषय हैं, और 'मेरा देह स्थूल या कृश है' ऐसा कहा जाता है इसलिए देह ममता का विषय भी है। जो ममता का विषय होता है वह 'अहता' का विषय नही होता–अतएव स्थूलदेह अह प्रतीत का विषय है।

(२) जैसे स्त्री पुत्र आदि से देह मे अधिक प्रीति होती है वैसे देह से अधिक प्रीति इन्द्रियो मे होती है, अतएव देह परमप्रीति का विषय नही है। फिर चेतन ही आत्मा होता है, क्यो कि भूतो का सघात रूप देह चेतन है नही, अतएव वह आत्मा भी नही है।

चार्वाक आदि का यह कहना कि कत्था-चूने से पान रग देने लगता वैसे भूतसमुदायदेह में ज्ञानशक्ति सम्भव है—ठीक नही है, क्योकि तो भूतसमुदाय घट मे भी चेतनता होनी चाहिए। और सुषुप्तिमूर्छामरण आदि अवस्थाओ मे देह घट की भाति जड़ हो ही जाता है, अतएव देह जड़ ही है और जड होने से आत्मा नही है।

फिर यदि देह को आत्मा माने तो बालक शरीर से भिन्न युवाशरीर में मै वही हूँ, यह ज्ञान नही होना चाहिए। देह जन्म मरणशील है—जन्म से पहले और मरण के पीछे देह रहता ही नही, यदि यही आत्मा हो तो उसमे कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष आजायेगे (देखो पचकोश विवेक श्लोक ४)। आदि अनेक युक्तियो से देह अनात्मा सिद्ध होता है।

(३) देह के शृङ्गार व पोषणादिको चार्वाक परमपुरुषार्थ मानते हैं, वह भी ठीक नही है। पुरुष की इच्छा का विषय ही पुरुषार्थ होता है—और सुख की प्राप्ति व दु ख की निवृत्ति ही सब की इच्छा है—वही पुरुषार्थ है। सबसे अधिक सुख और अत्यन्त दु खाभाव परमपुरुषार्थ है। इसी को सिद्धान्ती मोक्ष कहता है। भोग मे सातिशयता आदि दोष हैं, अतएव वह परम-पुरुषार्थ नही हो सकता।

(४) मरण के पश्चात् जला देने पर देहरूप आत्मा ही नही रहता अतएव मरण को मोक्ष कहना तो प्रलाप ही है। अभुक्त

भोजन में तृप्ति हेतु है–इस की सिद्धि अनुमान से होती है, परदेश मे माता-पिता का मरण शब्दप्रमाण से सिद्ध होता है, इसी प्रकार दूसरे प्रमाणो की व्यवहार से सिद्धि होने के कारण केवलमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना हठ और दुराग्रह ही तो है।

इस प्रकार देहात्मवादी चार्वाक का मत असङ्गत सिद्ध होता है।

प्रत्यक्षत्वेनाभिमताहंधीर्देहातिरेकिणम् ।
गमयेदिन्द्रियात्मानं वच्मीत्यादिप्रयोगतः ॥६३

अन्वय—वच्मि इत्यादि प्रयोगत. प्रत्यक्षत्वेन अभिमता अहधी. देहातिरेकिण इन्द्रियात्मान गमयेत् ।

अर्थ—'मैं कहता हूँ, मैं देखता हूँ' इत्यादि प्रयोगो से प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष मानी हुई यह अहबुद्धि देह से भिन्न (अह बुद्धि से गम्य) इन्द्रियो को आत्मा वता रही है ॥६३॥

वे अपने ढङ्ग से इन्द्रियो मे चेतनता भी प्रमाणित करते हैं.—

वागादीनामिन्द्रियाणां कलहः श्रुतिषु श्रुतः ।
तेन चैतन्यमेतेषामात्मत्वं तत एव हि ॥६४

अन्वय —वागादीना इन्द्रियाणा कलह. श्रुतिपु श्रुत. तेन एतेषां चैतन्यम् । तत आत्मत्वम् एव हि ।

अर्थ·– वाक् आदि इन्द्रियो का सम्वाद-विवाद श्रुतियो में सुना गया है—इस कारण वे इन्द्रियाँ चेतन हैं और चेतन होने के कारण ही आत्मा भी हैं। * क्योकि चेननता ही आत्मा का लक्षण है ॥६४॥

---

* चार्वाको में से अन्यतम इन्द्रियात्मवादी का मत भी असङ्गत है। क्योंकि जिसके विना शरीर न रह सके वह आत्मा है। चक्षु आदि इन्द्रियो मे से एक-एक के नष्ट हो जाने पर भी शरीर रहता है अतएव इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं।

हैरण्यगर्भ मत

हैरण्यगर्भाः प्राणात्मवादिनस्त्वेवमूचिरे ।
चक्षुराद्यक्षलोपेऽपि प्राणसत्त्वे तु जीवति ॥६५

अन्वय—प्राणात्मवादिन हैरण्यगर्भा तु एवम् ऊचिरे—चक्षुराद्यक्ष-लोपे अपि प्राणसत्त्वे तु जीवति ।

अर्थ · समष्टि प्राणरूप हिरण्यगर्भ के उपासक जो प्राण को आत्मा मानते हैं, उनका कहना है--चक्षु आदि इन्द्रियो के नष्ट हो जाने पर भी प्राण के रहने तक पुरुष जीवित रहता है--इसलिए प्राण आत्मा है, इन्द्रियाँ आत्मा नही है ॥६५॥

'मैं देखता हूँ सुनता हूँ' आदि मे अहं प्रतीति की विषय इन्द्रियाँ नही हैं अपितु ऐसा कहते हुए वक्ता का अभिप्राय 'मैं नेत्र वाला देखता हूँ' 'मैं कान वाला सुनता हूँ' यह है । इसलिए अहं प्रतीति का विषय इन्द्रियो से भिन्न है ।

'मेरी दृष्टि मन्द है' 'मेरी वाणी स्पष्ट है' इत्यादि प्रयोगो से स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ ममता की विषय हैं अतएव वे अहंता की विषय नही हो सकती । फिर जो जिसको जानता है वह उससे भिन्न होता है जैसे घटद्रष्टा, घट से भिन्न होना है । इस नियम के अनुसार इन्द्रियो की मन्दता को जानने वाला इन्द्रियो से भिन्न मानना पडेगा । पुनश्च मन के व्याकुल होने पर इन्द्रियो मे श्रवणादि व्यापार नही होते अतएव इन्द्रियो की जडता प्रतीत होती है . इसलिए जड होने से भी इन्द्रियाँ आत्मा नही हैं ।

इन्द्रियो की चेतनता के विषय मे तीन पक्ष सम्भव हैं · - (१) एक ही इन्द्रिय चेतन है । (२) इन्द्रियो का समुदाय चेतन है । (३) सब इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् चेतन हैं । ये तीनो ही पक्ष सिद्ध नही होते ।

(१) प्रथम पक्ष इसलिए असिद्ध है जिस भी इन्द्रिय को चेतन मानो उसके बिना भी ज्ञान और जीवन तो विद्यमान रहता ही है ।

प्राणो जागर्ति सुप्तेऽपि प्राणश्रैष्ठ्यादिकं श्रुतम्।
कोशः प्राणमयः सम्यग्विस्तरेण प्रपञ्चितः ॥६६

अन्वय—सुप्ते अपि प्राण जागर्ति प्राणश्रैष्ठ्यादिक श्रुतम् प्राणमयः कोश सम्यक् विस्तरेण प्रपञ्चित'।

अर्थ—इन्द्रियों के सोये रहते भी प्राण जागता है और प्राण की श्रेष्ठता आदि श्रुति में भी प्रतिपादित की गई है और श्रुतियो मे प्राणमय-कोशका विस्तार से वर्णन भी किया है।

"प्राणादय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति", इत्यादि श्रुतियो में प्राणजागरण का विधान है। 'तत्प्राणे प्रपन्न उदतिष्ठत् तदुक्थमभवत्तदेतदुक्थम्' इनमे प्राण की श्रेष्ठता, प्राण का सवाद, शरीर में प्रवेश आदि का वर्णन है। 'अन्योन्तर आत्मा प्राणमयः' इत्यादि में प्राणमयकोश का विवरण है ॥६६॥

प्राण से भी आभ्यन्तर मन की आत्मता नारदपञ्चरात्र के–
अनुसार दिखाते हैं।

---

(२) यदि समुदाय को चेतन मानों तो एक इन्द्रिय के नष्ट होने पर समुदायता नष्ट हो जायगी और फिर ज्ञान-जीवन नहीं रहने चाहिए। पर वे बने रहते हैं इसलिए इन्द्रिय समुदाय की चेतनता सिद्ध नही होती।

यदि सब इन्द्रियो को पृथक्-पृथक् चेतन मानो तो एक देह मे दस चेतन हो जायेंगे। इन दसो की विभिन्न इच्छाओ के कारण शरीर ऐसे ही छिन्न भिन्न हो जायगा जैसे एक केले मे बन्धे दस हाथियो से केला टूट-फूट जाता है।

अतएव इन्द्रियाँ चेतन नहीं हैं। श्रुति में इन्द्रियों का जो सम्वाद है वह इन्द्रियो के अभिमानी देवो का ही है। इस प्रकार इन्द्रियात्मवादी का मत असङ्गत है।

मनः आत्मेति मन्यन्त उपासनपरा जनाः ।
प्राणस्याभोक्तृता स्पष्टा भोक्तृतं मनसस्ततः ।।६७

अन्वय—उपासनपरा जना मन आत्मा इति मन्यन्ते । प्राणस्य अभोक्तृता स्पष्टा ततः मनसः भोक्तृत्वम् ।

अर्थ—उपासना मे लगे पुरुष मन को आत्मा मानते है · उन का कहना है कि प्राण का अभोक्तापन तो स्पष्ट है अतएव मनको भोक्ता मानना चाहिये ।।६७।।

मन आत्मा है इस विषय मे श्रुति का प्रमाण भी है:-

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
श्रुता मनोमयः कोशस्तेनात्मेतीरितं मनः ।।६८

अन्वय—मनुष्याणा बन्धमोक्षयोः कारण मनः एव । मनोमयः कोश. श्रुत । इति मन. आत्मा ईरितम् ।

अर्थ—क्योकि मनुष्यो के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है और 'तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमय. (तै० २-३) इस श्रुति मे मनोमय कोश का वर्णन भी आता है इसलिए मन को ही आत्मा* कहा है ।

---

* प्राण आत्मा नही है—

(१) क्योकि वह वायु है : जैसे वाह्य-वायु आत्मा नही है ऐसे ही यह वायु प्राण भी आत्मा नही है । (२) प्राण के अदर्शन से मृत्यु का होना नियम नही है, स्थावर वृक्ष आदि मे प्राण न दिखाई देने पर भी मृत्यु नही होती, जङ्गम मनुष्यादि मे भी मूर्छादि के समय प्राण न दिखाई देने पर भी मृत्यु नही होती । इसलिये प्राण आत्मा नही है । (३) नीद के समय प्राण जागता है तो भी यदि कोई शरीर के भूषणादि

विज्ञानवादी बौद्ध का मत

विज्ञानमात्मेति पर आहुः क्षणिकवादिनः।
यतो विज्ञानमूलत्वं मनसो गम्यते स्फुटम् ॥६६

अन्वय—परे क्षणिकवादिन. विज्ञान आत्मा इति आहु । यतः मनस विज्ञानमूलत्व स्फुट गम्यते ।

अर्थ—दूसरे क्षणिकवादी बौद्ध लोग (बुद्ध के शिष्य योगाचार नामक नास्तिक) क्षणिक विज्ञान रूप बुद्धि-विज्ञान को ही आत्मा

को ले जावे तो हटाता नही, सम्बन्धी आवे तो उसका सत्कार नहीं करता इसलिये प्राण जड है, जड होने से वह आत्मा नहीं है। (४) प्राण के निकलने से देह की मृत्यु होना हेतु प्राण के आत्मा होने का साधक नही है, जठराग्नि के निकलने मे भी तो मृत्यु हो जाती है। (५) श्रुति मे प्राण की श्रेष्ठता आदि के प्रतिपादक जो वाक्य कहे है वे प्राण की उपासना मे प्रवृत्ति के प्रयोजक मात्र हैं और प्राणमयकोश की आत्मता के प्रतिपादक वचनो का तो मनोमय कोश की आत्मता के प्रतिपादक वचनो से बाध है अतएव उन श्रुति-वाक्यो का तात्पर्य तो स्थूलारुन्धतिन्याय मे अधिष्ठानप्रत्यक्-अभिन्न ब्रह्म को जतलाना ही है। कोशो की आत्मता के प्रतिपादक सब वाक्यो के विषय मे यही बात है। इन्द्रिय प्राण सवाद और शरीर मे प्राण के प्रवेश का वर्णन भी वायु के अभिमानी देवता का ही समझना चाहिये। (६) 'भूख से मेरे प्राण निकल जायेंगे' या 'भोजन से मेरे प्राण सन्तुष्ट हो गये' आदि वाक्यो से स्पष्ट है कि प्राण-ममता के विषय हैं अतएव वे अहं प्रतीति के विषय नही हो सकते। (७) फिर अपने प्राण का गमनागमन अपने आप अनुभव होता है अतएव प्राण को जानने वाला आत्मा स्वय प्राण से भिन्न ही है। अतएव प्राण की आत्मता असङ्गत है।

कहते है क्योकि मन× का विज्ञान मूलक होना स्पष्ट ही है।

प्रश्न यह है कि विज्ञान और मन का वाच्य अन्तःकरण एक ही है अतएव मन और विज्ञान क्रमश कार्य और कारण कैसे हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए पहले मन और विज्ञान मे परस्पर भेद दर्शाते हैं:—

अहंवृत्तिरिदंवृत्तिरित्यन्तःकरणं द्विधा।
विज्ञानं स्यादहंवृत्तिरिदंवृत्तिर्मनो भवेत् ॥७०

---

* मन आत्मा नही है---

(१) क्योकि वह छैनी आदि की भाति करण अर्थात् साधन है। (२) मन के होने से ही चेतनता का होना आवश्यक नही है क्योकि सुषुप्ति आदिके समयभी सामान्य चेतनता रहतीही है अतएव मन जड है। (३)'पहले मेरा मन किसी दूसरे स्थान पर गया था''अब मेरा मन स्थिर है' इस प्रकार मन ममता का विषय है, अह प्रतीति का विषय नही है। अतएव मन की स्थिरता अथवा अस्थिरता को जानने वाला आत्मा से भिन्न है। (४) मन स्वतन्त्र रूप से भोक्ता नही है, चेतनाभास विशिष्ट होने से ही वह भोक्ता है, अतएव 'भोक्ता होने के कारण उसको आत्मा मानो' ऐसा कहना ठीक नही है। (५) मनुष्यो के बन्ध-मोक्ष का कारण मन को बताने वाली श्रुति यह बताती है कि ज्ञानप्राप्ति से मन का बोध होने पर मोक्ष और विषय वासनाओ के कारण भूत मोक्ष साधनो का प्रतिबन्ध होने से अध्यास होने पर बन्ध होता है। यह मन को आत्मा नही बनाती। अतएव यह श्रुति मन की आत्मता मे प्रमाण नही है अपितु बन्ध के साधनो से निवृत्ति और मोक्ष साधन मे प्रवृत्ति की बोधक है। (६) मनोमय कोश को आत्मा कहने का निराकरण गत पृष्ठ की टिप्पणी मे कर चुके हैं। अतएव मन की आत्मता असगत है।

अन्वय---अहवृत्ति इदवृत्ति. इति अन्तःकरण द्विधा। अहवृत्तिः विज्ञान स्यात्, इदवृत्ति मन भवेत्।

अर्थ—'अहवृत्ति' और 'इदवृत्ति' नाम से अन्त करण के दो भेद हैं। अहवृत्ति और विज्ञान को इदवृत्ति को मन कहते हैं। (मन और विज्ञान, अन्त.करण नाम से एक होने पर भी, वृत्तिभेद से भिन्न-भिन्न हैं।) ॥७०॥

मन और विज्ञान का कार्यकारणभाव

अहंप्रत्ययबीजत्वत्वमिदंवृत्तेरिति स्फुटम् ।
अविदित्वा स्वमात्मानं बाह्यं वेत्ति न तु क्वचित्॥

अन्वय---इदवृत्तो अहप्रत्ययबीजत्व इति स्फुटम्। स्व आत्मान अविदित्वा क्वचित् बाह्य न तु वेत्ति।

अर्थ–यह इदवृत्ति-(बाहरके पदार्थों की प्रतीति) 'अहप्रत्यय' (मैं') इस ज्ञान के भीतर से उत्पन्न हुआ करती है, यह बात स्पष्ट है। यही कारण है कि पहले अपने स्वरूप को जाने बिना कही भी कोई बाह्य पदार्थ (अनात्मवस्तु को नही जानता। अर्थात् 'अहवृत्ति' के अभाव मे 'इदवृत्ति' यह है) का भी उदय नही होता। इसलिये इदवृत्तिरूप मन और अहवृत्तिरूप बुद्धि क्रमशः कार्यकारण हैं।

यह विज्ञान क्षणिक है-इसमें अनुभव प्रमाण बताते हैं'—

क्षणे क्षणे जन्मनाशा वहंवृत्तेर्मतौ यतः ।
विज्ञानं क्षणिकं तेन स्वप्रकाशं स्वतो मिते ॥७२

अन्वय—यत. क्षणे क्षणे अहवृत्तो. जन्मनाशो मतो तेन विज्ञान क्षणिकम्। स्वत. मिते स्वप्रकाशम्।

अर्थ—क्योकि इस अहवृत्ति का जन्म और विनाश क्षणक्षण मे होते जाने जाते है (यह अहवृत्ति कभी पैदा होती है और क्षण

भर रह कर फिर मर जाती है) इसलिये अनुभव से विज्ञान क्षणिक सिद्ध हो जाता है। और अपने से ही प्रमित होने के कारण यह विज्ञान स्वय प्रकाश भी है। यह ज्ञान स्वय अपने आपको जानता है, इसलिगे स्वयप्रकाश है ॥७२॥

विज्ञान के आत्मा होने मे आगम प्रमाण

विज्ञानमयकोशोऽयं जीव इत्यागमा जगुः ।
सर्वसंसार एतस्य जन्मनाशसुखादिकः ॥७३

अन्वय—"विज्ञानमयकोश: अय जीव जन्मनाशसुखादिक. सर्व-ससार. एतस्य" इति आगमा जगु ।

अर्थ—विज्ञानमयकोश यह जीव है, जन्म, नाश तथा सुखादि-नामक यह सारा ससार इस विज्ञानमय कहलाने वाला जीव का ही है-यह शास्त्रो ने वताया। तस्माद् वा एतस्मान्नोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय (तै०२-४) 'वज्ञान यज्ञ तनुते' (तै०२-५) आदि श्रुतिवाक्य विज्ञान की आत्मा के प्रतिपादक हैं ॥७३॥

उक्त मत मे दोष दिखाते हुये वौद्धो के अवान्तर भेद माध्यमिक (शून्यवादी) का मत दर्शाते हैं —

विज्ञानं क्षणिकं नात्मा विद्युदभ्रनिमेषवत् ।
अन्यस्यानुपलब्धत्वाच्छून्यं माध्यमिका जगुः ॥

अन्वय–विद्युदभ्रनिमेषवत् क्षणिक विज्ञान आत्मा न, अन्यस्य अनुपलब्धत्वात् माध्यमिका शून्य जगु ।

अर्थ—बिजली, वादल और आंखो की झपक के समान क्षणिक (क्षणभर मे नष्ट हो जाने वाला) विज्ञान आत्मा नही है। तथा इसके अतिरिक्त और कुछ न दीखने से माध्यमिक 'शून्य' को ही 'आत्मा' वता गये हैं ॥१४॥

क्षणिक विज्ञानवादी का मत और उसकी असङ्गति

क्षणिकविज्ञानवादी बुद्धि को आत्मा मानते हैं। उनका आशय यह है कि भीतर बाहर सब वस्तुयें विज्ञानाकार हैं और वह विज्ञान बिजली बादल की भान्ति क्षण क्षण में उत्पन्न एवं नष्ट होता है। अतएव क्षणिक है। तथा अपना एव दूसरो का प्रकाशक होने से स्वप्रकाश है।

एक विज्ञान के नष्ट होते ही दूसरा-दूसरे के नष्ट होने पर तीसरा उत्पन्न होता है। इस प्रकार दीपज्योति अथवा नदी के प्रवाह की भान्ति विज्ञान की धारा बनी रहती है। यह धारा आलयविज्ञानधारा और प्रवृत्ति विज्ञान धारा नाम से दो प्रकार की है। अह आकार वाली प्रथम धारा बुद्धिरूप है और 'यह घट है' 'यह देह है' इस इद आकार वाली दूसरी धारा मन आदि वाह्यपदार्थ रूप है। पहले आलय विज्ञानधारा होता है, पश्चात् प्रवृत्तिविज्ञानधारा। अतएव दूसरी पहली का कार्य है। यह आलयविज्ञानधारारूप बुद्धि ही आत्मा है, इसमें प्रवृतिविज्ञानधारारूप मन आदि के बाध को विचारने से एकरस क्षणिकविज्ञानधारा की स्थिति हो जाती है, वही मोक्ष है।

विज्ञानवादी का यह मत असगत है। क्योंकि रूपादि ज्ञानरूप कार्य के साधन जैसे चक्षु आदि हैं वैसे ही जो निश्चयरप कार्य की करण, (साधन) बुद्धि है–वह आत्मा नही हो सकती क्योंकि सब पदार्थों का निश्चय करने वालो बुद्धि को जो जानता है वह आत्मा है। वह क्योंकि प्रकाशस्वरूप है अतएव सदा प्रकाशित रहता है। भास्य और भासक (रूप और सूर्यप्रकाश) जैसे भिन्न हैं वैसे भास्य बुद्धि से भासक आत्मा भिन्न है।

जैसे घटादि के आकार को प्राप्त हुआ दीपादिक प्रकाश मिश्रभाव से भासमान होता हुआ भी वस्तुत. भिन्न स्वभाव का

है, ऐसे ही ज्ञानस्वरूप आत्मा, बुद्धि वृत्तियो के साथ एकाकार हुआ मिश्र-भाव से भासमान है तो भी वस्तुत बुद्धि वृत्तियो से भिन्न, नित्य और शुद्ध ही है।

जैसे एक ही ब्राह्मण को पाठन और पाचन आदि क्रियाओ के कारण पाठक, पाचक आदि भिन्न-भिन्न नामो से पुकारते हैं वैसे ही अपचीकृत भूतो के मिलित–सत्वगुणो के अशो का कार्य-भूत अन्त.करण निश्चयक्रिया के कारण बुद्धि और सकल्प-विकल्प क्रिया के कारण मन, कहलाता है। इसलिए अह आकारवाली आन्तरवृत्ति बुद्धि और इद आकारवाली वाह्यवृत्ति मन, अन्त·करण से भिन्न नही हैं। इस प्रकार देह, इन्द्रिय और मनका भान्ति वुद्धि भी भौतिक होने से अनात्मा ही है,

कठोपनिषद् की तीसरी वल्ली मे जो रूपक वताया है उसमें वुद्धि को 'सारथि' और आत्मा को 'रथी' वता कर वुद्धि की अनात्मता का वर्णन किया है।

आत्मा को क्षणिक मानना भी असगत है। यदि ज्ञाता आत्मा को क्षणिक मानें तो धन देने वाले आत्मा के नष्ट हो जाने पर वर्ष पीछे धन लेने का कार्य कौन करे? प्रथम क्षण मे भोजन करने वाले का दूसरे क्षण में नाश हो जाने से भोजन के पश्चात् "मैं भोजन करने वैठा अव तृप्त हो गया हूँ" ऐसी प्रत्यभिज्ञा क्यो कर सम्भव है।

यदि कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा भ्रान्ति से होती है और पूर्व नष्ट हुए आत्मा आदि के सस्कार से दूसरे आत्मा की उत्पत्ति हो जाती है इसलिए भी प्रत्यभिज्ञा सम्भव,–यह कहना भी असगत है। क्योकि जव विज्ञानवादी क्षणिक आत्मा को दूसरे क्षणमे विनाशी मानता है तो भ्रान्ति के द्रष्टा और अधिष्ठान के न होने से भ्रान्ति ही असम्भव है। समाधान के लोभ मे यदि सस्कार

मान भी लें तो भी उसका आश्रय तो बताना पडेगा। यदि वह आश्रय विज्ञान से भिन्न पदार्थ तो है ही नही। इसलिए सस्कार विज्ञानरूप मानना पड़ेगा और उसमे आत्माश्रयदोष आवेगा।

जब आत्मा उत्तर क्षण मे, रहेगा ही नही तो मोक्षके साधनो मे कैसे प्रवृत्त होगा ?

'मेरी बुद्धि मन्द या तीव्र है' रूप में बुद्धि ममता की विषय है। अतएव उसकी मन्दता-तीव्रताको जानने वाला आत्मा बुद्धि से भिन्न है और बुद्धि स्वप्रकाश नही अपितु परप्रकाश है। इस प्रकार विज्ञानवादी का मत असगत है।

शून्यवाद मे प्रतीयमान जगत् की गति

असदेवेदमित्यादाविदमेव श्रुतं ततः।
ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वं जगद्भ्रान्तिप्रकल्पितम् ॥७५

अन्वय–'इद असत् एव' इत्यादौ इद एव श्रुत तत. ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वं जगत् भ्रान्तिप्रकल्पितम्।

अर्थ—क्योकि 'असदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुति-वाक्यो मे यह शून्य ही प्रसिद्ध है इसलिये शून्य ही आत्मा है। इसलिये ज्ञानज्ञेयरूप सारा जगत् ही उस शून्य से भ्रान्ति से कल्पित है ॥७५॥

शून्य मत मे दोष दिखाते हुए भट्ट आदि का मत दर्शाते हैं –

निरधिष्ठानविभ्रान्तेरभावादात्मनोऽस्तिता।
शून्यस्यापि ससाक्षित्वादन्यथा नोक्तिरस्य ते ॥७६

अन्वय—निरधिष्ठानविभ्रान्ते अभावात्, शून्यस्य अपिससाक्षित्वात् आत्मन अस्तिता। अन्यथा अस्य उक्ति. ते न।

अर्थ—क्योकि अधिष्ठान रहित कोई भ्रांति नही होती और शून्य का भी कोई साक्षी मानना इसलिये आत्मा को तो मानना

ही पडेगा। यदि शून्य से भिन्न आत्मा को स्वीकार नही करोगे तो 'यह शून्य है, यह कथन भी सिद्ध नही होगा।*

वन्ध्यापुत्र की भान्ति शून्य का तो कोई स्वरूप नही है अतएव वह अधिष्ठान नही बन सकता : अधिष्ठान रहित भ्रान्ति नही अतएव जागृत रूप कल्पना का अधिष्ठान आत्मा मानना ही पडेगा। पुनश्च शून्य के साक्षी के रूप में भी शून्यवादी को आत्मा की सत्ता स्वीकार करनी पडती है। नही तो 'शून्य है' यह कथन ही कौन करेगा ? ॥७६॥

फिर आत्मा क्या वस्तु है ? इसका उत्तर नैयायिक प्रभाकर और भट्ट के अनुयायी देते हैं –

---

* बुद्ध के शिष्य माध्यमिक के अनुयायी शून्य को आत्मा मानते है–उनके मत का साराश यह है कि आत्मा से भिन्न सब वस्तुएँ शून्यरूप हैं। सबका निज रूप होने के कारण वह शून्य ही परमतत्व है। सुषुप्ति मे सब पदार्थों का अभाव होने के कारण "मुझे कुछ भी ज्ञान नही हुआ' इस प्रतीति का विषय और विद्वान् की दृष्टि मे तुच्छ अज्ञान रूप जो आनन्दमय कोष शेष रहता है वही शून्यरूप आत्मा है।

शून्यवादी का यह मत असगत है क्योकि इस शून्य को (१) साक्षी-सहित (२) साक्षी रहित अथवा (३) स्वप्रकाश मान सकते हैं। प्रथम-पक्ष मे शून्य का साक्षी, शून्य से भिन्न होगा, वही आत्मा है–ऐसा सिद्ध होगा। दूसरे पक्ष मे साक्षी रहित शून्य की सिद्धि ही न होगी। तीसरे पक्ष मे तो स्वप्रकाश रूप जिस ब्रह्म को हम जानते हैं वही सिद्ध होगा–शून्य सिद्ध ही नही होगा।

"यह जगत् आगे असत् ही था" यह श्रुतिवाक्य पूर्वापर के विरोध के कारण शून्य का प्रतिपादक नही है अपितु नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध आदि वादी जो प्रागभाव आदि को जगत् का कारण मानते हैं उसका निषेध करता है। इस प्रकार शून्यवादी का मत असङ्गत है।

अन्यो विज्ञानमयत आनन्दमय आन्तरः ।
अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति वैदिकदर्शनम् ॥७७

अन्वय—विज्ञानमयत अन्य आन्तरः आनन्दमय. 'अस्ति' इति एव उपलब्धव्य ' इति वैदिकदर्शनम् ।

अर्थ विज्ञानमय से भिन्न आन्तर (भीतर रहने वाला) आनन्दमय आत्मा है। वह आत्मा है इस रूप मे जाना जाता है यह वैदिक सिद्धान्त है ऐसा नैय्यायिक कहते हैं। 'तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योतर आत्माऽनन्दमय । अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन' इत्यादि श्रुतियाँ इसमे प्रमाण है ॥७७॥

तीन परिणाम

अणुर्महान् मध्यमो वेत्येवं तत्रापि वादिनः ।
बहुधा विवदन्ते हि श्रुतियुक्तिसमाश्रयात् ॥७८

अन्वय—अणु, महान् वा मध्यम इति एव तत्र अपि वादिन श्रुति युक्तिसमाश्रयात् बहुधा विवदन्ते हि ।

अर्थ—वह अणु है, महान् है या माध्यम है इस प्रकार उस आत्मा के परिमाण के विषय में भी श्रुति और युक्ति के आधार पर वादी आपस में, अनेक प्रकार के विवाद करते हैं ॥७८॥

अणुपरिणामवादी आन्तराल का मत

अणुं वदन्त्यान्तरालाः सूक्ष्मनाडीप्रचारतः ।
रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु प्रचरत्ययम् ॥७९

अन्वय—सूक्ष्मनाडीप्रचारतः आन्तराला. अणुं वदन्ति । रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु अय प्रचरति ।

अर्थ—सूक्ष्मनाड़ियो में प्रवृत्ति होने से आन्तराल लोग इसे अणु परिमाण वताते है यह आत्मा बाल के हजारवें भाग के

वराबर सूक्ष्मनाडियो में सचार करता है। (यह सचार आत्मा के अणु हुये बिना सम्भव नही है।)

आत्मा के अणु होने में श्रुति प्रमाण

अणोरणीयानेषोऽणुः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं त्विति।

अणुत्वमाहुः श्रुतयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥८०

अन्वय—अणो अणीयान्। एष. अणु। सूक्ष्मात् सूक्ष्मतर तु इति शतश: अथ सहस्रश श्रुतय अणुत्व आहु।

अर्थ—"यह आत्मा अणु से भी अत्यन्त अणु है।" 'यह आत्मा अणु है।' सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है'—ऐसी सैकडो नही, हजारो श्रुतियो ने आत्मा के अणुत्व का प्रतिपादन किया है।

'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (कठ १-२-२०) 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरत्विति' (मुण्डक ३-१-६) इत्यादि श्रुतिया आत्मा के अणुत्व मे प्रमाण हैं ॥८०।

इसी मे अन्य प्रमाण दिखाते हैं—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेय इति चाहाऽपरा श्रुतिः ॥८१

अन्वय—स जीव शतधाकल्पितस्य बालाग्रशतभागस्य च भाग विज्ञेय इति अपरा श्रुति. आह।

अथ—वह जीव, सौवा भाग किये हुये, वालाग्र के सौवें भाग के वरावर है—ऐसा एक दूसरी श्रुति ने कहा है अर्थात् इतना सूक्ष्म है कि वाल के अगले भाग के सौ टुकडे करे फिर उनमे से एक के सौ टुकड़े करके जितना भाग वने उसके वरावर है*।८१।।

---

* अन्तराल आदि का यह आत्माणुपरिमाणवाद असगत है। क्योंकि ज्ञाता आत्मा अणु होकर शरीर के किसी एक देश मे स्थित रह

मध्यमपरिमाणवादी दिगम्बर का मत

दिगम्बरा मध्यमत्वमाहुरापादमस्तकम् ।
चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेरानखाग्रश्रुतेरपि ॥८२

अन्वय—आपादमस्तक चैतन्यव्याप्तिसदृष्टे दिगम्बरा. मध्यमत्व आहु , आनखाग्रश्रु ते अपि ।

अर्थ—पांव से लेकर मस्तक पर्यन्त शरीर मे चेतनता व्याप्त

सकेगा । अतएव एक साथ सिर और पैर मे कष्ट आदि का अनुभव कैसे होगा ?

यदि यह कहो कि जैसे एक स्थान पर रखे फूल का गन्ध बहुत दूर-दूर तक फैल जाता है ऐसे ही एक देशस्थ आत्मा का ज्ञानगुण भी शरीर भर मे व्याप्त रहता है--सो भी ठीक नही । क्योकि गुण गुणी को छोडकर नही रहता । जैसे नील.दि गुण घट को नही छोडता-ज्ञान गुण भी आत्मा को कैसे छोडेगा ?

शरीर के एक देश मे छूने से चन्दन की शीतलता का सारे शरीर में व्याप्त होना दृष्टान्त भी ठीक नही है क्योकि यहाँ एकदेशीय स्पर्श से शरीर में व्याप्त जलाश के घनीभाव का उद्बोध होता है--उससे ही सारे शरीर मे शीतलता हो जाती है ।

यदि दीपक की भाँति प्रकाशक मानो तो आत्मा को भी दीपक की भाँति सावयव और परप्रकाश्य अतएव विनाशी औरदृश्य मानना पडेगा । अणु सिद्ध करते-करते आत्मा ही हाथ से जाने लगा—व्याज के लोभ मे मूलधन भी गँवा बैठे !

आत्मा को अणु बताने वाली श्रु तियो का तात्पर्य तो यह बताना ही है कि स्थूलबुद्धि पुरुषो के लिए आत्मा अणु की भाँति दुर्ज्ञेय है : उपनिषदो में अनेक स्थानो पर आत्मा को व्यापक बताया है । इस प्रकार आत्माणुवाद असगत ही ठहरता हैं ।

दिखाई देती है, इसलिए दिगम्बर आत्मा को मध्यमपरिमाण कहते हैं और 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्य." इस श्रुति से भी आत्मा मध्यम परिमाण वाला सिद्ध होता है ॥८२॥

मध्यम परिमाण मानने पर 'सूक्ष्मनाडी प्रचार' कैसे सम्भव होगा ? यह दर्शाते हैं—

सूक्ष्मनाडीप्रचारस्तु सूक्ष्मैरवयवैर्भवेत् ।
स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कञ्चुकप्रतिमोकवत् ॥८३

अन्वय—सूक्ष्मनाडीप्रचार तु सूक्ष्मै. अवयवै स्थूलदेहस्य हस्ताभ्या कञ्चुकप्रतिमोकवत्, भवेत् ।

अर्थ—उस आत्मा का सूक्ष्मनाडियो मे प्रचार तो उस आत्मा के सूक्ष्म अवयवो द्वारा ऐसे ही होता है जैसे कि हाथो से कुर्ते मे प्रवेश मे स्थूलदेह का कुर्ते मे प्रवेश माना जाता है ।

देह के अवयव भूत दो हाथो के कुर्ते मे प्रविष्ट हो जाने से देह का कुर्ते मे प्रवेश माना जाता है ऐसे ही आत्मा के सूक्ष्म अवयवो नाडियो मे सचार होने से यह माना जाता है कि आत्मा नाडियो मे सचरित हो रहा है ।

यदि आत्मा को निश्चित मध्यमपरिमाण वाला ही मानें तो कर्मवश चीटी आदि छोटे और हाथी आदि बडे शरीरो मे उसका प्रवेश कैसे होगा ? इसका उत्तर मध्यमपरिमाणवादी के मत से देते हैं—

न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशोऽपि गमागमैः ।
आत्मांशानां भवेत्तेअ मध्यमत्वं विनिश्चितम् ॥८४

अन्वय—न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेश अपि आत्माशाना गमागमै भवेत् तेन मध्यमत्व विनिश्चितम् ।

अर्थ—आत्मा को नियतरूप से मध्यमपरिमाण मानने पर

भी उसका) छोटे बड़े शरीरो में प्रवेश उसके अंशो की घटावढी या गमनागमन (या उत्पत्ति विनाश) से सम्भव है . इसलिए आत्मा का मध्यमपरिमाण निश्चित है ॥८४॥

'मध्यमपरिमाण मानने मे दोष है, अतएव आत्मा विभु है' यह मानने वाले नैय्यायिको का मत दर्शाते हैं :

सांशस्य घटवन्नाशो भवत्येव तथा सति ।
कृतनाशाऽकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत् ॥८५

अन्वय —साशस्य घटवत् नाश भवति एव, तथासति कृतनाशा-कृताभ्यागमयो॰ वारकः क॰ भवेत् ?

अर्थ—सावयव वस्तु का घटकी न्याई नाश होना ही है, अत-एव यदि आत्माका नाश मानेंगे तो कृतनाश और अकृताभ्यागम दोषो को कौन हटाएगा ? (किये गये पाप-पुण्यो का भोग के विना नष्ट हो जाना 'कृतनाश' और विना किये पाप-पुण्यों का भोग अकृताभ्यागम' कहलाता है ।) ॥८५॥

आत्मा की विभुता और उसमे प्रमाण

तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः ।
आकाशवत्सर्वगतो निरंशः श्रुतिसंमतः ॥८६

अन्वय—तस्मात् आत्मा महान् एव, अणु न एव, मध्यम अपि न आकाशवत् सर्वगत॰ निरश श्रुतिसम्मत ।

अर्थ—अतएव (परिशेषसे) आत्मा महान्–महत्परिमाणवाला अथवा विभु ही है, अणु तो वह है ही नही, मध्यम भी नही है। वह 'आकाश की भांति सर्वगत और निरवयव है' ऐसा श्रुति मानती है। (श्वेताश्वतर उपनिषद् –१६ में कहा है–"आकाश-वत् सर्वगतश्च नित्यः" 'निष्कल तत्" ॥८६॥

आत्मा की चिद्रूपता पर विचार

आत्मा को विभु सिद्ध करके अब उसकी चिद्रूपता का निश्चय करने के लिए पहले वादियो के विविध मत दर्शाते हैं :

इत्युक्त्वा तद्विशेषे तु बहुधा कलहं ययुः ।
अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपश्चिदचिद्रूप इत्यपि ॥८७

अन्वय—इति उक्त्वा तद्विशेषे तु अचिद्रूप., अपि चिद्रूपः, चिदचिद्रूप इति अपि, बहुधा कलह ययु ।

अर्थ—यो आत्मा की विभुता सिद्ध करके, उस आत्मा की विशेषता—विलक्षणता—के विषय मे 'वह जड है, चेतन है अथवा जड़चेतन उभयरूप है' आदि अनेक विवाद करते हैं ॥८७॥

प्राभाकर और तार्किको का मत

प्राभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम् ।
आकाशवद्द्रव्यमात्मा शब्दवत्तद्गुणश्चितिः ॥८८

अन्वय—प्राभाकरा तार्किक च अस्य चिदात्मताम् प्राहु । आत्मा द्रव्यम्, आकाशवत्। शब्दवत् तद्गुणः चिति ।

अर्थ—भट्ट के शिष्य के अनुयायी प्रभाकर और तार्किक लोग इस आत्मा को जड बताते हैं। वे कहते हैं कि आकाश की भान्ति आत्मा एक द्रव्य है और आकाश के गुण शब्द की न्याईं इस आत्मा का गुण चैतन्य (ज्ञान) है। (गुणो के आश्रय को द्रव्य कहते हैं)।

ज्ञानगुण ने ही आत्मा को पृथिवी आदि दूसरे द्रव्यो से भिन्न कर दिया है।

उस आत्मा के कुछ विशेष गुण

इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मौ सुखासुखे ।
तत्संस्काराश्च प्रस्यैते गुणाश्चितिवदीरिताः॥८९

अन्वय—इच्छाद्वेषप्रयत्नाः च धर्माधर्मौ सुखासुखे च तत्संस्काराः

एते चितिवत् तस्य गुणा. ईरिताः ।

अर्थः—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म, सुख, दुःख तथा उनके संस्कार ये आठ, चेतना के समान, उस आत्मा के गुण हैं ॥ ८६ ॥

ज्ञानादिगुणो के उत्पत्ति विनाश के कारण

आत्मनो मनसा योगे स्वादृष्टवशतो गुणाः ।
जायन्तेऽथ प्रलीयन्ते सुषुप्तेऽदृष्टसंक्षयात् ॥९०

अन्वय—स्वादृष्टवशत आत्मन· मनसा योगे गुणा. जायन्ते, अथ सुषुप्ते अदृष्टसक्षयात् प्रलीयन्ते ।

अर्थ—जब अपने अदृष्ट के प्रताप मे आत्मा का मन के साथ सयोग होता है तो गुण उत्पन्न हो जाते हैं और फिर सुषुप्ति में, अदृष्ट का क्षय हो जाने पर ये गुण नष्ट हो जाते हैं ॥९० ।

जड होते हुए भी आत्मा चेतन कैसे ?

चितिमत्त्वाच्चेतनोऽयमिच्छाद्वेषप्रयत्नवान् ।
स्याद्धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता दुःखादिमत्त्वतः ॥९१

अन्वय.–चितिमत्वात् अयं चेतन·, इच्छाद्वेपप्रयत्नवान् धर्माधर्मयो. कर्ता दु खादिमत्त्वत भोक्ता स्यात् ।

अर्थ –ज्ञानगुण वाला होने से यह आत्मा चेतन है और इच्छा द्वेष एव उत्साह विशेष प्रयत्न वाला होने से भी चेतन है। यह आत्मा धर्म और अधर्म दोनो का कर्ता और दु ख आदि वाला होने से भोक्ता है। (ईश्वर और आत्मा में यही भेद है कि ईश्वर धर्माधर्म का कर्ता या दु ख आदि का भोक्ता नही है।)

यदि आत्मा व्यापक है तो फिर परलोक में गमन कैसे करेगा ? इस प्रश्न का इस मत मे उत्तर देते हैं .—

यथाऽत्र कर्मवशतः कादाचित्कं सुखादिकम् ।
तथा लोकान्तरे देहे कर्मणेच्छादि जन्यते ॥६२

अन्वय—यथा अत्र कर्मवशत. कदाचित्क सुखादिक तथा लोकान्तरे देहे कर्मणा इच्छादि जन्यते ।

अर्थ—जैसे इस लोक मे कर्मवश कभी-कभी सुखादि होते हैं वैसे ही दूसरे लोक मे प्राप्त देह मे भी कर्मवश इच्छा आदि उत्पन्न हो जाते हैं ।

इस देह मे कर्मवश इच्छादि के उत्पन्न होने पर आत्मा की स्थिति आदि व्यवहार जैसे चलते हैं वैसे ही, लोकान्तर में कर्म-वश देह मिलता है और उस मिले हुए दूसरे देह मे भी कर्म से सुख आदि उत्पन्न होते है और इस प्रकार आत्मा के गमन आदि व्यवहार सिद्ध होते हैं ॥६२॥

एव च सर्वगस्यापि संभवेतां गमागमौ ।
कर्मकाण्डः समग्रोऽत्र प्रमाणमिति तेऽवदन् ॥६३

अन्वयः—एव च सवगस्य अपि गमागमो सभवेताम्। समग्र. कर्म-काण्ड अत्र प्रमाण इति ते अवदन् ।

अर्थ—इस प्रकार व्यापक आत्मा का भी गमनागमन सम्भव है और आत्मा मे कर्तृत्व आदि गुण हैं इसमे तो सारा कर्म-काण्ड ही प्रमाण है—ऐसा प्राभाकरो और नैयायिको का कहना है ॥६३॥

तुमने पूर्वोक्त ७७वे श्लोक में विज्ञानमय से भिन्न आनन्द-मय को आत्मा बतलाया था और अब इच्छादियुक्त दूसरे को आत्मा बता रहे हो ? इसका उत्तर देते है —

आनन्दमयकोशो यः सुषुप्तौ परिशिष्यते ।
अस्पष्टचित्स आत्मैशां पूर्वकोशोऽस्य ते गुणाः ॥६४

अन्वय—सुषुप्तौ अस्पष्टचित् यः आनन्दमयकोश. परिशिष्यते स' पूर्व-कोश एषा आत्मा, अस्य ते गुणा:।

अर्थ—सुषुप्ति अवस्था में अस्पष्टचित् अर्थात् विलीनगुण वाला जो आनन्दमयकोश अवशेष रहता है वह श्रुत्युक्त पचकोशों मे प्रथमकोश ही इन वादियो का आत्मा है और इस आत्मा के वे ज्ञानादिगुण हैं ॥६४॥ *

'आत्मा जड चेतन उपयरूप है'—इस भट्टमत का प्रतिपादन

गूढ़ चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपताम् ।
आत्मनो ब्रुवते भाट्टाश्चिदुत्प्रेक्षोत्थिस्मृतेः ॥६५

अन्वय—भाट्टाः गूढे चैतन्य उत्प्रेक्ष्य आत्मन. जडबोधस्वरूपता ब्रुवतेः उत्थितस्मृते' चिदुत्प्रेक्षा ।

अर्थ—(पूर्व मीमासा के वार्तिककार) भट्ट के अनुयायी आत्मा मे गूढ चैतन्य (अस्वष्ट चेतनता) की उत्प्रेक्षा (कल्पना)

---

* नैयायिक और प्रभाकर सुषुप्ति मे ज्ञान न होने के कारण आत्मा को जड़ मानते है परन्तु सुषुप्ति से उठे पुरुष को मैंने कुछ भी नही जाना—'सुख से सोया' इस प्रकार सुषुप्तिकालीन अज्ञान और सुख की स्मृति नही होती ।

श्रुति मे आत्मा को निर्गुण कहा है अतएव इच्छादि आत्मा के नहीं अन्त.करण के धर्म हैं, वे अभ्यास से आत्मा मे प्रतीत होते हैं । श्रुति मे भी इच्छादिक को अन्तःकरण के गुण बताया है ।

नैयायिक आदि आत्मा को विभु और नाना स्वीकार करते हैं। इस प्रकार तो सब आत्माओ का सब देहो, सब कर्मों और सब भोगो और सब मनो के साथ सम्बन्ध रहेगा । फिर यह व्यवस्था कैसे होगी कि किस आत्मा का कौन सा देहादि है । इस प्रकार अनेक दोषो के कारण नैयायिक और प्राभाकरो का मत असगत है ।

करके आत्मा को जड़-चेतन उभयरूप मानते है। आत्मा में अस्पष्ट चेतना की कल्पना का कारण है, सुषुप्ति से उठे पुरुषका स्मरण। क्योंकि सुषुप्ति से उठे पुरुष को स्मरण उत्पन्न होता है अतएव सुषुप्ति मे चेतनता की स्थिति को कल्पना होती है ॥६५

चिदुत्प्रेक्षा का प्रकार दर्शाते है —

जडो भूत्वा तदास्वाप्समिति जाड्यस्मृतिस्तदा ।
विना जाड्यानुभूतिं न कथञ्चिदुपपद्यते ॥६६

अन्वय—'तदा जड भूत्वा अस्वाप्स' इति जाड्यस्मृतिः तदा जाड्यानुभूति विना कथञ्चित् न उपपद्यते ।

अर्थ—'तब सुषुप्ति मे मैं जड होकर सोया था' जडता की जाग्रत अवस्था मे यह स्मृति, तब (सुषुप्तिमें) जडता की अनुभूति के विना किसी भी प्रकार सिद्ध नही हो सकती।

इस प्रकार जाड्यस्मृति ही सुषुप्तिकाल की जडताज्ञान की कल्पना करती है ॥६६॥

सुषुप्ति मे भी चेतनता बनी रहती है, इसमे प्रमाण है :—

द्रष्टुर्दृष्टेरलोपश्च श्रुतः सुप्तौ ततस्त्वयम् ।
अप्रकाशप्रकाशाभ्यामात्मा खद्योतवद्युतः ॥६७

अन्वय —सुप्तौ द्रष्टु. दृष्टे अलोप च श्रुत. तत. तु अयम् आत्मा खद्योतवत् अप्रकाशप्रकाशाभ्या युत' ।

अर्थ—सुषुप्ति मे द्रष्टा की दृष्टि का अलोप भी सुना है, इसलिए यह आत्मा खद्योत की भान्ति अप्रकाश और प्रकाश दोनो से युक्त है।

"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वम्" यह बृहदारण्यक (४–३–२३) का वचन है। इसका अर्थ है कि आत्मा के अविनाशी होने के कारण उस द्रष्टा आत्मा की स्वरूपभूत

दृष्टि अर्थात् ज्ञान का लोप नही होता। यदि चैतन्यता लोप माने तो लोपवादी भी साक्षिरहित लोप तो सिद्ध नही कर सकेगा अतएव उसे भी सुषुप्ति मे चैतन्य का अलोप ही मानना होगा। इसलिए भी यह आत्मा खद्योत की भान्ति स्फुरण और अस्फुरण दोनो से युक्त है ॥६७॥

पूर्वोक्त भाट्टमत मे दोष दिखाते हुए सांख्यमत को दर्शाते हैं—

निरंशस्योभयात्मत्वं न कथंचिद्घटिष्यते ।
तेन चिद्रूप एवात्मेत्याहुः सांख्यविवेकिनः ॥६८

अन्वय—विवेकिन सांख्या. निरंशस्य उभयात्मत्व कथंचित् न घटिष्यते तेन आत्मा चिद्रूप एव इति आहु ।

अर्थ—(प्रकृति और पुरुष का) विवेक करने वाले (कपिल-मतानुयायी) सांख्य कहते हैं कि निरवयव आत्मा जड़-चेतन उभयरूप किसी भी प्रकार सिद्ध नही हो सकता* अतएव वे "आत्मा चेतन रूप ही है' ऐसा कहते हैं ।६८॥

---

* आत्मा को जडचेतन उभय रूप मानना (भाट्टमत) असङ्गत है, क्योकि तेज को तिमिर कहना या 'यह मनुष्य घट है' की भाँति एक ही पदार्थ मे दोनो रूप सिद्ध नही हो सकते। वे एक ही आत्मा मे दोनो अंश मानते हैं, जडांश को गोचर तथा चेतनांश को अगोचर। परन्तु एक ही आत्मा मे यह विलक्षणता सम्भव नही है। जैसे अकेले दण्ड को देखने से ही दण्डी का ज्ञान नहीं हो सकता, दण्ड और पुरुष दोनो को साथ देखकर 'दंडी' कहेगे, ऐसे ही अकेले जड अंश के ज्ञान से आत्मा को उभय रूप सिद्ध नही कर सकते। यदि चेतनअंश को भी अनुभव गोचर मानें तो जड़ कल्पित होगा। फिर प्रश्न यह है कि आत्मा के जडचेतन अंशो का परस्पर सम्बन्ध (१) संयोग है या (२) तादात्म्य है या (३) विषयविषयीभाव? प्रथम पक्ष मानेंगे तो आत्मा अनित्य हो

फिर जडतास्मृति क्यो होती है ? इसका उत्तर देते हैं—

जाड्यांशः प्रकृते रूपं विकारि त्रिगुणं च तत् ।
चितो भोगापवर्गार्थं प्रकृतिः सा प्रवर्तते ॥९९

अन्वय—जाड्यांश प्रकृते रूप तत् विकारि च त्रिगुणम् । सा प्रकृति चित भोगापवर्गार्थं प्रवर्तते ।

अर्थ—जाड्यांश प्रकृति का रूप है, प्रकृति का वह रूप विकारी और (सत्व, रज, एव तम) इन तीन गुणो वाला है । वह प्रकृति चेतन अर्थात् पुरुष को भोग और मोक्ष दिलाने के लिए प्रवृत्त होती है ।

चेतन पुरुष तो असग है–इसीलिए प्रकृति और पुरुष दोनो भिन्न है, फिर प्रकृति की प्रवृत्ति से पुरुष को भोग और मोक्ष कैसे होगे ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं —

असङ्गायाश्चितेर्बन्धममोक्षौ भेदाग्रहान्मतौ ।
बन्धमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषामिव चिद्भिदा ॥१००

अन्वय—असङ्गाया चिते भेदाग्रहात् बन्धमोक्षौ मतौ । बन्धमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषा इव चिद्भिदा ।

अर्थ—असग चेतन के भेद के अग्रहण अर्थात् भ्रान्ति से ही

जायगा, सयोग सम्बन्ध दो अनित्य पदार्थों का हो होता है । द्वितीय पक्ष मे चित् और जड दोनो अशो की एकता माननी पडेगी और इस प्रकार चेतनाश जड और जडाश चेतन हो जातगा । तृतीय पक्ष मे घट की भांति दोनो अनात्मता हो जायगी ।

श्रुति मे आत्मा को विज्ञानघन कहा है अतएव आत्मा को अर्धजड मानना प्रमाण रहित है । आत्मा की जडता की सम्पादिका स्मृति तो सुषुप्ति मे स्थित अज्ञानाश की स्मृति है–आत्मा की जडता की नही है इस प्रकार आत्मा की जडचेतन–उभयरूपता असगत सिद्ध होती है ।

वन्ध और मोक्ष होते है। पहलो (तार्किको) के समान सांख्य भी वन्ध और मुक्ति की व्यवस्था के लिए चैतन्य का भेद मानते हैं।

पुरुष की सत्ता और असगता मे श्रुति का उदहरण देते हैं :

महतः परमव्यक्तमिति प्रकृतियुच्यते ।
श्रुतावसङ्गता तद्वदसङ्गो हीत्यतः स्फुटाः ॥१०१

अन्वय—महत. पर अव्यक्त इति श्रुतौ प्रकृतिः उच्यते, तद्वद् असङ्ग हि इति अत असगता स्फुटा ।

अर्थ—'महत. पर अव्यक्तम्' (कठ ३-११) "महत् तत्त्व से (कारण होने से) श्रेष्ठ अव्यक्त है" इस श्रुति में अव्यक्त का अथ प्रकृति है 'यह पुरुष असग है'—(असगोह्यय पुरुष -बृ० ४-३-१५) इस श्रुति से पुरुप की असगत स्पष्ट है ॥१०१॥

ईश्वर के स्वरूप के विषय मे विविधमत

जीव के विषय मे वादियो के विविधवादो को दिखाकर ईश्वर विषयक विवाद को दिखाने के लिये प्रथम ईश्वर के स्वरूप की स्थापना योगमत से करते हैं।

चित्संनिधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियानकम् ।
ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेभ्यः परः श्रुतः॥१०२

अन्वय—योगा चित्सन्निधौ प्रवृत्ताया प्रकृते. नियामक हि ईश्वर ब्रुवते । स. जीवेभ्य पर श्रुत ।

अर्थ—योगमत के अनुयायी कहते हैं कि चेतन आत्माओ की सन्निधि में प्रवृत्त होने वाली प्रकृतिको नियम रखने वाला प्रेरक पुरुष-विशेष ईश्वर है। और प्रकृति तथा पुरुष से भिन्न ईश्वर की यह कल्पना प्रमाण रहित है। क्योकि वह ईश्वर श्रुति मे जीवो से न्यारा वताया गया है ॥१०२॥

ईश्वर की सत्ता की प्रतिपादक श्रुति कहते हैं:—

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति हि श्रुतिः ।
आरण्यके संभ्रमेण ह्यन्तर्याम्युपपादितः ॥१०३

अन्वय—प्रधानक्षेत्रज्ञपति गुणेश इति हि श्रुति । आरण्य के सम्भ्रमेण हि अन्तर्यामी उपवादित ।

अर्थ—'प्रधानक्षेत्रज्ञपति र्गुणेश'— यह श्वेताश्वर (६–१६) का वाक्य है। इस श्रुति में ईश्वर को प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ का पति और गुणो का ईश वताया है।

गुणो की साम्यावस्था (मिलितावस्था) का नाम प्रधान है ओर शरीर रूप क्षेत्र को जानने वाले जीव क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं ईश्वर इन दोनो का पति है। सत्व आदि गुणो का नियामक है। और वृहदाण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण मे वड़े आदर के हाथ अन्तर्यामी (ईश्वर) का उपपादन किया है ॥१०३॥

वादियो का विवाद

अत्रापि कलहायन्ते वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः ।
वाक्यान्यपि यथाप्रज्ञं दाऽर्चायोदाहरन्ति हि ॥१०५

अन्वय—अत्र अपि वादिन स्वस्वयुक्तिभि कलहायन्ते । द र्ढचाय वाक्यानि अपि यथाप्रज्ञ उदाहरन्ति हि ।

अर्थ—वादीजन ईश्वर के विषय मे अपनी-अपनी युक्तियो से विवाद करते हैं और अपने-अपने मत की पुष्टि के लिये अपने-अपने मतानुसार श्रुतिवाक्यो के उदाहरण भी देते है ॥१०४

अब पतजलिमुनि के क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट. पुरुषविशेष ईश्वर सूत्र का भावार्थ कहते हैं —

क्लेशकर्मविपाकैस्तदाशयैरप्यसयुतः ।
पुंविशेषो भवेदोशो जीववत्सोप्यसङ्गचित् ॥१०५

अन्वय—क्लेशकर्मविपाकै तदाशयैः अपि असंयुतः पुंविशेष ईशः भवेत्। सः अपि जीववत् असंगचित्।

अर्थ—क्लेश, कर्म, विपाक और उनके आशयों से असम्बद्ध पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है वह ईश्वर भी जीव* को भांति असङ्ग चेतन है।

चार प्रकार की अविद्या, दृक् और दर्शन शक्तियों की एकात्मतारूप अस्मिता, राग, द्वेष, मरणादि से शरीर की रक्षा का आग्रह रूप अभिनिवेश, ये पांच क्लेश हैं। कर्म शुभ (पुण्य), अशुभ (पाप), और मिश्रभेद से तीन प्रकार के हैं। जाति-आयुव-भोग इन कर्मों के फलविशेष (विपाक) हैं। इनके संस्कार, आशय है। इनके स्पर्श से रहित पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है ॥१०५॥

ईश्वर की नियामकता

तथापि पुंविशेषत्वाद्घटतेस्य नियन्तृता।
अव्यवस्थौ बन्धमोक्षावापतेतामिहान्यथा ॥१०६

अन्वय—तथापि पुंशेषत्वात् अस्य नियंतृता घटते। अन्यथा इह बन्धमोक्षौ अव्यवस्थौ आपतेताम्।

---

* सांख्य मत की भांति योगमत में भी जीव को असङ्ग, स्वप्रकाश, कूटस्थ और चेतनरूप माना है। वह जीव केवल भोक्ता है, कर्ता नहीं और बुद्धि के धर्म (सुख दुःख) के कारण, बुद्धि के साथ अपने अविवेक में उपलक्षित अपना अनुभवरूप ही उसका भोक्तापन है। बुद्धि ही कर्ता है। बुद्धि के अविवेक से आत्मा में कर्तापन का व्यवहार होता है। सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि की पूर्ण सिद्धि होने पर बुद्धि के विवेक ज्ञान द्वारा अविवेक की निवृत्ति होकर दुःख का अत्यन्तोच्छेद होता है, वही मोक्ष कहलाता है। सांख्य ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। योगमत में जीव की भांति ईश्वर भी असङ्ग-चेतन है।

अर्थ—ईश्वर 'असङ्गचेतन होता हुआ भी, पुरुष विशेष होने से नियामक भी है। यदि उसको नियन्ता न मानें तो जगत् में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था बिगड़ जायगी। जैसे राजा के बिना, शुभकर्म करने पर प्रजा की प्रसशा और अशुभ कर्म करने पर दण्ड देने की व्यवस्था नही हो सकती वैसे ही उस जीव का वन्ध हो, इसका मोक्ष हो-ऐसी व्यवस्था, ईश्वर के नियन्ता हुए बिना न रह सकेगी। यह योगमत का साराश है ॥१०६

ईश्वर की नियामकता मे प्रमाण बताते हैं —

भीषास्मादित्येवमादावसङ्गस्य परात्मनः

श्रुतं तद्युक्तमप्यस्य क्लेशकर्माद्यसङ्गमात् ॥१०७

अन्वय—'अस्मात् भीषा' इति एव आदो असङ्गस्य परात्मन तत् श्रुतम्। अस्य क्लेशकर्माद्यसङ्गात् तत् युक्तम् अपि।

अर्थ—"भीषास्माद्वात पवते" (तै०२-८) इत्यादि वाक्यो मे असङ्गत परमात्मा को नियन्ता सुना गया है और चूकि उसमे, जीवादि में पाये जाने वाले क्लेक कर्म आदि का स्पर्श नही है, इसलिए नियन्तापान युक्ति सङ्गत भी है ॥१०७

परन्तु फिर भी जीव ईश्वर का भेद तो है ही, यह दर्शाते हैं —

जीवानामप्यसङ्गत्वात्क्लेशादिर्नह्यथापि च ।

विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्रागुदीरितम् ॥१०८

अन्वय—जीवना अपि असगत्वात् क्लेशादि न हि। अथ अपि च विवेकाग्रहत क्लेशकर्मादि प्राक् उदीरितम्।

अर्थ—यद्यपि, जीव भी असङ्ग हैं इसलिए उनको क्लेशादि का सङ्ग नही है, तथापि, विवेकाग्रह प्रकृति और पुरुप के भेद को न समझने) के कारण जीवो को क्लेशादि होते हैं, यह बात पहले ही कह चुके हैं ॥१०८

और नैय्यायिक असङ्ग को नियन्ता नहीं मान सकते, अतएव वे ईश्वर और जीवो मे भेद बताने के लिए, ज्ञान प्रयत्न-इच्छा, इन तीनो गुणो को ईश्वर मे नित्य मानते हैं। यही दर्शाते हैं :—

नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छागुणानीशस्य मन्वते ।
असङ्गस्य नियन्तृत्वमयुक्तमिति तार्किकाः ॥१०६

अन्वय—तार्किका ईशस्य नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छागुणान् मन्वते, असङ्गस्य नियन्तृत्व अयुक्तम् इति ।

अर्थ—तार्किक लोग ईश्वर के तीन गुणो-ज्ञान, प्रयत्न और इच्छा-को नित्य मानते हैं क्योकि उनके मत मे असङ्ग को नियन्ता मानना असङ्गम है । १०६

ईश्वर पुरुषविशेष क्यो कहलाता है ? यह बतलाते हैं –

पुंविशेषत्वमप्यस्य गुणैरेव न चान्यथा ।
सत्यकामः सत्यसङ्कल्प इत्यादिश्रुतिर्जगौ ॥११०

अन्वय—अस्य पुविशेषत्व अपि गुणै एव च अन्यथा न । 'सत्यकाम सत्यसकल्प' इत्यादि श्रुति जगौ ।

अर्थ—इस ईश्वर को पुरुषविशेष उसके नित्यगुणो के कारण ही मान लिया है, अन्यथा नहीं, इसके अतिरिक्त जीव ईश्वर के भिन्न होने का दूसरा कोई कारण नही है । श्रुति ने भी ईश्वर के गुणो की नित्यता का बखान उसे 'सत्यकाम' और 'सत्यसङ्कल्प' कहकर किया है । 'सत्यकाम' का अर्थ नित्य इच्छा वाला और 'सत्य सकल्प' का अर्थ नित्यज्ञान (आलोचन) वाला है ॥११०॥

नैयायिको के मत मे दोष दिखाते हुये हिरण्यगर्भोपासक के मत को दर्शाते हैं –

नित्यज्ञानादिमत्त्वेऽस्य सृष्टिरेव सदा भवेत ।
हिरण्यगर्भ ईशोऽतो लिगदेहेन संयुतः ॥१११

अन्वयः—अस्य नित्यज्ञानादिमत्वे सदा एव सृष्टि. भवेत् अतः हिरण्यगर्भं ईश लिंगदेहन सयुत ।

अर्थ—* ईश्वर को यदि नित्यज्ञानवान् आदि मानें तो सदा ही सृष्टि रहेगी अतएव हिरण्यगर्भ ईश्वर—वह हिरण्यगर्भ लिंगदेह से सयुक्त है। (समष्टि लिङ्गशरीर के अभिमानी मायोपाधि परमात्मा को हिरण्यगभ कहते हैं, जब उसके लिंगदेह (मन) मे इच्छा होगी तब वह सृष्टि को बनायेगा : इस प्रकार सृष्टि सदा न होगी, कभी-कभी होगी।) ॥१११॥

हिरण्यगर्भ की ईश्वरता में प्रमाण दिखाते हैं—

उद्गीथब्राह्मणे तस्य महात्म्यमतिविस्तृतम् ।
लिंगसत्त्वेऽपि जीवत्वं नास्य कर्माद्यभावतः ॥११२

अन्वय—अद्गीथब्राह्मणे तस्य महात्म्य अति विस्तृतम् । अस्य लिंगसत्वे अपि कर्माद्यभावत जीवत्व न ।

अर्थ—उद्गीथ ब्राह्मण मे उसकी महिमा का विस्तार से वर्णन है। और लिंग शरीर के होते हुए भी यह हिरण्यगर्भ, जीव नहीं है क्योकि इसमे कर्म (अविद्या, काम) आदि नही होते ॥११२॥

हिरण्यगर्भोपासक के मत मे दोष दिखाते हुये विराट् उपासको के मत का प्रतिपादन करते हैं—

---

*यदि ईश्वर के ज्ञानादि को नित्य मानें तो, सृष्टि के प्रारम्भ मे ईश्वर के ज्ञानादि की उत्पत्ति बताने वाले श्रुतिवाक्यो का क्या अर्थ होगा ? फिर श्रुति मे अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। उससे भी नैयायिक मत का विरोध है। 'सत्यकाम' 'सत्यसकल्प' मे तो सत्य शब्द का अथ "प्रलय-पर्यन्तस्थायी" ही लेना चाहिए। अतएव नैयायिको का मत असङ्गत है।

स्थूलदेहं विना लिंगदेहो न क्वापि दृश्यते ।
वैराजो देह ईशोऽतोः सर्वतो मस्तकादिमान् ॥११३

अन्वय—स्थूलदेह विना लिंगदेहः क्व अपि न दृश्यते, अत. सर्वत. मस्तकादिमान् वैराज. देह ईश ।

अर्थ—स्थूल देह के विना लिंग शरीर अकेला कहीं नही दीखता, इस कारण सव ओर मस्तक आदि अगो वाला विराट् पुरुष देह ही ईश्वर है ॥११३॥

विराट्-ईश्वर की सत्ता मे प्रमाण

सहस्रशीर्षेत्येवं च विश्वतश्चक्षुरित्यपि ।
श्रुतमित्याहुरनिशं विस्वरूपस्य चिन्तकाः ॥११४

अन्वय—सहस्रशीर्ष इति, एव च विश्वत चक्षु इति अपि श्रुत इति अनिश विश्वरूपस्य चिन्तका आहु ।

अर्थ—निरन्तर विराट्रूप के उपासक कहते हैं कि "सहस्र-शीर्षा पुरुष" (यजुर्वेद) विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतस्पात् (श्वे०३-३) अर्थात् वह "हजारो सिरवाला है" सव ओर उसके चक्षु हैं' आदि श्रुतिवाक्य प्रसिद्ध हैं। इन वाक्यो से ईश्वर के विराट् स्वरूप की सत्ता का समर्थन होता है ॥११४॥

विराट के ईश्वरभाव मे दोष दिखाते हुए ब्रह्मा के ईश्वरभाव का प्रतिपादन करते हैं.—

सर्वतः पाणिपादत्वे कृम्यादेरपि चेशता ।
ततश्चतुर्मुखो देव एवेशो नेतरः पुमान् ॥११५

अन्वय—सर्वत पाणिपादत्वे कृम्यादे. अपि च ईशता, तत चतुर्मुखः देव. एव ईश इतर पुमान् न ।

अर्थ—यदि इस प्रकार सव ओर हाथ पैर वाले को ईश्वर मानें तो (सव ओर अनेक हाथ-पैर वाले) कीट आदि भी ईश्वर

हो जायेगे ! इसलिए चतुर्मुख, ब्रह्मा देवता ही ईश्वर है, कोई दूसरा पुरुष, ईश्वर नही है ॥११५॥

पुत्रार्थं तमुपासीना एवमाहुः प्रजापतिः ।

प्रजा असृजतेत्यादि श्रुतिं चोदाहरन्त्यमी ॥११६

अन्वय––पुत्रार्थं तं उपासीना. एवं आहु', च 'प्रजापतिः प्रजाः असृजत' इत्यादि श्रुति' अमी उदाहरन्ति ।

अर्थ––यह बात सन्तान के लिए ब्रह्मा के उपासको ने कही है। ये (प्रजार्थी) लोग अपमे मत की पृष्टि मे 'प्रजापति. प्रजा असृजत्' इत्यादि श्रुतियो का उदाहरण देते है ।

भागवत मत

विष्णोर्नाभेः समुद्भूतो वेधाः कमलजस्ततः ।

विष्णोरेवेश इत्याहुर्लोके भागवता जनाः ॥११७

अन्वय––कमलज वेधाः विष्णो. नाभे समुद्भूत तत. विष्णु' एव ईश इति लोके भागवता' जना, आहु' ।

अर्थ––'कमलोत्पन्न ब्रह्मा विष्णु की कमल रूप नाभि से उत्पन्न-हुआ है इस कारण 'विष्णु' ही ईश्वर है' यह बात भागवत (वैष्णवजन) कहते हैं ॥११७॥

शैवमत

शिवस्य पादावन्वेष्टुं शार्ङ्ग्यसक्तस्ततः शिवः ।

ईशो न विष्णुरित्याहुः शैवा आगममानिनः ॥११७

अन्वय––शिवस्य पादौ अन्वेष्टुं शार्ङ्गी अशक्त, तत शिव ईशः, विष्णु न, इति आगममानिनः शैवाः आहु ।

अर्थ––'शिव के दोनो पाँवो को ढूँढने में विष्णु असमर्थ रहा–इस कारण शिव ही ईश्वर है, विष्णु नही' ऐसा शैवशास्त्र-विशेष को मानने वाले शैव लोग कहते हैं ॥११८॥

गाणपत्यमत

पुरत्रयं सादयितुं विघ्नेशं सोऽप्यपूजयत् ।
विनायकं प्राहुरीशं गाणपत्यमते रताः ॥११९

अन्वय—सः अपि पुरत्रयं सादयितुम् विघ्नेशं अपूजयत् (अतः) गाणपत्यमते रताः विनायकं ईशं प्राहुः ।

अर्थ—'उस शिव ने भी त्रिपुट को नष्ट करने के लिये विघ्नेश गणपति की पूजा की थी, अतएव गाणपत्यमत में आसक्त जन गणपति को ईश्वर बताते हैं ॥११९

अन्य भी बहुत से मत हैं :—

एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथान्यथा ।
मंत्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे ॥१२०

अन्वय—एवं अन्ये अपि स्वस्वपक्षाभिमानेन मन्त्रार्थवादकल्पादीन् आश्रित्य अन्यथा अन्यथा प्रतिपेदिरे ।

अर्थ—इस प्रकार और भी भैरव मैराल आदि देवोपासकों ने अपने-अपने पक्ष का अभिमान करके तथा मन्त्रों, अर्थवादों एवं कल्प आदि का सहारा लेकर, कुछ का कुछ प्रतिपादन कर डाला है ।

यहां मन्त्र से अभिप्राय मारण, उच्चाटन, वशीकरणादि रूप सिद्धि के लिए नाना इष्टदेवों–भैरव–आदि के मन्त्रों से है । अर्थवाद का अर्थ है अपने देवता भैरव आदि की स्तुति व दूसरे देवताओं की निन्दा । कल्प से अभिप्राय मन्त्र-तन्त्र के प्रतिपादक आधुनिकग्रन्थ हैं । इनके प्रमाण से वादी लोग कुछ का कुछ प्रतिपादन करने लगते है ॥१२०॥

ईश्वर के सम्बन्ध में असंख्य मत

अन्तर्यामिणमारभ्य स्थावरान्तेशवादिनः ।

सन्त्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात् ॥१२१

अन्वय—अन्तर्यामिण आरभ्य स्थावरान्तेशवादिन. सन्ति, अश्वत्थार्कवशादे कुलदैवत्वदर्शनात् ।

अर्थ—अन्तर्यामी से लेकर स्थावर पर्यन्त को ईश्वर मानने वाले (इस ससार मे) विद्यमान हैं। क्योकि पीपल, आक तथा बास आदि भी कुलदेवता पाये जाते हैं ॥१२१॥

इस प्रकार मतभेद दिखाई देता है तो किसको ठीक मानें ? इसका उत्तर देते हैं :—

तत्त्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम् ।
एकैव प्रतिपत्तिः स्यात्साप्यत्र स्फुटमुच्यते ॥२२

अन्वय--तत्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणा एका एव प्रतिपत्तिः स्यात्, सा अपि अत्र स्फुट उच्यते ।

अर्थ—तत्त्व अर्थात् ईश्वर के यथार्थ स्वरूप के निश्चय की इच्छा लेकर जो लोग (न्याय) युक्ति और शास्त्र को विचारते है उनका एक ही निर्णय (प्रतिपत्ति) सम्भव है। अब उसी निर्णय को यहा स्वष्ट रूप से कहते हैं ॥१२२॥

उसी निर्णय का दिग्दर्शन कराने के लिए तदनुकूल श्रुति का पाठ करते हैं :—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१२३

अन्वय---माया तु प्रकृति विद्यात्, मायिन तु महेश्वरम् । अस्य अवयवभूतै तु इद सर्व जगत् व्याप्तम् ।

अर्थ—माया को ही प्रकृति (जगत् का उपादान कारण) जानो, और मायी (मयोपाधि अन्तर्यामी) को ही महेश्वर (मायाधिष्ठाता जगत् का निमित्त कारण) जानो। इस मयोपाधिक

ईश्वर के अवयवभूत (चराचर अर्थात् स्थावरजगमरूप जीवों) से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है ।

इस श्रुति के अनुसार ही निर्णय उचित है–

इति श्रुत्यनुसारेण न्याय्यो निर्णय ईश्वरे ।
तथा सत्यविरोधः स्यात्स्थावरान्तेशवादिनाम् ॥

अन्वय–इति श्रुत्यनुसारेण ईश्वरे निर्णय न्याय्य. तथा सति स्थावरान्तेशवादिना अविरोध· स्यात् ।

अर्थ–इस (पूर्वोक्त श्लोक में वर्णित) श्रुति के अनुसार ही, ईश्वर के विषय मे निर्णय करना उचित है। ऐसा होने पर अर्थात् स्थावर जगमादिरूप सारे जगत् को (अन्तर्यामी से लेकर स्थावर पर्यन्त को) ईश्वर मान लेने वालो का किसी भी वादी से विरोध नही होता ॥१२४॥

माया का स्वरूप

माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात् ।
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम् ॥१२५

अन्वय—तापनीये तदीरणात् इय माया तमोरूपा । तत्र अनुभूति प्रमाण श्रुति स्वय प्रतिजज्ञे ।

अर्थ—नृसिह तापनीय उपनिषद् मे ऐसा बताया गया है इसलिए वह माया (जगत् की उपादान भूत कारण) तम अर्थात् अज्ञानरूप * है। श्रुति ने स्वय माया को तमोरूप सिद्ध करने के लिए अनुभव को प्रमाण माना है ॥१२५॥

* लोक में भी ऐन्द्रजालिक के मन्त्र ओषधि आदि के द्वारा देखने वाले पुरुषो के अज्ञान के क्षुब्ध होने से ही उस-उस आकार में ऐन्द्रजालिक दीखने लगता है अतएव माया ही अज्ञान है। अज्ञान जब असम्भव को सम्भव बना देता है तब उसे माया कहते हैं और जब वही अज्ञान

माया की अज्ञानरूपता में श्रुत्यनुसार लोकानुभव

जडं मोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः ।

आबालगोपं स्पष्टत्वादानन्त्यं तस्य साऽब्रवीत् ॥

अन्वय—तत् जडं च मोहात्मकं इति श्रुतिः अनुभावयति । आबालगोप स्पष्टत्वात् तस्य आनन्त्य सा अब्रवीत् ।

अर्थ—'तदेतज्जडं मोहात्मकम्' "माया का यह कार्य जड और मोहरूप है" यह श्रुति ही माया की तमोरूपता विषयक अनुभव को स्पष्ट करती है । फिर प्रकृति का कार्य जड और मोहरूप है यह बात बाल-गोपाल आदि सब लोगों को अनुभव होती है । और 'अनन्तम्' वह अनन्त है इस श्रुति ने उसकी अनन्तता बताई है ॥१२६॥

जड और मोह का अर्थ बताते हैं—

अचिदात्मघटादीनां यत्स्वरूपं जडं हि तत् ।

यत्र कुण्ठीभवेद्बुद्धिः स मोह इति लौकिकाः ॥

अन्वय—अचिदात्मघटादीनां यत् स्वरूप तत् हि जडम् । 'यत्र बुद्धिः कुण्ठीभवेत् सः मोह इति लौकिकाः ।'

अर्थ—अचेतनरूप घटादि पदार्थों का स्वरूप ही जड है और जहां जाकर बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, वह मोह है ऐसा लोग कहते हैं ॥१२७॥

इत्थं लौकिकदृष्टयैतत्सर्वैरप्यनुभूयते ।

युक्तिदृष्ट्या त्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ।

अन्वय—इत्थं लौकिकदृष्ट्या एतत् सर्वैः अनुभूयते, तु युक्तिदृष्ट्या

ब्रह्मात्मा के स्वरूप को ढकता है अथवा ज्ञान का विरोधी होने से अज्ञान कहलाता है, इसलिए माया अज्ञान से भिन्न नहीं है ।

अनिर्वाच्यम्, नासदासीत् इतिश्रुते ।

अर्थ—इस प्रकार लौकिकदृष्टि से जड और मोहरूप मायाकी तमोरूपता को सब जन अनुभव करते ही हैं, परन्तु युक्ति से तो वह माया का रूप अनिर्वाच्य सिद्ध होता है। उसको सत् अथवा असत् कुछ नही कह सकते। 'नासदासीत्' इस श्रुति से भी माया की अनिर्वनीयता सिद्ध होती है ।।१२८।।

उक्त श्रुति के अभिप्राय को कहते हैं :

नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् ।
विद्यादृष्टया श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः ॥

अन्वय—न असत् आसीत् विभातत्वात्, च नो सत् आसीत् बाधनात् विद्यादृष्ट्या तुच्छ श्रुतम् तस्य नित्यनिवृत्तित ।

अर्थ—वह मायातत्त्व असत् नही था, क्योकि सब को प्रतीत होता था, और सत् भी नही था क्योकि 'नेह नानास्तिकिंचन' (वृ० ४–४–१६) इस श्रुति में आत्मा से भिन्न सब तत्त्वो का वाध किया है। 'सत् और असत् उभयरूप होना तो तम प्रकाश की भान्ति विरुद्ध होने से अयुक्त है, इसलिए श्रुति ने उसकी उपेक्षा करदी है।

इस प्रकार युक्ति से उसकी अनिर्वचनीयता दिखला कर कहते हैं कि ज्ञान की दृष्टि से-श्रुति में उसे तुच्छ कहा गया है क्योकि ज्ञान दृष्टि हो जाने पर वह अज्ञानरूपमाया सदा के लिए निवृत्त हो जाती है।* श्रुति में "तुच्छमिद रूपमय" कहकर उस माया को तुच्छ वताया है ।।१२६।।

---

* निवृत्ति का अर्थ वाध है। यह विषय और विषयी रूप से दो प्रकार का है। जिस वाध का प्रकाश होता है वह विषय और प्रकाश करने वाले वाध का नाम विषयी होता है। जैसे रज्जु मे सर्प का त्रिका-

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ॥

अन्वय—असौ माया श्रौतयौक्तिकलौकिकैः त्रिभिः बोधैः तुच्छा अनिर्वचनीया च वास्तवी इति त्रिधा ज्ञेया ।

अर्थ—वह माया श्रुति जन्य, युक्ति जन्य और लोक प्रसिद्ध तीन बोधो से क्रमश तुच्छ अर्थात् तीनो कालो मे असत्, अनिर्वचनीय अर्थात् सत् असत् से भिन्न (मिथ्या) और वास्तवी अर्थात् सत्य) इस प्रकार, तीन प्रकार की जाननी चाहिए। (श्रुति माया को तुच्छ बताती है, युक्ति से वह अनिर्वचनीय सिद्ध होती है और लौकिक प्राणी उसे वास्तविक (सत्य) मानते हैं।) ॥१३०॥

अब इस माया के कार्य को दिखाते हैं—

अस्य सत्त्वमसत्त्वं च जगतो दर्शयत्यसौ ।
प्रसारणाच्च संकोचाद्यथा चित्रपटस्तथा ॥१३१

लव्यापी व्यावहारिक अभाव है वैसे ही अधिष्ठान ब्रह्म मे अविद्या और उसके कार्य जगत् का त्रिकाल-व्यापी पारमार्थिक अभाव है, यह विषयरूप बाध है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस निश्चयरूप तत्वज्ञान के पश्चात् के क्षण मे होने वाली 'मुझ में तीनो कालो मे अविद्या और प्रपंच नही है' इस आकार वाली वृत्ति, विषयीरूप बाध है क्योंकि यह पूर्वसिद्ध अविद्यादि के अभाव को प्रकाशित करती है।

यदि विषयरूप बाध को न मानें तो विषयीरूपी से निश्चय भी भ्रम मे बदल जायगा क्योंकि अन्य में अन्य की बुद्धि हो जायगी। इसलिए विषयरूप बाध को अवश्य स्वीकार करना पडता है। यहाँ नित्यनिवृत्ति से विषयरूप बाध का ही ग्रहण है।

अन्वय—प्रसारणात् च सङ्कोचात् तथा चित्रपट तथा असौ अस्य जगतः सत्व च असत्व दर्शयति ।

अर्थ—जैसे चित्रपट, फैलाने और लपेटने पर क्रमश. चित्र को सत् और असत् रूप में दिखाता है वैसे ही यह माया कभी जगत् को सत् और कभी असत् प्रकट करती है ।।१३१।।

फिर, वह माया स्वतन्त्र भी है और अस्वतन्त्र भी है यह दर्शाते हैं :-

अस्वतन्त्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम् ।
स्वतन्त्राऽपि तथैव स्यादसङ्गस्यान्यथाकृतेः ।।१३२

अन्वय—चितिं विना अप्रतीतेः माया अस्वतन्त्रा हि स्यात् । तथा एव असगस्य अन्यथाकृते. स्वतन्त्रा अपि स्यात् ।

अर्थ—चिति अर्थात् अपने प्रकाशक चैतन्य के विना प्रतीत नही होती इसलिए तो माया अस्वतन्त्र कही जा सकती है और चू कि वह असग अर्थात् माया के सम्वन्ध मे रहित आत्मा को और तरह का कर देती है इसलिए वह स्वतन्त्र भी कही जा सकती है ।।१३२।।

आत्मा के अन्यथाकरण को ही अब स्पष्ट करते हैं .

कूटस्थासंगमात्मानं जगत्वेन करोति सा ।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ।।१३३

अन्वय—सा कूटस्थासग आत्मान जगत्वेन करोति । चिदाभासस्वरूपेण जीवेशौ अपि निर्ममे ।

अर्थ—यह माया निर्विकार असग आत्मा को अहंकारादि प्रपचमय जगत् वना देती है और उसी माया ने चिदाभासरूप से जीव और ईश्वर का निर्माण किया है। "जीवेशावभासेन करोति"

यह श्रुत्युक्त जीवेश्वर-विभाग भी माया का किया हुआ है। (असङ्ग आत्मा का यह सब अन्यथाकरण ही है ॥१३३॥

आत्मा का अन्यथाकरण मान लेने से वह कूटस्थ कैसे रहेगा ? इस शङ्का का समाधान करते हुए बताते हैं कि माया तो दुर्घट कामो को ही करती है .--

कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम् ।
दुर्घटैकविधायिन्यां मायाया का चमत्कृतिः ॥१३४

अन्वय — कूटस्थम् अनुपद्रुत्य जगदादिक करोति, दुर्घटैकविधायिन्या मायायां का चमत्कृति ।

अर्थ—वह माया कूटस्थ में किसी प्रकार का उपद्रव भी नही करती (कूटस्थ को जैसा का तैसा ही बना रहने देती है) और फिर भी उसको जगदादि बना डालती है। यह कैसे ? क्योकि एकमात्र (मुख्य रूप से) दुर्घट कामो को करने वाली माया के लिए यह कोई चमत्कार नही है। यदि यह दुर्घट कामो को न करे तो फिर उसे माया ही कौन कहे ? ॥१३४॥

माया की दुर्घटकारिता के दृष्टान्त

द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि ।
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः ॥

अन्वय—उदके द्रवत्व वह्नौ औष्ण्य अश्मनि काठिन्य च मायाया दुर्घटत्व, स्वत. सिद्धयति, अन्यत. न ।

अर्थ—जल मे द्रवत्व, अग्नि मे उष्णता, पत्थर मे कठोरता और माया मे दुर्घटता स्वत सिद्ध हैं–अन्य से नही। जलादि मे द्रवत्व आदि की भान्ति माया मे दुर्घटकारिता स्वभाव से ही है–किसी और कारण से नही।

१३४ वें श्लोक मे जो यह कहा है कि "माया मे दुर्घटकारिता

कोई आश्चर्य का कारण नही है"-यह सिद्ध नही होता क्योकि लोक में माया चमत्कार की हेतु दीख पडती है—इस आशंका उत्तर देते हैं–

न वेत्ति लोको यावत्तां साक्षात्तावच्चमत्कृतिम् ।
धत्ते मनसि पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ॥१३६

अवन्य—लोक. यावत् तं साक्षात् न वेत्ति तावत् मनसि चमत्कृति धत्ते। पश्चात् तु एषा माया इति उपशाम्यति।

अर्थ–जब तक यह लोक उस माया के प्रयोक्तृत्व का साक्षात्कार नही करता तभी तक वह अपने मन मे आश्चर्य करता है, पीछे तो (मायावी का ज्ञान होने के पश्चात्) 'यह माया है' इस प्रकार आश्चर्य (शान्त) निवृत्त हो जाता है ॥१३६॥

जगत् को सत्य मानने वाले नैयायिको से ही ऐसे प्रश्न पूछो, मायावदियो से नही—इसी को स्पष्ट करते हैं :—

प्रसरन्ति हि चोद्यानि जगद्वस्तुत्ववादिषु ।
न चोदनीयं मायायां तस्याश्चोद्यैकरूपतः ॥१३७

अन्वय—जगद्वस्तुत्ववादिपु चोद्यानि प्रसरन्ति हि मायाया चोदनीय न तस्या: चोद्यैकरूपत ।

अर्थ–इस प्रकार के आक्षेप तो जगत् को सत्य मानने वाले नैयायिक आदियो पर ही हो सकते हैं, माया पर आक्षेप नही करने चाहिये क्योकि माया तो स्वय आक्षेप योग्य है। (दुर्घटपना ही माया का रूप है : वह समझ में नही आती इसलिये उस पर आक्षेप सम्भव हैं, वह तो पहले ही आक्षेप योग्य है फिर उस पर आक्षेप क्या करना ?) ॥१३७

मायावादी पर आक्षेप लगाने में दोष है

चोद्येऽपि यदि चाद्यं स्यात्त्वच्चोद्ये चोद्यते मया ।
परिहार्यं ततश्चोद्यं न पुनः प्रतिचोद्यताम् ॥१३८

अन्वय—चोद्ये अपि यदि चोद्य स्यात् त्वच्चोद्ये मया चोद्यते। ततः चोद्यं परिहार्यं पुन न प्रतिचोद्यताम्।

अर्थ–यदि आक्षेप योग्य बात पर भी आक्षेप करते जाओगे तो मुझे फिर तुम्हारे कथन पर आक्षेप करना पड़ेगा (इस प्रकार आक्षेप-प्रत्याक्षपो का परिणाम क्या होगा ? कुछ भी नही) इसलिये चाहिये यह कि किसी प्रकार आक्षेप (या प्रश्न) का निवारण (समाधान) हो, पुन प्रत्याक्षेप या परिप्रश्न करना उचित नही है।

इसी अर्थ को विस्तार से कहते हैं —

विस्मयैकशरीराया मायायाश्चोद्यरूपतः।
अन्वेष्यः परिहारोऽस्या बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः॥

अन्वय—विस्मयैकशरीराया मायाया चोद्यरूपत अस्या. परिहार बुद्धिमद्भि प्रयत्नत. अन्वेष्य·।

अर्थ–मुख्य-रूप से विस्मय रूप (आश्चर्य रूप) शरीर वाली माया, चूंकि आक्षेप अथवा प्रश्न-योग्य है इसलिये इस माया रूप प्रश्न की निवृत्ति का उपाय बुद्धिमानो को प्रयत्न से ढूंढना चाहिये।

जब मायात्व का निश्चय हो जाय तभी तो माया-निवृत्ति का उपाय ढूंढना उचित है ? इस प्रश्न और उसके समाधान का वर्णन करते हैं —

मायात्वमेनिश्चेयमिति चेत्तर्हि निश्चिनु।
लोकप्रसिद्धमायाया लक्षणं यत्तदीक्ष्यताम् ॥१४०

अन्वय—माय त्व एव निश्चेय ? इति चेत् तर्हि निश्चिनु। लोकप्रसिद्धमायाया. यत् लक्षण तत् ईक्षताम्।

अर्थ–मायात्व का ही यदि निश्चय करना है तो कर लो और



देख लो कि लोक मे प्रसिद्ध माया (इन्द्रजालरूप) के लक्षण इसमे भी पाये जाते हैं ॥१४०

इन्द्रजालरूपा लौकिक माया का लक्षण वताते हैं:—

न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या ।
सा मायेतीन्द्रजालादौ लोकाः संप्रतिपेदिरे ॥१४१

अन्वय—या निरूपयितु शक्या न, च विस्पष्ट भासते सा माया इति इन्द्रजालादौ लोका सप्रतिदिरे ।

अर्थ–जिसका निरूपण न हो सकता हो, फिर भी स्पष्टभासती हो वह 'माया' है–इन्द्रजालादि में लोग माया को ऐसा समझते हैं ॥१४१॥

दृष्टान्त मे सिद्ध लक्षण को दार्ष्टान्ति मे घटाते हैं—

स्पष्टं भाति जगच्चेदमशक्यं तन्निरूपणम् ।
मायामय जगत्तास्मादीक्षस्वापक्षपाततः ॥१४२

अन्वय—इद जगत् स्पष्टम् भाति च तन्निरूपण अशक्य तस्मात् अपक्षपातत. जगत् मायामय ईक्षस्व ।

अर्थ–यह जगत् स्पष्ट दीख रहा है और इसका निरूपण कर सकना अशक्य है, इस कारण पक्षपात को छोड़कर इस जगत को मायामय समझ लो ॥१४२

जगत् का निरूपण क्यो अशक्य है ?

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः ।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ॥१४३

अन्वय—निखिलै पण्डितै. अपि निरूपयितुम् आरब्धे कासुचित् कक्षासु तेषा पुरत. अज्ञान भाति ।

अर्थ–ससार के सब पण्डित भी जब इसका निरूपण करने लगते हैं जो कुछ कक्षा चलने पर (वाद की कुछ सीढ़ियाँ पार

करने पर) उनके सन्मुख अज्ञान दीखने लगता है। वे कहने लगते हैं कि इसे हम नही जानते ॥१४३

'जगत् का निरूपण करना अशक्य है' इस बात को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—

देहेन्द्रियादयो भावा वीर्येणोत्पादिताः कथम् ।
कथं वा तत्र चैतन्यमित्युक्ते ते किमुत्तरम् ॥१४४

अन्वय—देहेन्द्रियादय भावा. वीर्येण कथमुत्पादिता वा तत्र चैतन्य कथ इति उक्ते ते कि उत्तरम् ?

अर्थ–देहेन्द्रिय आदि पदार्थ वीर्य से कैसे उत्पन्न हो जाते हैं और इन मे चेतनता क्यो कर आजाती है ? इन प्रश्नो का तुम्हारे पास क्या उत्तर है ? ॥१४४

स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति मानने वालो (चार्वाक आदि) की शङ्का का समाधान :

वीर्यस्यैष स्वभावश्चेत्कथं तद्विदितं त्वया ।
अन्वयव्यतिरेकौ यौ भग्नौ तौ वन्ध्यवीर्यत. ॥

अन्वय—एष वीर्यस्य स्वभाव चेत् ? त्वया तत् कथ विदितम् ? अन्वयव्यतिरेकौ यौ तौ वध्ववीर्यत भग्नौ।

अर्थ : यदि इस (जगदुत्पत्ति) को वीर्य का स्वभाव मानो तो बताओ तुमने यह स्वभाव कैसे जाना ? यदि कहो कि अन्वय-व्यतिरेक से पहचनाता हूँ तो तुम्हारे अन्वयव्यतिरेक तो वन्ध्य-वीर्य होने से भग्न हो जाते हैं।

(वन्ध्या स्त्री मे पडा वीर्य अथवा जो वीर्य स्वय वन्ध्य होता है वह व्यर्थ जाता है। अतएव जहा-जहा वीर्य है वहा-वहा देहादि होते है यह व्याप्ति नही घटती और व्याप्ति के अभाव से 'वीर्य हो तो देहादि हो'—यह अन्वय नही घटता। फिर स्वेदज जू

आदि और उद्भिज वृक्ष आदि की उत्पत्ति में वीर्य कारण नही होता। इसलिए वीर्य न होने से देहादि भी नही होते' यह व्यतिरेक भी नही घटता।) ॥१४५॥

इस प्रकार के प्रश्नो का एक मात्र उत्तर 'मैं कुछ नही जानता' यही हो सकता हैं–यह कहते हुए निष्कर्ष कहते हैं.—

न जानामि किमप्येतदित्यन्ते शरणं तव ।
अतएव महान्तोऽस्य प्रवदन्तीन्द्रजालताम् ॥

अन्वय—'एतत् किम् अपि न जानामि' इति अते तव शरणम्। अतः एव महान्त अस्य इद्रजालता प्रवदन्ति।

अर्थ—यो वार वार पूछे जाने पर 'मैं कुछ भी नही जानता' यह अज्ञान ही तेरा रक्षक होगा—तुझे अन्त मे इस विपयक अज्ञान को मानना ही पड़ेगा। यही कारण है कि महान् पुरुष इनको इन्द्रजाल कह देते है।।१४६॥

इस विषय मे वृद्धो की सम्मिति दर्शाते हैं.—

एतस्मात्किमिवेन्द्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितं,
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानांकुरम् ।
पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरावेषैरनेकैर्वृतं,
पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति ।

अन्वय—एतस्मात् अपर इन्द्रजाल कि इव ? यत् गर्भवासस्थितं रेतः चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाकुर पर्यायेण अनेकै शिशुत्वयौवनजरावेषै वृत पश्यति अत्ति शृणोति जिघ्रति अथ आ गच्छति।

अर्थ—इस ससार मे इससे बड़ा इन्द्रजाल और क्या होगा कि गर्भवास मे स्थित वीर्य चेतन होता (चेष्टा करता) है, और उसमे हाथ, मस्तक, पाव और उनमे अगुली, कान, नाक नेत्र आदि अकुर पैदा होते हैं और वही वीर्य क्रम से (समय भेद से)

वाल, युवा और वृद्ध आदि अनेक वेषो से घिरकर देखता, खाता, सुनता, सूघता जाता और आता है। और ऐसी ही दूसरी क्रियायें भी करता है ॥१४७॥

और केवल देहादि ही दुर्निरूप्य हो यह बात नही, वटवृक्षादि भी दुर्निरूप्य हैं —

देहवद्वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम् ।
क्व धानाः कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेति निश्चिनु॥

अन्वय—देहवत् वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम्, क्व धाना ? कुत्र वा वृक्ष तस्मात् माया इति निश्चिनु ।

अर्थ—देह की भान्ति वड आदि वृक्षो के वीजो मे भली प्रकार विचार करके देख लो कहा तो यह सूक्ष्म सा वीज है और कहा विशाल वृक्ष ? यह सब देखकर निश्चय करलो कि यह सब माया है ।

हम चाहे माया का निरूपण न कर सके पर उदयनाचार्य आदि ने तो उसका निरूपण किया है, इसका उत्तर देते हैं—

निरुक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः ।
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिताः ॥

अन्वय—ये तार्किकादय निरुक्तौ अभिमान दधते तु हर्षमिश्रादिभि खण्डनादौ सुशिक्षिता ।

अर्थ—जो वड़े-वडे तार्किक आदि इस संसार की निरुक्ति का अभिमान रखते हैं, खन्डन आदि ग्रन्थो मे हर्ष मिश्र आदि ने उन को भली प्रकार छकाया है-(खण्डनरूप दण्ड दिया है) ॥१४६॥

अव इस विषय में साम्प्रदायिक आचार्यों (वेदान्ताचार्यों) के वाक्य प्रमाणरूप से उपस्थित करते हैं —

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत् ।

अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि जगत्खलु ॥१५०

अन्वय—ये भावा· अचिन्त्याः खलु तान् तर्केषु न योजयत् । जगत् मनसा अपि अचिन्त्यरचनारूप खलु ।

अर्थ—वेदान्ताचार्यों ने कहा है कि जो पदार्थ अचिन्त्य हैं उन को कल्पनारूप तर्क से नही कसना चाहिए । क्योंकि यह जगत् ऐसा ही है कि उसकी रचना का चिन्तन मन से भी सम्भव नही है ॥१५०॥

यदि जगत् की रचना अचिन्त्य हो तो हो, माया से इसका क्या सम्बन्ध है ? इसका उत्तर देते हैं:—

अचिन्त्यरचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चिनु ।
मायाबीजं तदेवैकं सुषुप्तावनुभूयते ॥१५१

अन्वय—'अचिन्त्य रचना शक्तिबीज' माया इति निश्चित् । तद् एव एक मायाबीज सुषुप्तौ अनुभूयते ।

अर्थ—'अचिन्त्य की रचना की शक्ति का बीज (कारण) माया है' यह समझ लेना चाहिए। (जिस कारण की रचनाशक्ति का विचार भी न किया जा सके उसे 'माया' समझ लेना चाहिए ।) उसी एक मायारूपी कारण का अनुभव सुषुप्ति के समय हुआ करता है ।

वह माया जगत् का बीज कसे है यह दर्शाते हैं –

जाग्रत्स्वप्नजगत्तत्र लीनं बीज इव द्रुमः ।
तस्यादशेषजगतो वासनास्तत्र संस्थिताः ॥१५२

अन्वय.—जाग्रत्स्वप्नजगत् तत्र बीजे द्रुमः इव लीनम् । तस्मात् अशेषजगत. वासना· तत्र सस्थिताः ।

अर्थ —जाग्रत् और स्वप्न नाम का जगत् उस सुषुप्तिकालीन माया बीज मे, छोटे से बीज में जैसे वृक्ष, वैसे छिपा रहता है ।

और चूंकि जगत् का कारण माया है इसलिए सब जगत् की वासनाएं (ज्ञानजन्य-संस्कार) उस माया मे स्थित रहती हैं ॥१५२॥

इससे क्या सिद्ध हुआ ? यह बताते हैं —

या बुद्धिवासनास्तासु चैतन्यं प्रतिबिम्बति ।
मेघाकाशवदस्पष्टचिदाभासोऽनुमीयताम् ॥१५३

अन्वय—या बुद्धिवासना तासु चैतन्य प्रतिबिम्बति । मेघाकाशवत् अस्पष्टचिदभास अनुमीयताम् ।

अर्थ—(उस माया मे) जो (जाग्रत्-स्वप्न रूप जगत् के ज्ञान-रूप) बुद्धि की (अपने उपादान स्वत्वगुण रूप से) वासनायें पड़ती हैं उनमे चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। वह चिदाभास मेघाकाश के समान अस्पष्ट है अतएव उसको अनुमान प्रमाण से मान लो ॥१५३॥

मेघाकाश का अनुमान तो इसलिए सम्भव है कि मेघ का अंशभूत जल यद्यपि अस्पष्ट है पर उस जल का सजातीय स्पष्ट आकाश-प्रतिबिम्ब वाला घटोदक विद्यमान है, यहाँ वैसा दृष्टान्त कौनसा है ? इसका प्रतिपादन करते है —

साभासमेव तद्बीजं धीरूपेण प्ररोहति ।
अतो बुद्धौ चिदाभासो विस्पष्टं प्रतिभासते ॥१५४

अन्वय—साभास एव तत् बीज धीरूपेण प्ररोहति । अत बुद्धौ चिदाभास विस्पष्ट प्रतिभासते ।

अर्थ—चिदाभास से युक्त वह (मायारूप) बीज (अज्ञान) बुद्धिरूप मे परिणत हो जाता है, इसलिए वह चिदाभास बुद्धि मे स्पष्ट प्रतीत होने लगता है ।

यहां निम्न प्रकार से अनुमान का प्रयोग करना चाहिए—विवाद की विषय बुद्धि की वासनाये चेतन-प्रतिबिम्ब वाली

होने योग्य हैं, क्योकि बुद्धि की अवस्था-विशेष है, जैसे बुद्धि-वृत्ति ॥१५४॥

इस प्रकार जीव और ईश्वरो की श्रुत्युक्त मायिकता का उपपादान कर उसका उपसहार करते हैं :–

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम् ।
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ ॥१५५

अन्वय—"माया अभासेन जीवेशौ करोति" इति श्रुतौ श्रुतम् । मेघाकाशजलाकाशौ इव तौ सुव्यवस्थितौ ।

अर्थ—यह माया आभास के द्वारा जीव और ईश्वर को बना देती है, यह श्रुति मे कहा गया है । (मूल प्रकृति अपने मे चेतन का आभास करके जीव और ईश्वर को बनाती है–इस प्रकार जीव और ईश्वर का मायिकपना श्रुति से सिद्ध है ।) फिर उनमे अवान्तर भेद कैसा यह बताते है –

वे दोनो जीव और ईश्वर, मेघाकाश जलाकाश की भाति सुव्यवस्थित हैं । (यद्यपि दोनो मायिक हैं* परन्तु अज्ञानावृत वासना-रूप अस्पष्ट और बुद्धिरूप स्पष्ट उपाधि वाले होने से मेघाकाश और जलाकाश की भान्ति इन दोनो का अवान्तर भेद स्पष्ट हो रहा है ।) ॥१५५॥

---

* यहाँ मायिक का अर्थ यह नही है कि जीव और ईश्वर माया के कार्य हैं, अपितु यह अर्थ है कि इनकी सिद्धि माया की सिद्धि के आधीन है । इसी प्रकार 'माया जीव ईश्वर को बनाती है' का अर्थ भी यही है कि माया अपनी सिद्धि मे इनकी सिद्धि को दर्शाती है । यदि जीव-ईश्वर को माया का कार्य माने तो छ अनादि पदार्थों मे उनकी गणना कैसे सम्भव है ?

मेघाकाश से ईश्वर की तुल्यता का स्पष्टीकरण करते हैं.–

मेघवद्वर्तते माया मेघस्थिततुषारवत् ।
धीवासनाश्चिदाभासस्तुषारस्थखवत्स्थितः ॥१५६

अन्वय—मेघवत् माया वर्तते, मेघस्थिततुषारवत् धीवासना, तुषारस्थखवत् आभासः स्थितः ।

अर्थ—मेघ के समान माया है, बुद्धि-वासनाये मेघस्थित तुषारो (सूक्ष्म जल-बिन्दुओ) के समान हैं और उन तुषारो मे स्थित आकाश (आकाश के प्रतिबिम्ब) के समान चिदाभास है। वही ईश्वर है ॥१५६॥

मायाप्रतिबिम्ब के ईश्वर होने मे प्रमाण होने का कथन करते हैं –

मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतो मायी महेश्वरः ।
अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि ॥१५७

अन्वय–मायाधीन चिदाभासः मायी महेश्वर श्रुतः। च अन्तर्यामी सर्वज्ञः जगद्योनिः स ।

अर्थ—चिदाभास (शुद्धसत्व-प्रधान प्रकृति का अंश) माया के आधीन होता है। श्रुतियो से सुना है कि वह महेश्वर–मायी अर्थात् माया का अधीश्वर है। (और यह मायागत प्रतिबिम्ब ईश्वर है) यही नही सुना है अपितु यह भी सुना है कि वह अन्तर्यामी, सर्वज्ञ और जगत् का कारण है ॥१५७॥

प्रकरणगत श्रुति प्रमाण का कथन करते हैं :—

सौषुप्तमानन्दमयं प्रक्रम्यैवं श्रुतिर्जगौ ।
एष सर्वेश्वर इति सोऽयं वेदोक्त ईश्वरः ॥१५८

अन्वय—सौषुप्त आनन्दमय प्रक्रम्य 'एष सर्वेश्वर.' इति एव श्रुतिः जगौ, स. अयं वेदोक्त ईश्वरः ।

अर्थ—सुषुप्ति समय के आनन्दमयकोश के विषय मे श्रुति ने कहा हैकि यही "सर्वेश्वर' * है। वह यह (प्रतिविम्वरूप) आनन्दमयकोश ही वेदोक्त ईश्वर है। (अर्थात् "सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एव" इत्यादि श्रुति वुद्धिवासनाप्रतिविम्वरूप आनन्दमय को ईश्वर प्रतिपादित करती है।) ॥१५८॥

उस आनन्दमय के सर्वज्ञता आदि गुण निर्विवाद हैं—

सर्वज्ञत्वादि के तस्य नैव विप्रतिपद्यताम ।
श्रौतार्थस्यावितर्क्यत्वान्मायायामं सर्वसंभवात् ॥

अन्वय—तस्य सर्वज्ञत्वादिके न एव विप्रतिपद्यताम्। श्रौतार्थस्य अवितर्क्यत्वात् मायाया सर्वसम्भवात् ।

---

* विज्ञानमय जीव ही सुषुप्तिकाल मे सूक्ष्म-रूप से विलीन होकर आनन्दमय कहलाता है। यदि उसको ईश्वर मानें तो जाग्रत् और स्वप्नावस्थाओ मे अन्त.करण की विलीन अवस्था-रूप आनन्दमय का अभाव होने से ईश्वर का भी अभाव मानना होगा। और अनन्त पुरुषो की सुपुप्ति मे ईश्वर भी अनन्त मानने पडे गे। तथा आनन्दमयकोश तो उन पाँच कोशो मे से है जिनको सभी ग्रन्थकारो ने जीव के पाँच कोश वताया है। अतएव, आनन्दमय को ईश्वर नही माना जा सकता, फिर यहाँ आनन्दमय को ईश्वर क्यो वताया है ?

इसका समाधान यह है कि माण्डूक्योपनिषद् मे आनन्दमय को सर्वज्ञ और सर्वेश्वर केवल उन लोगो के लिए बताया है जो मन्द बुद्धि हैं और महावाक्यो के विचार से तत्व साक्षात्कार के अयोग्य हैं। उन्हें प्रणव-चिन्तन वताया है और जीव तथा ईश्वर मे अभेद चिन्तन के लिए आनन्दमय को ईश्वर वताया है। यहाँ आनन्दमय को ईश्वर वताने का विद्यारण्य स्वामी का भी अभिप्राय जीवेश्वर के अभेद चिन्तन को बताना मात्र ही है।

अर्थ—उस आनन्दमय के सर्वज्ञता आदि गुणो मे शका नही करनी चाहिए (चाहे वह सर्वसाधारण के अनुभव मे नही आते) क्योकि श्रुति की बतायी बात मे तर्क नही करना होता और क्योकि माया मे सब कुछ करने का सामर्थ्य है। एन्द्रजालिक माया की भान्ति वह अघटितपदार्थ को भी रचने मे समर्थ है ॥१५९॥

यदि अनुकूल युक्ति न होगी तो श्रुतिवाक्य भी 'यह पत्थर नौका है' इस वाक्य की भाँति केवल अर्थवाद (स्तुति अथवा निन्दापरक) ही सिद्ध होगा। अतएव श्रुति की प्रमाणता की सिद्धि के लिए आनन्दमय के सर्वेश्वरता आदि गुणो को युक्ति और हेतु से सिद्ध करते हैं :—

अयं यत्सृजते विश्वं तदन्यथयितुं पुमान् ।
न कोऽपि शक्तस्तेनायं सर्वेश्वर इतीरितः ॥१६०

अन्वय—अय यत् विश्व सृजते तत् अन्यथयितुम् क· अपि पुमान् न शक्त·। तेन अय सर्वेश्वरः इति ईरित ।

अर्थ—यह आनन्दमय जिस जाग्रदादिरूप जगत् की रचना करता है उस जगत् को कोई भी उलटने (बदलने) मे समर्थ नही है। यही कारण है कि इसको 'सर्वेश्वर' कहा गया है ॥१६०॥

उसकी सर्वज्ञता का प्रतिपादन करते हैं–

अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः ।
ताभिः क्रोडीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञ ईरितः ॥१६१

अन्वय—तत्र अशेषप्राणिबुद्धीना वासनाः संस्थिता· ताभि सर्वं क्रोडीकृतम्, तेन सर्वज्ञ. ईरित. ।

अर्थ—उस कारण रूप सुषुप्ति कालीन अज्ञान मे कार्यभूत अशेषप्राणियो की बुद्धि वासनायें स्थित हैं और उन वासनाओ ने

इस सारे जगत् को अपना विषय बनाया हुआ है। इस कारण, उन सब बुद्धियो की वासनाओं से युक्त अज्ञानोपाधिवाला होने से यह आनन्दमय 'सर्वज्ञ' कहलाता है ॥१६१॥

तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण बुद्धियो की वासनावाला अज्ञान उस आनन्दमय की उपाधि है इसी से उसको 'सर्वज्ञ' कहते हैं।

और चूँकि उस ईश्वर की उपाधि वासनाएँ परोक्ष हैं अतएव सर्वज्ञता अनुभव नही होती, यह बताते हैं –

वासनानां परोक्षत्वात्सर्वज्ञत्वं नहीक्ष्यते ।
सर्वबुद्धिषु तद्दृष्ट्वा वासनास्वनुमीयताम् ॥१६२

अन्वय—वासनाना परोक्षत्वत् सर्वज्ञत्व न हि ईक्ष्यते। सर्वबुद्धिषु तद् दृष्ट्वा वासनासु अनुमीयताम्।

अर्थ – उपाधिरूपवासनाओ के परोक्ष होने से सर्वज्ञता अनुभव नही होती। (परन्तु सम्पूर्ण बुद्धियो में सर्वज्ञता को देखकर वासनाओ मे उस सर्वज्ञता का अनुमान कर लेना चाहिए।

यहा अनुमान इस प्रकार होगा-सब बुद्धियो मे (उनको मिला कर उन सब में) स्थित सर्वज्ञता, अपने कारण रूप वासना में विद्यमान सर्वज्ञतापूर्वक होनी चाहिए, क्योकि वह कार्य रूप सब बुद्धियो मे स्थित धर्म विशेष हैं, तन्तुओ के वस्त्र मे विद्यमान रूप आदि की भान्ति ॥१६२॥

अन्तर्यामिता का उपपादन करते हैं –

विज्ञानमयमुख्येषु कोशेष्वन्यत्र चैव हि ।
अन्तस्तिष्ठन्यमयति तेनान्तर्यामितां व्रजेत् ॥

अन्वय—विज्ञानमयमुख्येषु कोशेषु च अन्यत्र एव हि अन्तः तिष्ठन् यमयति, तेन अन्तर्यामिता व्रजेत्।

अर्थ—विज्ञानमय आदि चार कोशो और पृथिवी आदि भूतो

के भीतर बैठकर इनको प्रेरित करता है (या नियम मे रखता है) इसी से वह अन्तर्यामी (अन्दर रह कर नियमन करने वाला) कहलाता है ॥१६३॥

और इसकी अन्तर्यामिता मे अन्तर्यामिब्राह्मण प्रमाण है.—

बुद्धौ तिष्ठन्नान्तरोऽस्या धियानीक्ष्यश्च धीवपुः ।
धियमन्तर्यमयतीत्येवं वेदेन घोषितम् ॥१६४

अन्वय—बुद्धौ तिष्ठन् अस्या. आन्तर च धिया अनीक्ष्य धीवपु' धिय अन्त यमयति इति एव वेदे घोषितम् ।

अर्थ—"यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यादि (वृहदारण्यक ३-७ २२) अन्तर्यामिब्राह्मण मे वेद ने घोपणा की है कि विज्ञानमयकोशरूप वुद्धि मे स्थित हुआ वह अन्तर्यामी वुद्धि से अविलोकित और बुद्धि रूपशरीर वाला होकर इस बुद्धि को नियम मे रखता व प्रेरित करता है ॥१६४॥

अन्तर्यामिब्राह्मण के सब पर्यायो की व्याख्या से तो ग्रन्थ बढ जायगा अतएव 'य सर्वेषुभूतेषु तिष्ठन्' (वृ० ३-७-१५) केवल मात्र इस वाक्य की व्याख्या करते हैं :—

तन्तुः पटे स्थितो यद्वदुपादानतया तथा ।
सर्वोपादानरूपत्वात्सर्वत्रायमवस्थितः ॥१६५

अन्वय—यद्वत् ततु उपादानतया पटे स्थित. तथा अय सर्वोपादानरूपत्वात् सर्वत्र अवस्थित ।

अर्थ—जिस प्रकार तन्तु उपादानरूप से पट में सर्वत्र विद्यमान रहता है, इसी प्रकार यह अन्तर्यामी सबका उपादान होने के कारण सर्वत्र स्थित है—यह वात 'य. सर्वभूतेषु तिष्ठन्' इस श्रुतिवाक्य में कही है ॥१६५॥

सर्वत्रावस्थित है तो फिर, सर्वत्र उपलब्ध क्यो नही होता ? इसका उत्तर देते हैं :—

पटादप्यान्तरस्तन्तुस्तन्तोरप्यंशुरान्तरः ।
आन्तरत्वस्य विश्रान्तिर्यत्रासावनुमीयताम् ॥१६६

अन्वय—पटात् अपि आन्तर. तन्तुः तन्तोः आन्तरः अशु. । यत्र आन्तरत्वस्य विश्रान्ति. तत्र असौ अनुमीयताम् ।

अर्थ—पट से भी भीतर तन्तु होता है और तन्तु से भीतर अशु अर्थात् सूक्ष्मतन्तु होता है इस प्रकार जहा आन्तरपने की समाप्ति हो जाय वहा इस ईश्वर को अनुमान से जान लेना चाहिए अर्थात् सबसे भीतर होने से ही वह सर्वत्र उपलब्ध नही होता ।

यह अनुमान इस प्रकार होगा—आन्तरता का तारतम्य (न्यूनाधिक भाव) कही तो समाप्त होगा, क्योकि वह तारतम्य है जैसे अणुत्व का तारतम्य है ॥१६६॥

सबसे भीतर होने पर भी, सूक्ष्म तन्तुओ की भाँति अन्तर्यामी का दर्शन तो सम्भव है ही, फिर क्यो नही दर्शन होता ? इसका समाधान करते हैं –

द्वित्र्यान्तरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमान्तरः ।
न वीक्ष्यते ततो युक्तिश्रुतिभ्यामेव निर्णयः ॥१६७

अन्वय—द्वित्र्यान्तरत्वकक्षाणा दर्शने अपि अय आन्तरः न वीक्ष्यते। तत· युक्तिश्रुतिभ्या एव निर्णय.।

अर्थ—आन्तरता की दो तीन अवस्थाओ के दर्शन वाह्यपटादि पदार्थों मे हो जाते हैं परन्तु इसमें वाह्यत्व तो होता नही—यह अन्तर्यामी सबका सब आन्तर है अतएव यह सर्वान्तर नही दीखता । इस कारण इसके सद्भाव का निर्णय युक्ति और श्रुति

के सहारे ही करना पडता है। (कोई भी अचेतन अधिष्ठता के बिना प्रवृत्त नही करता यह तो उसकी सिद्धि मे युक्ति है और श्रुति का उद्धरण पहले १६४ श्लोक में दे चुके हैं।) ॥१६७॥

'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' (बृ० ३-७-१५) इस वाक्य का अर्थ कहते हैं—

पटरूपेण संस्थानात्पटस्तन्तोर्वपुर्यथा ।
सर्वरूपेण संस्थानात्सर्वमस्य वपुस्तथा ॥१६८

अन्वय—पटरूपेण सस्थानात् पट यथा तन्तो वपु तथा सर्वरूपेण सस्थानात् सर्वं अस्य वपु' ।

अर्थ—जैसे (तन्तु का) पटरूप हो जाने पर वह पट तन्तु का शरीर माना जाता है वैसे वह अन्तर्यामी क्योकि सर्वरूप (समस्त जगत् रूप) से स्थित हो जाता है इसलिए यह सब जगत् ही उसका शरीर माना जाता है ॥१६८॥

'य सर्वाणिभूतान्यतरो यमयति' (बृ० ३-७-१५) इस वाक्य का तात्पर्य दो श्लोको मे बताते हैं :

तन्तोः संकोचविस्तारचालनादौ पटो यथा ।
अवश्यमेव भवति न स्वातन्त्र्यं पटे मनाक् ॥
तथाऽन्तर्याम्ययं यत्र यया वासनया यथा ।
विक्रियते तथाऽवश्यं भवत्येव न संशयः ॥१७०

अन्वय—यथा तन्तो. सङ्कोचविस्तारचालनादौ पट अवश्य एव भवति पटे स्वातत्र्य मनाक् न । तथा अय अन्तर्यामी यत्र यया वासनया यथा विक्रियते तथा अवश्य भवति एव, सशय न ।

अर्थ—जैसे तन्तु को सिकोडने, फैलाने या हिलाने-जुलाने पर वस्त्र भी क्रमश अवश्य सिकुडता, फैलता और हिलता-डुलता है, पट मे लेशमात्र भी स्वतन्त्रता नही है, ठीक इसी प्रकार (पृथिवी

आदि मे उपादानरूप से रहने वाला) यह अन्तर्यामी जिस जिस वासना से, घटादि रूप कार्य मे विकृत हो जाता है, वह वह कार्य अवश्य होकर रहते हैं, इसमें कोई सन्देह नही है ॥१६६-१७०॥

अब अन्तर्यामिप्रतिपादिका स्मृति को उद्घृत करते हैं :

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन्तत्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१७१

अन्वय—अर्जुन ! ईश्वर यन्त्रारूढानि सर्वभूतानि मायया भ्रामयन् सर्वभूताना हृद्देशे तिष्ठति ।

अर्थ—यह श्रीमद्भगवद्गीता के आठवें अध्याय का ५१ वां श्लोक है। हे अर्जुन ! ईश्वर* सब प्राणियो के हृदय देश में

---

* यहाँ ईश्वर एक वचन है अतएव भगवान् के इस वाक्य से ईश्वर एक सिद्ध होता है। इससे नानात्ववादी विष्णु स्वामी का मत निरस्त हो जाता है। 'हृद्देश' मे जो एक वचन है वह तो जाति का निर्देशक है क्योकि अन्य प्रमाणो और लोकानुभव के आधार पर हृदय तो अनेक हैं ही। यो भी शरीर-शरीर मे पृथक्-पृथक् ईश्वर मानने मे एक ही प्रजा के विभिन्न राजाओ की भाँति एक ब्रह्मांड के अनेक नियन्ता होने से, विभिन्न इच्छाओ के होने पर जगत् मे अव्यवस्था फैल जायगी। यदि यह कहो कि जैसे एक राजा के अनेक सेवक होते हैं वैसे ही एक ब्रह्मरूप महेश्वर के अशभूत नाना नियन्ता मान लेंगे सो भी सिद्ध नहीं होता क्योकि वह एक महेश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है या नहीं, यदि नही है तब तो वह अनीश्वर जीव ही होगा और यदि है तो जब अकेले मे ही सब सामर्थ्य है तब अशभूत नाना अन्तर्यामी स्वीकार करना निष्फल ही होगा। वाचस्पति मिश्र ने ईश्वर मे नानात्व केवल इसलिए माना है कि अध्यारोप समझाकर अपवाद द्वारा मुमुक्षुओ को अद्वैत-बोध कराया जा सके। वस्तुत' वह भी ईश्वर का नानात्व स्वीकार नही करता।

स्थित है और वह यन्त्रारूढ सब भूतो को अपनी माया के प्रताप से घुमाता रहता है ।।१७१।।

गीता के 'सर्वभूतानि' पद का अर्थ समझाते हैं--

सर्वभूतानि विज्ञानमयास्ते हृदये स्थिताः ।
तदुपादानभूतेशस्तत्र विक्रियते खलु ।।१७२

अन्वय—सर्वभूतानि विज्ञानमया ते हृदये स्थिताः । तदुपादानभूतेश. तत्र खलु विक्रियते ।

अर्थ—(ऊपर उद्धृत गीता के श्लोक मे) 'सर्वभूतानि' पद का अर्थ 'विज्ञानमय' है · वे सब विज्ञानमयकोशरूप जीव हृदय-कमल में स्थित हैं । क्योकि उनका उपादानकारण ईश्वर हृदयमे ही विकार को प्राप्त हुआ करता है ।।१७२।।

'यन्त्रारूढानि' पद का अर्थ करते हैं:—

देहादिपञ्जरं यन्त्रं तदारोहोऽभिमानिता ।
विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिर्भ्रमणं भवेत् ।।१७३

अन्वय—देहादिपजर यन्त्र , अभिमानिता तदारोह. । विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्ति. भ्रमण भवेत् ।

अर्थ—देह आदि का यह पिञ्जरा 'यन्त्र' है और इसमे अभिमान कर बैठना ही इस पर "आरोहण" करना है। इस के पश्चात् देहाभिमानी का विहित (शुभ) और प्रतिषिद्ध (अशुभ) कर्मो मे प्रवृत्त हो जाना ही उसका 'भ्रमण' कहलाता है ।।१७३।।

'भ्रामण' (घुमाना) और 'माया' पदो के अर्थ करते हैं—

विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः ।
स्वशक्त्येशो विक्रियते मायया भ्रामणं हि ततः ।

अन्वय—ईश स्वशक्त्या विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः विक्रियते, तत् हि मायया भ्रामणम् ।

अर्थ–ईश्वर अपनी माया-शक्ति से प्रभावित होकर विज्ञानमय जीव रूप होकर उस विज्ञानमय की प्रवृत्ति के रूप मे विकृत हुआ करता है । यही, ईश्वर का अपनी शक्ति से अपने आप विकृत होते रहना ही, उसका माया से भ्रामण (घुमाना, कहलाता है ॥१७४॥

श्रुतियो के 'यमयति' पद का भी यही अर्थ है—

अन्तर्यमयतीत्युक्त्याऽयमेवार्थः श्रुतौ श्रुतः ।
पृथिव्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतां धिया ॥

अन्वय—अन्त.यमयति इति उक्त्या अय एव अर्थः श्रुतौ श्रुत. । अय न्याय. पृथिव्यादिषु सर्वत्र धिया योज्यताम् ।

अर्थ—'य. पृथिव्या तिष्ठन् पृथिवीमन्तरो यमयति" (बृ०३-७-३) इस श्रुति के "भीतर रहता हुआ चलाता रहता है" इस श्रुतिवाक्य मे यही बात (भ्रामणरूप बात) कही गयी है । और यही नियमन पद मे वर्णित न्याय अर्थात् रीति पृथिवी आदि सब पदार्थो मे अपनी बुद्धि से बरत लेनी चाहिए ॥१७५॥

समस्त प्रवृत्तिया सर्वेश्वर के आधीन ही हैं, इसमें एक दूसरे शास्त्र का प्रमाण उपस्थित करते हैं—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥१७६

अन्वय—धर्मं जानामि च मे प्रवत्ति न, च अधर्मं जानामि मे

निवृत्तिः न. । केन अपि हृदिस्थितेन देवेन यथानियुक्त. अस्मि तथा करोमि ।

अर्थ—मैं धर्म को जानता हूँ परन्तु उसमे मेरी प्रवृत्ति नही होती, मैं अधर्म को भी जानता हूँ परन्तु मैं उसमे बच नही पाता । इससे यह निश्चय होता है कि हृदय मे स्थित कोई देव (अन्तर्यामी) जैसी-जैसी प्रेरणा करता है वैसा-वैसा मैं करता रहता हू ॥१७६॥

यदि जीव की प्रवृत्ति ईश्वराधीन ही मानें तो पुरुष का प्रयत्न व्यर्थ होगा ? इस आशङ्का का निवारण करते हैं—

नार्थः पुरुषकारेणेत्येवं मा शङ्क्यतां यतः ।
ईशः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते ॥१७७

अन्वय—"पुरुषकारेण अर्थ. न" इति एव मा शक्यता, यतः ईश. पुरुषकारस्य रूपेण अपि विवर्तते ।

अर्थ—(समस्त प्रवृत्तिया पुरुष के अधीन मान लेने पर) 'पुरुषार्थ का कुछ भी प्रयोजन नही रहेगा' ऐसी शका मत करो क्योकि वह ईश्वर ही पुरुषार्थ का रूप धारण कर लेता है ॥१७७॥

यदि पुरुष के प्रयत्न को भी ईश्वर माना जाय तो 'नियमन करता है' 'घुमाता है' इस रूप मे जो अन्तर्यामी की प्रेरणा का निरूपण, १६४ से १७६ श्लोक तक किया है, व्यर्थ हो जायगा—इस आशङ्का का उत्तर देते हैं —

ईदृग्बोधेनेश्वरस्य प्रवृत्तिर्मैव वार्यताम् ।
तथापीशस्य बोधेन स्वात्मासङ्गत्वधीजनिः ॥

अन्वय--ईदृग्बोधेन ईश्वरस्य प्रवृत्ति. मा एव वार्यता तथापि ईशस्य बोधेन स्वात्मासङ्गत्वधीजनि ।

अर्थ—'ईश्वर ही पुरुषार्थ का रूप धारण कर लेता है' ऐसा वोध हो जाने पर ईश्वर की अन्तर्यामी रूप से प्रेरणा व्यर्थ होगी- ऐसा मानकर उसका निषेध नही करना चाहिए। क्योंकि उस रूप मे भी ईश्वर का वोध हो जाने से अपनी आत्मा (साक्षी) की असङ्गता का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा ॥१७८॥

आत्मा की असङ्गता के ज्ञान का फल दर्शाते हैं :

तावता मुक्तिरित्याहुः श्रुतयः स्मृतयस्तथा ।
श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इत्यपीश्वरभाषितम् ॥१७९

अन्वय—'तावतामुक्ति' इति श्रुतय. तथा स्मृतय. आहुः। "श्रुति-स्मृती मम एव आज्ञे" इति अपि ईश्वरभाषितम्।

अर्थ—"उतने से अर्थात् आत्मा की असगता के ज्ञान से ही मुक्ति हो जाती है" यह वात श्रुतियो तथा स्मृतियो ने कही है और "श्रुतियां तथा स्मृतिया मेरी ही आज्ञाए हैं" यह भी ईश्वर ने कहा है। इसलिए श्रुति और स्मृति के कथन को उल्लघन नही किया जा सकता ॥१७९॥

श्रुति ने भी ईश्वर को भय का कारण वताया है, यह दर्शाते हैं :

आज्ञाया भीतिहेतुत्वं भीषाऽस्मादिति हि श्रुतम् ।
सर्वेश्वरत्वमेतत्स्यादन्तर्यामित्वतः पृथक् ॥१८०

अन्वय—आज्ञाया भीतिहेतुत्व 'भीषा अस्मात्' इति हि श्रुत। एतत् सर्वेश्वरत्व अन्तर्यामित्वत. पृथक् स्यात्।

अर्थ—उस ईश्वर की आज्ञा भीति का कारण है—यह वात "भीषास्माद्वात. पवते" (तै० २-८) इत्यादि श्रुतियों से प्रसिद्ध है। (और उसको भीतिका कारण मानने का प्रयोजन है वह यह कि, इससे उसकी सर्वेश्वरता अन्तर्यामित्व से भिन्न है यह सिद्ध हो जाता है। जिसकी आज्ञा से डर कर वायु आदि गति करते

हैं वह 'सर्वेश्वर' है और शरीरो के भीतर रहते हुए नियम रखने की शक्ति ही उसकी 'अन्तर्यामिता' है ॥१८०॥

फिर इस प्रकार बाहर-भीतर वही ईश्वर नियामक है—इसको दो श्रुतियो से प्रमाणित करते हैं '

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति श्रुतिः ।
अन्तःप्रविष्टः शास्ताऽयं जनानामिति च श्रुतिः ॥

अन्वय—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन' इति श्रुतिः । च 'अन्त- प्रविष्ट' अयं जनाना शास्ता' इति श्रुति' ।

अर्थ—बृ० ३-८-२ में कहा है कि 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृते तिष्ठत ' अर्थात् 'इस अक्षर ब्रह्म के नियन्तृत्व मे हे गार्गि ! सूर्य चन्द्रमा रहते हैं" यह श्रुति है जो ईश्वर को सर्वेश्वर बताती है । और "अन्तः शास्ता जनानाम्" यह भी श्रुति है जो उसको अन्तर्यामी बतलाती है। अर्थात् ये दोनो श्रुतिया यही प्रतिपादन करती हैं कि बाहर और भीतर वही एक ईश्वर नियामक है ॥१८१॥

ईश्वर 'जगद्योनि' कैसे है ? यह बतलाते हैं '

जगद्योनिर्भवेदेषः प्रभवाप्ययकृत्त्वतः ।
आविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ ॥१८२

अन्वय—प्रभवाऽप्ययकृत्त्वतः एष' जगद्योनि भवेत् । उत्पत्तिप्रलयौ आविर्भावतिरोभावौ मतौ ।

अर्थ—उत्पत्ति और विनाश दोनो का कर्ता होने के कारण यह ईश्वर जगत् का योनि (जगत् का कारण) कहाता है । यहां उत्पत्ति और प्रलय (प्रभव अ ौरअव्यय) के अर्थ आविर्भाव और तिरोभाव हैं ॥१८२॥

ईश्वर जगत् का आविर्भाव करता है (उत्पत्ति का कारण है) इसमे दृष्टान्त उपस्थित करते हैं ।

आविर्भावयति स्वस्मिन्विलीनं सकलं जगत् ।
प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत्प्रसारितः ॥१८३

अन्वय—यद्वत् प्रसारित. पट, एष. स्वस्मिन् विलीन सकल जगत् प्राणिकर्मवशात् आविर्भावयति ।

अर्थ—जैसे कि फैलाया हुआ चित्रपट होता है (समेटे हुए चित्रपट को फैलाने पर नानाविध चित्र प्रकट होने लगते हैं।) ऐसे ही, यह ईश्वर अपने मे विलीन हुए समस्त जगत् को, प्राणियो के कर्मों के अनुसार, आविर्भूत कर दिया करता है ॥१८३॥

अब उस ईश्वर की प्रलयकारणता मे दृष्टान्त देते हैं—

पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत् ।
प्राणिकर्मक्षयवशात्संकोचितपटो यथा ॥१८४

अन्वय—यथासकोचितपट., प्राणिकर्मक्षयवशात् अखिल जगत् पुन स्वात्मनि एव तिरोभावयति ।

अर्थ—वही प्रसारित पट, जैमे, समेट लेने पर चित्रो को अपने भीतर छिपा लेता है, वैसे ही प्राणियो के (भोगदायी) कर्मों के क्षीण हो जाने पर, वह ईश्वर सारे ससार को फिर से अपने भीतर ही छिपा लेता है ॥१८४॥

आविर्भाव और तिरोभाव के अन्य दृष्टान्त देते हैं.—

रात्रिघस्त्रौ सुप्तिबोधावुन्मीलननिमीलने ।
तूष्णीभावमनोराज्ये इव सृष्टिलयाविमौ ॥१८५

अन्वय—इमौ सृष्टिलयौ रात्रिघस्त्रौ, सुप्तिवोधौ, उन्मीलननिमीलने, तूष्णीभावमनोराज्ये इव ।

अर्थ—ये सृष्टि और प्रलय परस्पर ठीक ऐसे हैं जैसे दिन-(घस्त्र) रात या जाग्रन् सुषुप्ति अवस्थाए, या आख को खोलना

और बन्द करना अथवा निर्विकल्प रहना (चुप रहना) और मनोराज्य करना अर्थात् सविकल्प मन ॥१८५॥

अब प्रश्न यह है कि ईश्वर को जगत् का योनि (कारण) कहते हो वह क्या उसका आरम्भ (रचना) करता है इसलिए कहते हो अथवा वह स्वय जगदाकार मे परिणत हो जाता है इसलिये कहते हो ? इसका उत्तर देते हैं —

आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्त्वेन हेतुना ।
आरम्भपरिणामादिचोद्यानां नात्र संभवः ॥१८६

अन्वय—आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्वेन हेतुना अत्र आरम्भपरिणामादिचोद्याना सभव॰ न ।

अर्थ—आविर्भाव और तिरोभाव दोनो शक्तियो (मायारूप-सामर्थ्य) का आश्रय होने से यहा हमारे सिद्धान्त मे आरम्भ, परिणाम (स्वभाव) आदि विकल्पो की सम्भावना नही है। क्योंकि अद्वितीय आरम्भक नही हो सकता और निरवयव का परिणाम नही हो सकता–वह ईश्वर अद्वितीय और निरवयव दोनो है। अतएव यहा तो एक मात्र विवर्त्तवाद ही निष्कटक मार्ग है ।*

*अनेक कारणभूत अवयवो के सयोग से अत्यन्त भिन्न अवयवी कार्य-द्रव्य समवाय-सम्बन्ध से समवेत हुआ उत्पन्न होता है, यह आरम्भवाद है । जैसे, कपाल-रूप अवयवो के सयोग से उनसे अत्यन्त भिन्न घटकार्य उत्पन्न होता है । यहा उपादान कारण अपने स्वरूप को छोडता नही है और उपादान से भिन्न कार्य की उत्पत्ति होती है । अथवा जैसे क्रिया द्वारा दो या तीन अणुओ का सयोग होने पर द्वय-णुक, आदि उत्पन्न होते हैं अथवा तन्तुओ से पट उत्पन्न होता है । इन सब मे कार्य और कारण परस्पर भिन्न होते हैं । परन्तु यह आरम्भवाद ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति के विषय मे नही घटता क्यो कि ब्रह्म तो

परन्तु चेतन जगत् और अचेतन जगत्–दोनो का एक ही ईश्वर उपादान कैसे हो सकता है ? इस आशका का उत्तर देते हैं .

अचेतनानां हेतुः स्याज्जाड्यांशेनेश्वरस्तथा ।
चिदाभासांशतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत् ॥१८७

अन्वय—ईश्वर अचेतनानां जाड्यांशेन हेतु स्यात् तथा जीवाना चिदाभासांशत: एष कारण भवेत् ।

अद्वितीय है—उससे भिन्न कोई वस्तु है ही नही । ब्रह्म की अद्वितीयता उपनिषदो से सिद्ध है ही । यदि यहा आरम्भवाद को माने तो यह दोष आवेगा कि कार्य की उत्पत्ति के पश्चात् भी कारण ज्यो का त्यो रहता है और इस प्रकार एक ही कारण से अनेक कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिए । अतएव आरम्भवाद असङ्गत है ।

उपादान की ही समान सत्ता से उसके एकांश का रूपान्तर होकर कार्य की उत्पत्ति होना परिणामवाद है । यहाँ परिणाम-कार्य और परिणामी-कारण में अभेद मानना पडता है । जैसे मिट्टी और घडा, अन्त:करण और वृत्ति तथा प्रकृति और महत्तत्त्व परस्पर अभिन्न हैं । यह साख्यवादियो का मत है, वे जगत् को प्रकृति का परिणाम मानते हैं, कुछ उपासक इसी रूप से जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं । इन दोनो का ही मत असङ्गत है, ब्रह्ममीमासा प्रकरण मे सूत्रकार और भाष्यकार दोनो ने जड-प्रधान को जगत् का उपादान-कारण मानने का प्रवल-युक्तियो से खण्डन किया ही है । चेतन तो निरवयव है अतएव वह परिणामी हो ही नहीं सकता । यदि चेतन को परिणामी मानेंगे तो चेतन को विनाशी मानना पडेगा । अतएव परिणामवाद असङ्गत है ।

उपादान-कारण का अपने स्वरूप को छोड़े विना विषय-सत्ता द्वारा कार्यरूप में रूपान्तर हो उत्पन्न और भग्न होना विवर्त्तवाद है । जैसे सीप में चाँदी की और स्वर्ण मे आभूषण की उत्पत्ति होती है, वेदान्त इसी विवर्तवाद को स्वीकार करता है ।

अर्थ- -ईश्वर अचेतनो का तो जडतोपाधि की प्रधानता से कारण है चेतन जीवो का चिदाभासाश की प्रधानता से कारण है : इस प्रकार एक ही ईश्वर जड़-चेतन दोनो प्रकार के पदार्थों का उपादान कारण हो सकता है ।

प्रसङ्ग गत ब्रह्म और ईश्वर का विवेचन :

ईश्वर की कारणता मे एक शङ्का

तमप्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् ।
परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः ॥१८८
इति वार्तिककारेण जड़चेतनहेतुता ।
परमात्मन एवोक्ता नेश्वरस्येति चेच्छृणु ॥१८९

अन्वय--परः 'भावनाज्ञानकर्मभि तमप्रधान' क्षेत्राणा कारणता एति, चित्प्रधान चिदात्मनाम् ।' इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुता परमात्मन एव उक्ता, ईश्वरस्य न--इति चेत् शृणु :

अर्थ—वह परमात्मा, भावना (सस्कार) ज्ञान (देवताध्यान) और कर्मो (पुण्यापुण्य)के कारण जव तम.प्रधान (अर्थात् तमोगुण प्रधानमायोपाधिक) होता है तव तो क्षेत्रो अर्थात् देहो का कारण होता है और जव चित्प्रधान होता है तव चिदात्माओ का कारण हो जाता है । वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने, इस प्रकार, जड व चेतन का कारण परमात्मा को ही माना है-ईश्वर को नही। यदि यह कहो तो इसका समाधान सुनो ॥१८८, १८९॥

उक्त शका का समाधान

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव ।
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः ॥१९०

अन्वय–जीवकूटस्थयो. इव अत्र अपि ईश्वरब्रह्मणोः अन्योन्याध्यास सिद्ध कृत्वा सुरेश्वर· ब्रूते ।

अर्थ—जिस प्रकार जीव और कूटस्थ का अन्योन्याध्यास कहा है वैसे ही यहां भी ईश्वर और ब्रह्म के अन्योन्याध्यास को सिद्ध मानकर सुरेश्वराचार्य पूर्वोक्त का उत्तर देते है।

जैसे 'त्व' पद के अर्थ जीव और कूटस्थ में अधिष्ठान और आरोप का अन्योन्याध्यास मानते हैं वैसे ही 'तत' पद के अर्थ ईश्वर और ब्रह्म का भी अन्योन्याध्यास सुरेश्वराचार्य को विवक्षित है, इस लिए ही उन्होने परमात्मा को जड़ और चेतन का उपादान कारण कहा है ॥१६०॥

सुरेश्वराचार्य के प्रतिपादित पूर्वोक्त अर्थ को श्रुति से प्रमाणित करते हैं .

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म तस्मात्समुत्थिताः।
खंवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहा इति श्रुतिः ॥१६१

अन्वय—सत्य ज्ञान अनत यत् ब्रह्म तस्मात् खवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहा समुत्थिताः इति श्रुति.।

अर्थ—सत्य, ज्ञान तथा अनन्त ब्रह्म से ही, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ओषधि, अन्न और देह—'ये सब उत्पन्न हुए हैं' यह बात श्रुति ने भी ईश्वर और ब्रह्म के अन्योन्याध्यासको सिद्धवत् मान कर कही है।।१६१॥

इस श्रुति से अन्योन्याध्यास का ज्ञान कैसे होता है? यह बताते हैं ·

आपातदृष्टितस्तत्र ब्रह्मणो भाति हेतुता।
हेतोश्च सत्यया तस्मादन्योन्याध्यास इष्यते ॥१६२

अन्वय—तत्र आपातदृष्टित ब्रह्मण· हेतुता भाति, च हेतो. सत्यता, तस्मात् अन्योन्याध्यास इष्यते।

अर्थ—इस श्रुति में आपातदृष्टि से (सरसरीनजर से) सत्य

आदि रूप निर्गुण ब्रह्म, जगत् का कारण प्रतीत होता है और जगत् का कारण मायाधीन चिदाभास सत्य भासमान होता है– ये दोनो बाते अन्योन्याध्यास के विना नही घट सकती, इसलिए अन्योन्याध्यास स्वीकार करना पडता है ॥१६२॥

अन्योन्याध्यास से सिद्ध ईश्वर और ब्रह्म की एकता का समर्थन दृष्टात से करते हैं :

अन्योन्याध्यासरूपोऽसावन्नलिप्तपटो यथा ।
घट्टितेनैकतामेति तद्वद्भ्रान्त्यैकतां गतः ॥१६३

अन्वय—यथा अन्नलिप्तपट घट्टितेन एकता एति, तद्वत् असौ अन्योन्याध्यासरूप भ्रान्त्या एकता गत ।

अर्थ—जैसे माडी लगा वस्त्र घोटने से एकीभूत (गफ) हो जाता है इसी प्रकार अन्योन्याध्यासरूप यह ईश्वर भी भ्रान्ति के कारण ब्रह्म के साथ एक हो जाता है ॥१६३॥

भ्रान्ति से एकता प्रतीति का दृष्टान्त देकर अब अविचारदर्शियो को जो एकता प्रतीत होती है--उसमे अन्य दृष्टान्त देते हैं :

समेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः ।
तद्वद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातदर्शिनः ॥१६४

अन्वय —पामरै मेघाकाशमहाकाशौ न विविच्येते, तद्वत् आपातदर्शिनः ब्रह्मेशयो. ऐक्य पश्यन्ति ।

अर्थ—जैसे अल्पबुद्धि लोग मेघाकाश और महाकाश में भेद नही कर पाते, वैसे ही स्थूल विचारक लोग ब्रह्म और ईश्वर को एक समझते रहते है। अर्थात् भ्रान्त मनुष्य ब्रह्म और ईश के भेद को नही देखते ॥१६४॥

ब्रह्म और ईश्वर के भेद की प्रतीति कैसे होती है ? यह बताते हैं :

उपक्रमादिभिर्लिङ्गैस्तात्पर्यस्य विचारणात् ।

असङ्गं ब्रह्म मायावी सृजत्येष महेश्वरः ।।१६५

अन्वय—उपक्रमादिभिः लिंगैः तात्पर्यस्यविचारणात् ब्रह्म असग मायावी एष महेश्वर सृजति ।

अर्थ—उपक्रम आदि छ लिगो से (श्रुति के) तात्पर्य्य का विचार (और निश्चय) कर लिया जाता है तब यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म तो असग है (वह कुछ करता-धरता नही है) और यह मायावी महेश्वर जगत् की रचना करता है ।

उपक्रम, उपसहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन छः लिङ्गो से श्रुति के तात्पर्य का निर्णय होता है ।।१६५।।

उपक्रम (आरम्भ) और उपसहार (समाप्ति) की एकरूपता दिखाते हुए ब्रह्म की असङ्गता श्रुति मे उपपादित है'–यह दर्शाते हैं :

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्युपक्रम्योपसंहृतम् ।
यतो वाचो निवर्तन्त इत्यसङ्गत्वनिर्णयः ।।१६६

अन्वय—"सत्यं ज्ञान अनन्त" इति उपक्रम्य 'यत. वाचः निवर्तन्ते' इति उपसहृत इति असङ्गत्वनिर्णय. ।

अर्थ–तैत्तरीय उपनिषद् मे 'सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म'(तै० २-१) इस वाक्य से आरम्भ करके 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्यमनसा सह' (तै०२-४) इस वाक्य से उपसहार किया है—और इस प्रकार इस सन्दर्भ से ब्रह्म की असगता का निर्णय हो जाता है ।।१६६।।

"मायावी ईश्वर स्रष्टा है"—इसकी प्रतिपादिका श्रुति को उद्धृत करते हैं :

मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया ।
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ।।

अन्वय—मायी विश्व सृजति तत्र अन्यः मायया सन्निरुद्ध. इति अपरा श्रुतिः ब्रूतेः तेन ईश्वरः सृजेत् ।

अर्थ—'अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्ध' (श्वे०४-९) अर्थात् मायावी ईश्वर जगत् को रचता है और उस जगत् मे दूसरा–जीव–माया के वस हो बन्दी बना रहता है–यह दूसरी श्रुति है। इससे सिद्ध होता है कि इस जगत् का स्रष्टा ईश्वर है, ब्रह्म नही ॥१९७॥

इस प्रकार आनन्दमय ईश्वर को जगत् का उपादान कारण सिद्ध कर अब ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति का प्रकार बताते हैं :

आनन्दमय ईशोऽयं बहु स्यामित्यवैक्षत ।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत्सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत् ॥

अन्वय—अय आनन्दमय. ईश बहुस्या इति अवैक्षत, हिरण्यगर्भरूपः अभूत्, यथा सुप्तिः स्वप्न भवेत् ।

अर्थ—जब इस आनन्दमय ईश्वर ने 'मैं अब बहुरूप हो जाऊं' यह ज्ञानदृष्टिरूप विचार किया तो वह हिरण्यगर्भरूप (समष्टि सूक्ष्मप्रपच) हो गया। यह ऐसे ही हुआ जैसे सुषुप्ति अर्थात् गाढ निद्रा ही स्वप्न बन जाता है ॥१९८॥

परन्तु सृष्टि रचना के दो प्रकार वर्णित हैं–एक तो 'तस्माद्वा एतस्मात् आत्मन आकाश. सम्भूत.' इसमे क्रम से सृष्टि रचना का वर्णन है और दूमरे 'इद सर्वमसृजत्'--इसमे एक साथ सृष्टि रचना वतलाई है—दोनो मे से कौनसा ग्राह्य है ? यह बताते हैं :

क्रमेण युगपद्देषा सृष्टिर्ज्ञेया यथाश्रुति ।
द्विविधश्रुतिसद्भावाद्द्विविधस्वप्नदर्शनात् ॥१९९

अन्वय—एषा सृष्टिः द्विविधश्रुतिसद्भावात् क्रमेण युगपत् वा यथाश्रुति ज्ञेया । द्विविधस्वप्नदर्शनात् ।

अर्थ—जगत् की यह रचना, दोनो प्रकार की सक्रम और अक्रम सृष्टि की प्रतिपादिका श्रुतियो के होने कारण, सक्रम अथवा युगपत् दोनो प्रकार की है–श्रुति के अनुकूल होने से दोनो बातें माननी चाहिएं। क्योकि लोक मे स्वप्नपदार्थ दो प्रकार के देखे जाते हैं, किसी स्वप्न में पदार्थ क्रमशः उत्पन्न होते हैं और किसी मे सब के सब पदार्थ एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं ॥१९९॥

अब हिरण्यगर्भ के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वजीवघनात्मकः ।
सर्वाहंमानधारित्वात्क्रियाज्ञानादिशक्तिमान् ॥

अन्वय—सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्य. सर्वाहमानधारित्वात् सर्वजीवघनात्मक', क्रियाज्ञानादिशक्तिमान् ।

अर्थ—वह सूत्रात्मा (जैसे वस्त्र में सूत अनुस्यूत है वैसे ही जगत् में अनुस्यूतात्मा हिरण्यगर्भ) सूक्ष्मदेह नाम से पुकारा जाता है और वह सब (व्यष्टि लिङ्ग शरीरो) मे अहभाव ('मैं हूँ' इस भाव) को धारण करता है इसलिए (लिङ्गशरीरोपाधिवाले) सब जीवो का (घनात्मक अर्थात्) समष्टिरूप है। और इस सूत्रात्मा में इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये तीन शक्तियां हैं ॥२००॥

हिरण्यगर्भावस्था मे जगत् कैसा प्रतीत होता है ? इसको दृष्टान्त से समझाते हैं :

प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा मग्नो मन्दे तमस्ययम् ।
लोको भाति यथा तद्वदस्पष्टं जगदीक्ष्यते ॥२०१

अन्वय—यथा वा प्रत्यूषे वा प्रदोषे अय लोकः मदे तमसि मग्न. भाति तद्वत् अस्पष्ट जगत् ईक्ष्यते।

अर्थ—जैसे प्रातःकाल या सायकाल मे यह जगत् मन्द अन्धेरे

में डूबा, धुंधला धुंधला दीखता है, वैसे ही हिरण्यगर्भावस्था में जगत् अस्पष्टरूप से दीखा करता है ॥२०१॥

लाञ्छित पट के दृष्टान्त से मायी ईश्वर के शरीर का लाञ्छित होना प्रकट करते हैं—

सर्वतो लाञ्छितो मष्या यथा स्याद्घट्टितः पटः ।
सूक्ष्माकारैस्तथेशस्य वपुः सर्वत्र लाञ्छितम् ।

अन्वय--यथा घट्टित पट सर्वत. मष्या लाछित स्यात् तथा ईशस्य वपु. सूक्ष्माकारै. सर्वत्र लाछितम् ।

अर्थ—जैसे माडीदिये वस्त्र पर स्याही से भिन्न भिन्न आकार वना दिये जा सकते हैं वैसे ही मायावो ईश्वर का शरीर अपचीकृत भूतो से वने लिगशरीरो से लाञ्छित रहता है—

हिरण्यगर्भ के रूप को ही भलीभांति समझाने के लिए दूसरा दृष्टात देते हैं —

सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोऽङ्कुरितं यथा ।
कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदङ्कुरः ॥

अन्वय -यथा वा सस्य वा शाकजात सर्वत कोमल अकुरित तद्वत् एव एष पेलव' जगदकुर ।

अर्थ—जैसे धान्य व शाक के पौधे चारो ओर से कोमल अकुरो मे उगते हैं वैसे ही यह हिरण्यगर्भ नाम का) जगदकुर कोमल होता है ।।२०३।।

इस प्रकार सूत्रात्मा (हिरण्य-गर्भ) के रूप को समझा कर उसी अवस्थाभेद, पञ्चीकृतभूतो के कार्यों की उपाधि वाले, विराट् के स्वरूप को तीन दृष्टान्तो से स्पष्ट करते हैं .—

आतपाभातलोको वा पटो वा वर्णपूरितः ।

सस्यं वा फलितं यद्वत्तथा स्पष्टवपुर्विराट् ॥२०४

अन्वय—यद्वत् आतपाभातलोकः वा वर्णपूरितः पटः वा फलितं सस्य तथा स्पष्टवपुः विराट्।

अर्थ—जैसे सूर्योदय के पश्चात् खिली धूप से प्रकाशित होने वाला जगत् अथवा रगभरा कपडा अथवा फलो से लदा वृक्ष होता है वैसे से ही यह विराट् विशद शरीर वाला होता है ॥२०४॥

विराट् की सत्ता मे प्रमाण उपस्थित करते हैं—

विश्वरूपाध्याय एष उक्तः सूक्तेऽपि पौरुषे।
धात्रादिस्तम्बपर्यन्तानेतस्थावयवान्विदुः ॥२०५

अवन्य—विश्वरूपाध्याये पौरुषे सूक्ते अपि एषः उक्त.। धात्रादिस्तम्वपर्यन्तान् एतस्य अवयवान् विदु.।

अर्थ—यजुर्वेद सहिता के द्वितीय अष्टक के पचक-अध्याय-विश्वरूप अध्याय मे और पुरुष-सूक्त मे भी इस विराट् का वर्णन किया है–वहां वताया है कि ब्रह्मा से लेकर स्तम्व पर्यन्त समग्र चराचर जगत् इस विराट् के अवयव हैं ॥२०५॥

कहने का अभिप्राय यह है कि अन्तर्यामी से लेकर कुदाल तक सव ही पदार्थ ईश्वरभाव से पूज्य हैं। निम्नलिखित तीन श्लोको मे यही गई है:—

ईशसूत्रविराड्वेधोविष्णुरुद्रेन्द्रवह्नयः।
विघ्नभैरवमैरालमारिकायक्षराक्षसाः ॥२०६
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः।
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः ॥२०७
जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुद्दालकादयः।

ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः ॥२०८

अन्वय—ईशसूत्रविराड्वेध ... .. . कुद्दालकादयः एते सर्वे एव ईश्वरा. पूजिता. फलदायिन ।

अर्थ—ईश (अन्तर्यामी), सूत्र (हिरण्यगर्भ), विराट्, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, अग्नि, (विघ्न) गणेश, भैरव, मैराल, मारिका (देवी विशेष), यक्ष, राक्षस, विप्र, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गाय, घोडा, मृग, पक्षी, पीपल-वड-आम आदि वृक्ष, जौ-धान-तिनके आदि, जल पत्थर, मिट्टी, लकडी, बिसौला और कुदाल आदि भी ये सब के सब ईश्वर हैं · मनुष्य उनको ईश्वर ही जानकर पूजे : जो कोई इनको पूजा करता है उसको ये फल देते ही है ॥२०६-२०७-२०८॥

"त यथायथोपासते तदेव भवति" यह श्रुति बताती है कि उस ईश्वर की जैसी-जैसी उपासना करते हैं वैसा ही फल मिलता है। इसी बात को कहते हैं—

यथा यथोपासते तं फलमीयुस्तथा तथा ।
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ॥२०९

अन्वय--त यथा यथा अपासते तथा तथा फल ईयु . फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ।

अर्थ—उस परमेश्वर की जिस-जिस प्रकार से उपासना करते हैं उसी-उसी प्रकार से फल मिलता है। फिर फल की विषमता का क्या कारण है ? कहते हैं कि पूज्य (अधिष्ठान देवता) और पूजा (अर्चा) के सात्विक आदि भेदो के कारण, पूज्य और पूजा के अनुसार ही, फल की न्यूनाधिकता होती है ॥२०९॥

मुक्ति तो, ज्ञान के बिना, किसी की भी पूजा से नहीं होती—यह बताते हैं,—

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा ।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ।।२१०

अन्वय—मुक्ति तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानात् एव, च अन्यथा न । यथा स्वप्रबोध विना स्वस्वप्न न एव हीयते ।

अर्थ--मुक्ति तो ब्रह्मतत्व के ज्ञान से ही होती है, और किसी प्रकार से मुक्ति नही होती । जैसे, अपने जागने के विना अपनी निद्रा मे कल्पित स्वप्न का निराकरण नही होता, ऐसे, ब्रह्मतत्व-के विना अपना ससार नही हटता ।।२१०।।

द्वैतनिवृत्तिरूपा मुक्ति, स्वप्न की भान्ति, तत्त्वबोध से सिद्ध नही हो सकती ? क्योकि निवृत्तियोग्य द्वैत, स्वप्न के समान नही हो सकता-इस आशङ्का का उत्तर देते हैं –

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत् ।
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ।।२११

अन्वय—ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मक अखिलं जगत् अय अद्वितीयब्रह्मतत्वे स्वप्नः ।

अर्थ—ईश्वर जीव आदि रूप से जो जड-चेतन स्वरूप समग्र जगत् है वह अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व मे स्वप्न ही है ।

"त्रयमेतत् सुपुप्त स्वप्नमायामात्रम्" अर्थात् "यह (जाग्रत्, स्वप्न और सुपुप्ति) तीनो सुपुप्ति है और स्वप्नमायामात्र है" श्रुति मे यह कहा है, वस्तुतः यह जगत् क्या है ? अद्वितीय ब्रह्म को ही तो अन्यथा समझ लिया गया है अर्थात् जगत् स्वप्न तुल्य ही तो है ।

ईश्वर और जीव तो ब्रह्म से अभिन्न हैं, फिर वे जगत् के अन्तर्गत क्यो कर माने जाते हैं ? इसका उत्तर देते हैं —

आनन्दमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ ।
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥

अन्वय—आनन्दमयविज्ञानमयौ ईश्वरजीवकौ एतौ मायया कल्पितौ ताभ्या सर्वं प्रकल्पितम् ।

अर्थ—आनन्दमय और विज्ञानमय ही क्रमश ईश्वर और जीव है और दोनो माया से कल्पित हैं तथा इन दोनो ने सम्पूर्ण जगत् कल्पित कर डाला है। इस प्रकार ये दोनो जगत् के अन्तर्गत हैं।

ईश्वर और जीव मे से किसने कितना जगत् बनाया है ?
यह बताते हैं—

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥

अन्वय—ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टि ईशेन कल्पिता, जाग्रदादिविमोक्षान्त ससार जीवकल्पित ।

अर्थ—("स ईक्षत लोकान्नु सृजै' ऐत० १-२) 'मैं लोको की रचना करू' इस ईक्षण से लेकर "एतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐत० ३-१२) "मूर्धा के इस छिद्रभूत द्वार द्वारा जीवरूप से शरीर मे प्रविष्ट हुआ" इस प्रवेश तक बताने वाली श्रुति से प्रतिपादित सृष्टि तो ईश्वर ने रची है और ('तस्य त्रय आवसथा.—ऐत० ३-१२) इस चिदाभासरूप जीव की "जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाए हैं" से लेकर ('स एतमेव पुरुष ब्रह्म ततमपश्यत्'—ऐत० ३ १३) "उस जीव ने इस आत्मारूप पुरुष को ही पूर्णब्रह्म के रूप मे देखा"—इस श्रुति तक वर्णित, जाग्रत् से लेकर विमोक्ष पर्यन्त ससार, जीव का बनाया हुआ है ॥२१३॥

परन्तु जब केवल ब्रह्म ही परमार्थतत्त्व है तो जीव और ईश्वर के विषय मे विवाद ही क्यो खड़ा होता है ? इसका उत्तर देते हैं—

अद्वितीयं ब्रह्मतत्वमसङ्गं तन्न जानते ।
जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः ॥२१४

अन्वय —नत् अद्वितीय असग ब्रह्मतत्व न जानते, (अतः), मायिकयो· जीवेशयो. वृथा एव कलह ययु ।

अर्थ—क्योंकि उस अद्वितीय और असग ब्रह्मतत्त्व को नही पहचानते इसलिए मायाकल्पित जीव और ईश्वर के विषय मे, व्यर्थ ही विवाद करते हैं ॥२१४॥

फिर उन अज्ञानियो को समझाते क्यो नही ? इसलिए कि :—

ज्ञात्वा सदा तत्वनिष्ठाननुमोदामहे वयम् ।
अनुशोचाम एवान्यान्न भ्रान्तैर्विवदामहे ॥२१५

अन्वय—तत्वनिष्ठान् ज्ञात्वा वय सदा अनुमोदामहे । अन्यान् अनुशोचाम. एव, भ्रातै सह न विवदामहे ।

अर्थ—तत्त्वनिष्ठो अर्थात् मुक्त पुरुषोको देखकर तो हम मुदितावृत्ति से स्वय भी प्रसन्न होते हैं, अन्य, जिज्ञासु और विषयी पुरुषो को, देखकर हमे उनके प्रति अनुशोच की कारणभूत करुणा * और मैत्री उत्पन्न होती हैं परन्तु जो भ्रान्त

---

* जिसके प्रति करुणा होती है उसके प्रति अनुशोच होता है जैसे दयालु पुरुष को, इसलिए करुणा अनुशोच की कारण है जिसके साथ मैत्री होती है उसका दुख देखकर अनुशोच हो जाता है जैसे भीष्मादि के साथ मित्रता होने से ही अर्जुन को अनुशोच हुआ था । इस प्रकार मैत्री भी अनुशोच का कारण है । इसलिए यहाँ अनुशोच शब्द से उसके कारण करुणा और मैत्री का ग्रहण है ।

(पामर)+ हैं उनके साथ हम विवाद मे नही पडते ।

ईश्वर और जीव के सम्बन्ध मे जो भ्रान्तिया हैं उनका विभागश: वर्णन करते हैं—

तृणार्चकादियोगान्ता ईश्वरे विभ्रान्तिमाश्रिताः ।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवे विभ्रान्तिमाश्रिताः ।।

अन्वय—तृणाचकादियोगान्ता ईश्वरे भ्रान्ति आश्रिता. लोकायतादिसाख्याता जीवे विभ्रान्ति आश्रिता ।

अर्थ—तृण, ईट आदि के पूजको से लेकर योगपर्यन्तवादियो को 'ईश्वर' के विषय मे भ्रान्ति है और लोकायत से लेकर साख्यवादियो तक को 'जीव' के विषय मे भ्रान्ति है ।।२१२।।

वे भ्रान्त क्यो कहलाते हैं ? इसलिए कि—

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यदा तदा ।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम्।

अन्वय—अद्वितीयब्रह्मतत्व यदा न जानन्ति तदा अखिला. भ्रान्ताः एव । तेदा क्व मुक्तिः ? इह वा क्व सुखम् ?

अर्थ—जब वे अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को नही जानते तो वे सब भ्रान्त ही हैं । उनकी मुक्ति कहा ? और उनको इस लोक में भी सुख कहा ? जिस पक्ष को वे ग्रहण कर लेते हैं उसके प्रतिपादन

+पामर तीन प्रकार के होते हैं १. उत्तम पामर वे जो शास्त्रज्ञ होते हुए भी शास्त्र मे श्रद्धा के अभाव के कारण नास्तिक हैं। २. मध्यम पामर वे जो शास्त्र को जानते भी नही और शास्त्र के वाक्य मे विश्वास भी नही रखते अतएव स्वेच्छाचारी हैं। कनिष्ठ पामर वे जो शास्त्र मे विश्वास रखते हुए भी अज्ञान के कारण स्वेच्छाचारी हैं। ये सब वहिर्मुख हैं अतएव भ्रान्त हैं ।

का हठ करते हैं अतएव उनका चित्त स्थिर नही होता और फिर इस लोक में भी सुख कहा मिल सकता है ? ॥२१७॥

ठीक है, पर ब्रह्मविद्या के न होते हुए भी उनमें अन्य विद्याओ के कारण ऊँचनीचपना तो देखने मे आता ही है ! इसलिए उनमे उत्तमता का कुछ सुख तो वादियो का होगा ही ? इसका उत्तर देते हैं.—

उत्तमाधमभावश्चेत्तेषां स्यादस्तु तेन किम् ।
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न बुद्धः स्पृश्यते खलु ॥

अन्वय—तेषा उत्तमाधमभाव. चेत् स्यात् अस्तु तेन किम् ? स्वप्नस्थराज्य भिक्षाभ्या बुद्ध खलु न स्पृश्यते ।

अर्थ—यदि उन वादियो मे ऊँचनीभाव हो तो हो, इससे मुमुक्षु को क्या लाभ ? देखते नही हो कि सुपने मे राज्य मिले या भीख मागनी पड़े, उससे जागे हुए मनुष्य का कुछ बनता-बिगडता नही है। उनसे तो वह अछूता ही रहता है। ऐसे ही, उत्तमाधमभाव का मुमुक्षु को लाभालाभ नही होता ॥२१८॥

अब इस विषय का उपसहार करते हैं :

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ।
कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं विचार्य बुध्यतां च तत् ॥

अन्वय—तस्मात् मुमुक्षुभि जीवेशवादयो मतिः न एव कार्या। किन्तु ब्रह्मतत्व विचार्य च तत् बुध्यताम् ।

अर्थ—इसलिए मुमुक्षुजनो को चाहिए कि वे जीव और ईश्वर सम्बन्धी वादो की उलझन मे न फसें, अपितु श्रुति के अनुसार ब्रह्मतत्त्व का ही विचार करे और उसे जानें ॥२१९॥

परन्तु ब्रह्मतत्त्व का निश्चय करने के लिए यह भी तो आवश्यक है कि हेय-रूप मे जीव और ईश्वर के स्वरूप को जाना जाय? इसके विषय मे बतलाते हैं -

पूर्वपक्षतया तौ चेत्तत्त्वनिश्चयहेतुताम् ।
प्राप्नुतोऽस्तु निमज्जत्व तयोर्नैतावताऽवशः ।।

अन्वय—पूर्वपक्षतया तौ तत्वनिश्चयहेतुता प्राप्नुत चेत् अस्तु, एतावता अवश तयोः न निमज्जत्व ।

अर्थ—यदि वे (जीवेश्वरवाद) पूर्वपक्ष से रूप मे तत्त्वनिश्चय के हेतु वने, तो वने परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि विवेकशून्य होकर उन वादो मे ही डूवा रहे ।।२२०।।

साख्य और योग मे तो शुद्ध-चेतनरूप ही जीव और ईश्वर का वर्णन है तुम अद्वैतवादो भी उनको वैसा ही मानते हो तो फिर उनके वर्णित जीवईश्वर तो पूर्व पक्ष नहीं हैं न ? इस शङ्का का वर्णन करते हैं —

असङ्गचिद्विभुर्जीवः सांख्योक्तस्तादृगीश्वरः ।
योगोक्तस्तत्त्वमोरर्थौ शुद्धौ ताविति चेच्छृणु ।।

अन्वय—साख्योक्त जीव असङ्गचित् विभु, तादृक् ईश्वरः योगोक्तः । तौ शुद्धौ च तत्वमो अर्थौ इति चेत् ? शृणु ।

अर्थ—साख्य का वताया जीव असगचेतन और व्यापक है और वैसा ही ईश्वर योग ने वताया है । वे ही शुद्ध जीव और ईश्वर 'तत्' और त्व' पदो के अर्थ हैं, फिर उन्हे पूर्वपक्ष क्यो कहते हो ? इस का उत्तर सुनो.—

न तत्त्वमोरुभावर्थावस्मत्सिद्धान्ततां गतौ ।
अद्वैतबोधनायैव सा कक्षा काचिदिष्यते ।।२२२

अन्वय—तत्त्वमो. उभौ अर्थौ अस्मत्सिद्धान्तता न गतौ, अद्वैत-बोधनाय एव सा काचित् कक्षा इष्यते ।

अर्थ—'तत् और 'त्व' के (उनके) वे दोनों अर्थ हमारे सिद्धात

तक नही पहुँचे। (वे इन दोनो मे वास्तविक भेद मानते हैं, हम उस भेद को तात्त्विकरूप से स्वीकार नही करते।) हमने यदि कही कूटस्थ और ब्रह्म शब्दो से 'तत्' 'त्व' को भिन्न-भिन्न वतलाया भी है तो अद्वैत का ज्ञान कराने के लिए ही, उस रीति का कही कही अवलम्बन किया गया है। लोकप्रसिद्ध भेद का निषेध करके उन 'तत्' 'त्व' की एकता का प्रतिपादन करने के लिए उन पदो के अर्थ अलग-अलग समझाये गये हैं, उनमे कोई वास्तविक भेद है – ऐसा प्रतिपादन करना लक्ष्य नही है ॥२२२॥

उन पदो के अर्थों के शोधन का प्रयोजन बताते हैं –

अनादिमायया भ्रान्ता जीवेशौ सुविलक्षणौ।
मन्यन्ते तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः ॥

अन्वय—अनादिमायया भ्रान्ता. जीवेशौ सुविलक्षणौ मन्यन्ते। केवल तद्व्युदासाय तयो. शोधनम्।

अर्थ—अपने ही आश्रय को व्यामोह में डाल देने वाली अनादि अविद्या के प्रभाव से विपरीतज्ञानी बने लोग (भ्रान्ति से) जीव और ईश्वर को अत्यन्त भिन्न समझते हैं (वे कर्ता आदि रूप मे जीव को और सर्वज्ञ आदि रूप मे ईश्वर को वास्तविक मानते हैं), केवल, उनकी उन भ्रान्ति को हटाने के लिए ही, इन (तत् त्व') पदो के अर्थो का शोध किया गया है ॥२२३॥

अत एवात्र दृष्टान्तो योग्यः प्राक् सम्यगीरितः।
घटाकाशमहाकाशजलाकाशाभ्रखात्मकः ॥२२४

अन्वय—अतः एव अत्र घटाकाश-महाकाश-जलाकाश-अभ्रखात्मकः योग्य दृष्टान्त प्राक् सम्यक् ईरितः।

अर्थ—क्योकि हमे 'तत्' 'त्व' पदार्थों का शोधन करना है, इन का शुद्ध रूप दिखाना है, इसलिए हमने घटाकाश, महाकाश,

जलाकाश और मेघाकाश का उचित दृष्टांत पहले (१८ वें श्लोक मे) दिया है।

पदार्थशोधन की रीति का वर्णन करते हैं—

जलाभ्रोपाध्यधीने ते जलाकाशाभ्रखे तयोः।
आधारौ तु घटाकाशमहाकाशौ सुनिर्मलौ ॥२२५

अन्वय—ते जलाकाशाभ्रखे, जलाभ्रोपाध्यधीने, तयो. आधारौ घटाकाशमहाकाशौ तु सुनिर्मलौ।

अर्थ—देखो, जलाकाश और मेघाकाश तो क्रमश जल और मेघरूप उपाधियो के अधीन हैं (इसलिए वे दोनो अपारमार्थिक हैं) और उनके आधारभूत, घटाकाश एव महाकाश सुनिर्मल हैं- वे तो जलादि उपाधि की अपेक्षा से रहित, केवल आकाश ही आकाश, है ॥२२५॥

इस दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटाते हैं:-

एवमानन्दविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ।
तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले ॥२२६

अन्वय—एव आनन्दविज्ञानमयौ मायाधियो. वशौ, तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले।

अर्थ—ऐसे ही आनन्दमय ईश्वर और विज्ञानमय जीव तो क्रमश. माया और बुद्धिरूप उपाधियो के वशवर्ती है और उनके अधिष्ठान, कूटस्थ और ब्रह्म, सर्वथा निर्मल हैं ॥२२६॥

परन्तु पदार्थ शोधन मे उपयोगी होते हुये भी सांख्ययोगमत मानने योग्य नही है क्योंकि—

एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ यदि।
देहोऽन्नमयकक्षत्वादात्मत्वेनाभ्युपेयताम् ॥२२७

अन्वय—एतत्कक्षोपयोगेन यदि साख्ययोगौ मतो, अन्नमयकक्षत्वात् देह. आत्मत्वेन अभ्युपेयताम् ।

अर्थ—यदि दोनो पदार्थो के शोधन की दिशा मे कुछ उपयोगी हो जाने से सांख्य और योग मत को मान ले। तो, फिर अन्नमय कोश की शोधनदिशा मे उपयोगी होने से देह को भी आत्मा मानना पड़ेगा ॥२२७॥

सांख्ययोग का वेदान्तमत से भेद कहा है ?

आत्मभेदो जगत् सत्यमीशोऽन्त इति चेत्त्रयम् ।
त्यज्यते तैस्तदा सांख्ययोगवेदान्तसंमतिः ॥२२८

अन्वय—आत्मभेद, जगत् सत्य, ईश. अन्य., इति त्रय तै त्यज्यते चेत् तदा साख्ययोगवेदान्तसमति. ।

अर्थ—आत्मा भिन्न-भिन्न, अनेक हैं, जगत् सत्य है, (ये दोनो मत साख्ययोग दोनो के हैं) और ईश्वर जीव एव जगत् से भिन्न है (यह योग का मत है) इन तीनो मतो को जब साख्य और योगवादी छोड़ देगे तब वेदान्त के साथ उनकी सहमति सम्भव है ॥२२८॥

जीव की असङ्गता के ज्ञान से ही जब मुक्ति की सिद्धि हो जाती है तब अद्वैतबोध से क्या लाभ है ? इस आशङ्का को मन में रख कर कहते हैं—

जीवोऽसङ्गत्वमात्रेण कृतार्थ इति चेत्तदा ।
स्रक्चन्दनादि नित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता ॥

अन्वय—जीव. असङ्गत्वमात्रेण कृतार्थ: इति चेत् तदा स्रक्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेण अपि कृतार्थता ।

अर्थ—यदि यह मानो कि जीव तो केवल असगता (के ज्ञान) से ही कृतकृत्य हो जाता है, (उसे अद्वैतज्ञान से क्या लाभ है ?)

तो कृतार्थता माला, चन्दन आदि को नित्य मान लेने से भी हो सकती है। यदि कोई स्रक् आदि भोगो को नित्य मान बैठे तो क्या वह कृतकृत्य हो जायगा ? कभी नही ॥२२९॥

इसी के अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं.—

यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथात्मनः।
असङ्गत्वं न संभाव्यं जीवतोर्जगदीशयोः ॥२३०

अन्वय—यथा स्रगादिनित्यत्व दु सम्पाद्य तथा जगदीशयोः जीवतो' आत्मन असगत्व न सम्भाव्यम् ।

अर्थ—जिस प्रकार माला आदि की नित्यता को सिद्ध करना कठिन अथवा असम्भव है ऐसे ही जब तक जगत् और ईश्वर जीवित हैं—जब तक वे दोनो किसी को क्रमश विशेष्य एव विशेषण रूप से भासते हैं, तब तक उसको—आत्मा की असगता का ज्ञान होना असम्भव है ॥२३०॥

इस असम्भावना को स्पष्ट करते हैं—

अवश्यं प्रकृतिः संगं पुरेवापादयेत्तथा।
नियच्छत्येतमीशोऽपि कोऽस्य मोक्षस्तथा सति ॥

अन्वय—प्रकृति पुरा इव अवश्य संग आपादयेत् । तथा एत ईश अपि नियच्छति । तथा सति अस्य क मोक्ष ।

अर्थ—यह प्रकृति पहले की भान्ति ही, अवश्य ही उसमे सग को पैदा कर देगी और ईश्वर भी उस पर अपना शासन पूर्ववत् रखेगा, जीव को ईश्वर की प्रेरणा भी बनी रहेगी। इस प्रकार सग और प्रेरणा के बने रहते इस जीव का मोक्ष ही क्या होगा ? अर्थात् जगत् और ईश्वर के रहते, (अद्वैत ज्ञान हुए बिना) असगता का ज्ञान होना असम्भव है ॥२३१॥

इस पर वादी का एक आक्षेप व उसका उत्तर—

अविवेककृतः सङ्गो नियमश्चेति चेत्तदा ।
बलादापतितो मायावादः सांख्यस्य दुर्मतेः ॥

अन्वय—सङ्ग च नियमः अविवेककृतः इति चेत् तदा दुर्मतेः साख्यस्य बलात् मायावाद आपतितः ।

अर्थ—यदि वादी यह कहे कि सग और प्रेरणा (नियमन) तो अविवेक के कार्य है, (इसलिए विवेकज्ञान से अविवेक की निवृत्ति होने पर पुन सग आदि की उत्पत्ति क्यो होगी ?) तव तो दुर्मति साख्यवादी न चाहता हुआ भी वलात् मायावादी हो गया !

प्रश्न यह है कि अविवेक को–विवेक का अभावरूप, विवेक से अन्यरूप या विवेक–विरोधी भावरूप इन तीनो रूपो में से किस रूप में मानोगे ? अभावरूप तो वह सिद्ध नही हो सकेगा क्योकि अभावमात्र से भावरूप सग या नियम की उत्पत्ति नही हो सकेगी । विवेक से भिन्न अन्य विवेक भी वह सिद्ध नही होता क्योकि विवेक से भिन्न दूसरा और कोई घटादि सग का हेतु नही देखा गया । अन्त मे यदि उसे भावरूप अज्ञान मानो तो इसी को मायावाद कहा जायगा ॥२३२॥

वन्धमोक्ष की व्यवस्था की सिद्धि के लिए आत्माओ का भिन्न-भिन्न मानना भी ठीक नहीं, यह कहते हैं—

बन्धमोक्षव्यवस्थार्थमात्मनानात्वमिष्यताम् ।
इति चेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा ॥

अन्वय – वन्धमोक्षव्यवस्थार्थं आत्मनानात्व इष्यता इति चेत् न, मायाव्यवस्थापयितु क्षमा ।

अर्थ—"(अद्वैतमानने से) वन्धमोक्ष की व्यवस्था नही वनती इसलिए आत्माओ को नाना मानना चाहिए" ऐसा कहना उचित

नही है क्योकि माया से बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था सम्भव है। आत्मा के एक होने पर भी माया बन्धमोक्ष को व्यवस्थित कर लेगी।

वह माया बन्धमोक्ष की व्यवस्था कैसे कर सकती है? इसका उत्तर देते हैं—

दुर्घटं घटयामीति विरुद्धं किं न पश्यसि।
वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम्॥

अन्वय—दुघट घटयामि इति विरुद्ध किं न पश्यसि? वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुति सहतेतराम्।

अर्थ—'जो बात दुर्घट है (असम्भव है) उसे मैं कर देती हूँ" उसके इस विरोधी स्वभाव को क्या तुम नही देखते? (और, बन्ध अविद्याजन्य है तो मोक्ष वास्तविक मानना होगा यह शका मत करो क्योकि) सच्चे बन्ध और मोक्ष को श्रुति सहती ही नही। श्रुति, बन्ध की भान्ति मोक्ष को भी सत्य (वास्तविक) नही मानती ॥२३४॥

इस सम्बन्ध मे श्रुति का प्रमाण दिखाते है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥२३५

अन्वय—न निरोध च, न उत्पत्तिः, न बद्ध, च, न साधक., न मुमुक्षु, वै, न मुक्त. इति एषा परमार्थता।

अर्थ—श्रुति कहती है कि इस आत्मा का न कभी नाश होता है न यह कभी उत्पन्न होता है (देह के सम्बन्ध मे आता है), न इसका बन्धन (सुख दु खादि सम्बन्ध) होता है, न यह कभी साधक (श्रवण मनन आदि साधनो का कर्ता) होता है, न मुमुक्षु (साधन चतुष्टयसम्पन्न) बनता है और यह कभी मुक्त (अविद्या

रहित) भी नही होता, यही परमार्थता है कि इनमें से कोई भी बात वस्तुतः नही होती ।।२३५।।

इस प्रकार मायामय जीवेश्वर के भेद का प्रतिपादन कर इस विषय की समाप्ति करते हैं—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ।।२३६

अन्वय–मायाख्याया. कामधेनो. जीवेश्वरो उभौ वत्सौ यथेच्छ द्वैत पिबता, तत्व तु अद्वैत एव हि ।

अर्थ–माया नाम की कामधेनु के जीव और ईश्वर दोनो बछडे हैं, ये द्वैतरूप दूध को भले ही, यथेच्छ, पीते रहें (द्वैत मे मग्न रहे) पर तत्व तो, अद्वैत ही है-सिद्धान्त तो अद्वैत ही है। २३६।।

यदि कहो कि जीव और ईश्वर तो मायिक हैं उनका भेद मिथ्या रहे परन्तु कूटस्थ और ब्रह्म तो पारमार्थिक हैं उनका भेद भी पारमार्थिक होना चाहिये । इसका उत्तर देते हैं—

कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्रादृते नहि ।
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते नहि क्वचित् ।।

अन्वय—कूटस्थब्रह्मणो. भेद नाममात्रात् ऋते न हि, घटाकाशमहाकाशौ क्वचित् हि न वियुज्यते ।

अर्थ—कूटस्थ और ब्रह्म का भेद तो नाममात्र के सिवाय कुछ भी नही है—उनका भेद तो कहने मात्र का ही है, जैसे घटाकाश महाकाश दोनो एक दूसरे से कभी भी तो पृथक् नही होते. उनमें जैसे नाममात्र का ही भेद है ।।२३७।।

अब उपरोक्त रीति से भेद के मिथ्यात्व का समर्थन करने का फल दर्शाते हैं.—

यदद्वैतं श्रुतं सृष्टेः प्राक् तदेवाद्य चोपरि।
मुक्तावपि वृथा माया भ्रामयत्यखिलान्जनान्।

अन्वय—यत् अद्वैत सृष्टे प्राक् श्रुत तत् एव अद्य च उपरि मुक्तौ अपि। माया अखिलान् जनान् वृथा भ्रामयति।

अर्थ—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति में सृष्टि से पूर्व विद्यमान जिस अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन किया है वही अब सृष्टिकाल मे भी और पीछे प्रलयकाल मे तथा मुक्ति मे भी रहेगा, इस प्रकार त्रिकालावाधित होने से वह वास्तविक है—ब्रह्म मे कोई भेद नही है। फिर सब हठात् भेद क्यो मानते हैं? क्योकि माया ने सब जनो को व्यर्थ मे ही भ्रम मे डाला हुआ है। तत्वज्ञान से रहित होने के कारण लोग हठात् भेद ही मानते रहते है॥२३८॥

जो लोग प्रपच को मायामय और तत्त्व की अद्वैतता को मानते हैं, वे भी ससारी वने दीखते हैं यह क्या बात? फिर तत्वज्ञान का लाभ ही क्या हुआ? इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं—

ये वदन्तीत्थमेतेऽपि भ्राम्यन्ते विद्ययाऽत्र किम्।
न यथापूर्वमेतेषामत्र भ्रान्तेरदर्शनात्॥२३९

अन्वय—ये इत्थ वदन्ति एते अपि अत्र भ्राम्यन्ते, विद्यया किम्? न, पूर्वं यथा एतेषा अत्र भ्रान्ते. अदर्शनात्।

अर्थ—जो लोग (प्रपच को मायामय और ब्रह्म तत्व को अद्वितीय) बताते हैं वे भी यहा भरमाये फिरते हैं—ससार मे फसे दीख पडते हैं तो तत्वज्ञान से क्या लाभ हुआ? यह मत कहो क्योंकि इन लोगो को इस ससार के विषय मे पहली सरीखी भ्रान्ति नही दीख पडती। प्रारब्ध कर्मवश कितने ही ज्ञानी व्यवहार मे भले ही फसे रहे परन्तु पूर्व अज्ञानावस्था

की भाति अव उनका व्यवहार मे उतना आग्रह नही दिखाई पड़ता ।। २३९ ।।

अज्ञानी के निश्चय का वर्णन

ऐहिकामुष्मिकः सर्वः संसारो वास्तवस्ततः ।
न भाति नास्ति चाद्वैतमित्यज्ञानिविनिश्चयः ।।

अन्वय——ऐहिकामुष्मिकः सर्व. ससारः वास्तव. ततः अद्वैत न भाति, च न अस्ति इति अज्ञानिविनिश्चयः ।

अर्थ—"स्त्री पुत्रादि का पोषणरूप ऐहिक तथा स्वर्गसुखादि का अनुभवरूप आमुष्मिक यह सव ससार वास्तव है, अद्वैत नाम की वस्तु न तो प्रतीत होती है, नाही वह है" यही अज्ञानी लोगो की धारणा है ।।२४०।।

तत्त्वज्ञानी के निश्चय का वर्णन

ज्ञानिनो विपरीतोऽस्मान्निश्चयः सम्यगीक्ष्यते ।
स्वस्वनिश्चयतो बद्धो मुक्तोहं चेति मन्यते ।।१४१

अन्वय—ज्ञानिना निश्चय· अस्मात् विपरीत. सम्यक् ईक्ष्यते । स्वस्वनिश्चयत. अह वद्ध च मुक्तः इति मन्यते ।

अर्थ—ज्ञानी लोगो का निश्चय इससे विपरीत है जो स्पष्ट दीख पडता है . उन्हे अद्वैत के पारमार्थिक और संसार के अपारमार्थिक होने का निश्चय होता है । और अपने-अपने निश्चय के अनुसार अज्ञानी या ज्ञानी 'मै वद्ध हू' अथवा 'मैं मुक्त हूँ'-ऐसा मानते हैं ।।४२१।।

'अद्वैत प्रतीत होता है' यह कथन तो शास्त्र के आधार पर ही तो है—अनुभव के आधार पर नही, अतएव इसको निश्चय क्यों कर कह सकते हैं ?

नाद्वैतमपरोक्षं चेन्न चिद्रूपेण भासनात् ।

अशेषेण न भातं चेद्द्वैतं किं भासतेऽखिलम् ॥

अन्वय—अद्वैत अपरोक्ष न चेत् ? न, चिद्रूपेणभासनात् । अशेषेण न भान चेत् ? द्वैत कि अखिल भासते ?

अर्थ—अद्वैत अपरोक्ष (अनुभव का विषय) नही है ऐसा मत कहो क्योकि इसका चिद्रूप से भान होता है। 'घट स्फुरता अर्थात् भासता है' 'पट स्फुरता है' इत्यादि मे घटादियो मे अनुस्यूत स्फुरण द्वारा चिद्रूप से अद्वैतचेतनतत्त्व की प्रतीति सबको सब पदार्थो में हो रही है।

यदि यह कहो कि सम्पूर्ण अद्वैत का भान किसी को नही होता तो, ऐसे तो, सम्पूर्ण द्वैत का भी भान किसी को नही होता ॥२४२॥

इस प्रकार दोनो पक्षो मे दोष की तुल्यता दिखाकर अब परिहार की साम्यता दिखाते हैं .

दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोरपि समं खलु ।

द्वैतसिद्धिवदद्वैतसिद्धिस्ते तावता न किम् ॥२४३

अन्वय—दिङ्मात्रेण विभान तु द्वयो अपि खलु समम् । ते तावता द्वैतसिद्धिवत् अद्वैतसिद्धि कि न ?

अर्थ—एक देश का भान हो जाना तो द्वैत-अद्वैत-दोनो पक्षो मे समान है। जैसे तुम द्वैत के किसी एक देश को देखकर सम्पूर्ण द्वैत को सिद्ध मान लेते हो, वैसे ही अद्वैत के एक देश को जान कर सम्पूर्ण अद्वैत का निश्चय क्यो नही होगा ? होगा ही। जैसे पकते चावलो में से एक को पका देखकर सब के पक जाने का निश्चय होता है-(इसी को स्थालीपुलाक न्याय कहते हैं) वैसे ही एक गृह के आकाश की असगता आदि को देखकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आकाश की असगता आदि का निश्चय होता है ॥२४३॥

अब पूर्वपक्षी अन्य प्रकार से अद्वैतासिद्धि की आशङ्का करता है—

द्वैतेन हीनमद्वैतं द्वैतज्ञाने कथं त्विदम् ।
चिद्भानं त्वविरोध्यस्याद्वैतस्य तोऽसमे उभे ॥

अन्वय—द्वैतेन हीन अद्वैत इद द्वैतज्ञाने तु कथम् ? चिद्भान तु अस्य द्वैतस्य अविरोधी अतः उभे असमे ।

अर्थ—पूर्वपक्षी कहता है कि द्वैत से रहित को अद्वैत कहते हैं तो फिर द्वैत का विरोधी अद्वैत ज्ञान, द्वैतज्ञान के रहते कैसे सम्भव है ?

यदि तुम यह कहो कि ऐसे तो हम यह कह सकते हैं कि अद्वैत का ज्ञान रहते द्वैत का ज्ञान कैसे होगा ? अतएव हमारी-तुम्हारी शका तुल्य है। इसका उत्तर पूर्वपक्षी देता है कि तुम्हारे मत मे चिद्रूप की प्रतीति ही अद्वैत की प्रतीति है, वह चिद्रूप प्रतीति द्वैत की विरोधी नही है, इसलिए हम दोनो की शका एक समान नही है ॥२४४॥

सिद्धान्ती उक्त शका का उत्तर देते हैं—

एवं तर्हि शृणु द्वैतमसन्मायामयत्वतः ।
तेन वास्तवमद्वैतं परिशेषाद्विभासते ॥२४५

अन्वय—एव तर्हि शृणु, द्वैत असत् मायामयत्वत, तेन परिशेपात् वास्तव अद्वैत विभासते ।

अर्थ—पूर्वोक्त शका का उत्तर सुनो, द्वैत असत् है, क्योकि वह मायामय है, अतएव परिशेष से वास्तविक अद्वैत ही भासित होता है। (प्राप्तो का प्रतिषेध करते करते जहा अन्त मे वह लागू नही होता हो, उसको सत्य मान लेना 'परिशेष' कहलाता है। "प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसगाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्यय परिशेष) ॥२४५॥

परिशेष को यहा घटाकर दिखाते हैं :

अचिन्त्यरचनारूपं मायैव सकलं जगत् ।
इति निश्चित्य वस्तुत्वमद्वैते परिशेष्यताम् ।।२४६

अन्वय—'अचिन्त्यरचनारूप सकल जगत् माया एव, इति निश्चित्य वस्तुत्व अद्वैते परिशेष्यताम् ।

अर्थ—यह जगत् तो ऐसे रूपवाला है कि उसकी रचना कुछ समझने मे नही आती, अतएव यह माया (मिथ्या) ही है । इस प्रकार अनिर्वचनीय होने से द्वैत को मिथ्या निश्चित कर अद्वैत मे सत्यता है-यह परिशेष से समझ लेना चाहिए ।।२४६।।

अद्वैत का निश्चय हो जाने पर भी पुन द्वैत की सत्यता प्रतीत होती है, तो क्या करें ?

पुनर्द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत्त्वं तथा पुनः ।
परिशीलय को वात्र प्रयासस्तेन ते वद ।।२४७

अन्वय—पुन द्वैतस्य वस्तुत्व भाति चेत्, त्व तथा पुन परिशीलय तेन ते अत्र क वा प्रयास ? वद ।

अर्थ—यदि पुन द्वैत की सत्यता प्रगट होती है, तो फिर विचार कर, इस प्रकार विचार करने में भला क्या परिश्रम होगा ? (यही वात व्यास ने वेदान्त दर्शन के चतुर्थाध्याय के 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इस सूत्र मे कही है कि आत्मा का श्रवणादि वार-वार करते रहना चाहिए । द्वैत वासनाए साधक पर वार-वार आक्रमण करेंगी । अतएव उसे चाहिए कि वह विवेक को दोहराता रहे ।)

यह विचार कब तक चालू रखना चाहिये ? इसका उत्तर देते हैं .

कियन्तं कालमिति चेत्खेदोऽयं द्वैत इष्यताम् ।
अद्वैते तु न युक्तोऽयं सर्वानर्थनिवारणात् ।।

अन्वय–कियन्त काल इति चेत् ? अय खेद द्वैते इष्यता, अद्वैते तु अय न युक्त सर्वानर्थनिवारणात् ।

अर्थ—"यह विचार कब तक करे ?" इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह कष्ट द्वैत मे ही इष्ट है, अद्वैत में तो यह कष्ट करना उचित नही है क्योकि तब तो सम्पूर्ण अनर्थ ही निवृत्त हो जाते है ।

इसी प्रकरण के १५वें श्लोक में बता आये हैं कि प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त हो जाने पर विचार स्वयमेव समाप्त हो जाता है, (तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचरोऽय समाप्यते) ॥२४८॥

अद्वैत को समझ लेने पर भी भूखप्यास की प्रतीति क्यो ?

क्षुत्पिपासादयो दृष्टा यथापूर्वं मयीति चेत् ।
मच्छब्दवाच्येऽहङ्कारे दृश्यतां नेति को वदेत् ॥

अन्वय—क्षुत् पिपासादय मयि यथा पूर्वं दृष्टाः इति चेत् ? मच्छब्दवाच्ये अहकारे दृश्यता, न इति कः वदेत् ।

अर्थ—अद्वैत आत्मा को प्रत्यक्ष जानकर भी मुझ मे भूख प्यास आदि पहले की भान्ति दीखते हैं तो फिर आत्मज्ञान को अनर्थ का निवर्तक कैसे माने ? इसका उत्तर देते हैं कि वे भूख प्यास मत् शब्द के वाच्य अहकार मे दीखते हैं, उसमे भी नही दिखाई दें यह कौन कहता है ? भावार्थ यह है कि 'मैं' के दो अर्थ हैं–एक 'अहकार' दूसरा 'चिदात्मा' । चिदात्मा तो असग और क्षुधा आदि का अविषय है, इसलिए ये भूख-प्यास 'अहकार' मे ही हैं–ऐसा मानते है ॥२४९॥

पुनः शङ्का

चिद्रूपेऽपि प्रसज्येरंस्तादात्म्याध्यासतो यदि ।
माऽध्यासं कुरु किंतु त्वं विवेकं कुरु सर्वदा ॥

अन्वय—तादात्म्याध्यास यदि चिद्रूपे अपि प्रसज्येरन् ? त्व अध्यास मा कुरु किन्तु सर्वदा विवेक कुरु।

अर्थ—चिदात्मा मे वस्तुत भूख-प्यास न हो तो न हो किन्तु तादात्म्याध्यास अर्थात् भ्रान्ति से जब चिदात्मा में भी भूख आदि प्राप्त हो तो क्या करे ? इसका उत्तर देते है कि जब ऐसा हो तो अध्यास को मत करो, अध्यास की निवृत्ति के लिए सदा विवेक को करो ॥२५०॥

विवेक की आवृत्ति ही एक मात्र उपाय

झटित्यध्यास आयाति दृढवासनयेति चेत् ।
आवर्तयेद्विवेकं च दृढं वासयितुं सदा ॥२५१

अन्वय—दृढवासनया झटिति अध्यास आयाति-इति चेत् ? दृढं वासयितु सदा विवेक च आवर्त्तयेत्।

अर्थ—यदि अनादिकाल की दृढ वासनाओ के कारण गया हुआ अध्यास बार-बार लौटकर आता हो तो, विवेकवासनाओ को दृढ करने के लिए सदा विवेक की आवृत्ति करनी चाहिए : अध्यास की निवृत्ति के लिए दूसरा कोई और उपाय नही है ॥२५१॥

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैवेति न भण्यताम् ।
अचिन्त्यरचनात्वस्यानुभूतिर्हि स्वसाक्षिकी ॥

अन्वय विवेके द्वैतमिथ्यात्व युक्त्या एव इति न भण्यता, हि, अचिन्त्यरचनात्वस्य अनुभूति: स्वसाक्षिकी।

अर्थ—यह कहना भी उचित नही है कि विचार द्वैत की मायारूपता युक्ति से ही सिद्ध हो जायगी तो अनुभव का क्या काम है ? क्योकि अचिन्त्यरचनारूप मिथ्यात्व का अनुभव स्व-साक्षिक है-उसका साक्षी अपना आत्मा ही है, अन्य नही हो

सकता। द्वैत की रचना का चिन्तन भी नही हो सकता, यह प्रत्येक का अपना ही अनुभव है ॥२५२॥

अचिन्त्यरचनात्व यदि मिथ्यात्व का लक्षण हो तो वह चिदात्मा मे भी अतिव्याप्त है ? इस शका का वर्णन एव समाधान करते हैं–

चिदप्यचिन्त्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो वयम् ।
चितिं सुचिन्त्यरचनां ब्रूमोनित्यत्वकारणात् ॥

अन्वय–चिदपि अचिन्त्यरचना यदि ? तर्हि अस्तु, वयम् सुचिन्त्यरचनारूप नो ब्रूम, नित्यत्वकारणात् ।

अर्थ—यदि यह कहा जाय क चिदात्मा की रचना भी अचिन्त्य है तो फिर मिथ्या क्यो नही ? उत्तर देते हैं कि आत्मा अचिन्त्यरचनावाला हो तो हो, नित्य पदार्थों की तो रचना ही नही होती। और जो प्रागभाव से युक्त हो तथा साथ ही अचिन्त्यरचनारूप हो वही हमारे मत में मिथ्या पदार्थ है– चिति तो नित्य है, वह प्रागभाव से युक्त नही है ॥२५३॥

चिति का नित्यत्व कैसे है ?

प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः ।
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनानुभूयते ॥२५४

अन्वय—चिते प्रागभाव न अनुभूत, ततः चिति. नित्या । द्वैतस्य प्रागभाव तु चैतन्येन अनुभूयते ।

अर्थ—क्योकि चिति का प्रागभाव किसी के अनुभव मे नहीं आता इसलिए चिति नित्य है।

जो यह कहो कि चेतन का प्राग भाव है, उससे पूछो कि चेतन के प्राग भाव को कौन अनुभव करता है ? चेतन वा अन्य (जड) ? अन्य तो जड़ होने से अनुभव नही कर सकता। यदि चेतन अनुभव करता है तो वह चेतन स्वय है अथवा अपने से

भिन्न चेतन है ? अद्वैतमत मे दूसरा चेतन है ही नही, यदि दूसरा चेतन मान भी ले तो भी चेतन के प्रतियोगी+अभाव को चेतन के अनुभव किये विना अनुभव नही किया जा सकता, यदि यह मानो कि वह अनुभव का विषय है तो फिर वह घट आदि की भान्ति अचेतन हो जायगा। यदि अपने प्रागभाव को अनुभव करने वाला स्वय चेतन को ही मानो तो यह असम्भव है क्योकि अपने अभाव को अपने आप कोई अनुभव नही कर सकता।*

द्वैत के प्रागभाव को तो चैतन्य अनुभव करता ही है। जाग्रत् आदि द्वैत का अभाव सुषुप्ति मे साक्षी से जाना जाता है। श्रुति मे भी कहा है कि (तमस साक्षी सर्वस्य साक्षी) अर्थात् अज्ञान नही है कि जब द्वैत भी प्रमाता आदि अनेक प्रकार का है और द्वैत के प्रागभाव का अनुभविता दूसरा कोई न होने से चैतन्य की न्याई द्वैत भी नित्य हो जायगा।

अब द्वैत को मिथ्या सिद्ध करते हैं—

प्रागभावयुतं द्वैत रच्यते हि घटादिवत् ।
तथापि रचनाऽचिन्त्या मिथ्या तेनेन्द्र जालवत् ॥

अन्वय—प्रागभायुत द्वैत घटदिवत् रच्यते हि, तथापि रचना अचिन्त्या, तेन इन्द्रजालवत् मिथ्या।

+जिसका अभाव होता है वह अभाव का प्रतियोगी होता है। प्रतियोगी के ज्ञान के साथ साथ अभाव का ज्ञान होता है यह नियम है। इसलिये चेतनरूप प्रतियोगी की प्रतीति के विना चेतन के अभाव की प्रतीति सम्भव नही और चेतन की प्रतीति का अर्थ है, प्रतीयमान घटादि की भान्ति उसका जड होना।

*अपने अभाव के समय अपने आपकी अविद्यमानता होने से अपने अभाव का अपने आप से ग्रहण नही होता।

सकता। द्वैत की रचना का चिन्तन भी नहीं हो सकता, यह प्रत्येक का अपना ही अनुभव है ॥२५२॥

आचिन्त्यरचनात्व यदि मिथ्यात्व का लक्षण हो तो वह चिदात्मा मे भी अतिव्याप्त है ? इस शङ्का का वर्णन एवं समाधान करते हैं–

चिदप्यचिन्त्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो वयम् ।
चितिं सुचिन्त्यरचनां ब्रूमो नित्यत्वकारणात् ॥

अन्वय–चिदपि अचिन्त्यरचना यदि ? तर्हि अस्तु, वयम् सुचिन्त्यरचनारूप नो ब्रूम, नित्यत्वकारणात् ।

अर्थ—यदि यह कहा जाय क चिदात्मा की रचना भी अचिन्त्य है तो फिर मिथ्या क्यों नही ? उत्तर देते हैं कि आत्मा अचिन्त्यरचनावाला हो तो हो, नित्य पदार्थों की तो रचना ही नही होती। और जो प्रागभाव से युक्त हो तथा साथ ही अचिन्त्यरचनारूप हो वही हमारे मत में मिथ्या पदार्थ है—चिति तो नित्य है, वह प्रागभाव से युक्त नही है ॥२५३॥

चिति का नित्यत्व कैसे है ?

प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः ।
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनानुभूयते ॥२५४

अन्वय—चितेः प्रागभाव न अनुभूत, ततः चितिः नित्या । द्वैतस्य प्रागभावः तु चैतन्येन अनुभूयते ।

अर्थ—क्योंकि चिति का प्रागभाव किसी के अनुभव मे नही आता इसलिए चिति नित्य है।

जो यह कहो कि चेतन का प्राग भाव है, उससे पूछो कि चेतन के प्राग भाव को कौन अनुभव करता है ? चेतन वा अन्य (जड) ? अन्य तो जड होने से अनुभव नही कर सकता। यदि चेतन अनुभव करता है तो वह चेतन स्वयं है अथवा अपने से

भिन्न चेतन है ? अद्वैतमत मे दूसरा चेतन है ही नही, यदि दूसरा चेतन मान भी ले तो भी चेतन के प्रतियोगी+अभाव को चेतन के अनुभव किये विना अनुभव नही किया जा सकता, यदि यह मानो कि वह अनुभव का विषय है तो फिर वह घट आदि की भान्ति अचेतन हो जायगा। यदि अपने प्रागभाव को अनुभव करने वाला स्वय चेतन को ही मानो तो यह असम्भव है क्योकि अपने अभाव को अपने आप कोई अनुभव नही कर सकता।*

द्वैत के प्रागभाव को तो चैतन्य अनुभव करता ही है। जाग्रत् आदि द्वैत का अभाव सुषुप्ति मे साक्षी से जाना जाता है। श्रुति मे भी कहा है कि (तमस साक्षी सर्वस्य साक्षी) अर्थात् अज्ञान नही है कि जब द्वैत भी प्रमाता आदि अनेक प्रकार का है और द्वैत के प्रागभाव का अनुभविता दूसरा कोई न होने से चैतन्य की न्याई द्वैत भी नित्य हो जायगा।

अब द्वैत को मिथ्या सिद्ध करते हैं–

प्रागभावयुतं द्वैत रच्यते हि घटादिवत् ।
तथापि रचनाऽचिन्त्या मिथ्या तेनेन्द्र जालवत् ॥

अन्वय––प्रागभायुत द्वैत घटदिवत् रच्यते हि, तथापि रचना अचिन्त्या, तेन इन्द्रजालवत् मिथ्या।

+जिसका अभाव होता है वह अभाव का प्रतियोगी होता है। प्रतियोगी के ज्ञान के साथ साथ अभाव का ज्ञान होता है यह नियम है। इसलिये चेतनरूप प्रतियोगी की प्रतीति के विना चेतन के अभाव की प्रतीति सम्भव नही और चेतन की प्रतीति का अर्थ है, प्रतीयमान घटादि की भान्ति उसका जड होना।

*अपने अभाव के समय अपने आपकी अविद्यमानता होने से अपने अभाव का अपने आप से ग्रहण नही होता।

अर्थ—प्रागभाव से युक्त होने के कारण द्वैत घट आदि के समान रचा तो जाता ही है, तथापि इसकी रचना अचिन्त्य है—किसी की समझ में नहीं आती, इसलिए यह इन्द्रजाल के समान मिथ्या है। जो वस्तु रची जाय और उसकी रचना अचिन्त्य हो उसे 'मिथ्या' कहते हैं।

और, अद्वैत को अपरोक्ष न मानने में व्याघात दोष भी है

चित्प्रत्यक्षा ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वं चानुभूयते ।
नाद्वैतमपरोक्षं चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥२५६

अन्वय—चित् प्रत्यक्षा च ततः अन्यस्य मिथ्यात्व अनुभूयते च अद्वैतं अपरोक्ष न इति एतत् कथ न व्याहतम् ?

अर्थ—स्वप्रकाश होने से चिति तो नित्य और प्रत्यक्ष है ही, उससे अन्य जो द्वैत है उसका मिथ्यापन अनुभव होता है—यह सिद्ध हो जाने पर भी, यह कहना कि 'अद्वैत का प्रत्यक्ष नही होता' वदतोव्याघातदोष से युक्त क्यों नही है ? सरासर व्याहत है ही ॥२५६॥

इत्थं ज्ञात्वाऽप्यसंतुष्टाः केचित्कुत इतीर्यताम् ।
चार्वाकादेः प्रबुद्धस्याप्यात्मा देहः कुतो वद ॥

अन्वय—इत्थ ज्ञात्वा अपि के चित् कुत असन्तुष्टा इति ईर्यताम् प्रबुद्धस्य चार्वाकादे अपि देह. आत्मा कुत वद।

अर्थ—इस प्रकार जानकर भी कुछ लोग क्यो असन्तुष्ट रहते हैं ? इसलिए कि देखो ऊहापोह में कुशल भी चार्वाक तथा अन्य पामर देह को आत्मा मानते ही चले जाते हैं, सो क्यों ? इसलिये न कि वे सम्यक् विचार नही करते। इसी प्रकार, ज्ञान हो जाने पर भी सम्यक् विचार के न होने से सन्तोष नही होता ॥२५७॥

वादी का उत्तर तथा सिद्धान्ती द्वारा प्रत्युत्तर

सम्यग्विचारो नास्त्यस्य धीदोषादिति चेत्तथा।
असंतुष्टास्तु शास्त्रार्थं न त्वैक्षन्त विशेषतः ॥

अन्वय—अस्य धीदोषात् सम्यक् विचारः अस्ति इति चेत्? तथा असन्तुष्टा. तु विशेषतः शास्त्रार्थं न तु ऐक्षन्त।

अर्थ—यदि कहो कि चार्वाक आदि को तो बुद्धिदोष के कारण सम्यक् विचार होता नही तो हम कहेगे कि ऐसे ही जो लोग असन्तुष्ट हैं वे भी बुद्धि दोष के ही कारण शास्त्र के अर्थ को विशेष रूप से नही देखते, इसलिए असन्तुष्ट रहते हैं ॥२५८॥

इस प्रकार तत्व का विचार करने के पश्चात् अब तत्वज्ञान के फल का विचार करने के लिये उसकी प्रतिपादिका श्रुति का पाठ करते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदि श्रिताः।
इति श्रौतं फलं दृष्टं नेति चेद्दृष्टमेव तत् ॥२५९

अन्वय—अस्य हृदि श्रिताः ये कामाः सर्वे यदा प्रमुच्यन्ते। इति श्रौत फल न दृष्ट इति चेत्? तत् दृष्ट एव।

अर्थ—"जब इस मुमुक्षु के हृदय में स्थित इच्छारूप सब काम छूट जाते हैं" यह फल केवल श्रुति मे सुना ही है, देखा नही हैं–ऐसा मत कहो : क्योंकि विद्वान् उस फल को निश्चय से अनुभव करते ही हैं।

उपरोक्त पूरा वाक्य इस प्रकार है—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता', अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।' (कठ६-१४) अर्थात् जब मुमुक्षु के हृदय मे स्थित तादात्म्याध्यास के कारण उत्पन्न हुए, इच्छादि काम तत्त्वज्ञान द्वारा अध्यास के हट जाने पर, निकल कर भाग जाते हैं तब ही यह,

देह के साथ तादात्म्याध्यास के कारण, मरण स्वभाव पुरुष, अध्यास के अभाव के कारण मरण-रहित हो जाता है, क्योंकि यह देह मे ही ब्रह्म को भली भान्ति प्राप्त कर लेता है। तत्त्व ज्ञान के फल की प्रतिपादिका उद्धृत श्रुति का यह अर्थ है। २५६॥

"तत्वज्ञान का फल, काम निवृत्ति दृष्ट ही है" इस बात को स्पष्ट करने के लिए श्रुति को उद्धृत कर उसका अर्थ करते हैं।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयग्रन्थयस्त्विति ।

कामा ग्रन्थिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्यशेषतः ॥

अन्वय--यदा सर्वे हृदयग्रन्थयः तु प्रभिद्यन्ते इति वाक्यशेषत कामाः ग्रन्थिस्वरूपेण व्याख्याता.।

अर्थ —'जब सब हृदय-ग्रन्थिया खुल जाती हैं'—इस वाक्य से श्रुति के पूर्व उद्धृत वाक्य मे कामनाओ को "ग्रन्थि' कहा गया है। अर्थात् यहां ग्रन्थिभेदका अर्थ कामनिवृत्ति है तथा अहंकार एव चिदात्मा के तादात्म्याध्यास की निवृत्तिरूप ग्रन्थिभेद अनुभव सिद्ध है ही। इसलिए श्रुति में तत्वज्ञान का जो फल, कामनिवृत्ति, बताया है वह प्रत्यक्ष ही है ॥२६०॥

परन्तु लोक में तो 'काम', इच्छा का भेद ही है, उसे फिर श्रुति मे 'ग्रन्थि' क्यो कहा गया है? इसका उत्तर देते हैं—

अहंकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः ।

इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः ॥

अन्वय.—अहङ्कारचिदात्मानौ अविवेकत. एकीकृत्य 'मे इद स्यात्, मे इद स्यात्' इति इच्छाः कामशब्दिता ।

अर्थ—अहकार और चिदात्मा को, (अध्यास के कारण), एक मानकर 'यह भी मुझे मिले' 'यह भी मुझे मिले' इत्यादि इच्छाए करना ही काम कहलाती हैं. सब इच्छाओ का नाम 'काम' नही

है। (इसलिए ऊपर उद्धृत कठश्रुति मे काम का अर्थ ग्रन्थि है, इच्छा नही।) ॥२६१॥

इसलिए जो इच्छाएँ अध्यासमूलक नही है, वे बाधकाभाव के कारण ग्राह्य ही हैं—

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक्पश्यन्नहंकृतिम्।
इच्छन्स्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः॥

अन्वय—चिदात्मान अप्रवेश्य अहकृति पृथक् पश्यन् कोठिवस्तूनि इच्छन् तु ग्रन्थिभेदत. बाध न।

अर्थ—चिदात्मा को अहकार में प्रविष्ट न कर (अर्थात् तादात्म्याध्यास से चिदात्मा का अहकार मे अन्तर्भाव न करके), अहकार को चिदात्मा से पृथक् देखता हुआ, कोई चाहे करोडो वस्तुओ की इच्छा करता रहे, ग्रन्थिभेद हो जाने के कारण उसके साक्षी आत्मा का अथवा बोध और मोक्ष का बाध नही होता।

अभिप्राय यह है कि अध्यासमूलक कामनाए ही त्याज्य है, सब नही। जो साधक इतने चतुर हो जाते है कि चिदाभास और अहकार को कभी मिलने नही देते वे चाहे करोडों वस्तुओ की इच्छा करते रहे, फिर भी उनके साक्षी आत्मा के प्रत्यक्ष होने अथवा बोध और मोक्ष मे कोई बाधा नही पड़ती।* ॥२६२॥

---

* श्री शङ्कराचार्य ने वाक्य-वृत्ति मे अहङ्कार का त्रिविध तादात्म्याध्यास बताया है। १ चिदाभास और अहकार का तादात्म्य, सहज तादात्म्याध्याम है अहकार और चिदाभास साथ-साथ उत्पन्न और विनष्ट होते हैं। २ वर्तमान देह के साथ अहकार के तादात्म्य को कर्मज तादात्म्याध्यास कहा है। सब मनुष्य जीते जी ही 'मैं मनुष्य हूँ' यह अनुभव करते हैं। प्रारब्ध कर्म रूप उपाधि के नष्ट होने पर, देह के साथ-साथ तादात्म्य भी नष्ट हो जाता है। इसलिए देहपात के पश्चात् देह मे अह-

यदि अध्यास न होगा तो काम उदय ही नही होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते है—

ग्रन्थिभेदेऽपि संभाव्या इच्छाः प्रारब्धदोषतः ।
बुद्ध्वापि पापबाहुल्यादसंतोषो यथा तव ।

अन्वय—ग्रन्थिभेदे अपि प्रारब्धदोषत. इच्छा. सभाव्या. । यथा बुध्वा अपि पापबाहुल्यात् तव असन्तोषः ।

अर्थ—ग्रन्थिभेद हो जाने पर भी प्रारब्धदोष के कारण, इच्छाओ का होना सम्भव है। जैसे, आत्मतत्व को समझ लेने पर भी पापो की अधिकता से अभी तक तुम्हारा असन्तोष बना ही हुआ है। अर्थात् प्रारब्धकर्म की प्रबलता से, अध्यासहीन ज्ञानी की भी, कामनायें बनी—परन्तु निर्वीर्य—रहती हैं ।।२६३।।

अध्यास के अभाव मे अहकारगत इच्छादि मे से कोई साधक नहीं होता, इस बात को दो दृष्टान्तो से समझाते हैं

अहङ्कारगतेच्छाद्यैर्देहव्याध्यादिभिस्तथा ।
वृक्षादिजन्मनाशैर्वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ।

अन्वय—देहव्याध्यादिभिः वा वृक्षादिजन्मनाशैः तथा अहङ्कारगतेच्छाद्यै. चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ?

भाव की प्रतीति नही होती । ३. असङ्गसाक्षीचेतन और अहङ्कार का तादात्म्य भ्रमज तादात्म्याध्यास है । तत्वज्ञान द्वारा जब भ्रान्ति हट जाती है तब तादात्म्य नहीं रहता और तब ज्ञानीको साक्षी मे 'मैं भोक्ता हूँ' इत्यादि अभिमान भी नही होता ।

इन तीनो में से सहज और भ्रमज की तो ज्ञानी मे भी कमी ही प्रतीत होती है। फिर अज्ञान और भ्रान्ति की निवृत्ति के कारण भ्रमज तादात्म्य तो ज्ञानी को होता ही नहीं इसलिए अहङ्कार के धर्म आभासरूप इच्छादि के कारण पूर्व की भान्ति ज्ञानी के साक्षि-स्वरूप का बाध नही होता ।

अर्थ—जैसे देह की व्याधियो से या वृक्षादि के उत्पन्न अथवा नष्ट होने से अहकार के साक्षी आत्मतत्व का वाध नही होता—उसका कुछ बिगडता नही, ऐमे ही ग्रन्थि भेद हो जाने पर, अहकार मे वर्तमान इच्छा आदि से, देहसबन्धरहित, चित्रूप आत्मा का वाध नही होता।

भावार्थ यह है कि जैसे देह में हुए रोग आदि से, अहकार के साक्षी आत्मा का वाध नही होता, क्योकि आत्मा का देह से कोई सम्बन्ध नही है, अथवा जैसे, वृक्षादि के जन्म आदि के द्वारा देह और अहकार के साक्षी का वाध नही होता, ऐसे ही अध्यास की निवृत्ति हो जाने पर अहकारगत इच्छा आदि धर्मों से भी साक्षी आत्मा का वाध नही होता ॥२६४॥

चिदात्मा असङ्ग है —त्रिकाल में वह एक रूप ही है, इसलिए ग्रन्थि-भेद से पहले भी तो कामादि से उसका बाध नही होगा ? इन शका का वर्णन करते हैं .

ग्रन्थिभेदात्पुराप्येवमिति चेतन्न विस्मर ।

अयमेव ग्रन्थिभेदस्तव तेन कृतो भवान् ॥२६५

अन्वय—ग्रन्थिभेदात् पुरा अपि एव इति चेत् ? त न विस्मर, अय एव तव ग्रन्थिभेद तेन् भवान् कृती ।

अर्थ—यदि कहो कि ग्रन्थिभेद होने से पूर्व भी इन काम आदि से आत्मा का वाध नही होता तो हमारा यह कहना है कि इस बात को मत भूल कि यह वोध हो जाना ही तो ग्रन्थिभेद है। यदि यह 'ग्रन्थि-भेद' हो गया तो उससे तुम सफल हो जाओगे।

अभिप्राय यह है कि ग्रन्थिभेद से पहले भी कामादि से आत्मा का वाध नही होता यह जान लेना तो स्वयं ग्रन्थिभेद है। अतएव वादी की यह शका सिद्धान्ती के मत के अनुकूल ही है ॥२६५॥

और ऐसा ज्ञान न होना ही तो ग्रन्थि (गाँठ) है।

नैवं जानन्ति मूढाश्चेत्सोऽयं ग्रन्थिर्न चापरः।
ग्रन्थितद्भेद मात्रेण वैषम्यं मूढबुद्धयोः ॥२६६

अवन्य—मूढा एव न जानन्ति चेत् स: अयं ग्रन्थि:, च अपरः न। ग्रन्थितद्भेदमात्रेण मूढबुद्धयो: वैषम्यम्।

अर्थ--मूर्खों का ऐसा ज्ञान नही है–सो यह न जानना ही तो ग्रन्थि है–इसके अतिरिक्त ग्रन्थि किसी दूसरे पदार्थ का नाम नही है। मूढ और ज्ञानी में यही अन्तर है कि मूढ में तो यह ग्रन्थि लगी रहती है और ज्ञानी की ग्रन्थि का भेद हो जाता है, उसका ग्रन्थि खुल जाती है।

अर्थात् यों तो इच्छादि ज्ञानी को भी होते हैं इसलिए अज्ञानी और ज्ञानी का भेद ग्रन्थि के लगे रहने और उसका भेद होने मे ही है ॥२६६॥

ग्रन्थिभेद के अतिरिक्त ज्ञानी में और कोई अन्तर नहीं है—

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा देहेन्द्रियमनोधियाम्।
न किंचिदपि वैषम्यमस्त्यज्ञानिविबुद्धयोः ॥

अन्वय—देहेन्द्रियमनोधियां प्रवृत्तो वा निवृत्तो वा अज्ञानिविबुद्धयो: किंचित् अपि वैषम्य न अस्ति।

अर्थ– देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की विषयों में प्रवृति अथवा निवृत्ति के होने मे ज्ञानी व अज्ञानी में कोई अन्तर नही है ॥२६:॥

इसी बात को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं:—

व्रात्यश्रोत्रिययोर्वेदपाठापाठकृता भिदा।
नाहारदावस्ति भेदः सोऽयं न्यायोऽत्र योज्यताम् ॥

अन्वय—व्रात्यश्रोत्रिययो वेदपाठापाटकृतभिदा आहारादौ भेद न अस्ति । स अय न्याय: अत्र योज्यताम् ।

अर्थ—व्रात्य*और श्रोत्रिय मे वेदपाठ करने न करने का ही भेद है, खान-पान आदि का कोई भेद नही है, इसी न्याय को यहा भी लगा लेना चाहिए ।।२६८।।+

ज्ञानी की ग्रन्थिशून्यता मे गीता का प्रमाण

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न विवृत्तानि काङ्क्षति ।
उदासीनवदासीन इति ग्रन्थिभिदोच्यते ।।२६६

अन्वय—' सप्रवृत्तानि न द्वेष्टि निवृत्तानि न काक्षति, उदासीनवत् आसीन." इति ग्रन्थिभिदा उच्यते ।

अर्थ—"आये हुए दु खो से तो ज्ञानी द्वेष नही करता और जाते हुए सुखो को चाहता नही, वह केवल उदासीन की भान्ति रहने लगता है ।" इसी को ' ग्रन्थि भेद' कहते हैं ।।२६९।।

उक्त वाक्य के अर्थ मे शका व उसका समाधान

औदासीन्यं विधेयं चेद्वच्छब्दव्यर्थता तदा ।
न शक्ता अस्य देहाद्या इति चेद्रोग एव सः ।।

अन्वय—औदासीन्य विधेय चेत् ? तदा वच्छब्दव्यर्थता, अस्य देहाद्या शक्ता न इति चेत् स: रोग एव ।

अर्थ—यदि कहो कि यह वाक्य तो उदासीनता का विधान करता है, (यह ग्रन्थिभेद का प्रमाण नही है) ऐसा मानें तो उक्त

---

* १६ वर्ष तक जिन ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य कुमारो का यज्ञोपवीत सस्कार और इसीलिए वेदाध्ययन भी नही हुआ हो उन्हे व्रात्य कहते हैं ।

+श्रोत्रिय वे ब्राह्मणादि हैं जो यज्ञोपवीत धारण करके षडग, अर्थ एव कर्मविधानसहित, अपनी शाखा के वेद का अध्ययन करते हैं ।

वाक्य मे रखा 'वत्' शब्द व्यर्थ होगा · उदासीन ही कहना था तो 'वत्' क्यो कहा ? यदि कहो कि ज्ञानी के देहादि असमर्थ हो जाते हैं इसीलिए वह कार्य नही कर सकता, तब तो यह ज्ञान क्या हुआ ? एक रोग ही है जो ज्ञानी के शरीर को अशक्त कर देता है ॥२७०॥

तत्त्वबोध को रोग मानने मे क्या हानि है ?

तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यन्ते ये महाधियः ।
तेषां प्रज्ञाऽतिविशदा किं तेषां दुःशकं वद ॥

अन्वय—ये महाधियः तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यन्ते तेषां प्रज्ञा अतिविशदा, तेषां किं दुःशकं वद ।

अर्थ—जो महाबुद्धिमान् तत्त्वबोध को क्षयरोग ही मानते हैं उनकी बुद्धि के विषय मे क्या कहे ? वस्तुत. वह बडी निर्मल है ! ऐसे पुरुषो को क्या असाध्य है ? अभिप्राय यह है कि तत्त्वबोध को रोग मानना अत्यन्त हास्यास्पद है ॥२७१॥

पुराणोक्त भरतादि की अप्रवृत्ति की व्याख्या

भरतादेरप्रवृत्तिः पुराणोक्तेति चेत्तदा ।
जक्षन्क्रीडन्रतिं विन्दन्नित्यश्रौषीर्न किं श्रुतिम् ॥

अन्वय—भरतादे. अप्रवृत्तिः पुराणोक्ता इति चेत्? तदा जक्षन्, क्रीडन्, रतिं विन्दन् इति श्रुतिं किं न अश्रौषीः ?

अर्थ—यदि कहो कि भरत आदि की अप्रवृत्ति पुराणो में वर्णित है ? तो कहना श्रुति से अनभिज्ञता का सूचक है क्योकि ज्ञानवान् खाता हुआ, खेलता हुआ, रतिलाभ करता हुआ इस प्रकार की श्रुति को क्या तूने नही सुना है ?

छान्दोग्यनिषद् (८–१२–३) मे निम्न वाक्य है–जक्षन् क्रीडन् रममाण स्त्रीभिर्वा यानैर्वा वयस्यैर्वा नोपजन स्मरन्निद शरीरम्"

इस श्लोक में 'रममाण' की व्याख्या 'रति विन्दन्' से की गई है।

फिर पुराणो की कथा का क्या अर्थ करोगे ?

नह्याहारादि संत्यज्य भरताद्याः स्थिताः क्वचित् ।
काष्ठपाषाणवत्किन्तु सङ्गभीता उदासते ॥२७३

अन्वय—हि भरताद्या' आहारादि सत्यज्य काष्ठपाषाणवत् क्वचित् स्थिता न, किन्तु सगभीता उदासते ।

अर्थ पुराण में जड़भरत की कथा में भरत की अप्रवृत्ति का वर्णन नही है भरत आदि आहार आदि को छोडकर लकडी या पत्थर की भान्ति कही पड नही गये थे अपितु वे सगदोष लग जाने के डर से उदासीन रहते थे। वहा पुराणो का तात्पर्य उनकी उदासीनता दिखाने मे ही है ॥२७३॥

सङ्गत्याग का कारण बताते हैं—

सङ्गी हि बाध्यते लोके निःसङ्ग सुखमश्नुते ।
तेन सङ्गः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ॥२७४

अन्वय—हि लोके सङ्गी बाध्यते नि सङ्ग सुख मश्नुते । तेन सुख इच्छता मङ्ग सर्वदा परित्याज्य ।

अर्थ—लोक मे सग करने वाले बन्धन मे फसे दीखते हैं और निःसग आनन्द करता देखा गया है-इसलिए जो सदा सुख चाहता है उसे सग का परित्याग कर देना चाहिये ॥२७४।

यदि यह कहो कि केवल मानस सङ्ग को ही त्याज्य मानो तो अत. सङ्ग से शून्य और बाहर से व्यवहार मे आसक्त जनो को लोग मूख आदि क्यो कहते हैं ? इसका उत्तर देते है —

अज्ञात्वा शास्त्रहृदयं मूढो वदत्यन्यथाऽन्यथा ।
मूर्खाणां निर्णयस्त्वास्तामस्मात्सिद्धान्त उच्यते ॥

अन्वय—मूढ शास्त्रहृदयं अज्ञात्वा अन्यथा अन्यथा वक्ति, मूर्खाणां निर्णय. तु आस्ताम्, अस्मत्सिद्धान्त उच्यते।

अर्थ—मूर्ख लोग शास्त्र के रहस्य को जाने बिना कुछ का कुछ कहते रहते हैं-उनके निर्णय को रहने दो, हम अपना सिद्धान्त बतते हैं। अभिप्राय यह है कि ज्ञानी को मूढ बताना तो मूर्खों का निर्णय है—उनकी बातो को जाने दो। २७५॥

वैराग्यबोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम् ।
प्रायेण सह वर्तन्ते वियुज्यन्ते क्वचित्क्वचित् ॥

अन्वय—वैराग्यबोधोपरमा ते परस्पर सहायाः प्रायेण सह वर्त्तन्ते क्वचित् क्वचित्, वियुज्यन्ते।

अर्थ—वैराग्य, बोध और उपरति ये तीन परस्पर सहायक हैं, ये तीनों प्राय· एक साथ रहते हैं, कही-कही अलग भी हो जाते हैं।*॥२७६॥

ये तीनो यदि साथ साथ ही रहते हैं तो कहीं परस्पर अभिन्न तो नहीं हैं ?

हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नान्येषामसंकरः ।
यथावदवगन्तव्यः शास्त्रार्थं प्रविविच्यता ॥२७७

अन्वय—हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नानि, शास्त्रार्थं प्रविविच्यता एषां असकर. यथावत् अवगन्तव्य.।

---

* शुक और वामदेव सरीखे प्रतिबन्धक कर्मरहित अनुकूल देशकालादियुक्त निवृत्ति वाले पुरुषो मे तो ये तीनो प्राय साथ साथ रहते हैं। और प्रतिबधककर्म सहित और प्रतिकूलदेशकालादियुक्त एव लौकिक व्यवहार में प्रवृत्ति रखने वाले पुरुषो मे कही-कही परस्पर वियुक्त भी रहते हैं।

अर्थ—इन वैराग्य आदि के हेतु, स्वरूप और कार्य (फल) भिन्न भिन्न हैं, (इसलिये ये तीनो एक नही हैं)। शास्त्रार्थ का विवेक करने वाले को चाहिये कि वह इनके भेद (असकर) को भली भांति समझले। २७७

वैराग्य के हेतु, स्वरूप और फल का वर्णन करते हैं :

दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ॥

अन्वय—दोषदृष्टि च जिहासा भोगेपु पुन· अदीनता, अमी त्रय. क्षपि वैराग्यस्य असाधारणहेत्वाद्या ।

अर्थ—(विषयो मे) दोषदृष्टि उनके त्याग की इच्छा और भोगो के प्रति दीनता का न रहना—ये तीनो वैराग्य के क्रमशः असाधारण कारण, स्वरूप और फल है+ ॥२७८

तत्त्वबोध के हेतु आदि का वर्णन करते हैं

श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम्।
पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः॥२७९

+ जन्म, मरण, बुढापा और व्याधि इनके कारण विषयो में दु.ख और दोष का बार बार दर्शन (शास्त्र और अपने अनुभव के आधार पर आलोचना) करना दोषदृष्टि है। दोषदृष्टि से विवेकी पुण्यशील पुरुष तीव्र वैराग्य, मोक्ष की इच्छा और उनका सिद्धि की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार दोषदृष्टि वैराग्य का हेतु है।

त्याग की इच्छा अथवा इच्छारहित होना वैराग्य का स्वरूप है। यह अनेक प्रकार का बताया गया है।

अपने प्रयत्न के बिना, प्रारब्धवश प्राप्त धनादि विषयो को पुनः इष्ट बुद्धि से ग्रहण न करना ही अदीनता है, यही वैराग्य का फल है।

अन्वय–श्रवणादित्रय तद्वत् तत्वमिथ्याविवेचन पुन. ग्रन्थे अनुदयः एते त्रयः बोधस्य मता ।

अर्थ—'श्रवण आदि तीन' तत्त्वज्ञान के हेतु, 'तत्व और मिथ्या का विवेक' तत्वज्ञान का स्वरूप और ग्रन्थिका पुन. उदय न होना' तत्वज्ञान का फल है।

यहां श्रवणादि तीन श्रवण, मनन और निदिध्यासन हैं। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मतव्यो निदिध्यासितव्य·" इस प्रकार श्रुति ने श्रवणादि को आत्मदर्शन का साधन बताया है। तत्व और मिथ्या के विवेचन का अर्थ कूटस्थ और अहंकारादिको का भेद ज्ञान है–यही तत्वज्ञान है। अन्योन्याध्यास की अनुत्पत्ति ही ग्रन्थि का अनुदय है–यह तत्वज्ञान का फल है।+ ।'२७६

+जैसे सूर्य दर्शन का साक्षात् हेतु आंख है ऐसे ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुखसे सुने 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य ही साक्षात् ज्ञान के हेतु हैं परन्तु असम्भावना विपरीत भावनारूप प्रतिबन्ध को हट ने वाले होने से श्रवण आदि भी ज्ञान के हेतु हैं। (२) यद्यपि ब्रह्म-आत्मा के अभेद के निश्चय को तत्त्वबोध का स्वरूप कहा है, फिर भी, कूटस्थ और अहंकारादि का भेद-ज्ञानरूप ग्रन्थिभेद भी उससे भिन्न नहीं है। क्योंकि 'देहेन्द्रिय आदि से पृथक् मैं स्वप्रकाश असङ्ग साक्षी चिद्रूप ब्रह्म हूँ' और 'प्रतीयमान भी यह प्रपच मिथ्या है'—इस प्रकार की संशय और विपरीत भावना से रहित जो दृढ निश्चयरूप चित्तवृत्ति है वह तत्त्व और और मिथ्या का विवेचनरूप परिपक्वनिष्ठा है। यही ब्रह्मात्मा का अभेदनिश्चय रूप तत्त्वबोध का स्वरूप है। (३) यो तो तत्वबोध का फल मोक्ष अर्थात् जन्मादि कार्य सहित अविद्या की निवृत्ति और परमानन्दस्वरूप-ब्रह्म की प्राप्ति है, ग्रन्थि का पुन. अनुदय तत्वबोध का फल नही है। तथापि, अविद्या अन्योन्याध्यास की हेतु है और अन्योन्याध्यास जन्मादि

उपरति के हेतु आदि का वर्णन करते हैं :

यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः ।
स्युर्हेत्वाद्या उपरतेरित्यसंकर ईरितः ।।२८०

अन्वय—यमादि:, च धीनिरोध , व्यवहारस्य सक्षय. उपरते हेत्वाद्याः स्यु इति असकर ईरित ।

अर्थ—यमादि अष्टागयोग उपरति का हेतु है। बुद्धि अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोधरूप योग उपरति का स्वरूप है। और लौकिकवैदिक व्यवहारो का सम्यक्क्षय अथवा विस्मरण उपरति का फल है।

यहा यमादि अष्टाग, यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और सविकल्प समाधि–ये आठ हैं।

सविकल्प, निर्विकल्प समाधि के फलस्वरूप जो प्रमाण, विपर्यय विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पाच वृत्तियो का निरोध हो जाना है वही उपरति का स्वरूप है।

इस प्रकार एक साथ रहने वाले वैराग्य, तत्ववोध, और

अनर्थों का हेतु है। अन्योन्याध्यास की निवृत्ति अविद्याकी निवृत्ति से ही होती है तथा अविद्या की निवृत्ति कूटस्थ और अहङ्कारादि के भेद-ज्ञान विना नही होती,अतएव अविद्या की निवृत्तिका हेतु ग्रन्थिभेद अर्थात् तत्व और मिथ्या का विवेचन ही है। वह अविद्या की निवृत्ति जब तक दृढ नही होती तब तक अन्योन्याध्यास-रूप ग्रन्थि बार-बार उदय होती रहती है ग्रन्थि के अनुदय से जन्म आदि अनर्थों की निवृत्ति होती है। वोधरूप राजा अविद्या, उसके कार्य अध्यास और अध्यास के कार्य जन्मादि को एक साथ ही निगलता है। यह कार्य-सहित अविद्या की निवृत्ति अधिष्ठान-रूप ही है इसलिए ग्रन्थि का पुन अनुदय ही मोक्ष है। वही तत्वबोध का फल है।

उपरति इन तीनो का भेद यहाँ दर्शा दिया गया है ॥२८०॥

इन तीनो मे से कौन मुख्य है ? यह बताते हैं :

तत्वबोधः प्रधानं स्यात्साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः ।
बोधोपकारिणावेयौ वैराग्योपरमावुभौ ॥२८१

अन्वय – तत्वबोधः प्रधानं स्यात् साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः । वैराग्योपरमौ एतौ उभौ बोधोपकारिणौ ।

अर्थ–तत्त्वबोध इन तीनो में प्रधान है क्योकि वह साक्षात् मोक्ष का दाता है (श्रुति मे–"तमेव विदित्वऽतिमृत्युमेति नान्य. पन्था विद्यतेयऽनाय' कहकर तत्वबोध को ही साक्षात् मोक्षदाता बताया है) वैराग्य और उपरम दोनो तत्वबोध के साधन हैं श्रुति कहती है–'ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृत. कृतेन' (लोकों को कर्मरचित जानकर ब्रह्म होने की इच्छा वाला मुमुक्षु ब्राह्मण वैराग्य को धारण करता है ।) और 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् शांतो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म को जानने के लिए मुमुक्षु गुरु के समीप जावे और शान्त, दान्त, उपरत और तितक्षु होकर आत्मा मे ही आत्मा को देखे), इन श्रुतियो से वैराग्य और उपरति तत्त्वबोध के साधन ज्ञात होते हैं ॥२८१॥

वैराग्यादि के एक साथ रहने या न रहने के कारण का वर्णन करते हैं .—

त्रयोरप्यत्यन्तपक्वाश्चेन्महतस्तपसः फलम् ।
दुरितेन क्वचित्किंचित्कदाचित्प्रतिबध्यते ॥२८२

अन्वय—त्रय अपि अत्यन्तपक्वा. चेत् महत. तपस फलम् । दुरितेन क्वचित् किंचित् कदाचित् प्रतिबध्यते ।

अर्थ—यदि तीनो अत्यन्त परिपक्व हो तो वह उनका परि-

पक्व होना महान तप का फल है और पाप कर्म के कारण किसी-किसी में कुछ का कभी-कभी प्रतिबन्ध हो जाता है।

अनेक जन्मो मे कमाये हुये पुण्यो के परिपाक से ये तीनो इकट्ठे हो पाते है अन्यथा तो प्रतिबन्धक पाप के अनुसार किसी पुरुष में तथा काल विशेष मे इन तीनो मे किसी एक या दो का तिरोधान रहता है ॥२८२

इनमे से भी यदि तत्वबोध रुक जाय तो मोक्ष नही होता .

वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते ।
यस्य तस्य न मोक्षोऽस्ति पुण्यलोकस्तपोबलात् ॥

अन्वय—यस्य वैराग्योपरती पूर्णे, बोध तु प्रतिबध्यते तस्य मोक्षः न अस्ति । तपोबलात् पुण्यलोक. ।

अर्थ—जिसको वैराग्य और उपरति तो पूर्ण हो चुके हो परन्तु आत्मबोध न हुआ हो, उसका मोक्ष नही होता । हा वैराग्यादि के सम्पादन से उसे पुण्यलोक की प्राप्ति होती है। इसलिए वैराग्यादि का सम्पादन व्यर्थ नही होता। भगवद्गीता अध्याय ६ श्लोक ४१ मे कहा भी है–प्राप्य पुण्यकृताम् लोकानुषित्वा शाश्वती समा । शुचीना श्रीमता गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।' जिस व्यक्ति को बोध के साधन वैराग्योपरति, तो प्राप्त हैं पर बोध नही हुआ है उसे योगभ्रष्ट कहते हैं। योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यलोको मे बहुत वर्षो तक निवास कर लौट कर श्रीमानो के घर में जन्म लेता है ॥२८९

जब तक वैराग्य और उपरति न हो तब तक जीवन्मुक्ति का सुख नही मिलता ।

पूर्णेबोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा ।
मोक्षो विनिश्चितः किंतु दृष्टदुःखं न नश्यति ॥

अन्वय—बोधे पूर्णे तदन्यौ द्वौ यदा प्रतिबद्धौ तदा मोक्ष. विनिश्चत: किन्तु दृष्टदु ख न नश्यति ।

अर्थ—बोध पूर्ण हो जाने पर यदि अन्य दोनो वैराग्य और उपरति—रुक जावे तो मोक्ष तो निश्चित है* परन्तु दृष्टि-दु ख नष्ट× नही होता अर्थात् जीवन्मुक्ति का सुख सिद्ध नही होता। २८४

अब इनकी सीमा बतलाते हैं :—

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः ।
देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्यं बोधः समाप्यते ।।
सुप्तिवद्विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हि ।
दिशानया विनिश्चेयं तारतम्यमवान्तरम् ।।

अन्वय·—ब्रह्मलोकतृणीकार वैराग्यस्यावधि: मत.। देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्ये बोध. समाप्यते। सुप्तिवत् विस्मृति उपरमस्य सीमा भवेत् हि। अनया दिशा अवान्तर तारतम्य विनिश्चेयम्।

अर्थ—ब्रह्मलोक को भी तिनके समान, तुच्छ, जान लेना वैराग्य की अवधि मानी गई है। अज्ञानी लोग देह को आत्मा

---

* ज्ञान से बन्ध की कारणभूत अविद्या के निवृत्त हो जाने से और पुन. अविद्या की उत्पत्ति होना असम्भव होने के कारण मोक्ष तो अवश्य होता है।

× क्रम से वासनाक्षय और मनोनाश के कारण वैराग्य और उपशम के न होने से रजोतम की अधिकता रहती है और शुद्ध सत्व गुण तिरोहित रहता है, इसलिए इस लोक मे होने वाले, अनुकूल प्रतिकूल पदार्थों से जन्य, विक्षेपरूप दृष्टदु ख की निवृत्ति नही होती। हाँ, बोध हो जाने के कारण जन्मान्तर असम्भव हो जाता है। इसलिए परलोक-सम्बन्धी आगामी दु ख का तो अभाव ही रहता है।

जितनी दृढता से समझते हैं, उतनी ही दृढता से परब्रह्म को आत्मा समझलेने पर बोध की समाप्ति होती है। सुषुप्ति जैसी विस्मृति हो जाना उपरति की सीमा है। इसी प्रकार इनका अवान्तर न्यूनाधिक भाव अपनी-अपनी बुद्धि से निश्चय कर लेना चाहिए ॥२८६॥

यदि कहो कि तत्वज्ञानी भी राग आदि के कारण उच्च और नीच होते हैं तो, ज्ञान का मुक्ति का निश्चित साधन होना सन्दिग्ध है, सो ठीक नही है क्योंकि--

आरब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथाऽन्यथा ।
वर्तनं, तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः ॥

अन्वय —आरब्धकर्मनानात्वात् बुद्धाना अन्यथा अन्यथा वर्तन, तेन पण्डितै. शास्त्रार्थे न भ्रमितव्यम् ।

अर्थ—प्रारब्ध कर्मो के विविध होने से, ज्ञानी लोगो के आचरण भी विविध होते हैं। पण्डित लोग उनके आचरणो की विविधता को देखकर शास्त्र के अर्थ के विषय मे भ्रम न पडे ।

जैसे व्याधि आदि प्रारब्ध कर्म के फल होते हैं वैसे ही तत्वज्ञानियो के राग आदि भी प्रारब्ध कम के ही फल हैं, वे मुक्ति के प्रतिवन्धक नही हो सकते ॥२८७॥

तब क्या निश्चय करना चाहिए ? यह बताते हैं—

स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा ॥
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ॥

अन्वय—ते स्वस्वकर्मानुसारेण यथा तथा वर्तन्ता, सर्वबोध. अविशिष्ट मुक्ति, सम., इति स्थिति. ।

अर्थ—वे ज्ञानी अपने अपने कर्मों के अनुसार जैसा व्यवहार करते हैं करें—उन सबको मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप मे जो ज्ञान होता है वह किसी का किसी से विशेष नही—एक जैसा है और निरवद्य

ब्रह्मरूप से स्थिति के रूप में जो मुक्ति है वह भी सब ज्ञानियों की एक-समान है। यही शास्त्र की मर्यादा है ॥२२८॥

इस प्रकरण का तात्पर्य संक्षेप से दर्शाते हैं.—

जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रमिवार्पितम् ।
मायया तदुपेक्ष्यैव चैतन्यं परिशेष्यताम् ॥२८९

अन्वय—मायया जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्र इव अर्पितम्। तद् उपेक्ष्य चैतन्ये एव परिशेष्यताम् ।

अर्थ--माया ने जगत् रूपी चित्र को, वस्त्र पर खिंचे चित्र की भान्ति, अपने आत्मचैतन्य के ऊपर खींचा हुआ है, उस जगत्-रूप चित्र की उपेक्षा करके अपने आत्म-चैतन्य को ही शेष रखा—आत्म-चैतन्य को उसके शुद्ध-रूप मे समझ लो ॥२८६॥

इस ग्रन्थाभ्यास के फल को दिखाते हुए चित्रदीप-प्रकरण की समाप्ति करते हैं:—

चित्रदीपमिमं नित्यं येऽनुसन्दधते बुधाः ।
पश्यन्तोऽपि जगच्चित्रं ते मुह्यन्ति न पूर्ववत् ।२९०

अन्वय.—ये बुधा. इमं चित्रदीपं नित्य अनुसंदधते, ते जगच्चित्र पश्यन्त अपिपूर्ववत् न मुह्यन्ति ।

अर्थ--जो शुद्ध बुद्धि मुमुक्षु इस चित्रदीप प्रकरण का नित्य विचार करते रहते हैं, इसे नही भुलाते, वे जगत्-रूप चित्र को देखते हुए भी इतने मोह को प्राप्त नही होते जितने कि पहले होते रहे थे।

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के षष्ठ प्रकरण-चित्रदीप
की श्री पीताम्बरशर्मकृत तत्त्वप्रकाशिका
व्याख्या समाप्त ।



अथ तृप्तिदीपः-७

भाषाकारकृतमङ्गलाचरणम्

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसंतापहारिणे ।
सच्चिदानन्दरूपाय रामाय गुरवे नम ॥१
अज्ञानवारणव्रातसुनिवारणकारिणे ।
महावाक्यरवेणैव वापवे गुरवे नम. ॥२
श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पचदश्या नृभाषया ।
कुर्वेह तृप्तिदीपस्य व्याख्या तत्त्वप्रकाशिकाम् ॥३

'तृप्तिदीप' नामक प्रकरण का आरम्भ करते हुए श्रीभारतीतीर्थ व्याख्यानयोग्य श्रुति को आदि मे पढते हैं · इस प्रकरण मे इस श्रुति की ही व्याख्या की गई है । व्याख्येय श्रुति इस प्रकार हैः—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१
अस्याः श्रुतेरभिप्रायः सम्यगत्र विचार्यते ।
जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते ॥

अन्वय—'पूरुष आत्मान 'अय अस्मि' इति विजानीयात् चेत्, किं इच्छन् कस्य कामाय शरीर अनुसज्वरेत् ?' अत्र अस्या श्रुते अभिप्रायः सम्यक् विचार्यते । तेन जीवन्मुक्तस्य या तृप्ति. सा विशदायते ।

अर्थ—यदि जीव आत्मा को 'यह मै हूँ' इस प्रकार जान ले तो किस भोग्य विषय को चाहता हुआ और भोक्ता के किस भोग के लिए शरीर के पीछे दु ख उठाता फिरे ? आत्मज्ञान से ही सब कामनाओ के शान्त हो जाने पर फिर क्यो जन्म लेता फिरे ॥१॥

इस प्रकरण मे इस श्रुति का अभिप्राय भले प्रकार विचारा जा रहा है, इस विचार से जीवन्मुक्त को श्रुतिप्रसिद्ध तृप्ति स्पष्ट की जा रही है।

व्याख्यान के पांच लक्षण हैं:—१ पदच्छेद २. पदार्थ का कथन ३ विग्रह ४ वाक्य योजना और ५ शङ्कासमाधान। यहाँ उक्त श्रुति में आये 'पुरुष' शब्द का अर्थ बताने से पहले सृष्टि का संक्षेप से वर्णन करते हैं —

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः।
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥३॥

अन्वय—आभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः जीवेशौ कल्पितौ एव। ताभ्या सर्वं कल्पितम्।

अर्थ—"माया आभास से जीव और ईश्वर का निर्माण करती है" श्रुति मे यह वर्णन है, अतएव जीव और ईश्वर माया के कल्पित ही है, और उन दोनो ने सारे जगत् की कल्पना की है। (माया और उस द्वारा जीव-ईश्वर के निर्माण का वर्णन तत्वविवेक प्रकरण के १५-१६-१७ श्लोको में कर चुके है ॥३॥

जीव और ईश्वर मे से किसने कितनी सृष्टिरचना की है? इसका विवरण देते हैं.—

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥४॥

अन्वय—ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टि ईशेन कल्पिता। जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसार. जीवकल्पित.।

अर्थ–ईक्षण (तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति) से लेकर प्रवेश (अनेन जीवेनात्मानमनुप्रविश्य) तक की सृष्टि को ईश्वर ने बनाया तथा जाग्रत् से लेकर मोक्षपर्यन्त संसार को जीव ने बनाया।

जीव हो अपने आपको जागता, स्वप्न देवता या मुक्त होता हुआ मानता है। श्रुति मे इसका वर्णन इस प्रकार है —

स एष मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्।
स्त्र्यन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति ॥१
स्वप्नेऽपि जीव सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितविश्वलोके।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूत सुखरूपमेति ॥२
पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् स एव जीव. स्वपिति प्रबुद्ध ।
पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जात सकल विचित्रम् ॥३

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्च यत्प्रकाशते।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥४

अर्थात् यह चारों ओर से माया से मोहित हुआ, शरीर को 'मैं' मानता हुआ, सब कर्मों को करता है। जाग्रत अवस्था मे वही जीव स्त्री, अन्न-पान आदि विविध भोगो मे तृप्ति अनुभव करता है। १॥ स्वप्न मे भी वह जीव अपनी माया से कल्पित लोक मे सुख दुःख का भोक्ता बनाता है और सुषुप्ति मे सबके विलीन होने पर अज्ञान से आवृत हो सुख भोगता है ॥२॥ पुनः जन्मान्तर मे किये कर्मों के योग से ही वही जीव स्वप्न अथवा जाग्रत् अवस्था में पहुँच जाता है। जो जीव जाग्रदादि तीन अवस्थाओ अथवा शरीर रूप पुरियो मे क्रीड़ा करता है उसी से सकल विचित्र मनोमय जगत् बना है ॥ ५ ॥ जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति आदि प्रपच को जो प्रकाशित करता है, वह, ब्रह्म मैं हूँ ऐसा जानकर सब बन्धनो से मुक्त होता है ॥४॥

इस प्रकार 'पूरुष' शब्द के अर्थ के ज्ञान मे उपयोगी सृष्टि का वर्णन कर अब 'पूरुष' शब्द का अर्थ कहते हैं —

भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासङ्गचिद्वपुः।

अन्योन्याध्यासतोऽसङ्गधीस्थजीवोऽत्र पूरुषः ॥५

अन्वय—कूटस्थासङ्गचिद्वपु भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा अन्योन्याध्यासतः असङ्गधीस्थजीव अत्र पूरुष ।

अर्थ—जो तत्त्व, कूटस्थ (अविकारी), असङ्ग और चित्स्वरूप है तथा देह इन्द्रिय आदि के अध्यास-रूप भ्रम का अधिष्ठान-रूप परमात्मा है, वह यद्यपि असङ्ग है तो भी अन्योन्याध्यास से अर्थात् आचार्य-निरूपित तादात्म्याध्यास से (एक दूसरे के स्वरूप को और धर्मों के एक दूसरे मे मानकर सब व्यवहारो का भागी होता है यही आचार्य निरूपित तादात्म्याध्यास है) असङ्गधी मे स्थित हुआ—सच्चे सम्बन्ध से शून्य-बुद्धि मे अपने रूप से रहता हुआ—जीव ही यहां इस श्रुति मे 'पूरुष' अथवा पुरुष कहा गया है। 'स वा अय पुरुष सर्वासु पूर्षु पुरिशय' अर्थात् 'यह परुष ही सब पुरियो देहो मे शयन करता है इसलिए 'पुरुष' कहलाता है' यह श्रुति मे वर्णित है और पुरुष को ही पूरुष कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि बुद्धि आदि की कल्पना का अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य ही बुद्धि मे प्रतिविम्बित होकर जीव बना हुआ 'पुरुष' कहलाता है ॥५॥

यदि कहो कि पुरुष शब्द से केवल चिदाभास-रूप जीव का ही ग्रहण क्यो नही करते ? साथ मे अधिष्ठान-भूत कूटस्थ चैतन्य के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर देते हैं :—

साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते न तु ।
केवलो निरधिष्ठानविभ्रान्तेः क्वाप्यसिद्धितः ॥६

अन्वय—साधिष्ठान. जीव विमोक्षादौ अधिक्रियते, न तु केवल । क्व अपि निरधिष्ठानविभ्रान्ते. असिद्धित. ।

अर्थ—अधिष्ठान अर्थात् कूटस्थ चैतन्य सहित ही चिदाभास जीव को मोक्षादि के साधनो के अनुष्ठान का अधिकार होता है केवल चिदाभास को यह अधिकार नही होता। क्योंकि विना अधिष्ठान (आरोप्य पदार्थ) की भ्रान्ति कही देखने मे नही आती।

अधिष्ठान सहित जीव का ही ससार से अ वय है–यह दो श्लोको में दिखाते हैं —

अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशमवलम्बते ।
यदा तदाहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते ।।७

अन्वय—जीव यदा अधिष्ठानाशसयुक्त भ्रमाश अवलम्बते तदा 'अह समारी' इति एव अभिमन्यते।

अर्थ–जीव जव अधिष्ठानाश सहित (कूटस्थ सहित) भ्रमाश का अवलम्वन करता है अर्थात् चिदाभास सहित शरीरो को अपने स्वरूप से स्वीकार करता है, तव 'मैं ससारी हूँ' यह मानने लगता है ।।७।।

भ्रमांशस्य तिरस्कारादधिष्ठानप्रधानता ।
यदा तदा चिदात्माहमसङ्गोऽस्मीति बुध्यते ।।८

अन्वय—यदा भ्रमाशस्य तिरस्कारात् अधिष्ठानप्रधानता, तदा 'अह चिदात्मा असङ्ग अस्मि' इति बुध्यते।

अर्थ–और जव फिर वह भ्रमाश (दोनो देहो सहित चिदाभास) का तिरस्कार कर देता है अर्थात् मिथ्या समझकर उसकी अपेक्षा नही करता और अधिष्ठान-रूप कूटस्थ की प्रधानता (स्वस्वरूपता) को स्वीकार कर लेता है तव 'मै चिदात्मा हूँ' ऐसा जान लेता है।

अभिप्राय यह है कि जीव जब दोनो देहो सहित चिदाभास की उपेक्षा कर अधिष्ठान-भूत कूटस्थ रूप हो जाता है, आत्म-

स्थिति मे आ जाता है तब उसे, असङ्ग चिदात्मा होने का ज्ञान होता है ।।८।

असङ्गचेतन कूटस्थ तो 'अह' प्रत्यय का विषय नहीं है, फिर तुम्हारा उपरोक्त कथन कैसे सङ्गत है ? इसका उत्तर देते हैं—

नासंगेऽहंकृतिर्युक्ता कथमस्मीति चेच्छृणु ।
एकोमुख्यो द्वावमुख्यावित्यर्थस्त्रिविधाऽहमः ।।९

अन्वय—असगे अहङ्कृति न युक्ता, कथ 'अस्मि' इति चेत् ? शृणु, एक. मुख्य. द्वौ अमुख्यौ इति अहम. त्रिविध अर्थः ।

अर्थ—क्योंकि असङ्ग (चिदात्मा) मे अहङ्कार का होना ठीक नहीं है इसलिये वह यह क्योकर जान सकता है कि 'मैं हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर सुनो—एक मुख्य और दो अमुख्य—इस प्रकार अह के तीन अर्थ होते हैं। अर्थात् शब्द की मुख्य शब्द शक्ति से चाहे आत्मा अह प्रत्यय का विषय नही है परन्तु लक्षणावृत्ति से वह अह प्रत्यय का विषय है ।।९।

'अहं' के मुख्य अर्थों का वर्णन करते हैं:—

अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाभासयोर्वपुः ।
एकीभूय भवेन्मुख्यस्तत्र मूढैः प्रयुज्यते ।।१०

अन्वय—कूटस्थाभासयो. वपु अन्योन्याध्यासरूपेण एकीभूय मुख्य: भवेत्, तत्र मूढैः प्रयुज्यते ।

अर्थ—कूटस्थ और चिदाभास का स्वरूप जब अन्योन्याध्यास एक हो जाता है तब यही एक हुआ स्वरूप 'अह' शब्द का वाच्य अर्थ है। इसको अह का मुख्य अर्थ इसलिए कहते हैं कि जिनको इनके मिले जुले स्वरूप का ज्ञान नही है वे मूढ लोग इसी अर्थ में अह शब्द का प्रयोग किया करते हैं ।।१०।

अब अमुख्य अर्थों को दर्शाते हैं—

पृथगाभासकूटस्थावमुख्यौ तत्र तत्त्ववित् ।
पर्यायेण प्रयुङ्क्तेऽहंशब्दं लोके च वैदिके ॥११

अन्वय--पृथक् आभासकूटस्थौ अमुख्यौ तत्त्ववित् तत्र अहं शब्द लोके च वैदिके पर्यायेण प्रयुङ्क्ते ।

अर्थ—आभास और कूटस्थ, 'अहं' शब्द के दो पृथक् पृथक् अमुख्य अर्थात् लक्ष्य अर्थ हैं। क्योंकि तत्त्वज्ञानी लोग इन दोनो अर्थो मे, लौकिक तथा वैदिक व्यवहारो में पर्याय से अहं शब्द का प्रयोग करते हैं।

भावार्थ यह है कि चिदाभास और कूटस्थ के अविविक्त रूप को सब अज्ञानी व्यवहार मे लाते हैं, वह उसका वाच्य अर्थ है। और कूटस्थ एव चिदाभास के विवेचित रूप को कुछ तत्त्ववित् ही कभी विचार के समय मे ही व्यवहार मे लाते हैं, अतएव वे उसके अमुख्य अर्थ हैं ॥५११॥

'पर्याय से प्रयोग' को दो श्लोको से स्पष्ट करते हैं—

लौकिकव्यवहारेऽहं गच्छामीत्यादिके बुधः ।
विविच्यैव चिदाभासं कूटस्थात्तं विवक्षति ॥१२
असंगोऽहं चिदात्माऽहमिति शास्त्रीयदृष्टितः ।
अहंशब्द प्रयुङ्क्तेयं कूटस्थे केवले बुधः ॥१३

अन्वय—बुध 'अहं गच्छामि' इत्यादिके लौकिकव्यहारे कूटस्थात् चिदाभास विविच्य त एव विवक्षति । अय बुध शास्त्रीयदृष्टित केवले कूटस्थे 'अहं असङ्ग' अहं चिदात्मा' इति अहं शब्द प्रयुङ्क्ते ।

अर्थ—विद्वान् 'मैं जाता हूँ' इत्यादि लौकिक व्यवहारो मे चिदाभास को कूटस्थ से पृथक् जानकर ही उस केवल चिदाभास

को ही 'अहं' शब्द से कहना चाहता है ॥१२॥ और यही विद्वान् शास्त्र को ध्यान मे रखकर चिदाभास से पृथक् जाने हुए केवल कूटस्थ मे 'मैं असंग हूँ' 'मैं चिदात्मा हूँ' इस प्रकार लक्षणा मे 'अहं' शब्द का प्रयोग करता – इस प्रकार लक्षणा से चिदात्मा भी 'अहं' शब्द का अर्थ हो जाता है और अहं प्रतीति का विषय हो जाने से 'असंग हूँ' यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥१३॥

चिदाभास को 'मैं कूटस्थ हूँ' यह ज्ञान कैसे होगा ? इस शंका का वर्णन तथा उसका समाधान करते हैं

ज्ञानिताज्ञानिते त्वात्माभासस्यैव न चात्मनः ।
तथा च कथमाभासः कूटस्थोस्मीति बुध्यताम् ॥१४
नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान् ।
आभासत्वस्य मिथ्यात्वात्कूटस्थत्वावशेषणात् ॥

अन्वय—ज्ञानिताऽज्ञानिते तु आत्माभासस्य एव, न च आत्मनः । तथा च आभासः 'कूटस्थः अस्मि' इति कथं बुध्यताम् ? (समाधान) अयं दोषः न, चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान् । आभासत्वस्य मिथ्यात्वावशेषणात् ।

अर्थ—ज्ञानित्व और अज्ञानित्व तो, दोनो ही, आत्माभास को ही होते हैं आत्मा को नही (आत्मा को अज्ञाननिवृत्ति की आवश्यकता नही होती · कूटस्थ यह नही जानता कि मै कूटस्थ हू) अब सिद्धांती यह बताये कि चिदाभास यह कैसे जाने कि 'मैं कूटस्थ हूँ' ? ॥१४॥

समाधान—यह शंका निर्मूल है क्योकि चिदाभास कूटस्थ रूप मुख्य स्वभाव वाला ही है वह कूटस्थ से भिन्न तत्त्व नही है । कारण यह है कि आभासत्व तो मिथ्या है अतएव कूटस्थता ही शेष रह जाती है । जैसे दर्पण मे प्रतीयमान मुखाभास का

वास्तविरूप ग्रीवा पर लगा हुआ मुख ही है। ऐसे ही इसे भी जानो।

कूटस्थोस्मीति बोधोपि मिथ्या चेन्नेति को वदेत्।
न हि सत्यतयाभीष्टं रज्जुसर्पविसर्पणम् ॥१६

अन्वय—'कूटस्थ अस्मि' इति बोध अपि मिथ्या चेत्? न इति को वदेत्? हि रज्जुसर्पविसर्पणम् सत्यतया न अभीष्टम्।

अर्थ—(शङ्का) चिदाभास मिथ्या है तो चिदाभास का आश्रित 'मैं कूटस्थ हूँ' ज्ञान भी तो मिथ्या होगा? (समाधान) ठीक है, इस का निषेध कौन करता है? कूटस्थ के अतिरिक्त सभी कुछ तो मिथ्या है। यह बात ऐसी है कि जैसे रज्जु मे कल्पित सर्प की गति को भी हम सत्य मानते हो ॥१२॥

मिथ्याबोध से ससार की निवृत्ति कैसे होती है?

तादृशेनापि बोधेन संसारो हि निवर्तते।
यज्ञानुरूपो हि बलिरित्याहुर्लौकिका जनाः ॥

अन्वय—तादृशेन बोधेन अपि ससार निवर्तते हि। हि यक्षानुरूपः बलि इति लौकिका॰ जना॰ आहु।

अर्थ—मिथ्या बोध से भी ससार की निवृत्ति हो जाती है–ससार भी तो मिथ्या है न? लोक मे भी तो कहते हैं कि जैसा यज्ञ वैसो उसकी वलि।' जब ससार मिथ्या है तो वह मिथ्याबोध से ही मर जायगा ॥१७॥

तस्मादाभासपुरुषः स कूटस्थो विविच्यतम्।
कूटस्थोमीति विज्ञातुमर्हतीत्यभ्यधाच्छ्रुतिः ॥

अन्वय—तस्मात् स कूटस्थ. आभासपुरुष त विविच्य कूटस्थ. अस्मि' इति विज्ञातु अर्हति–इति श्रुतिः अभ्यधात्।

अर्थ—क्योंकि कूटस्थ ही चिदाभास का अपना स्वरूप है, इसलिये पुरुष शब्द का वाच्य कूटस्थसहित चिदाभास कूटस्थ को अपने से पृथक् जानकर 'मैं कूटस्थ हूँ' ऐसा, लक्षणा से जान सकता है। इसी अभिप्राय से "श्रुति मे 'अस्मि' यह पद कहा है ॥१८॥

'पुरुषऽस्मि' इन दो पदो का अभिप्राय बताकर 'अय' पद का अभिप्राय कहते हैं —

असंदिग्धविपर्यस्तबोधो देहात्मनीक्ष्यते ।
तद्वदवेति निर्णेतुमयमित्यभिभीयते ॥१६

अन्वय—देहात्मनि असदिग्धाविपर्यस्तबोध' ईक्ष्यते। अत्र तद्वत् इति निर्णेतु 'अय' इयि अभिधीयते।

अर्थ—जैसे इस प्रसिद्ध देहरूप आत्मा में सशयविपर्ययरहित 'मैं यह हूँ' ऐसा बोध सबको होता है वैसा ही दृढज्ञान प्रत्यागात्मा मे मुक्ति के लिए कर लेना चाहिए, इस बातका निर्णय करने के लिए श्रुति मे 'अय' पद कहा है।१६॥

इस प्रकार क दृढज्ञान मोक्ष का साधन है—इसको श्री शकराचार्य के वाक्य से प्रमाणित करते हैं —

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥२०

अन्वय—देहात्मज्ञानवत् आत्मनि एव देहात्मज्ञानबाधक ज्ञान यस्य भवेत्, स न इच्छत् अपि मुच्यते:

अर्थ—जैसा 'मैं हूँ' यह दृढज्ञान देहरूप आत्मा मे होता है वैसा ही दृढ, प्रत्यगात्मा मे—'देह आत्मा है' इसका बाधक मैं ब्रह्म हूँ यह ज्ञान जिसको हो जाय–वह न चाहता हुआ भी मुक्त हो जाता है क्योंकि ससार का हेतुभूत अज्ञान तो उसका ज्ञान से, निवृत्त ही हो चुका है ॥२०॥

'अयम्' के 'प्रत्यक्ष' अर्थ से कोई हानि नहीं।

अयमित्यपरोक्षत्वमुच्यते चेत्तदुच्यताम्।
स्वयंप्रकाशचैतन्यमपरोक्षं सदा यतः ॥२१

अन्वय—अय इति अपरोक्षत्व उच्यते चेत् ? तत् उच्यताम्, यतः स्वयप्रकाशचैतन्य सदा अपरोक्षम्।

अर्थ—यदि कहो कि 'अय' (यह) पद तो, 'यह घडा है' आदि पदो मे जैसे अपने निर्दिष्ट पद की अपरोक्षता को बताता है वैसे ही इस श्रुति मे भी इसका अर्थ अपरोक्षत्व ही किया जाना चाहिए। (समाधान) ठीक है, मान लो, क्योकि स्वय प्रकाश चैतन्य सदा प्रत्यक्ष ही रहता है। उसको प्रकाशित होने के लिए दूसरे साधन की अपेक्षा नही है। वह आवरणकर्ता के अभाव के कारण नित्य अपरोक्ष है* ॥२१॥

नित्य-अपरोक्ष चेतन, परोक्षापरोक्ष और ज्ञानाज्ञानविषय, दोनो हैं—

परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमज्ञानमित्यदः।
नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद्दशमे यथा ॥२२

अन्वय—परोक्ष च अपरोक्ष, ज्ञान अज्ञान, इति, अद. द्वय, यथा दशमे नित्यापरोक्षरूपे अपि स्यात्।

---

* यदि चैतन्य का आवरण मानोगे तो प्रकाशक के अभाव के कारण ससार की अप्रतीति ही हो जायेगी और यदि उसका आवरण नही है ऐसा माने तो आचार्यों ने अज्ञानी को 'अज्ञानी हूँ और ब्रह्म को नही जानता' इस अनुभव के अनुसार ब्रह्म के आश्रित और ब्रह्म को आच्छादित करने वाला होने के कारण जो 'स्वाश्रयस्वविषय' बताया है वह कथन सिद्ध नही होता : इसलिये सामान्यअश की प्रतीति और विशेष अश की अप्रतीति स्वीकार करने पर किसी भी प्रकार विरोध नही होता।

अर्थ—स्वप्रकाशचित् रूप होने से आत्मा को नित्य अपरोक्ष माना है, परन्तु उसे यदि 'अयम्' पदप्रयोग के बल से अपरोक्ष मानोगे तो परोक्ष भी मानना होगा . तथा १४ वे श्लोक मे उसे ज्ञान और अज्ञान का विषय बताया है, ये दोनो युगल उस नित्य अपरोक्ष आत्मा में भी, दसवें मनुष्य की भान्ति सिद्ध हो सकते है ॥२२॥

दशम पुरुप की 'अज्ञानावस्था' का वर्णन करते हैं–

नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमात्तदा ।
न वेत्ति दशमोऽस्तीति बोक्षमाणोपि तान्नव ॥२३

अन्वय—नवसख्याहृतज्ञान. दशम. तदा तान् नव वीक्ष्यमाण. अपि विभ्रमात् 'दशम अस्मि' इति न वेत्ति ।

अर्थ—परिगणनीय पुरुषो की 'नौ' सख्या से जिसका विवेक लुप्त हो गया है ऐसा यह दसवां पुरुष परिगणनीय नौ पुरुषो को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी भ्रान्ति से गिननेवाले-अपने आपको नही जानता कि 'मैं दसवाँ हूँ' ॥२३॥

दशम के अज्ञान के कार्य, आवरण का स्पष्टीकरण

न भाति नास्ति दशम इति स्वं दशमं तदा ।
मत्वा वक्ति तदज्ञानकृतमावरणं विदुः ॥२४

अन्वय—तदा स्व दशम' न भाति न अस्ति' इति मत्वा वक्ति । तत् अज्ञानकृत आवरण विदु' ।

अर्थ—अज्ञान काल मे वह दशम पुरुष स्वय दशम होते हुए भो जो यह कह बैठता है कि 'दशम मुझे प्रतीत नही होता, दशम नही है' उसके इस व्यवहार का कारण, अज्ञान का कार्य आवरण ही है ॥२४॥

दशम के अज्ञान के ही कार्यविशेष विक्षेप का स्पष्टीकरण

नद्यां ममार दशम इतिशोचन्प्ररोदिती ।
अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादि विदुर्बुधाः ॥२५

अन्वय—'नद्या दशम ममार' इति शोचन् प्ररोदिति, रोदनादि बुधा अज्ञानकृत विक्षेप विदु ।

अर्थ—'नदी मे दसवा मर गया' इस प्रकार शोक करके जो रोता है, उस रोदन आदि को बुद्धिमान् अज्ञान का किया हुआ 'विक्षेप' कहते हैं ॥२५॥

दशम की असत्वाशनिवर्तक परोक्षज्ञानावस्था स्पष्टीकरण

न मृतो दशमोस्तीति श्रुत्वाऽप्तवचनं तदा ।
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत् ॥२६

अन्वय—तदा दशम न मृत, अस्ति, इति आप्तवचन श्रुत्वा स्वर्गादिलोकवत् परोक्षत्वेन दशम वेत्ति ।

अर्थ—उस समय, 'दशम मरा नही है'—यथार्थवादी का यह वचन सुनकर वह दशम पुरुष परोक्षरूप (शास्त्र वचन से स्वीकार किये हुए) स्वर्ग आदि के समान दसवें पुरुष को जान जाता है ।

दशम के आभनाशनिर्वतक अपरोक्षज्ञान का स्पष्टीकरण

त्वमेव दशमोसीति गणयित्वा प्रदर्शितः ।
अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति ॥२७

अन्वय—गणयित्वा त 'त्व एव दशम. असि' इति प्रदर्शित अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यति एव,-न रोदिति ।

अर्थ—उसके गिने हुए नौ पुरुषो के साथ उसको भी गिनकर 'तू ही दसवा है' ऐसे जब आप्तपुरुष दिखाता है, तब, 'मैं दसवा

हूँ' यह अपरोक्षरूप से जानकर वह हर्षित हो उठता है–फिर रोना छोड देता है ॥२७॥

दशम में वर्णित ये सात अवस्थायें चिदात्मा मे भी समझो

अज्ञानावृतिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः ।
शोकापगम इत्येते योजनीयाश्चिदात्मनि ॥२७

अन्वय—अज्ञानवृतिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः शोकापगमः इति एते चिदात्मनि योजनीया ।

अर्थ—अज्ञान, आवरण, विक्षेप (शोक, भ्रान्ति), परोक्ष तथा अपरोक्षरूप दो प्रकार का ज्ञान, तृप्ति और शोक निवृत्ति ये जो सात अवस्थाएँ दृष्टान्तभूत दसवे पुरुष मे दिखाई हैं, वे सातों दार्ष्टान्तिक चिदात्मा मे भी लगालो ॥२८॥

चिदात्मा मे उन सात अवस्थाओ का वर्णन चार श्लोको से करते हैं –

संसारासक्तचित्तः संश्चिदाभासः कदाचन ।
स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम् ॥२९

अन्वय—अय चिदाभास. ससारासक्तचित्त. सन् कदाचन स्वयत्त्व स्वय प्रकाशकूटस्थ न एव वेत्ति ।

अर्थ—यह चिदाभास, ससार अर्थात् विषयसम्पादन आदि के ध्यान मे मस्त होकर, श्रुतिविचार से पहले कभी अपने भी स्वरूप स्वप्रकाशचेतनरूप कूटस्थ प्रात्यगात्मा को नही जानता, उसका यह न जानना ही अज्ञान है ॥२९॥

न भाति कूटस्थ इति वक्ति प्रसङ्गतः ।
कर्ता भोक्ताऽहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते ॥३०

अन्वय—प्रसङ्गत 'कूटस्थ न अस्ति न भाति' इति वक्ति 'अहकर्ता अह भोक्ता' इति विक्षेप प्रतिपद्यते ।

अर्थ—चिदात्मा का प्रसग चलने पर 'कूटस्थ है ही नही, प्रतीत नही होता' यह कहना अज्ञान का किया आवरण है। और 'कूटस्थ की असत्ता तथा अप्रतीति के कथन की भ्रान्ति ही' 'मैं कर्त्ता हूँ, भोक्ता हू,'' इस प्रकार कर्तृत्व आदि का जो अपने में आरोप करता है-इस आरोप का हेतु जो स्थूल सूक्ष्म रूप दोनो देहो से युक्त चिदाभास है वही विक्षेप है ॥३०॥

अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया ।
पश्चात् कूटस्थ एवास्मात्येवं वेत्ति विचारतः ॥

अन्वय—आदौ वार्तया 'कूटस्थ' अस्ति इति परोक्ष वेत्ति । पश्चात् विचारत 'कूटस्थ एव अस्मि' इति एव वेत्ति।

अर्थ –बातचीत मे दूसरे अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ गुरु से समझाया हुआ, 'कूटस्थ' है यह जानता है-यही उसका परोक्ष ज्ञान है। और पीछे विचार से-श्रवणादि के परिपाक के कारण—'ब्रह्मा-भिन्न-प्रत्यगात्मारूप कूटस्थ मैं हूँ'' ऐसा जान लेता है-यही उसका अपरोक्ष ज्ञान है ॥३१॥

कर्ता भोक्तेत्येवमादि शोकजातं प्रमुञ्चति ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति ॥३२

अन्वय-कर्त्ता, भोक्ता इति-एव आदि शोकजात प्रमुञ्चति । कृत्य कृत, प्रापणीय प्राप्त इति एव तुष्यति ।

अर्थ—निर्विकार असग आत्मा के ज्ञान के पश्चात् कर्तृत्व आदि शोको को छोड़ देता है-यह शोकनाश है। फिर मैंने जो कुछ करना था कर लिया, पाना था पा लिया इस प्रकार का सतोष (हर्ष) उसको हो जाता है, यही तृप्ति है ॥३२॥

अज्ञानमावृतिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधीः ।
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरंकुशा ॥३३

सप्तावस्था इमाः सन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ ।
बन्धमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बन्धकृतः स्मृताः ।

अन्वय—अज्ञान, आवृति., तदवत् विक्षेप, च परोक्षधीः, अपरोक्षमति. शोकमोक्ष. निरकुशा तृप्ति. ॥ ३३ ॥ इमाः सप्तावस्थाः चिदाभासस्य सन्ति । तासु इमौ बन्धमोक्षौ स्थितौ । तत्र तिस्र. बन्धकृतः स्मृताः ।

अर्थ—अज्ञान, आवरण, विक्षेप, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकनिवृत्ति और निरकुश तृप्ति–ये सातो अवस्थाये चिदाभास की ही हैं, कूटस्थ की नही हैं, कूटस्थ की मानोगे तो उसका निर्विकार होना कैसे घटेगा ? इन सात अवस्थाओ का यहा लिखने का फल यह जताना है कि ये सातो अवस्थाय बन्ध-मोक्ष का कारण हैं—इसीलिए कहते है कि इन सातों अवस्थाओ मे ही बन्ध और मोक्ष समा जाते है। इनमे से पहली तीन, (अज्ञान आवरण और विक्षेप) बन्धन करने वाली है (शेष चार मोक्ष की अवस्थाए हैं)

प्रत्येक का कार्य दिखाकर इनकी बन्धनकारिता स्पष्ट करने के लिए पहले 'अज्ञान' का स्वरूप दिखाते हैं –

न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम् ।
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम् ॥३५

अन्वय—विचारप्रागभावेन युक्त उदासीनव्यवहारस्य कारण न जानामि' इति अज्ञान ईरितम् ।

अर्थ—जिसके साथ आत्मा के विचार का प्रागभाव लगा हुआ है, जो तूष्णीभावरूप उदासीन व्यवहार (कथन और प्रतीति) का कारण है और 'मैं नही जानता' इस प्रकार अनुभूत होता है वह अज्ञान है ॥३५॥

आमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ ।

विपरीतव्यवहृतिरावृतेः कार्यमिष्यते ।।३६

अन्वय—अमार्गेण विचार्य अथ 'असौ न अस्ति, न भाति' इति विपरीतव्याहृति· आवृते कार्यं इष्यते ।

अर्थ—इसके पश्चात् (शास्त्रोक्त प्रकार को छोड़कर) अमार्ग (केवल तर्क) से विचार करके, 'कूटस्थ है ही नही, न यह प्रतीत ही होता है' ऐसा जो विपरीत व्यवहार करने लगना है वह 'आवरण का कार्य' माना जाता है ।।३६।।

देहद्वयचिदाभासरूपो विक्षेप ईरितः ।

कर्त्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्योऽस्य बन्धकः ।

अन्वय—देहद्वयचिदाभासरूप. विक्षेप. ईरितः । बन्धक. ससाराख्यः कर्तृत्वाद्यखिल. शोक. अस्य ।

अर्थ—स्थूल सूक्ष्म दोनो देहो सहित चिदाभास का नाम ही 'विक्षेप' है । बन्ध का हेतु, ससार नाम का जो कर्तृत्व-प्रमातृत्व आदिरूप सम्पूर्ण शोक है वह सब इस चिदाभास का कार्य अर्थात् किया हुआ है ।।३७।।

परन्तु ये सात अवस्थायें चिदाभास में कैसे सम्भव हैं ? अज्ञान और आवरण तो विक्षेप की उत्पत्ति से पहले ही स्थित हैं और चिदाभास विक्षेप के अन्तर्गत है इसलिए चिदाभास की ये अवस्थाएँ नही हो सकती? इसका समाधान करते हैं –

अज्ञानमावृतिश्चैते विक्षेपात्प्राक्प्रसिध्यतः ।

यद्यप्यथाप्यवस्थे ते विक्षेस्यैव नात्मनः ।।३८

अन्वय—यद्यपि अज्ञान च आवृति एते विक्षेपात् प्राक् प्रसिध्यत., अथापि ते अवस्थे विक्षेपस्य एव, आत्मन.,न :

अर्थ—यद्यपि अज्ञान और आवरण ये दोनो अवस्थायें विक्षेप से पूर्व स्थित हैं तो भी आत्मा की अवस्थायें नही है, क्योंकि असग होने के कारण आत्मा की कोई अवस्था नही होगी, अतएव ये अवस्थायें चिदाभास की ही हैं–ऐसा मानना चाहिए ॥३८॥

यदि कहो कि विक्षेप तो तब था ही नही, फिर इनको विक्षेप की अवस्था कैसे कहते हो ? इसका उत्तर देते हैं :—

विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वमपि विक्षेपसस्कृतिः ।
अस्त्येव तदवस्थात्वमविरुद्धं ततस्तयोः ॥३९

अन्वय—विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वम् अपि विक्षेपसस्कृति. अस्ति एव, तत. तयोः तदवस्थात्वमविरुद्धम् ।

अर्थ—विक्षेपोत्पत्ति से पहले भी विक्षेप का सस्कार तो विद्यमान था ही, इसलिए उनका विक्षेप की अवस्थारूप से वर्णन असिद्ध नही है ॥३९॥

यदि यह कहो कि अज्ञान और आवरण को, अप्रसिद्ध सस्कार के सहारे, चिदाभास की अवस्था मानने की अपेक्षा अधिष्ठान रूप में प्रसिद्ध ब्रह्म की अवस्था मानना अधिक अच्छा है, इसका उत्तर देते हैं:–

ब्रह्मण्यारोपितत्वेन ब्रह्मावस्थे इमे इति ।
न शंकनीयं सर्वासां ब्रह्मण्येवाधिरोपणात् ॥४०

अन्वय—'ब्रह्मणि आरोपितत्वेन इमे ब्रह्मावस्थे' इति न शकनीयम्, सर्वाणा ब्रह्मणि एव अधिरोपणात् ।

अर्थ—ब्रह्म मे आरोपित होने से ये, अज्ञान और आवरण, दोनो ब्रह्म की अवस्थाए है, ऐसी शका नही करनी चाहिए क्योंकि यो तो सभी अवस्थाए ब्रह्म मे आरोपित हैं ॥४०॥

परन्तु विक्षेप की उत्पत्ति के पश्चात् की अवस्थायें तो जीव के

आश्रित ही अनुभव होती है ? इस शका का वर्णन कर उसका समाधान करते हैं –

संसार्यहं विबुद्धोऽहं निःशोकस्तुष्ट इत्यपि ।
जीवगा उत्तरावस्था भान्ति न ब्रह्मगा यदि ॥
तर्ह्यज्ञोऽहं ब्रह्मसत्त्वभाने मद्दृष्टितो न हि ।
इति पूर्वे अवस्थे च भासेते जीवगे खलु ॥४२

अन्वय—'अह ससारी, अह विबुद्ध, नि शोक, तुष्ट इति अपि उत्तरावस्था जीवगा भान्ति, न ब्रह्मगा । यदि तर्हि 'अह अज्ञ ब्रह्मसत्त्वभाने मद्दृष्टित न हि' इति पूर्वे अवस्थे च जीवगे भासेते ।

अर्थ—'मैं ससारी (कर्तृत्व आदि धर्मवाला हूँ, विबुद्ध (तत्वसाक्षात्कारवान्) हूँ, नि शोक (कर्तृत्व आदि शोको से रहित) हूँ और तुष्ट हूँ—अज्ञान एव आवरण से पिछली ये सब अवस्थाए जीवाश्रित अनुभूत होती है, ब्रह्माश्रित नही ? ॥४१॥ (समाधान) तब तो, मैं अज्ञ हूँ, ब्रह्म की सत्ता और प्रतीति मेरे अनुभव से है ही नही,' ये अज्ञान और आवरण की विक्षेप की पूर्ववर्ती अवस्थाए भी तो निश्चित रूप से जीवाश्रित ही प्रतीत होती हैं ! इसलिए इन्हे विक्षेप की ही अवस्थाए मानना चाहिए ॥४२॥

फिर पूर्वाचार्यो ने ब्रह्म को अज्ञानाश्रय क्यो कहा ?

अज्ञानस्याश्रयो ब्रह्मेत्यधिष्ठानतया जगुः ।
जीवावस्थात्वमज्ञानाभिमानित्वादवादिषम् ॥४३

अन्वय—अधिष्ठानतया अज्ञानस्य आश्रय ब्रह्म इति जगु अज्ञानाभिमानित्वात् जीवावस्थात्व अवादिषम् ।

अर्थ—अज्ञान का अधिष्ठान मानकर ही पूर्वाचार्यो ने ब्रह्म अज्ञान का आश्रय है—ऐसा कहा है । और हमने, अज्ञान का अभिमानी होने से उस अज्ञान को जीव की अवस्था कहा है ॥४३॥

पिछली चार अवस्थाओ मे से दो कैसे मुक्ति की हेतु हैं ? यह दिखाते हैं –

ज्ञानद्वयेन नष्टेऽस्मिन्नज्ञाने तत्कृतावृतिः ।
न भाति नास्ति चेत्येषा द्विविधापि विनश्यति ।।४४

अन्वय– ज्ञानद्वयेन अस्मिन् अज्ञाने नष्टे तत्कृता न भाति' 'न अस्ति' इति एषा द्विविधा आवृतिः अपि च विनश्यति ।

अर्थ—परोक्ष एव अपरोक्ष दोनो ज्ञानो से आवरण के कारणभूत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर उस अज्ञान के कार्यभूत, 'नही प्रतीत होता,नही है' इस व्यवहार के कारणभूत दोनो आवरण भी नष्ट हो जाते है । इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्षज्ञान नाम की दोनो अवस्थाये मुक्ति के कारण वन जाती है । ४४।।

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृतिहेतुता ।
अपरोक्षज्ञाननाश्या ह्यभानावृतिहेतुता ।।४५

अन्वय–परोक्षज्ञानतः असत्वावृतिहेतुनता नश्येत्, अपरोक्षज्ञाननाश्या हि अभानावृतिहेतुता ।

अर्थ—('कूटस्थ है'इस रूपवाले) परोक्षज्ञान से असत्वापादक (कूटस्थ नही हैं इस रूप वाले) आवरण का कारणपना नष्ट हो जाता है और अपरोक्षज्ञान से, 'कूटस्थ प्रतीत नही होता'–इस रूप वाले अभानापादक आवरण का कारणपना नष्ट हो जाता हैं ।।४५।।

ज्ञान की फलरूप दो अवस्थाओ मे से प्रथमावस्था का वर्णन

अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात् ।
कर्तृत्वाद्याखिलः शोकः संसाराख्यो निवर्तते ।।

अन्वय—अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसक्षयात् कर्तृत्वाद्यखिलः ससाराख्य शोक निवर्तते ।

अर्थ—अज्ञानावरण के हट जाने पर भ्रान्ति से प्रतीयमान जीवस्वरूप आरोप भी नही रहता-इस आरोप के निवृत्त हो जाने पर जीवभाव के कारण बना हुआ कर्ता-भोक्ता-प्रमाता-रूपी ससार नाम का सब शोक भी नष्ट हो जाता है ॥४६॥

अपरोक्ष ज्ञान की फल निरकुशतृप्ति रूप अवस्था का वर्णन

निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तत्वभासनात् ।
निरकुंशा भवेत् तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात् ॥

अन्वय—सर्वससारे निवृत्तेनित्यमुक्तत्वभासनात् पुन. शोकासमुद्भवात् निरकुशा तृप्तिः भवेत् ।

अर्थ—समस्त ससार के निवृत्त हो जाने पर आत्मा के नित्य-मुक्त होने की प्रतीति होने लगती है, अतएव पुन शोक उत्पन्न नही होता और निर्मर्याद तृप्ति प्राप्त हो जाती है ॥४७॥

सात अवस्थाओ का यह निरूपण 'आत्मान चेद्विजानीयात्' इस श्रुति के व्याख्यान के अन्तर्गत ही है, प्रकरण विरुद्ध नही, यह दर्शाते हुए उक्त श्रुति मे इन अवस्थाओ का उल्लेख दिखाते हैं —

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे ।
अवस्थे जीवगे ब्रूत आत्मानं चेदिति श्रुतिः ॥

अन्वय—'आत्मन चेत्' इति श्रुति अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्याख्ये उभे इमे अवस्थे जीवगे ब्रूते ।

अर्थ—प्रकरणगत व्याख्येय उक्त श्रुति, अपरोक्ष ज्ञान तथा शोकनिवृत्ति नामक इन दोनो अवस्थाओ को जीवों की अवस्था बताती है ॥४८॥

'अय' पद से आत्मा को अपरोक्ष कहा, फिर वह परोक्ष ज्ञान का विषय कैसे होगा ? यह बताने के लिए अपरोक्ष ज्ञान के भेद बताते हैं—

अयमित्यपरोक्षत्वमुक्तं तद् द्विविधं भवेत् ।
विषयस्वप्रकाशत्वाद्धियाप्येवं तदीक्षणात् ॥४९

अन्वय—'अय' इति अपरोक्षत्व उक्त तत् द्विविध भवेत्। विषयस्वप्रकाशत्वात् धिया अपि एव तदीक्षणात् ।

अर्थ—२१ वे श्लोक में 'अय' पद से जो आत्मा का अपरोक्षत्व कहा है वह दो प्रकार का है। प्रथम तो यह कि वह विषय-चित्रूप आत्मा—स्वप्रकाश है, अपनी प्रतीति के लिए किसी दूसरे साधन की अपेक्षा नही रखता। द्वितीय यह कि बुद्धि से भी उसका वह रूप–स्वप्रकाशत्व-देख लिया गया है। अर्थात् विषय (यहा आत्मा) और विषयी (यहा, बुद्धि वृत्ति) के भेद से अपरोक्षत्व दो प्रकार का है ॥४९॥

परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता ।
समा ब्रह्म स्वप्रकाशमस्तीत्येवं विबोधनात् ॥

अन्वय–परोक्षज्ञानकाले अपि विषयस्वप्रकाशता समा, ब्रह्म स्वप्रकाश अस्ति इति एव विबोधनात्।

अर्थ—अपरोक्ष ज्ञान के समय की भान्ति परोक्षज्ञान के समय भी ब्रह्म नामक विषय स्वप्रकाश ही रहता है, क्योकि परोक्षज्ञान के समय भी यही ज्ञान होता है कि ब्रह्म स्वप्रकाश है ॥५०॥

प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयक ज्ञान परोक्ष कैसे हो सकता है ?

अहं ब्रह्मेत्यनुल्लिख्य ब्रह्मास्तीत्येवमुल्लिखेत् ।
परोक्षज्ञानमेतन्न भ्रान्तं बाधानिरूपणात् ॥५१

अन्वय–'अह ब्रह्म' इति अनुल्लिख्य 'ब्रह्म अस्ति' इति एव उल्लिखेत् परोक्षज्ञान एतत् भ्रान्त न बाधानिरूपणात् ।

अर्थ—जिसमे 'मैं ब्रह्म हूँ' कथन तो न हो, केवल 'ब्रह्म है'

इतना उल्लेख हो वह परोक्षज्ञान है। और वह भ्रान्त नही है, क्योकि ब्रह्म का बाधानिरूपण त्रिकाल मे भी नही कर सकते, 'ब्रह्म है' इस ज्ञान को बाधा कभी नही होती ॥५१॥

ब्रह्म के परोक्षज्ञान को भ्रान्ति चार प्रकार से माना जा सकता है—१. बोध योग्य होने से २ ब्रह्म के आकार का प्रत्यक्ष न होने से ३ अपरोक्षरूप से ग्रहण करने योग्य विषय (ब्रह्म) का परोक्षरूप से ग्रहण करने से और ४ प्रत्यक् अश का ग्रहण न होने से। इनमे से 'बाधायोग्य होने से' इस प्रथम विकल्प का विचार यहाँ आरम्भ हुआ है। इसी को स्पष्ट करते हैं —

ब्रह्मनास्तीति मानं चेत्स्याद्बाध्येत तदा ध्रुवम्।
न चैवं प्रबलं मानं पश्यामोऽतो बाध्यते ॥

अन्वय--'ब्रह्म न अस्ति' इति मान चेत् स्यात् तदा बाध्येत, एव प्रबल मान ध्रुव न पश्याम । अत न बाध्यते ।

अर्थ —'ब्रह्म नही है ऐसा सिद्ध करने वाला प्रमाण होता तो निश्चय ही परोक्षज्ञान को बाधा हो जाती, परन्तु ऐसा प्रबल प्रमाण हमें नही मिलता, इसलिये 'ब्रह्म है' इस परोक्ष ज्ञान की बाधा नही होती ॥५२॥

व्यक्ति अर्थात् ब्रह्म के आकार का उल्लेख न होने से परोक्षज्ञान को भ्रान्ति मानना भी ठीक नही है ! कहते हैं—

व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे स्वर्गधीरपि भ्रांतिः
स्याद्व्यक्त्यनुल्लेखात्सामान्योल्लेखदर्शनात् ॥५३

अन्वय—व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे व्यक्त्यनुल्लेखात् सामान्योल्लेखदर्शनात् स्वर्गधी अपि भ्रान्ति. स्यात्।

अर्थ—यदि ब्रह्म की व्यक्ति (आकार) के अविषय करने मात्र से परोक्षज्ञान को भ्रान्ति मानो तो व्यक्ति के ज्ञान न होने तथा

सामान्यरूप से ज्ञान होने से "स्वर्ग है" यह ज्ञान भी तो भ्रम कहलायेगा? अतएव व्यक्ति का अग्रहण हेतु अति प्रसक्त है ।।५३।।

तृतीयविकल्प का निराकरण करते हैं:–

अपरोक्षत्वयोग्यस्य न परोक्षमतिर्भ्रमः ।
परोक्षमित्यनुल्लेखादर्थात्पारोक्ष्यसंभवात् ।।५४

अन्वय—अपरोक्षत्वयोग्यस्य परोक्षमतिः भ्रमः न, परोक्ष इति अनुल्लेखनात्, अर्थात् पारोक्ष्यसम्भवात् ।

अर्थ– प्रत्यक्ष से जानने योग्य (यहा प्रत्यगभिन्न ब्रह्म) का पहले परोक्ष से जान लेना भ्रम नही है क्योकि यह (ब्रह्म) परोक्ष है ऐसा ज्ञान नही होता फिर भी वह परोक्ष है क्योकि "यह ब्रह्म है" इस प्रकार का ब्रह्म के आकार का ज्ञान न होने से वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान ही कहलाता है ।।५४।।

चतुर्थ वकल्प के विषय मे शका और समाधान

अंशाग्रहीतेर्भ्रान्तिश्चेद्घटज्ञानं भ्रमो भवेत् ।
निरंशस्यापि सांशत्वं व्यावर्त्यांशविभेदतः ।।५५

अन्वय—अशाग्रहीते भ्रान्ति चेत्, घटज्ञान भ्रम भवेत् । व्यावर्त्याशविभेदन निरशस्यापि साशत्वम् ।

अर्थ–यदि अश के अग्रहण से परोक्ष ज्ञान को भ्रान्त मानो अर्थात् ब्रह्माश के ग्रहण के साथ-साथ पृथक् अश के अग्रहण से ही उसको भ्रम मानो तो घटज्ञान को भी भ्रम मानना पड़ेगा। यदि कहो कि घट तो सावयव है उसके किसी एक अश के ग्रहण के साथ-साथ कुछ अ शो का अग्रहण सम्भव है— ब्रह्म तो निरवयव है अतएव उसके किसी एक अ श का ग्रहण किसी का अग्रहण सम्भव नही है ? इसका उत्तर देते हैं कि–यद्यपि ब्रह्म निरवयव

है परन्तु व्यावर्त्य-अशरूपी उपाधि के भिन्न होने से वह निरवयव (निरंश) भी सावयव (सांश) मान लिया जाता है ॥५५॥

व्यावर्तांशो की विभिन्नता दिखलाते हैं —

असत्वांशो निवर्तेत परोक्षज्ञानतस्तथा ।

अभानांशनिवृत्तिः स्यादपरोक्षधिया कृता ॥५६

अन्वय—परोक्षज्ञानत असत्वाश निवर्तेत तथा अपरोक्षधिया कृता अभानाशनिवृत्ति ।

अर्थ—परोक्षज्ञान से तो असद्भावोपसम्पादक अज्ञानाश (असत्वाश) की निवृत्ति होती है और अपरोक्ष ज्ञान से अप्रतीति के सम्पादक अज्ञानाश (अभावाश) की निवृत्ति होती है ॥५६

जिस परोक्षज्ञान का विषय अपरोक्षता से ग्रहण योग्य है, वह भ्रम नहीं होता इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं —

दशमोस्तीत्यविभ्रान्तं परोक्षज्ञानमीक्ष्यते ।

ब्रह्मास्तीत्यपि तद्वत्स्यादज्ञानावरणं समम् ॥५७

अन्वय—'दशम अस्ति' इति परोक्षज्ञान अविभ्रान्त ईक्ष्यते, तद्वत् 'ब्रह्म अस्ति' इति अपि स्यात् । अज्ञानावरण समम् ।

अर्थ—यथार्थवादी आप्तपुरुष के वाक्य से उत्पन्न 'दशम है' यह परोक्षज्ञान जैसे अभ्रान्त है, वैसे ही 'ब्रह्म है' इस वाक्य से जन्य ज्ञान भी ऐसा ही होगा । दोनो मे अज्ञानकृत असत्वावरणांश समान है ॥५७॥

वाक्य से परोक्षज्ञान तो अपरोक्षज्ञान किससे ? यह बताते हैं—

आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते ।

व्यक्तिरुल्लिख्यते, यद्वद् दशमस्त्वमसीत्यतः ॥

अन्वय—'आत्मा ब्रह्म' इति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते व्यक्ति उल्लिख्यते, यद्वत् 'दशम. त्व असि' इति अत ।

और फिर जीव रूप से प्रवेश आदि युक्तियो के पर्यालोचन द्वारा उसके प्रत्यक्-रूप की सम्भावना करके, 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यो से अद्वितीय ब्रह्मरूप आत्मा को 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप में साक्षात् करे ।

आदिमध्यावसानेषु स्वस्य ब्रह्मत्वधीरियम् ।
नैव व्यभिचरेत्तस्मादापरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ॥६२

अवन्य—इय स्वस्य ब्रह्मत्वधीः आदिमध्यावसानेषु न एव व्यभिचरेत् तस्मात् आपरोक्ष्य प्रतिष्ठितम् ।

अर्थ–यह अपनी आत्मबुद्धि, (पाचो कोशों के) आदि, मध्य या अन्त में–कही भी–आत्मा का व्यवहार करने पर विपरीत नह होती अर्थात् अन्यथा नही होती । इसलिए इस बुद्धि की अपरोक्षता निश्चित है ॥६२॥

उक्त प्रकार अपरोक्षज्ञान होने मे श्रुति का प्रमाण है !

जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन भृगुः पुरा ।
पारोक्ष्येण गृहीत्वाथ विचाराद्व्यक्तिमैक्षत ॥६३

अन्वय—भृगु. पुरा जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन पारोक्ष्येणगृहीत्वा अथ विचारात् व्यक्ति ऐक्षत ।

अर्थ—वरुण नामक ऋषि के पुत्र भृगु ने पहले–"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ·····(तै०३–१) इस वाक्य से मुने जगत् के जन्म आदि के कारणत्व आदि लक्षण से जगत् के कारण ब्रह्म को परोक्षरूप से जानकर पीछे विचार से, अन्नमयादि कोशो के विचार से व्यक्ति अर्थात् प्रत्यगात्मा–रूपी ब्रह्म का साक्षात्कार किया था । अतएव तैत्तिरीय श्रुति के वाक्य से सिद्ध होता है कि विचार सहित वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होनी है ॥६३॥

परन्तु इस प्रकरण मे तो 'त्व ब्रह्मासि' आदि उपदेश वाक्य नही हैं तो फिर भृगु को आत्म साक्षात्कार कैसे हुआ ?

यद्यपि त्वमसीत्यत्र वाक्यं नोचे भृगोः पिता ।

तथाप्यन्नं प्राणमिति विचारस्थलमुक्तवान् ॥६४

अन्वय—यद्यपि अत्र भृगो पिता 'त्व असि इति वाक्य न ऊचे, तथापि 'अन्न प्राण' इति विचारस्थल उक्तवान् ।

अर्थ—यद्यपि इस प्रकरण में भृगु के पिता ने 'तू ही ब्रह्म है' ऐसा कोई उपदेश नही दिया तथापि 'अन्न' 'प्राण' आदि आत्मसाक्षात्कार के हेतु विचार के योग्य स्थलो पर निर्देश कर दिया था ।

अन्नमय आदि कोशों के विचार से तो प्रत्यक् (जीव) का साक्षात्कार ही सम्भव है, फिर ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे हुआ ? कहते हैं—

अन्नप्राणादिकोशेषु सुविचार्य पुनः पुनः ।

आनन्दव्यक्तिमीक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्माप्ययूयुजत् ॥६५

अन्वय—अन्नप्राणादिकोशेषु पुनः पुन. सुविचार्य आनन्दव्यक्ति ईक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्म अपि अयूयुजत् ।

अर्थ—अन्न, प्राण आदि कोशो के विचार से वहां आनन्दरूप आत्मा को साक्षात् देखकर, 'आनन्द से ये भूत पैदा होते हैं' आदि वाक्यो मे बताये ब्रह्म के लक्षणो को, पीछे, प्रत्यक् मे भी भृगु ने लगा लिया था ॥६५॥

प्रत्यगात्मा और ब्रह्म मे भेद भी नही है, क्योकि,

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्येवं ब्रह्मस्वलक्षणम् ।

उक्त्वा गुहाहितत्वेन कोशेष्वेतत्प्रदर्शितम् ॥६६

अर्थ—"अयं आत्मा ब्रह्म' इस महावाक्य का भलीभान्ति विचार कर लेने पर पहले 'ब्रह्म है' इस रूप मे परोक्ष रूप से जाने हुए ब्रह्म का व्यक्तित्व, अर्थात् अन्तरात्मा से अभिन्नपना, प्रत्यक्ष हो जाता है।+जैसे 'दशम तू है' इस वाक्य से * व्यक्ति अर्थात् "दशम"—दशम को अपने आप मे दशमपना–प्रत्यक्ष हो जाता है ।।५८।।

विचार सहित वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान के प्रकार को दृष्टान्त से समझाते हैं·—

दशमः क इति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते ।
गणयित्वा स्वेन सह स्वमेव दशमं स्मरेत्।। ५९

अन्वय—'दशम· क ?' इति प्रश्ने 'त्व एव' इति निराकृते स्वेन सह गणयित्वा स्व एव दशम स्मरेत ।

+ वेदान्त महावाक्यरूप शब्द ही ब्रह्म के साक्षात्कार का कारण है तथा निदिध्यासनरूप प्रसख्यान से जन्य एकाग्रमन उसका सहकारी है। सक्षेपशारीरिककार के मत से महावाक्य ही अपरोक्ष ज्ञान' हेतु है किन्तु वेदान्तग्रन्थकार विचार सहित महावाक्य को अपरोक्षज्ञान का हेतु मानते हैं। इस प्रकार प्रत्यगभिन्नब्रह्मगोचर प्रमाज्ञान का करण महावाक्यरूप-शब्द प्रमाण है और उस प्रमाण से अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति होती है यह कहना उचित है।

* दशम का ज्ञान शब्द प्रमाण से जन्य है, नेत्र और मन उनके सहकारी हैं। क्योकि दशम शरीररूप है वह नेत्र के अतिरिक्त दूसरी किसी इन्द्रिय से तो प्रत्यक्ष हो सकता नही। और आँख मीच कर बैठे पुरुप को भी 'तू दशम है' इस वाक्य को सुनकर दशम का ज्ञान होजाता है अतएव दशम का ज्ञान आँख से भी नही होता। मन मे तो ब्रह्मपदार्थ के ज्ञान का सामर्थ्य ही नही है।

अर्थ—'है' करके बताया दशम कौन सा है ? इस प्रश्न के उत्तर में 'तू ही दशम है' आप्त पुरुष द्वारा यह कहने पर, अपने सहित दूसरे ६ पुरुषो को गिनकर, स्मरण कर अपने आपको ही दशम मान लेता है . इस प्रकार विचारसहित वाक्य से अपरोक्ष-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥५६॥

फिर 'मैं दशम हूँ' यह ज्ञान विपरीतभावना आदि से खण्डित नहीं होता ।

दशमोऽस्मीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते ।
आदिमध्यावसानेषु न नवत्वस्य संशयः ॥६०

अन्वयः—अस्य 'दशम अस्मि' इति वाक्योत्था धी न विहन्यते, आदिमध्यावसानेपु नवत्वस्य सशय न ।

अर्थ—इस दशम पुरुष का "तू ही दशम है" इन गिनती आदि रूप विचार के सहित वाक्य से उत्पन्न हुआ 'मैं दशम हूँ' यह ज्ञान नष्ट नही होता अर्थात् किसी भी ज्ञान से खण्डित नही होता और फिर गिनती की क्रिया मे उन नौ के आदि, मध्य या अन्त मे कही भी दशम को रख कर गिनती करने पर दशम के विषय मे कभी भी मैं दशम हूँ या नही' यह सशय नही होता । अतएव यह वुद्धि दृढ अपरोक्षरूप है ॥६०॥

उपरोक्त सब को दार्ष्टान्तिक मे घटाते हैं—

सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्त्वं परोक्षतः ।
गृहीत्या तत्त्वमस्यादिवाक्याद् व्यक्ति समुल्लिखेत् ॥

अन्वय—'सत् एव' इत्यादिवाक्येन परोक्षत ब्रह्मसत्व गृहीत्वा तत्त्वमस्यादिवाक्यात् व्यक्ति समुल्लिखेत् ।

अर्थ—"यह जगत् पहले एक ही अद्वितीय सत् था"—इत्यादि वाक्य से पहले ब्रह्म की सत्ता का अपरोक्षज्ञान से निश्चयकरके,

अन्वय—'सत्य ज्ञान च अनन्त' इति एव ब्रह्म स्वलक्षण उक्त्वा कोशेषु गुहाहितत्वेन एतत् प्रदर्शितम् ।

अर्थ–'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' (तै० २-२) इस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप *लक्षण बताकर 'यो वेदनिहित गुहाया परमे व्योमन्'–(मुण्ड २–१–१०) इस वाक्य में उसी को पाच कोशो रूपी गुहा मे छिपा बैठा हुआ बताया हैं। इस प्रकार उपनिषदो ने ब्रह्म को ही प्रत्यगात्मा बताया है ।।६६।।

छान्दोग्य श्रुति मे भी, परोक्षज्ञानपूर्वक विचार से साक्षात्कार होना वर्णित है·—

पारोक्ष्येण विबुध्येन्द्रो य आत्मेत्यादिलक्षणात् ।
अपरोक्षीकर्तुमिच्छंश्चतुर्वारं गुरुं ययौ ।।६७

अन्वय—इन्द्र य· आत्मा इत्यादि लक्षणात् परोक्ष्येण विबुध्य अपरोक्षीकर्तुं इच्छन् चतुर्वार गुरु ययौ ।

अर्थ–छान्दोग्य के वर्णन के अनुसार देवराज इन्द्र. 'य आत्मा-ऽपहतपाप्मा० (छा० ८-७-१) इत्यादि वाक्य में बताये लक्षण से आत्मा को पहले परोक्ष रूप से जान कर, (विचारो से तीनों

*असम्भव, अव्याप्ति और अति-व्याप्ति-इन तीनो दोषो से रहित असाधारण धर्म (एकवर्ति धर्म) को लक्षण कहते हैं। वह दो प्रकार का है—१. तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण । जो लक्षण कभी हो रहता हो और व्यावर्त्तक हो वह तटस्थ है—जैसे 'काकयुक्त देवदत्त का घर' मे काकयुक्त लक्षण । ऐसे ही 'जिससे यह भूत उत्पन्न हुये' आदि ब्रह्म के तटस्थ लक्षण हैं। जो सर्वदा रहे और व्यावर्त्तक हो, वह स्वरूप लक्षण है। जैसे 'श्वेत रङ्ग युक्त देवदत्त का गृह' इसमे 'श्वेत रङ्ग युक्त' लक्षण है। ऐसे ही सत्यज्ञानादिरूप ब्रह्म का लक्षण ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है ।

शरीरों का निराकरण कर) आत्मा का अपरोक्षज्ञान करने की इच्छा से, चार बार गुरु के पास गया था ॥६७॥

ऐतरेय श्रुति मे भी वर्णन है —

आत्मा वाइदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम् ।
अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम् ॥६८

अन्वय–'आत्मा वा इद' इत्यादो परोक्ष ब्रह्म लक्षित, अध्यारोपावादाभ्या प्रज्ञान ब्रह्म दर्शितम् ।

अर्थ—ऐतरेय में 'आत्मा व इद इत्यादि वाक्यो से पहले परोक्ष ब्रह्म का कथन किया, फिर अध्यारोप और अपवाद के द्वारा प्रज्ञान अर्थात् प्रत्यगात्मारूप ब्रह्म को दिखाया गया है ।

ऐतरेय उपनिषद् मे आत्मा वा इदमग्रआसोत्' इस वाक्य से ब्रह्म का लक्षण वर्णन किया है फिर 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजे' से लेकर 'तस्य त्रय आवसथास्त्रय स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथ' इस वाक्यर्यन्त वाक्यो से परमात्मा मे जगत् के अध्यारोप के प्रकार को वताकर 'स जातो भूतान्यभिव्यैक्षत् किमिहान्य वावदिषत्' इस वाक्य से उस आरोप का निषेध कह कर 'स एतमेव पुरुष ब्रह्म ततम् पश्यत् इदमदर्शम्' इससे प्रत्यगात्मा को ब्रह्मरूप कहा है। फिर 'पुरुषे ह वा' इत्यादि वाक्य से ज्ञान के साधन वैराग्य को उत्पन्न करने के लिये गर्भवास आदि दु खो को दिखाकर 'कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे' इत्यादि वाक्य से विचार के द्वारा 'तत्-त्व' पदार्थो का शोधन करते हुए प्रज्ञान ब्रह्म' इस श्रुति से प्रज्ञानरूप आत्मा को ब्रह्म रूपता पर्दशित की है ॥६८॥

अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत् ।
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः ॥६९

अन्वय--सर्वत्र एव अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीः भवेत् महावाक्यविचारात् अपरोक्षधीः ।

अर्थ—इस प्रकार सभी श्रुतियों में अवान्तर वाक्य से तो ब्रह्म का परोक्षज्ञान होता है और महावाक्यों के विचार से अपरोक्ष ज्ञान होता है ॥६९॥

महावाक्यों के विचार से अपरोक्षज्ञान होता है–इसमें प्रमाण

ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं महावाक्यमितीरितम् ।
वाक्यवृत्तावतो ब्रह्मापरोक्षे विमतिर्नहि ॥७०

अन्वय—वाक्यवृत्तौ 'ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं महावाक्य' इयि ईरितम् अतः ब्रह्मापरोक्ष्यते विमतिः न हि ।

अर्थ—वाक्यवृत्ति मे उसके रचयिता श्रीशङ्कराचार्य ने–'अपरोक्षता की सिद्धि के लिये महावाक्य हैं'—ऐसा कहा है, अतएव महावाक्य से ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान होता है यह निर्विवाद है ॥७०॥

'वाक्यवृत्ति' मे अपरोक्षज्ञान का उपपादन निम्न प्रकार किया है.–

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः ।
अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥७१

अन्वय–य. अन्तक:रणसंभिन्नबोध सस्मत्प्रत्ययशब्दयो. आलम्बनतया भाति, सः त्वंपदाभिधः ।

अर्थ—जो अन्त करणोपाधि वोध (चिदात्मा) 'मैं इस ज्ञान और अह' इस शब्द के विषयरूप में प्रतीत होता है, वह वोध 'त्व' पद, का वाच्यार्थ है ॥७१॥

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः ।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ॥७२

अन्वय—मायोपाधि. जगद्योनि. सर्वज्ञत्वादिलक्षण. पारोक्ष्यशवलः, सत्याद्यात्मक तत्पदाभिव. ।

अर्थ—माया उपाधि वाला, जगत् का कारण (निमित्त और उपादान) सर्वज्ञता आदि लक्षण वाला, परोक्षतारूप धर्म विशिष्ट (इन तटस्थलक्षणो वाला) और जो सत्य आदि स्वरूपवाला अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप (यह स्वरूपलक्षण है, वह 'तत्' पद का वाच्यार्थ है ।।७२।।

पदार्थज्ञान के पश्चात् वाक्यार्थ जानने के लिये लक्षणावृत्तिका आश्रय आवश्यक—

प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता ।
विरुध्येते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्तते ।।७३

अन्वय—प्रत्यक्परोक्षता सद्वितीयत्व पूर्णता एकस्य यत. विरुध्येते तस्मात् लक्षणा सप्रवर्तते ।

अर्थ—क्योकि एक ही वस्तु 'प्रत्यक्' भी हो तथा 'परोक्ष' भी हो, वही वस्तु सद्वितीय (परिच्छिन्न) भी हो तथा पूर्ण भी हो—ये दोनो वाते क्योकि विरुद्ध हैं,इसलिये वाक्य का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिये लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना पडता है ।।७३।।

वह लक्षणा कहा किस प्रकार की है ? यह बताते हैं.—

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ।।७४

अन्वय तत्त्वमसि-आदि वाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा सोऽय इत्यादि वाक्यस्थपदयोरिव अपरा न ।

अर्थ 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यो मे वह लक्षणा भागलक्षणा, भागत्यागलक्षणा मानी गई है । 'सोऽय' इत्यादि वाक्यो मे स्थित

दोनों पदों की न्याईं और कोई लक्षणा, जहत् या अजहत् लक्षणा, नही मानी गई है।

"सोऽयं देवदत्त.' इस वाक्य में जैसे भागत्यागलक्षणा मानी गई वैसे ही 'तत् त्व' आदि वाक्यो मे भी भागत्यागलक्षणा ही है ॥७४॥

'गामानय' वाक्य की भान्ति 'तत्त्वमसि' वाक्य मे भी लक्षणा के विना ही बोध क्यों नहीं होता ?

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः ।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥७५

अन्वय–अत्र संसर्ग वा विशिष्ट वा वाक्यार्थः समतः न, अखण्डै-करसत्वेन वाक्यार्थः विदुषा मतः।

अर्थ—जैसे 'गौ को ले आ' आदि वाक्यो में गौ आदि पदो से याद दिलाये परस्पर आकांक्षा*आदि वाले पदार्थो का परस्पर ससर्ग (अन्वय) हो जाना वाक्यार्थ+है अथवा 'नीला तथा वहुत

---

*आकांक्षा, योग्यता, तात्पर्य का ज्ञान और आसक्ति का ज्ञान–इनके विना वाक्यार्थ का वोध नहीं होता।

+लौकिक वैदिक शब्दो का जैसा संसर्ग (सम्बन्ध' रूप वाक्यार्थ (गौ, को ले आ) आदि वाक्यो में होता है, वैसा महावाक्यो का अर्थ सम्भव नही है, क्योकि 'तत्-त्वमसि' मे यदि 'तत्' का सम्बन्धी 'त्वं' को मानेंगे तो पुरुष की असङ्गता नहीं रहेगी।

फिर, 'नीला, वहुत सुगन्धवाला कमल' इस वाक्य में जैसे 'नील-रङ्गविशिष्ट, वहुत सङ्गन्धवाला कमल है' यह वाक्यार्थ विशिष्ट रूप है, वैसा भी महावाक्य का अर्थ सम्भव नहीं हैं। क्योकि यदि 'त्व' पदार्थ विशेषण वाला 'तत्' पदार्थ या 'तत्' पदार्थ-विशेषण वाला 'त्व' पदार्थ मानेंगे तो एक ही को सर्वज्ञता व अल्पज्ञता आदि धर्म-युक्त मानना

सुगन्धित कमल' इत्यादि वाक्यो मे नीलापन आदि 'धर्मविशिष्ट-कमल' यह वाक्यार्थ माना ज ता है—वैसे 'तत्त्वमसि' आदि महा-वाक्यो मे ससर्ग और विशिष्ट मे से किसी को भी वाक्यार्थ नही माना जाता। अपितु विद्वान् जन, अखण्ड एक-रस (स्वगत आदि त्रिविधभेद-रहित वस्तुमात्ररूप) पदार्थ को वाक्यार्थ मानते हैं, इसलिए लक्षणा का आश्रय लेना पडता है ।।७५।।

अखण्डैकरसवाक्य का अर्थ स्पष्ट करते हैं.—

प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः ।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ।।७६

अन्वय—य प्रत्यग्बोध आभाति सः अद्वयानन्दलक्षण च अद्वयानन्दरूप. प्रत्यग्बोधैकलक्षण ।

अर्थ—लोगो को जो प्रत्यक् बोध-(सर्वान्तर चिदात्मा) अपनी वुद्धि आदियो का साक्षी होकर प्रतीत हो रहा है वह अद्वितीय आनन्दरूप परमात्मा है। और जो अद्वितीय आनन्दरूप परमात्मा बताया जाता है वह चिदेकरस प्रत्यक् आत्मा ही है ।।७६।।

अखण्डार्थ बोध का परिणाम

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत सदैव हि ।।७७
तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः शृणु ।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ।।७८

पडेगा जो प्रत्यक्षादि प्रमाणो से विरुद्ध है। फिर श्रुतियो मे ब्रह्म को सर्व-धर्म-रहित, निर्गुण, सजातीय-विजातीय-भेद-रहित सिद्ध किया है।

अतएव लक्षणा से अखण्ड-एकरसता ही महावाक्य का अर्थ विद्वानो ने स्वीकार किया है ।

अन्वय—इत्थं अन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिः यदा भवेत् तदा, एव त्वमर्थस्य अब्रह्मत्व व्यावर्तेत हि ॥ ७७ ॥ च तदर्थस्य पारोक्ष्यम् । यति यदि एव, ततः किम् ? शृणु, पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधः अवतिष्ठते ।

अर्थ—जब किसी को इस प्रकार परस्पर तादात्म्य का ज्ञान हो जाता है, तब, एक तो, 'त्व' के अर्थ मे प्रत्यगात्मा की भ्रान्ति से जो अब्रह्मता आगई थी वह दूर हो जाती है और दूसरे, 'तत्' पद के अर्थ में जो परोक्षता आगई थी (ब्रह्म जो परोक्षज्ञान का विषय हो गया था) वह उसी क्षण नष्ट हो जाती है ।

ऐसा होने पर फिर क्या होता है ? सुनो, जो अबतक प्रत्यग्-बोध था, वही अब पूर्णानन्द बन जाता है ॥७७,७८॥

फिर भी जो लोग आगम को परोक्षानुभव का ही साधन कहते हुए महावाक्य की अपरोक्षज्ञान की जनकता में सन्देह करते हैं—उनकी हसी उडाते हुये कहते हैं :—

एवं सति महावाक्यात्परोक्षज्ञानमीर्यते ।
यैस्तेषां शास्त्रसिद्धान्तविज्ञानं शोभतेतराम् ॥

अन्वय—एवं सति यैः महावाक्यात् परोक्षज्ञानं ईर्यते, तेषां शास्त्र-सिद्धान्तविज्ञानं शोभतेतराम् ।

अर्थ—फिर भी जो यही कहते रहते हैं कि महावाक्य से परोक्षज्ञान ही होता है उनका, शास्त्रसिद्धान्तो का, ज्ञान तो बहुत बढिया है ! क्या कहने ! ॥७९॥

'वाक्य परोक्षज्ञान का जनक है' इसमे अनुमान प्रमाण भी नही बनता ।

आस्तां शास्त्रस्य सिद्धांतो युक्त्या वाक्यात् परोक्षधीः ।
स्वर्गादिवाक्यवन्नैवं दशमे व्यभिचारतः ॥८०

अन्वय—शास्त्रस्य सिद्धान्तः आस्ता युक्त्या स्वर्गादिवाक्यवत् वाक्यात् परोक्षधी, न एव दशमे व्यभिचारत.।

अर्थ—शास्त्र के सिद्धान्त को जाने दो, युक्ति (अनुमान) से, स्वर्गादि वाक्य की भान्ति, वाक्य से परोक्षज्ञान होना सिद्ध होता है। (यहा अनुमान इस प्रकार होगा-विवाद का विषय वाक्य परोक्षज्ञान का जनक होने योग्य है, क्योकि वाक्य है जैसे स्वर्गादिक का प्रतिपादक वाक्य स्वर्गादि के परोक्षज्ञान का जनक है।) इस शका का समाधान निम्न है —यह हेतु ठीक नही है क्यो कि 'तू दशम है' यह भी वाक्य है और अपरोक्ष-ज्ञान का जनक है। अतएव सब वाक्य परोक्षज्ञान के ही जनक नही है। अतएव हेतु अनैकान्तिक है* ॥८०॥

स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवांछतः।
नश्येत्सिद्धापरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यहो ॥८१

अन्वय—'स्वतः अपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्व अभिवाञ्छत. सिद्धापरोक्षत्व नश्येत्' इति युक्ति महती अहो !

अर्थ—फिर जो जीव अभी तक स्वत अपरोक्ष था वह जब ब्रह्मभाव को चाहने लगा तो उसको पहले ही सिद्ध अपरोक्षता भी जाती रही !' यह तो तुम्हारी युक्ति बडी भारी है !! ॥८१॥

वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमितीदृशम्।
लौकिकं वचनं सार्थं सम्पन्नं त्वत्प्रसादतः॥८२

अन्वय—'वृद्धि इष्टवत मूल अपि नष्टम् इति ईदृश वचन त्वत्प्रसादत सार्थं सम्पन्नम्।

---

*शब्द का यह स्वभाव है कि सान्तराय वस्तु का शब्द से परोक्ष--ज्ञान ही होता है,प्रत्यक्षज्ञान नही। अन्तराय रहित वस्तु का परोक्ष और अपरोक्ष दोनो प्रकार का ज्ञान हो सकता है।

अर्थ—'व्याज चाहने वाले का मूलधन भी हाथ से गया' यह लौकिकपन तो तुम्हारे जैसे की कृपा से ही सार्थक हुआ है ॥८२॥

वादी की एक शङ्का और समाधान

अन्तःकरणसंभिन्नबोधो जीवोऽपरोक्षताम् ।
अर्हत्युपाधिसद्भावान्न तु ब्रह्मानुपाधितः ॥८३
नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्वतः ।
यावद्विदेहकैवल्यमुपाधेरनिवारणात् ॥८४

अन्वय—अन्तःकरणसम्भिन्नबोध. जीवः उपाधिसद्भावात् अपरोक्षता अर्हति । ब्रह्म तु अनुपाधित न । एवं न, ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्वत:, यावत विदेहकैवल्य उपाधे अनिवारणात् ।

अर्थ—(शका) अन्त करण से मिश्रितबोध जिसे जीव कहते हैं, अन्त करणोपाधि होने से प्रत्यक्ष होने योग्य है. परन्तु निरुपापाधिक होने से ब्रह्म का प्रत्यक्षज्ञान कैसे हो सकता है ? (समाधान) यह बात ठीक नही है, क्योकि जीव को, जो ब्रह्मरूपताका बोध है वह भी सोपाधिकवस्तुविषयक ही है, इसलिए उसके ज्ञान का विषय ब्रह्म भी सोपाधिक ही है, (उपाधि के विना ज्ञेय का ज्ञान नही होता) । जब तक किसी को विदेहमुक्ति नही होती तब तक उपाधि का निवारण नही होता ॥८४॥

'फिर क्या जीव और ब्रह्म की दो विभिन्न उपाधिया हैं ?

अन्तःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां विशिष्यते ।
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतायाश्च नान्यथा ॥८५

अन्वय—जीवभावस्य च ब्रह्मताया उपाधि. अन्तकरणसाहित्यराहित्याभ्या विशिष्यते, अन्यथा न ।

अर्थ--जीवत्व और ब्रह्मत्व की उपाधिया क्रमश. अन्त करण-साहित्य और अन्त करणराहित्य ही है। अन्त करण साहित्य तत्त्व को 'जीव' और अन्त करण से रहित हुए तत्त्व को 'ब्रह्म कहते हैं'।

अन्त.करण साहित्य तो भावरूप है वह उपाधि हो सकती है, परन्तु अभाव रूप अन्त.करण साहित्य को उपाधि क्यो कर कह सकते हैं? इसका उत्तर देते हैं—

यथा विधिरुपाधिः स्यात्प्रतिषेधस्तथा न किम्।
सुवर्णलोहभेदेन शृंखलात्वं न भिद्यते ॥८६

अन्वय—विधि यथा उपाधि· स्यात् तथा प्रतिषेध न·किम्? सुवर्णलोहभेदेन शृखलात्व न भिद्यते।

अर्थ—जिस प्रकार विधि अर्थात् भावरूप, अन्त करण का सम्बन्ध उपाधि हो सकती है उसी प्रकार निषेध अर्थात् अभाव रूप, अन्त करण का वियोग भी*उपाधि क्यो न होगी? भाव और अभावरूप जो थोडा सा अवान्तर भेद दिखाई देता है वह अकिंचित्कर है—जैसे सोने और लोहे की साकलो मे सोने और लोहे की भिन्नता के होते हुए भी शृंखलापन (पुरुष के गमन की विरोधकता) तो कही नही जाता ॥८६॥

विधि-निषेध दोनो ही ब्रह्मबोध के उपाय हैं—यह आचार्यों का मत है—

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च।

---

*अद्वैतसिद्धि मे मधुसूदन स्वामी ने उपाधि का लक्षण 'यावत्कार्य-मवस्थायिभेदहेतोरुपाधिता' अर्थात् 'कार्य की अवधिपर्यन्त टिकने वाले भेद की हेतु' किया है, वह लक्षण अन्त,करण साहित्य और अन्त.करण राहित्य दोनो मे घटता है।

वेदान्तानां प्रवृत्तिः स्याद्द्विधेत्याचार्यभाषितम् ॥८७

अन्वय—'अतद्व्यावृत्तिरूपेण च साक्षात् विधिमुखेन द्विधा वेदान्ताना प्रवृत्ति स्यात्' इति आचार्यं भाषितम् ।

अर्थ—एक अतद्व्यावृत्तिरूप से दूसरे साक्षात् विधिमुख से, इस प्रकार दो प्रकार से वेदान्तो की प्रवृत्ति, ब्रह्म प्रतिपादन की शैली है-यह आचार्य का कहना है ।

'तत' शब्द मे ब्रह्म और "अतत्" मे ब्रह्म भिन्न अज्ञान आदि प्रपच लिया जाता है। 'नेति-नेति' कहकर प्रपच का निषेध करना ब्रह्मज्ञान का अतद्व्यावृत्तिरूप एक उपाय है और 'सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहकर साक्षात् वाचक शब्दो से ब्रह्म का प्रतिपादन करना दूसरा उपाय है ॥८७॥

निषेधमुख से ब्रह्मबोध मानने मे एक शङ्का और उसका समाधान

अहमर्थपरित्यागादहं ब्रह्मेति धीः कुतः ।
नैवमंशस्य हि त्यागो भागलक्षणयोदितः ॥८८

अन्वय—अहमर्थपरित्यागात 'अह ब्रह्म' इति धी कुत ? एव हि भागलक्षणाया अशस्य त्याग. उदितः

अर्थ—(शका) 'अह' शब्द के अर्थ कूटस्थ का भी त्याग हो जायगा तो "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान (समानाधिकरणरूप से) कैसे होगा ? (समाधान) यह बात नही है-यहां 'अह' शब्द के सारे अर्थ का त्याग नही है। भागत्यागलक्षणा से केवल एक अश-जड़ाशका त्याग कहा है कूटस्थ का नही, कूटस्थ विशिष्ट जीव को नही छोड़ा है ॥८८॥

अन्तःकरणसंत्यागादवशिष्टे चिदात्मनि ।
अहं ब्रह्मेति वाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते ॥८९

अन्वय—अन्त करणसत्यागात् अवशिष्टे चिदात्मनि साक्षिणि 'अहं ब्रह्म" इति वाक्येन ब्रह्मत्व ईक्ष्यते ।

अर्थ—अन्त करणविसिष्ट चेतन जीब में से जाड्यांश अन्तःकरणरूप उपाधि को छोड देने पर शेष रहे चिदात्मारूपसाक्षी में 'अह ब्रह्मास्मि' इस वाक्य मे ब्रह्मत्व का दर्शन होता है ॥८६॥

केवल प्रत्यक् आत्मा स्वप्रकाश है तो भी बुद्धि का विषय है –

स्वप्रकाशोऽपिसाक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्तेऽन्यवत् ।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥

अन्वय --साक्षी स्वप्रकाश अपि अन्यवत् धीवृत्त्या एव व्याप्यते, फलव्याप्यत्व एव अस्य शास्त्रकृद्भि निवारितम् ।

अर्थ—वह साक्षी स्वय प्रकाश है तो भी अन्य घटादियो के समान बुद्धि वृत्तियो से व्याप्त होता ही है–'मैं स्वप्रकाश हूँ' इस प्रकार की बुद्धि वृत्ति सम्भव है ही । इस आत्मा की फलव्यापकता का ही शास्त्रकारो ने निपेध किया है ।

फल का अर्थ है वृत्ति मे प्रतिबिम्बित चिदाभास, प्रत्यगात्मा मे उस चिदाभास की व्याप्यता (विषयता) का ही निषेध पूर्वाचार्यों ने किया है, क्योकि प्रत्यगात्मा स्वय स्फुरणशील (स्वयप्रकाश) है । इसमे बुद्धि वृत्ति की व्याप्यता का निपेध आचार्यों ने नही किया है ।

आत्मा मे फलव्याप्ति के अभाव को दिखाने के लिये अनात्म घटादि की वृत्ति और फल की व्याप्ति दिखाते हैं –

बुद्धितत्स्थचिदाभासौद्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।
तत्रज्ञानं धिया नश्येदाभासेनः घटः स्फुरेत् ॥

अन्वय—बुद्धितत्स्थचिदाभासो द्वौ अपि घट व्याप्नुत' तत्र धिया अज्ञान नश्येत्, आभासेन घट. स्फुरेत् ।

अर्थ – (घट प्रतीति के समय) बुद्धि और उसमे पड़ा हुआ चिदाभास, दोनो, घट को व्याप्त किया करते हैं। इसके दो फल होते हैं–१ बुद्धि वृत्ति से तो अज्ञान नष्ट हो जाता है और २. चिदाभास से घट की स्फूर्ति होती है, जड़-रूप घट का स्वतः स्फुरण नही हो सकता।

परन्तु आत्मा मे अनात्मा घट-आदि से कुछ विलक्षणता है —

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।

स्वयंस्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते ॥९२

अन्वय—ब्रह्मणि अज्ञाननाशाय वृत्ति व्याप्ति. अपेक्षिता। स्वयं-स्फुरणरूपत्वात् आभास न उपयुज्यते।

अर्थ—प्रत्यगात्मा और ब्रह्म की एकता को अज्ञान ने आवृत किया हुआ था–उस अज्ञान को नष्ट करने के लिए वृत्ति द्वारा ब्रह्म की व्याप्ति अपेक्षित होती है। (महावाक्य से उत्पन्न 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप की बुद्धि वृत्ति द्वारा ब्रह्म को विषयता अपेक्षित होती है) परन्तु आत्मा के स्वय स्फुरण रूप होने के कारण उसका स्फुरण कराने के लिए चिदाभास की अपेक्षा नही रहती। (अतएव चिदाभास भले ही ब्रह्म से युक्त हो जाता हो तो भी प्रत्यक्-अभिन्न ब्रह्म के स्फुरण मे उसका कोई उपयोग नही होता।)॥९२॥

पूर्वोक्त को दृष्टान्त से समझाते हैं—

चक्षुर्दीपापेक्ष्यते घटादेर्दर्शने यथा।

न दीपदर्शने किंतु चक्षुरेकमपेक्ष्यते ॥९३

अन्वय—यथा घटादिदर्शने चक्षुर्दीपौ अपेक्ष्येते, दीपदर्शने न, किन्तु एक चक्षु अपेक्ष्यते।

अर्थ —जैसे अंधेरे मे रखे घटादि को देखने के लिए आख और

दिया दोनो चाहिए, और दीपक को देखने के लिए दोनो की नही, केवल आख की आवश्यकता होती है। अर्थात् घटादि के प्रति आवरण निवृत्ति और स्फुरण के लिए वृत्ति और चिदाभास दोनो अपेक्षित हैं परन्तु ब्रह्म के प्रति अज्ञान के नाशार्थ वृत्ति व्याप्ति ही अपेक्षित है ।।६३।

यदि कहो बुद्धि और उसकी वृत्तिया चिदाभास से विशिष्ट स्वभाव-वाली हैं इसलिए घटादि के समान ब्रह्म मे भी बलात् फलव्याप्ति हो जायगी ? इसका उत्तर देते हैं :

स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकीभवेत् परम् ।
न तु ब्रह्मण्यतिशयं फलं कुर्याद् घटादिवत् ।।६४

अन्वय – असौ चिदाभास. स्थित' अपि ब्रह्मणि एकीभवेत् ब्रह्मणि घटादिवत् पर अतिशय फल तु न कुर्यात् ।

अर्थ—यद्यपि घटाकार वृत्ति की भान्ति ब्रह्म को गोचर करने वाली वृत्तियो में भी चिदाभास विद्यमान है तथापि वह ब्रह्म से पृथक् नही प्रतीत होता–ब्रह्म के साथ एक होकर रहता है। वह प्रचण्ड धूप मे रखे दीप के प्रकाश की भाति उससे मिल जुल जाता है। इसलिए वह चिदाभास, ब्रह्म में, घटादि की भान्ति स्फुरण रूप अतिशय फल को उत्पन्न नही करता ।।६४

ब्रह्म मे वृत्ति-व्याप्ति के होते हुए भी फल-व्याप्ति नही है इसमे प्रमाण :

अप्रमेयमनादि चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम् ।
मनसैवेदमाप्तव्यमिति धीव्याप्तता श्रुता ।।६५

अन्वय—'अप्रमेय च अनादि' इति अत्र श्रुत्या इद ईरितम् । 'मनसा एव इद आप्तव्य' इति धीव्याप्तता श्रुता ।

अर्थ—निर्विकल्पमनन्त च हेतुदृष्टान्तवर्जित । अप्रमेयमनादि

च यज्ज्ञात्वा मुच्यते वुधः' अमृत-विन्दु उपनिषद् के इस मन्त्र में 'अप्रमेय' कहकर ब्रह्म की फल-व्याप्ति-हीनता सूचित की है। (उसमे फल की व्याप्ति नही है इसीलिए वह अप्रमेय है।) तथा 'मनसैवेदमाप्तव्य नेह नानास्ति किंचन' कठोपनिषद् के इस मन्त्र मे ब्रह्म की वृत्तिविषयता का वर्णन है ॥६५॥

'आत्मान चेद्विजानीयात्' इत्यादि मन्त्र मे जीव की दो अवस्थायें वतला आये हैं, उनमे से अपरोक्षज्ञान कितने अश से है? यह वतलाते हैं—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति वाक्यतः ।
ब्रह्मात्मव्यक्तिमुल्लिख्य यो बोधः सोऽभिधीयते ॥

अन्वय—ब्रह्मात्मव्यक्ति उल्लिख्य य. वोध· सः 'अय अस्मि' इति 'आत्मान विजानीयात् चेत्' वाक्यत. अभिधीयते।

अर्थ—प्रत्यगात्मा के स्वरूप को सत्यादि लक्षण वाले ब्रह्म से अभिन्न जानकर 'मैं ब्रह्म हूं' इस रूप मे जो वोध होता है, उसी का कथन 'आत्मान चेद् विजानीयात्' इस श्रुति मे किया गया है ॥६६॥

यदि महावाक्यो के विचार से एक ही वार मे अपरोक्ष-ज्ञान हो जाय तो फिर श्रवण आदि की पुन पुन. आवृत्ति की क्या आवश्यकता है ?

अस्तु बोधोऽपरोक्षोऽत्र महावाक्यात्तथाप्यसौ ।
न दृढः श्रवणादीनामाचार्यैः पुनरीरणात् ॥६७

अन्वय —अत्र महावाक्यात् अपरोक्ष. वोध अस्तु, तथापि न असौ दृढ । आचार्यै· पुन. श्रवणादीना ईरणात् ।

अर्थ—महावाक्यो से एक वार सुनकर विचार करने पर ब्रह्मात्मता के विषय मे अपरोक्षज्ञान तो हो जाता है पर वह दृढ

नही होता। इसीलिए श्री शकराचार्य ने वाक्यार्थज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् भी ज्ञान को दृढता के लिए श्रवण आदि की आवृत्ति का विधान किया है ॥६७॥

उपरोक्त विषयक वाक्यो को उद्धृत करते हैं —

अहंब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद्दृढीभवेत् ।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥६८

अन्वय—'अह ब्रह्म' इति वाक्यार्थबोधः यावत् दृढीभवेत् तावत्, शमादिसहित श्रवणादिक अभ्यसेत् ।

अर्थ—आचार्य ने कहा है कि जव तक 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्यार्थ का ज्ञान दृढ न हो तव तक शमादि से युक्त रहकर श्रवण, मनन आदि का अभ्यास करे ॥६८॥

ज्ञान की अदृढता के कारण बताते हैं —

बाढं सन्ति ह्यदार्ढ्यस्य हेतवः श्रुत्यनेकता ।
असंभाव्यत्वमर्थस्य विपरीता च भावना ॥६६

अन्वय—हि श्रुत्यनेकता च अर्थस्य असम्भाव्यत्व, विपरीता भावना—आदार्ढ्यस्य हेतवः बाढ सन्ति ।

अर्थ—श्रुतियो की अनेकता, अर्थ का असम्भव प्रतीत होना और विपरीत भावना-शब्द प्रमाण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की अदृढता के, ये तीन कारण सर्वथा हैं ही।

श्रुतियो की विविधता (प्रथम हेतु) प्रमाणगत सशय की जनक है। अर्थ अर्थात् अखण्डैकरस अद्वितीय ब्रह्म का अलौकिकता के कारण असम्भावितपना (दूसरा हेतु) प्रमेयगत सशय की विषयता है। कर्तृत्व आदि का अभिमान ही विपरीत भावना है जो अदृढता का तीसरा हेतु है ॥६६॥

श्रुतियो के नाना होने से उत्पन्न हुई अदृढता की निवृत्ति के लिये

श्रवण आदि की पुनरावृत्ति आवश्यक है: --

शाखाभेदात्कामभेदात् श्रुतं कर्मान्यथाऽन्यथा ।

एवमत्रापि मा शङ्कीत्यतः श्रवणमाचरेत् ॥१००

अन्वय—शाखाभेदात् कामभेदात् अन्यथा अन्यथा कर्म श्रुत एवं छत्र अपि मा आशङ्कि, इति अत. श्रवण आचरेत् ।

अर्थ—शाखाभेद और इच्छा-भेद से भिन्न-भिन्न कर्मों का विधान श्रुति मे किया गया है, ऐसा हो कोई भेद यहा उपनिषदो मे भी प्रतिपाद्य ब्रह्म के विषय मे है--ऐसी शका के निवारण के लिए वार वार श्रवण की आवृत्ति करे ।

ऋग्वेद का वेत्ता होत्र यजुर्वेद-वेत्ता अध्वर्यव और सामवेद का गायक उद्गीथ कर्म करता है-यह शाखा-भेद से कर्म का भेद है । वृष्टि की इच्छा से कारीरीयाग (प्रजा से कर लेकर किया गया अथवा वश वृक्ष के अकुर-रूप करीरो का होम होता है) और आयु की इच्छा से शतकृष्णलयाग (सोने के १०० पासो का दान) किया जाता है ॥१००॥

श्रवण का लक्षण कहते हैं —

वेदान्तानामशेषणामादिमध्यावसानतः ।

ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत् ॥१०१

अन्वय—आदिमध्यावसानत अशेपाणा वेदान्ताना ब्रह्मात्मनि एव तात्पर्य इति धी: श्रवणं भवेत् ।

अर्थ—आदि, मध्य और अन्त, कही से भी विचार करने र सव वेदान्तो (उपनिषदो) का तात्पर्य ब्रह्म को प्रत्यगात्मा वताना हो है—ऐसे निश्चय को श्रवण कहते हैं ॥१०१॥

तात्पर्य के निर्णायक लिंग, ६ हैं–१, उपक्रम और उपसहार की एकता, २. अभ्यास ३. अपूर्वता, ४ फल ५ अर्थवाद और ६.

उपपत्ति। वैदिक वाक्यो का तात्पर्य इन्ही से ज्ञात होता है।

श्रवण तथा मनन का निरूपण कहाँ किया गया है?

समन्वयाध्याय एतत् सूक्तं धीस्वास्थ्यकारिभिः।
तर्कैः संभावनार्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिता ॥१०२

अन्वय—एतत् समन्वयाध्याये सूक्तम्। धीस्वास्थ्यकारिभिः तर्कैः अर्थस्य सम्भावना द्वितीयाध्याये ईरिता।

अर्थ—व्यास मुनि आदि*ने समन्वयाध्याय में इस श्रवण का भली भांति वर्णन किया है। और बुद्धि की स्थिरता करने वाले तर्कों से अर्थ की सम्भावितता के अनुसधान रूप मनन का दूसरे अध्याय मे निरूपण किया है।

प्रमेयगत सदेहो को मिटाकर बुद्धि के स्वरूप में एकाग्रता उत्पन्न करना 'धीस्वास्थ्य' है। अभेद की साधक और भेद की बाधक युक्तिया ही यहा तर्क है जिनसे ब्रह्मात्मा की एकता-रूप अर्थ की सम्भावना अनुसन्धान अर्थात् मनन किया जाता है ॥१०२॥

विपरीतभावना और उसकी निवृत्ति के उपाय का वर्णन

बहुजन्मदृढाभ्यासाद्देहादिष्वात्मधीः क्षणात्।
पुनः पुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्वधीरपि ॥१०३
विपरीता भावनेयमैकाग्र्यात्सा निवर्तते।
तत्त्वोपदेशात्प्रागेव भवत्येतदुपासनात् ॥१०४

अन्वय—बहुजन्मदृढाभ्यासात् क्षणात् पुन पुनः देहादिषु आत्मधी उदेति एव जगत् सत्यत्वधी अपि। इय विपरीता भावना, सा एकाग्र्यात्

---

*'व्यास आदि' इस पद मे आदि से आनन्दगिरि आदि व्याख्याताओ का ग्रहण है। सब मिलाकर प्रमेय ग्रन्थो की सख्या २०३४०० है।

निवर्तते। एतद् तत्वोपदेशात् प्राक् एव उपासनात् भवति।

अर्थ—बहुत जन्मो के दृढ अभ्यास के कारण क्षण क्षण में बार-बार देहादियो में आत्म बुद्धि उदित हो जाती है और इसी प्रकार जगत् को सत्य समझने का विचार भी पुन पुन उत्पान हुआ करता है : इसी को 'विपरीत भ वना कहते है। यह चित्त की एकाग्रता से निवृत्त होती है। और एकाग्रता ब्रह्मतत्व के उपदेश से पहले भी सगुण ब्रह्म की उपासना से प्राप्त हो जाती है ॥१०३-१०४॥

उपास्तयोऽत एवात्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि च्चिन्तिताः।
प्रागनभ्यासिनः पश्चाद् ब्रह्माभ्यासेन तद्भवेत् ॥

अन्वय—अत. एव अत्र ब्रह्मशास्त्रे अपि उपास्तय. चितिता। प्राक् अनभ्यासिन. पश्चात् ब्रह्माभ्यासेन तत् भवेत्।

अर्थ—इसीलिए (कि विपरीत भावना की निवर्तक एकाग्रता उपासना से ही होती है) ब्रह्मशास्त्र में भी उपासना का विचार किया है। और जिसने पहले उपासना नही की उसको भी पीछे ब्रह्म के अभ्यास से वह एकाग्रता प्राप्त हो जाती है ॥१०५॥

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥१०६

अन्वय—तच्चिन्तन तत्कथन अन्योऽन्य तत्प्रबोधन च एतदेकपरत्व बुधा. ब्रह्माभ्यास विदु।

अर्थ - ब्रह्म का ही चिन्तन, उसका ही कथन और परस्पर उस को ही समझाना, इस प्रकार एकमात्र उसमे ही तत्पर रहना बुद्धिमानो ने ब्रह्माभ्यास है।'१०६॥

एकमात्र ब्रह्म के प्रति तत्परता का निम्न श्रुति ने भी विधान किया है --

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥

अन्वय---धीर ब्राह्मण. त एव विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत । बहून्शब्दान् न अनुध्यायात्, हि तत् वाचो विग्लापनम् ।

अर्थ—ब्रह्मचर्यादि साधन-सम्पन्न धीर मुमुक्षु ब्राह्मण को चाहिए कि वह उस प्रत्यगात्मा-रूप परमात्मा को ही संशयादि रहित ढग से जानकर, ब्रह्मात्मा की एकता के ज्ञान की एक धारारूप एकाग्रता को सम्पादित करे। अनात्मा को विषय करने वाले बहुत से शब्दो का स्मरण और कीर्तन न करे। क्यो कि अनात्मगोचर शब्दो के स्मरण और कथन से तो मन और वाणी को व्यर्थ ही श्रम होता है ॥१०७॥

भगवत्-गीता (९-२२) मे भी एकाग्रता का विधान है —

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

अन्वय—ये जनाः अनन्याः मा चिन्तयन्तः पर्युपासते तेषा नित्याभियुक्ताना अह योगक्षेम वहामि ।

अर्थ—जो जन 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ज्ञान के कारण मुझ से भिन्न नही हैं, वैसे ही मुझको विचारते हुए सारे समय मेरे रूप में ही रहते हैं, जो कि सदा मुझ मे चित्त लगाए रहते हैं, (अपने आत्मरूप से विचार्यमाण) मैं स्वय उनके योगक्षेम अर्थात् अलब्ध की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा-रूप योग-क्षेम का सम्पादन करता रहता हूँ ॥१०८॥

इति श्रुतिस्मृती नित्यमात्मन्येकाग्रतां धियः ।
विधत्तो विपरीताया भावनायाः क्षयाय हि ॥

अन्वय—इति श्रुतिस्मृती विपरीताया' भावनायः क्षयाय हि आत्मनि नित्य धिय. एकाग्रता विधत्तः।

अर्थ—ऊपर वर्णित श्रुति और स्मृतियां विपरीत भावना की निवृत्ति के लिए चित्त की एकाग्रता का विधान करती हैं ॥१०९॥

विपरीत भावना का लक्षण

यद्यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथात्वधीः।
विपरीता भावना स्यात्पित्रादावरिधीर्यथा ॥११०

अन्वय—यत् यथा वर्तते तस्य तत्त्व हित्वा अन्यथात्वधीः विपरीता भावना स्यात् तथा पित्रादौ अरिधी ।

अर्थ—जो (सीप आदि) जैसा है, उसके उस (शुक्ति आदि) रूप को छोड़कर अन्यथा (रजत आदि) समझ लेना ही विपरीत भावना है। (अर्थात् 'अतत्' को 'तत्' समझलेना) जैसे किसी दुष्ट पुत्र की अपने पिता में शत्रु बुद्धि हो जाना ॥११०॥

इस लक्षण को प्रसङ्ग मे घटाते हैं—

आत्मा देहादिभिन्नोयं मिथ्या चेदं जगत्तयोः।
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीर्विपर्ययभावना ॥१११

अन्वय—अय आत्मा देहादिभिन्न च इद जगत् मिथ्या, तयोः देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधी' विपर्ययभावना ।

अर्थ—यह आत्मा वस्तुत. देहादि से भिन्न है और यह संसार मिथ्या है। ऐसा होने पर भी उन दोनो को क्रमश. देहादि समझना और सत्य समझना विपरीत भावना है ॥१११॥

तत्त्वभावनया नश्येत् साऽतो देहातिरिक्तताम्।
आत्मनो भावयेत्तन्मिथ्यात्वं जगतोनिशम् ॥

अन्वय—सा तत्वभावनया नश्येत्, अतः आत्मन. देहातिरिक्तता तद्वत् जगत. मिथ्यात्व अनिश भावयेत् ।

अर्थ—क्योंकि वह विपरीत भावना तत्त्वभावना से नष्ट हो जाती है इसलिए साधक को चाहिए कि वह आत्मा की देहादि से भिन्नता और जगत् के मिथ्यात्व की दिन रात भावना किया करे ।।१११।।

क्या इस भावना को जपादि की भान्ति नियम से करना चाहिए ?

किं मन्त्रजपवन्मूर्तिध्यानवद्वात्मभेदधीः ।
जगन्मिथ्यात्वधीश्चात्र व्यावर्त्या स्यादुतान्यथा ।।
अन्यथेति विजानीहि दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत् ।
बुभुक्षुर्जपवद्भुङ्क्ते न कश्चिन्नियतः क्वचित् ।।

अन्वय.—अत्र आत्मभेदधी. च जगत्मिथ्यात्वधी मन्त्रजपवत् किं वा मूर्तिध्यानवत् उत अ यथा व्यावर्त्या स्यात् ? ।।११३।। अन्यथा इति विजानीहि, दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत्, बुभुक्षु' कश्चित् क्वचित् जपवत् नियत. न भुङ्क्ते ।

अर्थ—(प्रश्न) क्या आत्मा के देहादि से भिन्न होने के ज्ञान को और जगत् के मिथ्यात्व के अनुसन्धान को मन्त्रजप की भाति अथवा देवता के ध्यानादि की भाति नियम से करना चाहिए या नियम के बिना भी (लौकिक व्यवहार की भाति) किया जा सकता है ?

(उत्तर) नियम के बिना ही करना चाहिए, क्योकि यह विषय तो प्रत्यक्ष फलवान् होता है । जैसे भोजनार्थी कोई भी पुरुष जप करने वाले को भान्ति नियम से नही खाता-जैसे भो उसको क्षुधा की पीडा शान्त हो सकती हो वैसे ही वह भोजन करता है ।।११३-११४।।

अश्नाति वा नवाश्नाति भुङ्क्ते वा स्वेच्छयान्यथा ।
येन केद प्रकारेण क्षुधामपनिनीषति ॥११५

अन्वय–अश्नाति वा न वा अश्नाति वा अन्यथा स्वेच्छया भुङ्क्ते येन केन प्रकारेण क्षुधा अपनिनीषति ।

अर्थ––भूखा मनुष्य (अन्न हो तो कभी) खाता है, नही हो तो नही खाता (भूख भुला देने वाले कामो मे समय काट देता है), कैसे ही, वैठता चलता-फिरता स्वेच्छा से भोजन करता है, वह जिस किसी भी प्रकार से भूख को मिटा देना चाहता है : वात यह है कि भोजन भूख की निवृत्तिरूप दृष्ट फल के लिए है और नियम परलोक के लिए होते हैं ॥११५॥

नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्यवायतः ।
अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्ययात् ॥११६

अन्वय––नियमेन जप कुर्यात्, अकृतौ प्रत्यवायतः । अन्यथाकरणे स्वरवर्णविपर्ययात् अनर्थ. ।

अर्थ––परन्तु जप को तो नियम से ही करे, न करने से पाप चढता है। और उलटपुलट करने से तो स्वर और वर्ण के उलट-पुलट जाने से अनर्थ हो जाता है ।

कहा है कि 'मन्त्रहीन स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु. स्वरतोऽपराधात् ।' उदात्तनुदात्तस्वरित आदि स्वर अथवा अक्षर से हीन मन्त्र अशुद्ध उच्चारण के कारण वाछित अर्थ को नही वताता और इसलिये वाणीरूप वज्र वन कर यमजान को नष्ट कर देता है जैसे इन्द्र का शत्रु, वृत्रासुर स्वर के अपराध से मारा गया । अभिप्राय यह है कि शास्त्रोक्तविधिके विना किया गया जप अनर्थकारी होता है। 'इन्द्रशत्रो विवर्धस्व' मन्त्र मे त्वष्टा द्वारा

'इन्द्र का शत्रु' इस षष्ठी तत्पुरुष के स्वर के स्थान पर 'इन्द्र ही शत्रु' इस कर्मधारय का स्वर उच्चारण करने से इन्द्र की वृद्धि हुई, वृत्रासुर की नही ॥११६॥

क्षुधा के समान विपरीतभावना भी प्रत्यक्ष दुःख देने वाली है !

क्षुधेव दृष्टबाधाकृद्विपरीता च भावना ।
जेया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रम ॥

अन्वय—क्षुधा इव विपरीता भावना च दृष्टबाधाकृत्,केन अपि उपायेन जेया, अत्र अनुष्ठितेः क्रम न अस्ति ।

अर्थ—क्षुधा की भान्ति विपरीत भावना भी प्रत्यक्ष दुःख देने वाली है . (यह बात अनुभव सिद्ध है ही) उसको किसी प्रकार जीतना है। अतएव उसके जीतने के लिये अनुष्ठान का कोई निश्चित नियम नही हो सकता ॥११७॥

उपायः पूर्वमेवोक्तस्तच्चिन्ताकथनादिकः ।
एतदेकपरत्वेऽपि निर्बन्धो ध्यानवन्न हि ॥११८

अन्वय—उपाय' तच्चिन्ताकथनादिक पूर्वं एव उक्त एतदेकपरत्वे अपि ध्यानवत् निर्बन्ध न हि ।

अर्थ विपरीत भावना का निवर्तक उपाय, ब्रह्म की ही चिन्ता उसी का कथनादि पहले ही १०३ वें श्लोक मे कह दिया है। उसमे ब्रह्म के प्रति एकपरता होने पर भी ध्यान की भान्ति कोई नियम का बन्धन नही है। जप की भान्ति पूर्वाभिमुख बैठने आदि का नियम तो है ही नही, मूर्ति आदि के ध्यान की भान्ति कोई कठिन नियम भी नही है ॥११८॥

ध्यान का स्वरूप बताते हैं—

मूर्तिप्रत्ययसान्तत्यमन्यानन्तरितं धियः ।
ध्यानं तत्रातिनिर्बन्धो मनसश्चंचलात्मनः ॥

अन्वय—धिय. मूर्तिप्रत्ययसातत्य अन्यानतरित ध्यानम् । तत्र चच-लात्मन मनस अतिनिर्बन्ध ।

अर्थ—बुद्धि का, मूर्ति प्रतीति का जो निरन्तर विजातीय प्रतीति के व्यवधान से रहित, प्रवाह से वहना है, वह ध्यान कहलाता है। (सदा घूमते रहने वाले हाथी-घोड़े आदि को किसी स्तम्भ में बाधकर जैसे घेर लिया जाता है ऐसे ही) इस ध्यान में ही चचलात्मा मन का पूरापूरा बन्धन होता है ॥११६॥

मन की चञ्चलता मे गीता का प्रमाण कहते हैं—

चंचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥१२०

अन्वय–कृष्ण हि मन. चचल प्रमाथि बलवत् दृढ अह तस्य निग्रह वायोः इव दुष्कर मन्ये ।

अर्थ—हे कृष्ण ! क्योकि यह मन चचल और पुरुष को खूब व्याकुल करता है, बलवान् (निग्रह करने योग्य) और दृढ़ अर्थात् सत् एव असत् मे आसक्त है इसलिये मैं उसका निग्रह वायु के निग्रह के समान अति कठिन मानता हूँ ॥१२०॥

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरोरून्मूलनादपि ।
अपि वह्नचशनात्साधो ! विषमश्चित्तनिग्रहः ॥

अन्वय—साधो ! अब्धिपानात् अपि, महतः सुमेरो. उन्मूलनात् अपि वन्ह्यशनात् अपि चित्तनिग्रह विषम. ।

अर्थ—योगवाशिष्ठ मे भी कहा है–कि हे साधो रामजी ! मन को वश मे करना समुद्र को पोने, महान् सुमेरु वर्वत को उखाड़ने और अग्निभक्षण से भी अधिक कठिन है ॥१२१॥

विपरीत भावना के निवर्तक निदिध्यासन (ब्रह्माभ्यास) की ध्यान से विशेषता बतलाते हैं—

कथनादौ न निर्बन्धः श्रृंखलाबद्धदेहवत् ।
किंत्वनन्तेतिहासाद्यैर्विनोदो नाट्यवद्धियः ॥१२२

अन्वय–कथनादौ श्रृखालबद्धदेहवत् निर्बन्ध. न किन्तु अनन्तेहिता-साद्यै धिय' नाट्यवत् विनोद ।

अर्थ—इस ब्रह्माभ्यास मे कथन और चिन्तन आदि का ऐसा वन्धन नही है जैसे साकल से वन्धे देह का होता है, इसके विपरीत इससे अनन्त इतिहास, युक्ति, दृष्टान्त आदि के द्वारा बुद्धि का ऐसा ही विनोद होता है जैसा कि किसी नाटक को देखने से होता है ।

इतिहास आदि से एकाग्रता भी भग नही होती क्योकि,

चिदेवात्मा जगन्मिथ्येत्यत्र पर्यवसानतः ।
निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्भवेत् ॥१२३

अन्वय–'आत्मा चित् एव, जगत् मिथ्या' इति अत्र पर्यवासनत: इतिहासादिभि. निदिध्यासनविक्षेप न भवेत् ।

अर्थ–'आत्मा चेतनमात्र है, देहादिक रूप नही, जगत् मिथ्या है" इतिहास आदि का केवलमात्र यही तात्पर्य है, इस कारण एकपरता के वाच्य निदिध्यासन का भङ्ग नही होता ॥१२३॥

तो क्या खेती-व्यापार आदि से भी विक्षेप नही होता ? होता है, क्यो ?

कृषिवाणिज्यसेवादौ काव्यतर्कादिकेषु च ।
विक्षिप्यते प्रवृत्त्या धीस्तैस्तत्त्वस्मृत्यसंभवात् ॥

अन्वय—कृषिवाणिज्यसेवादौ च काव्यतर्कादिकेषु प्रवृत्या धीस्ते विक्षिप्यते, तै तत्वस्मृत्यसभवात् ।

अर्थ–खेती, व्यापार, नौकरी, काव्य तथा तर्कादि में प्रवृत्ति हो जाने के कारण बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है, क्योकि उनसे (उनको

करते हुये) तत्व की स्मृति असम्भव है ॥१२४॥

यो तो फिर भोजनादि भी त्याज्य होना चाहिए? नहीं, क्योंकि–

अनुसंदधतैवात्र भोजनादौ प्रवर्तितुम् ।
शक्यतेऽत्यन्तविक्षेपाभावादाशु पुनः स्मृते ॥१२५

अन्वय—अनुसदधता एव अत्र भोजनादौ प्रवर्तितु शक्यते, अत्यन्त-विक्षेपाभावात् पुन. आशु स्मृते ।

अर्थ—ब्रह्म विचार का अनुसन्धान (तत्त्वस्मरण) करता हुआ साधक भोजनादि मे प्रवृत्त हो ही सकता है, क्योकि भोजनादि में प्रवृत्ति से अत्यन्त विक्षेप नही होता . इसका कारण यह है कि फिर से शीघ्र ही तत्त्व का स्मरण हो जाता है ॥१२५॥

अस्तु, विक्षेप न हो तो भी, तत्त्वविस्मृति से पुरुषार्थहानि सम्भव ही है ? उत्तर देते हैं :

तत्त्वविस्मृतिमात्रान्नानर्थः किंतु विपर्ययात् ।
विपर्येतुं न कालोऽस्ति झटिति स्मरतः क्वचित् ।

अन्वय–तत्त्वविस्मृतिमात्रात् अनर्थ न, किन्तु विपर्ययात्, झटिति स्मरत. विपर्येतु कालः न अस्ति ।

अर्थ—केवल तत्त्व (चिदात्मा रूप तत्त्व की देहादिक से भिन्नता और जगत् का मिथ्यापन) की विस्मृति से अनर्थ (पुरुषार्थ की हानि) नही होता, हा विपरीत ज्ञान से अनर्थ होता है। भोजनादि के समय तो, झट से स्मरण करने वाले मुमुक्षु को विपर्यय होने का अवसर ही नही मिलता ॥१२६॥

क्या तर्कादि के अभ्यासी को तत्त्वस्मरण नहीं हो सकता ? नही ।

तत्त्वस्मृतेरवसरो नास्त्यन्याभ्यासशालिनः ।
प्रत्युताभ्यासघातित्वाद्बलात्तत्त्वमुपेक्ष्यते ॥१२७

अन्वय---अन्याभ्यासशालिनः तत्वस्मृते अवसरः न अस्ति प्रत्युत अभ्यासघातित्वात् बलात् तत्व उपेक्ष्यते ।

अर्थ---न्यायशास्त्र आदि तर्कशास्त्र का अभ्यास करने वाले पुरुष कोतत्त्वस्मृति का अवमर नही मिलता प्रत्युत ऐसे अभ्यास तत्त्वाभ्यास के विरोधी होते हैं, इस कारण, तत्व-स्मरण हो जाने पर भी वह वलात् विस्मृत हो जाता है ॥१२७॥

तत्वाभ्यासविरोधी तर्कादि की त्याज्यता मे प्रमाण देते हैं--

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।

इति श्रुतं तथाऽन्यत्र वाचो विग्लापनं त्विति ॥

अन्वय--'त एव एक विजानीथ हि अन्या वाच विमुञ्चथ' इति श्रुतम् । तथा 'अन्यत्र वाच विग्लापन तु' इति ।

अर्थ—'उस ही अकेले को हो जानो अन्य वाणियो को छोड दो' यह भी श्रुति मे कहा है तथा यह भी कहा है कि 'वहुत शब्दो का ध्यान न करे वह तो वाणी का व्यर्थ परिश्रम ही है ।' (यहा तमैवैक विजानीथ आमामन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः (मुण्ड० २५-२) और 'नानूध्यायाद् वहूञ्शब्दान् वाचो विग्लापन हि तत्' (वृह० ४-४-२१) इन वाक्यो का भावार्थ दिया गया है ।

आहारादि की भान्ति अन्य शास्त्रो के अभ्यास मे भी आग्रह निर्मूल है ।

आहारादि त्यजन्नैव जीवेच्छास्त्रान्तरं त्यजन् ।

किं न जीवसि येनैवं करोष्यत्र दुराग्रहम् ॥

अन्वय---आहारादि त्यजन् न एव जीवेत् शास्त्रान्तर त्यजन् किं न जीवसि ? येन एव अत्र दुराग्रह करोषि ?

अर्थ—आहारादि को छोडने से तो मनुष्य जीवित नही रहता,

तो क्या अन्य शास्त्रो को छोडकर भी भर जायगा, जो तू उनमें ऐसा हठ करता है ? ॥१२९॥

जनक की भान्ति दृढ बोध हो तो कुछ भी करो ।

जनकादेः कथं राज्यमिति चेद्दृढबोधतः ।
तथा तवापि चेत्तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु ॥१३०

अन्वय—जनकादेः राज्य कथ इति चेत् ? दृढबोधत. । तव अपि तथा चेत् तर्कं पढ यद्वा कृषिं कुरु ।

अर्थ—फिर जनकादि तत्त्ववेताओ की राज्यपालनादि में प्रवृत्ति क्यो हुई ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उनकी यह प्रवृत्ति उनके दृढ बोध के कारण बाधक नही है। यदि तुझ तर्कादि के अभ्यासी का भी इतना ही दृढ बोध है तो तू चाहे तर्क शास्त्र पढ या खेती कर, तत्व ज्ञान में बाधा नही होगी ॥१३०॥

समार को असार जानकर भी जनकादि तत्त्ववेत्ता ससार मे क्यो प्रवृत्त होते हैं ?

मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये प्रारब्धक्षयकाङ्क्षय ।
अक्लिश्यन्तः प्रवर्तन्ते स्वस्वकर्मानुसारतः ॥

अन्वय—मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये प्रारब्धक्षयकाक्षया अक्लिश्यन्तः स्वस्वकर्मानुसारत. प्रवर्तन्ते ।

अर्थ—ससार के मिथ्यापन की वासना के दृढ हो जाने पर तत्त्वज्ञानी, प्रारब्ध के क्षय की इच्छा से, विना किसी खेद के, अपने-अपने कर्मों के अनुसार ससार में प्रवृत्त रहते हैं ॥१३१॥

यों तो ज्ञानी लोग अनाचार भी करने लगें तो क्या हानि है ?

अतिप्रसङ्गो मा शङ्क्यः स्वकर्मवशर्तिनाम् ।
अस्तु वा केन शक्येन कर्म वारयितुं वद ॥

अन्वय—स्वकर्मवशवर्तिनाम् अतिप्रसङ्ग मा शक्य., वा अस्तु, क अत्र कर्म दारयुतु शक्येत ? वद ।

अर्थ—(शङ्का) यो तो अपने-अपने कर्म के वशवर्ती होकर ज्ञानी लोग अति प्रसङ्ग (मल-भक्षणादि अनाचार भी करेंगे ? (समाधान यदि ऐसा हो, तो, हो, तीव्र प्रा ब्ध को कौन रोक सकता है ?

प्रारब्ध-कर्म का भोग ज्ञानी और अज्ञानी मे समान है तो फिर दोनो से भेद क्या है ?

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणी ।
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढ. क्लिश्यत्यधैर्यतः ॥

अन्वय—ज्ञानिन अज्ञानिन प्रारब्धकर्मणी अत्र समे, ज्ञानिनः धैर्यात् क्लेश न, मूढ अधैर्यत क्लिश्यति ।

अर्थ—ज्ञानी और अज्ञानी दोनो के प्रारब्ध कर्म ससार में समान हैं, भेद इतना है कि ज्ञानी को धैर्य के कारण दुख नही होता और अज्ञानी अधीरता के कारण दुख मानता है ॥१३२॥

इसमे दृष्टान्त देते हैं—

मार्गे गन्त्रोर्द्वयोः श्रान्तौ समायामप्यदूरताम् ।
जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छेदन्यस्तिष्ठति दीनधीः ॥

अन्वय—मार्गे गन्त्रो द्वयो श्रान्तौ समाया अपि, अदूरता जानन् धैर्यात् द्रुत गच्छेत् अन्य दीनधी तिष्ठति ।

अर्थ—मार्ग चलने वाले दो यात्रियो को थकावट समान होनेपर भी, उनमे से गन्तव्यस्थान की समीपता को जानने वाला मनुष्य तो धीरता से शीघ्र चलता है और दूसरा, समीपता को न जानने वाला, दीनबुद्धि हो वही बैठ जाता है ॥१३४॥

इस प्रकार सिद्ध किये 'आत्मान चेद् विजानीयात्' मन्त्र के पूर्वार्ध के भावभूत अपरोक्ष ज्ञान को दुहराते हुये शोक निवृत्ति रूप फल का विधान करने वाले उत्तरार्ध का अर्थ व भावार्थ कहते हैं —

साक्षात्कृतात्मधीः सम्यगविपर्ययबाधितः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।।

अन्वय—सम्यक्साक्षात्कृतात्मधीः अविपर्ययबाधितः किम् इच्छन् कस्य कामाय शरीर अनुसज्वरेत् ।

अर्थ—आत्मा का भली भान्ति साक्षात् करने वाली बुद्धि वाला और देहादि मे आत्मभाव की बुद्धिरूप विपर्यय से बाधित न होने वाला, इन्ही दोनो कारणो से (उपर्युक्त दोनो विशेषण कारण का भी सकेत करने से हेतुगर्भ विशेषण है) किस भोग्य की इच्छा करके और किस भोक्ता के भोग के लिए शरीर के कारण दु.ख उठाये ?

१३५ श्लोक मे वर्णित उपरोक्त मन्त्र के उत्तरार्ध का तात्पर्य कहते हैं.—

जगन्मिथ्यात्वधीभावाक्षिप्तौ काम्यकामुकौ ।
तयोरभावे संतापः शाम्येन्निःस्नेहदीपवत् ।।१३६

अन्वय—जगन्मिथ्यात्वधीभावात् काम्यकामुको आक्षिप्तौ, तयोरभावे निःस्नेहदीपवत् सताप. शमयेत् ।

अर्थ—जगत् के मिथ्या होने की बुद्धि उत्पन्न हो जाने के कारण काम्य और कामुक दोनो का ही निराकरण हो गया और उन दोनो के न रहने पर, तेल रहित दीये की भान्ति सन्ताप स्वयं ही मिट जाता है ।।१३६।।

काम्य (भोग्य) के अभाव मे कामना के अभाव का दृष्टान्त देते है

गन्धर्वपत्तने किंचिन्नैन्द्रजालिकनिर्मितम् ।
जानन् कामयते किंतु जिहासति हसन्निम् ।।

अन्वय—ऐन्द्रजालिक निर्मिते गन्धर्वपत्तने किंचित् जानन् न कामयते, किन्तु इद हसन् जिहासति ।

अर्थ—मायावीरचित गन्धर्वनगर मे स्थित किसी भी वस्तु का, 'यह मायावीरचित है' ऐसा जानता हुआ पुरुष नही चाहता यही नही, अपितु, मिथ्या है' यह जानता हुआ उसे छोडना चाहता है ।

इसको दार्ष्टान्तिक मे घटाते हैं—

आपातरमणीयेषु भोगेष्वेवं विचारवान् ।
नानुरज्यति किंत्वेतान्दोषदृष्ट्या जिहासति ।।

अन्वय—एव आपातरमणीयेषु भोगेषु विचारवान् न अनुरज्यति किन्तु एतान् दोषदृष्ट्या जिहासति ।

अर्थ—इसी प्रकार केवलमात्र सुन्दर प्रतीत होने वाले स्रक्-चन्दनादि विषयों मे, उनकी आपातरमणीयता को समझने वाला पुरुष, आसक्ति नही करता, अपितु, दोष देखकर उन्हें छोड़ना चाहता है ।

विषयो के दोषो का वर्णन

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्क्लेशकारिणः ।

अन्वय—अर्थाना अर्जने क्लेश तथा एव परिपालने, नाशे, दु ख, व्यये दु ख, क्लेशकारिण अर्थान् धिक् ।

अर्थ—धन और धन से साध्य विषय जो अर्थ हैं उनका सम्पादन करने मे दु ख होता है, उनकी रक्षा मे, नष्ट होने पर

और खर्च करने में भी दुःख है। इसलिये ऐसे क्लेशकारी अर्थों को धिक्कार है ॥१३९॥

जैसे अनेक मल्लो मे से प्रधान मल्ल की पराजय से सब पराजित माने जाते हैं ऐसे ही शब्दादि पांचों विषयो की प्राप्ति के कारण प्रधान-विषय भूत स्त्री में अशोभनतारूप दोष दिखाते हैं –

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनं
एवमादिषु शास्त्रेषु दोषाः सम्यक्प्रपञ्चिताः।
विमृशन्ननिशं तानि कथं दुःखेषु मज्जति ॥१४१

अन्वय—स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्या, मासपाचालिकाया स्त्रियाः यत्रलोले अङ्गपजरे किं शोभन इव ? ॥१४०॥ एवमादिषु शास्त्रेषु दोषा. सम्यक् प्रपचिता. तानि अनिश विमृशन् कथ दुःखेषु मज्जति !

अर्थ—नाड़ियो, हड्डियो और मांस के लोथड़ो वाली, मास की पुतली, स्त्री के यन्त्र के समान चञ्चल, शरीर रूप पिंजरे में शोभावाली भला क्या वस्तु है ? कुछ भी नही है ॥१४०॥ इन और इसी प्रकार त्वचा, मास, रक्त, अश्रुजल आदि के दोषो को शास्त्र में भली प्रकार दिखाया है उन दोषो का दिन-रात विमर्श करने वाला साधक दु.खो मे कैसे फसेगा ? ॥१४१॥

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नमूढस्तज्जिघत्सति ॥

अन्वय—क्षुधया पीड्यमान अपि विष अत्तु न इच्छति। अमूढ मिष्टान्नध्वस्ततृट् जानन् न जिघत्सति।

अर्थ—क्षुधा से पीड़ित व्यक्ति भी विष खाना नही चाहता तो फिर जो स्वय विवेकी है और मिठाई खाने से जिसकी तृष्णा

नष्ट हो चुकी है वह तो विष को विष जानकर ही खाना नही चाहता ।

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि ।

क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुङ्क्ते विष्टिगृहीतवत् ॥

अन्वय—यदि प्रारब्धकर्मप्राबल्यात् भोगेषु इच्छा भवेत्, तदा अपि एष' विष्टिगृहीतवत् क्लिश्यन् एव भुङ्क्ते ।

अर्थ—यदि प्रारब्ध कर्म की प्रबलता से ज्ञानी को भोगो की इच्छा हो भी जाय तो बेगार मे पकडे हुये पुरुष की भान्ति क्लेश मानता हुआ ही वह उन विषयो को भोगा करता है ॥१४३॥

यह बात लोक मे स्पष्ट ही दीख पडती है'—

भुञ्जाना वा अपि बुधाः श्रद्धावन्तः कुटुम्बिनः ।

नाद्यापि कर्म नश्छिन्नमिति क्लिश्यन्ति संततम् ॥

अन्वय—श्रद्धावन्त कुटुम्बिन बुधा भुञ्जानाः अपि 'अद्य अपि नः कर्म न छिन्न' इति सतत क्लिश्यन्ति ।

अर्थ—लोक मे देखते हैं कि जो श्रद्धालु गृहस्थ ज्ञानी होते हैं वे भोगो को भोगते हुए भी 'आज तक भी हमारे कर्मों का नाश नहीं हुआ' यह सोचकर दु खी होते रहते है ॥१४४॥

परन्तु उनका यह अनुताप तो अनुचित है, क्योकि यो तो उनका तत्त्वज्ञान ही व्यर्थ हो जायगा आशङ्का का उत्तर देते हैं —

नायं क्लेशोऽत्र संसारतापः किंतु विरक्तता ।

भ्रान्तिज्ञाननिदानो हि तापः सांसारिकः स्मृतः ॥

अन्वय—अय क्लेश. ससारताप न किन्तु अत्र विरक्तता । हि सासारिक. ताप. भ्रान्तिज्ञाननिदान. स्मृत ।

अर्थ—यह अनुताप रूप क्लेश सासारिक दु ख नही है अपितु

इस ससार के प्रति विरक्तता है। क्योकि आचार्यों ने सांसारिक ताप को भ्रान्ति-ज्ञान से उत्पन्न हुआ माना है और यह तो विवेकज्ञान से उत्पन्न है, अतएव सांसारिक दुःख नही ॥१४५॥

ज्ञानी का क्लेश विवेकमूलक ही है, क्योंकि,

विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति ।
अन्यथाऽनन्तभोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित् ॥

अन्वय—विवेकेन परिक्लिश्यन् अल्पभोगेन तृप्यति, अन्यथा अनन्त-भोगे अपि कर्हिचित् न एव तृप्यति ।

अर्थ—विवेक से परिक्लिष्ट हो रहा (ज्ञानी) तो थोड़े से भोग मे तृप्त (संतुष्ट) हो जाता है और जिसका क्लेश विवेक जन्य नही होता वह अनन्त भोग भोग लेने पर भी तृप्त नही होता। (यह क्लेश कामनाओं का निवर्तक है इस कारण विवेक-मूलक है)।

विवेकी वत् अविवेकी भी तो भोगो से तृप्त हो सकता है, फिर विवेक व्यर्थ ही होगा ? इस आशङ्का के उत्तर मे श्रुति का प्रमाण देते हैं कि भोग तृप्ति के हेतु नही हैं –

न जातुकामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥१४७

अन्वय—काम. कामानां उपभोगेन जातु न शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मा इव भूयः एव अभिवर्धते ।

अर्थ—भोग की इच्छारूप काम, विषयों के उपभोग से कभी शान्त नही होता, अपितुघृत से अग्नि की भान्ति अधिकाधिक बढ़ता ही है ॥१४७॥

विवेकमूलक भोग तृप्ति का हेतु है यह अनुभव सिद्ध ही है :

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ।

विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥

अन्वय--परिज्ञाय उपभुक्त. भोगः तुष्टये हि भवति । विज्ञाय सेवितः चोर मैत्रीं एति, चोरता न ।

अर्थ—'यह भोग इतना है और इतने परिश्रम से मिलता है' यह जानकर भोगा हुआ भोग सन्तोष उत्पन्न करता है। (सहकारी के वश होने पर विपरीत कार्य होता देखा गया है) देखो 'यह चोर' है यह जानकर सेवित चोर उसका मित्र हो जाता है, चोर नही रहता। भोगो से तृष्णा की वृद्धि होती है,परन्तु विवेक साथी पाकर वह भोग तुष्टि कराने लगता है ॥१४८॥

कामनाओ का रागी मन थोडे भोग से कैसे सन्तुष्ट होने लगता है ?

मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि ।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद् बहु मन्यते ॥१४९

अन्वय—निगृहीतस्य मनसः अल्पकः अपि यः लीलाभोग अलब्धविस्तार त एव क्लिष्टत्वात् बहुमन्यते ।

अर्थ—योगाभ्यास से वश मे किये मन को जो थोड़ा सा भी लीलानुभव मिल जाता है, वह उसी सक्षिप्त भोग को, भोगो के क्लेशयुक्त होने के कारण, वहुत मानता है। (जैसे रात्रिमे मनुष्यो का आना जाना घट जाता है वैसे ही निदिध्यासन से परिपक्व हुए अन्त.करण के धर्मरूप से उत्पन्न कामादियो का विक्षेप अल्प ही होता है क्योकि कामादि का उपादान, मन, शिथिल पड़ जाता है : इसलिये ज्ञानवान् का मन अल्प भोग से ही सतुष्ट हो जाता है ॥१४९॥

उपपोक्त कथन का दृष्टान्त से समर्थन करते हैं-

बद्धमुक्तो महीपालो ग्राममात्रेण तुष्यति ।
परैर्ना बद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥१५०

अन्वय—बद्धमुक्तः महीपालः ग्राममात्रेण तुष्यति, परैः अबद्धः, न आक्रान्तः राष्ट्रं बहु न मन्यते।

अर्थ—बन्दी जीवन से मुक्त हुआ राजा एक गांव से सन्तुष्ट हो जाता है, परन्तु जिस राजा का कभी बन्धन नहीं हुआ तथा जिस पर कभी आक्रमण न हुआ हो वह, शत्रु राजा के दिये सारे राष्ट्र को भी थोडा समझता है ॥१५०॥

तीन प्रकार का प्रारब्ध होता है।

विवेके जाग्रति सति दोषदर्शनलक्षणे।

कथमारब्धकर्मापि भोगेच्छां जनयिष्यति ॥१५१

नैषदोषो यतोऽनेकविधं प्रारब्धमीक्ष्यते।

इच्छाऽनिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम्॥

अन्वय—दोषदर्शनलक्षणे विवेके जाग्रति सति आरब्ध कर्म अपि भोगेच्छां कथं जनयिष्यति ? ॥१५१॥ एषः दोषः न यतः प्रारब्धं अनेकविधं ईक्ष्यते, इच्छा, अनिच्छा च परेच्छा प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम्।

अर्थ—(शंका) दोषादर्शनरूप विवेक के जागते हुए प्रारब्ध कर्म भी भोग की इच्छा को कैसे उत्पन्न करेगा ? क्योंकि विवेक-ज्ञान तो इच्छा का विरोधी है। (समाधान) यह शंका ठीक नहीं क्योंकि प्रारब्ध कई प्रकार का है अतएव दोष दृष्टि के होते भी इच्छा की उत्पत्ति सम्भव है। इच्छा, अनिच्छा और परेच्छा-ये तीन प्रकार का प्रारब्ध माना जाता है ॥१५१-१५२॥

इच्छा-प्रारब्ध का वर्णन

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि।

जानन्तएव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्धकर्मतः॥

अन्वय–अपथ्यसेविन चोरा: राजदाररता: अपि स्वानर्थं जानत: इव आरब्धकर्शत इच्छन्ति।

अर्थ—अपथ्यसेवी, चोर और राजा की स्त्रियो मे अनुरक्ति करने वाले लोग अपने-अपने अनर्थों को जानते हुए भी, प्रारब्ध कर्म के प्रभाव मे आकर उन-उन अनर्थो को चाहते हैं। यह इच्छाजनक प्रारब्ध इच्छा-प्रारब्ध है ॥१५३॥

अपथ्यसेवा आदि इच्छायें प्रारब्ध की फल हैं–यह कैसे जाना ?

न चात्रैतद्वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते।
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति ॥१५४
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

अन्वय–च अत्र एतत् ईश्वरेण अपि वारयितु न शक्यते. यत ईश्वर. एव गीताया अर्जुन प्रति आह। ज्ञानवान् अपि स्वस्या प्रकृते. सदृश चेष्टते, भूतानि प्रकृति यान्ति, निग्रह कि करिष्यति।

अर्थ—इस लोक मे अपथ्यसेवन आदि को ईश्वर भी नही रोक सकता क्योकि ईश्वर अर्थात् श्रीकृष्ण जी ने यही बात गीता में अर्जुन से कही थी। गीता (अ० ३ श्लोक ३३) का भाव यह है कि विवेकी पुरुष को भी अपनी प्रकृति के पीछे-पीछे चलना पडता है। (प्रकृति का अर्थ है इस जन्म मे प्रकट हुए, पूर्वजन्म-कृतधर्मादि सस्कार।) जब ज्ञानवान् को भी पूर्व सस्कारो के अनुसार व्यवहार करना पड़ता है तव मूर्ख का तो कहना ही क्या ! अतएव सव प्राणी अपनी अपनी प्रकृति के अनुयायी हैं : यदि मैं या कोई दूसरा प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के निरोध का प्रयत्न करे तो उससे क्या लाभ होगा ? कुछ भी नही ॥१५४-१५५॥

प्रारब्ध को मिटाया जा सकता तो ?

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।

तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नल-राम-युधिष्ठिराः ॥१५६

अन्वय—अवश्यभाविभावाना प्रतीकारः यदि भवेत् तदा नलराम-युधिष्ठिरा· दु खै. न लिप्येरन् ।

अर्थ—अवश्य होने वाले दु खो की निवृत्ति का यदि कोई उपाय होता तो, नल-राम-युधिष्ठर आदि दु खग्रस्त क्यो होते ? ॥ १५६ ॥

यदि ईश्वर भी प्रारब्ध को नही मिटा सकता तो वह ईश्वर कैसा ?

न चेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः ।

अवश्यंभाविताऽप्येषामीश्वरेणैव निर्मिता ॥

अन्वय–तावता ईशस्य ईश्वरत्व च न हीयते, यतः एषां अवश्य-भाविता अपि ईश्वरेण निर्मिता ।

अर्थ—प्रारब्ध का निवारण न करने मात्र से ईश्वर की ईश्वरता मे कोई अन्तर नही आता क्योकि दु खादि की अपरि-हार्यता भी तो ईश्वर ने ही बनाई है ॥१५७॥

भगवद्गीता मे अनिच्छ प्रारब्ध का प्रश्नोत्तररूप से वर्णन

प्रश्नोत्तराभ्यामेवैद्गम्यतेऽर्जुनकृष्णयोः ।

अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारब्धमिति तच्छृणु ॥

अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति पूरुषः ।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

अन्वय—च 'अनिच्छापूर्वक प्रारब्ध अस्ति इति एतत् अर्जुनकृष्ण-योः प्रश्नोत्तराभ्या एव गम्यते, तत् शृणु ॥१५८॥ अथ वार्ष्णेय अय पूरुष· केन प्रयुक्तः अनिच्छन् अपि बलात् अपि बलात् नियोजित. इव पाप चरति ? ॥१५९॥ एष. रजोगुणसमुद्भवः काम. क्रोधः महाशनः महापाप्मा इह एन वैरण विद्धि।

अर्थ—'अनिच्छापूर्वक प्रारब्ध' है यह वात अर्जुन और श्रीकृष्ण के प्रश्नोत्तर से मालूम होती है, अब उसी को सुनो। अर्जुन पूछता है-हे कृष्ण ! यह पुरुष किसकी प्रेरणा से, न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुये की भाति, पापकर्म कर बैठता है ? श्रीकृष्ण उत्तर देते है—पुरुष का यह प्रवर्तक रजोगुण से उत्पन्न 'काम' है, यही काम 'क्रोध' मे बदल जाता है-इसकी विषयो की भूख वहुत वडी है, यह बडे-बड़े पापो का कारण होने से वडा पापी है। अतएव इस ससार मे इस काम को जो कभी-कभी क्रोध का रूप धारण कर लेता है) अपना महान् शत्रु समझो। अभिप्राय यह है कि जब प्रारब्धवश रजोगुण बढता है तो काम क्रोध उत्पन्न हो जाता है और वह मनुष्य को पाप मे प्रवृत्त कर देता है—यहा प्रवृत्ति का मूल कारण इच्छा नहीं है, इसलिये इसको "अनिच्छा प्रारब्ध" कहा है ॥१५८-१६०॥

अनिच्छाप्रारब्ध की प्रवर्तकता के उपादक वाक्य को पढते हैं—

स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोपि तत् ॥

अन्वय—कौन्तेय ! स्वभावजेन स्वेन कर्मणा निवद्धः यत् कर्तुम् न इच्छसि तत् अपि मोहात् अवशः करिष्यसि।

अर्थ—हे अर्जुन ! अपने आप किये हुये अपने प्रारब्ध से वन्धा हुआ तू, जो नही भी करना चाहता उसे भी अविवेक से

अवश होकर करेगा ही, भावार्थ यह है कि अनिच्छाप्रारब्ध को भी मानना पडता है ॥१६१॥

नानिच्छन्तो न चेच्छन्तः परदाक्षिण्यसंयुताः ।

सुखदुःखे भजन्त्येतत्परेच्छापूर्वकर्म हि ॥१६२

अन्वय—अनिच्छन्त. न, च इच्छन्त न, परदाक्षिण्यसयुता. सुख-दु खे भजन्ति, एतत् परेच्छापूर्वकर्म हि ।

अर्थ—न तो अनिच्छा से ही और न इच्छा से ही, अपितु, दूसरो की प्रसन्नता के विचार मे फसकर ही कुछ लोग सुख-दु ख भोगते हैं : यह सुखादि भोग देने वाला परेच्छापूर्वक प्रारब्ध, 'परेच्छाप्रारब्ध' नाम से प्रसिद्ध है । (दोप देख लेने पर भी यह प्रारब्ध हटता नही है, अतएव इसमे इच्छा उत्पन्न करने की जो शक्ति है वह अपरिहार्य है ।) ॥१६२॥

यदि तत्त्वज्ञानी की भी "इच्छा" बनी ही रहती है, ऐसा मानोगे तो ?

कथं तर्हि किमिच्छन्नित्येवमिच्छा निषिध्यते ।

नेच्छानिषेधः किंत्विच्छाबाधो भर्जितबीजवत् ॥

अन्वय—तर्हि 'किम् इच्छन्' इति एवं इच्छा कथ निषिध्यते ? इच्छानिषेध' न किन्तु इच्छाबाध., भर्जितबीजवत् ।

अर्थ—(शका) तो फिर 'किम् इच्छन्' इत्यादि श्रुति में इच्छानिषेध का वर्णन क्यो है ? (समाधान) यहां इच्छा का निषेध नही किया, इच्छाबाध कहा है अर्थात् यह कहा गया है कि इच्छा के होते हुए भी वह समर्थ प्रवृत्ति जनक नही रहती । जैसे स्वरूप से विद्यमान भी भूना हुआ बीज, उत्पन्न करने की शक्ति से रहित हो जाता है ।

भर्जितानि तु बीजानि सन्त्यकार्यकराणि ।

विद्वदिच्छा तथेष्टव्याऽसत्त्वबोधान्न कार्यकृत् ॥

अन्वय–भर्जितानि तु बीजानि सन्ति च अकार्यकराणि, तथा विद्विदिच्छा इष्टव्या असत्त्वबोधात् कार्यकृत् न ।

अर्थ––जैसे भूने हुए बीज, स्वरूप से विद्यमान रहते भी अंकुरोत्पत्ति आदि कार्य नही करते, ऐसे ही, ज्ञानी की इच्छा स्वय विद्यमान रहती हुई भी, इच्छा के विषयभूत पदार्थों को मिथ्या समझ लेने से, उनके मिथ्या ज्ञान से बाधित होकर, कारगर, व्यसनादि कार्य उत्पन्न करने मे समर्थ नही रहती ॥१६४॥

और फिर विवेकी की इच्छा सर्वथा निष्फल भी नही जाती

दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षणायोपयुज्यते ।

विद्विदिच्छाप्यल्पभोगं कुर्यान्न व्यसनं बहु ॥१६५

अन्वय–दग्धबीज अरोहे अपि भक्षणाय उपयुज्यते । विद्विदिच्छा अपि अल्पभोग कुर्यात्, बहुव्यसन न ।

अथ भुना हुआ बीज अकुरित तो नही होता पर खाने के काम मे आ जाता है, ऐसे ही विवेकी की इच्छा भी थोडा सा भोग तो देती ही है–वह बहुत से व्यसन उत्पन्न नही करती । ('व्यसनविपदि भ्र शे दोपे कामजकोपजे' इस वचन के अनुसार आपद्, भ्र श, आदि दशप्रकार के कामज-दोष, और आठ प्रकार के क्रोधजन्यदोष, सब व्यसन कहलाते हैं ।) ॥१६५॥

कर्म व्यसन उत्पन्न नही करता अपितु विपय की सत्यता की भ्रान्ति व्यसन उत्पन्न करती है '–

भोगेन चरितार्थत्वात्प्रारब्धं कर्म हीयते ।

भोक्तव्यसत्यताभ्रान्त्या व्यसनं तत्र जायते ॥

अन्वय–प्रारब्ध कर्म भोगेन चरितार्थत्वात् हीयते भोक्तव्यसत्यता-भ्रान्त्या तत्र व्यसन जायते ।

अर्थ—प्रारब्ध-कर्म तो, भोग से चरितार्थ हो जाने के कारण, भोग देते ही नष्ट हो जाता है, (वह तो केवल-मात्र भोग का हेतु है अतएव व्यसन का उत्पादक नहीं होता।) परन्तु भोक्तव्य पदार्थों के सत्य होने की भ्रान्ति से विषय में व्यसन उत्पन्न हो जाता है ॥१६६॥

व्यसन में फसाने वाले भ्रम का स्वरूप

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम् ।
मा विघ्नाः प्रतिबध्नन्तु धन्योऽस्म्यस्मादिति भ्रमः।

अन्वय—'अयं भोगः मा विनश्यतु, उत्तरोत्तरं वर्धताम्, विघ्नाः मा प्रतिबध्नन्तु, अस्मात् धन्यः अस्मि' इति भ्रमः।

अर्थ—यह भोग कभी नष्ट न हो, अपितु आगे-आगे बढ़ता जाय, विघ्न इस भोग में रुकावट न डालें, मैं इस भोग से धन्य हूँ अज्ञानी का भ्रम इस रूप का होता है, इस भ्रम से ही व्यसन होता है ॥१६७॥

व्यसन के हेतु भ्रम के निवारण का उपाय

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रमनिवर्तकः ॥१६८

अन्वय—यत् अभावि तत् भावि न, भावि चेत् तत् अन्यथा न इति चिन्ताविषघ्नः अयं बोधः भ्रमनिवर्तकः।

अर्थ—जो नहीं होना, वह कभी नहीं होगा, और जो होना है वह कभी टलेगा नहीं—इस प्रकार का, चिन्ता-रूप विष को नष्ट कर देने वाला, बोध ही इस पूर्वोक्त भ्रम को हटा देता है। ('मेरा कल्याण कब होगा, अनिष्ट कब दूर होगा' आदि चिन्तायें विष की भांति चिन्ता करने वाले को मारने वाली है—उन्हें ही यहां 'चिन्ताविष' कहा है।) ॥१६८॥

ज्ञानी और अज्ञानी समान-रूप से भोगी हैं फिर भी भ्रान्त व्यसन मे फसता है, ज्ञानी नहीं:—

समेऽपि भोगे व्यसनं भ्रान्तो गच्छेन्न बुद्धिवान् ।
अशक्यार्थस्यसंकल्पाद्भ्रान्तस्य व्यसनं बहु ।।
मायामयत्वं भोगस्य बुद्ध्वास्थामुपसंहरन् ।
भुञ्जानोऽपि न संकल्पं कुरुते व्यसनं कुतः ।।

अन्वय–भोगे समे अपि भ्रान व्यसन गच्छेत्, बुद्धवान् न । अशक्यार्थस्य सङ्कल्पात् भ्रान्तस्य बहु व्यसनम् ।। भोगस्य मायामयत्व बुध्वा आस्था उपसहरन्, भुञ्जान अपि सङ्कल्प न कुरुते, व्यसन कुत ।।

अर्थ—भोग के समान होने पर भी भ्रान्त व्यसन मे फसता है, ज्ञानी नही। क्योकि भ्रान्त पुरुष अशक्य बातो का सकल्प करता रहता है–उससे उसको वहुत सा व्यसन भी हो जाता है। विवेकी पुरुष भोगो को मायामय (मिथ्या) जानकर, उनके प्रति अपनी आस्था (आसक्ति) को हटा लेता है. इसलिए भोगो को भोगता हुआ भी वह सकल्प (असम्भव कल्पनाए) नही करता : तो उसे फिर व्यसन क्यो हो ? ।।१६६-१७०।।

मिथ्या जानता हुआ भी ज्ञानी उन्हे तात्कालिक सुख का हेतु तो समझता ही है, फिर उनसे उसकी आसक्ति कैसे हट सकती है ?

स्वप्नेन्द्रजालसदृशमचिन्त्यरचनात्मकम् ।
दृष्टनष्टं जगत्पश्यन्कथं तत्रानुरज्यति ।।१७१

अन्वय–जगत् स्वप्नेन्द्रजालसदृश अचिन्त्यरचनात्मक दृष्टनष्ट पश्यन् तत्र कथ अनुरज्यति ?

अर्थ—इस जगत् को स्वप्न और इन्द्रजाल के समान, अनिव

चनीय और देखते ही नष्ट मे जाने वाला जानकर, दोषदर्शी विवेकी, भला इसमें प्रीति क्योंकर करेगा ? ।।१७१।।

जगत् को स्वप्न या इन्द्रजाल सदृश जानने का उपाय

स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन्स्वजागरम् ।
चिन्तयेदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः ।।१७२

चिरं तयोः सर्वसाम्यमनुसंधाय जागरे ।
सत्यत्वबुद्धिं संत्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत् ।।१७३

अन्वय–स्व स्वप्न आपरोक्ष्येण दृष्ट्वा स्वजागरं पश्यन् अप्रमत्तः सन् उभौ अनुदिन मुहुः चिंतयेत् । तयो. सर्वसाम्य चिरं अनुसन्धाय जागरे सत्यत्वबुद्धि सन्त्यज्य पूर्ववत् न अनुरज्यते ।

अर्थ—अपने स्वप्न को अपरोक्ष देखकर तथा अपने जागरण को भी (पीछे से) अनुभव करे फिर सावधान होकर स्वप्न और जागरण दोनो को प्रतिदिन (प्रतिक्षण) सोचा करे कि ये दोनो ही एक जैसे हैं–जागरण भी स्वप्न की भांति तात्कालिक भोग ही देता है । स्वप्न और जागरण की आपसी पूरी समता को (दोनो प्रतीतिकाल मे भोग देते हैं, परिणाम मे नीरस और विनाशी हैं) चिरकाल तक अपने मन मे दृढ करके, जाग्रत् को भी जब सत्य समझना छोड देता है तब, पहले की भांति (जब कि वह जगत् को सत्य समझता था, तब की भान्ति) जाग्रत् वस्तुओ में भी अनुरक्त नही होता ।।१७२-१७३।।

'मिथ्याज्ञान हो जाने पर भी भोग रहें' यह कैसे सम्भव है, क्योंकि भोग विषय की सत्यता के ज्ञान पर ही तो निर्भर है ? उत्तर देते हैं कि भोग विषय की सत्यता पर निर्भर नही है—

इन्द्रजालमिदं द्वैतमचिन्त्यरचनात्वतः ।
इत्यविस्मरतो हानिः का वा प्रारब्धभोगतः ।।

अन्वय—'इदं द्वैतं अचिन्त्यरचनात्वतः इन्द्रजालं' इति अविस्मरतः प्रारब्धभोगतः का वा हानिः ?

अर्थ—'यह द्वैत (समस्तभोग्य पदार्थ) अनिर्वचनीय होने के कारण इन्द्रजाल तुल्य, मिथ्या है, इस बात को कभी न भूलने वाले ज्ञानी पुरुष के प्रारब्ध भोग से, उसकी "जगत् को मिथ्या समझने की विचारधारा" को क्या हानि पहुँचेगी ? भोग और मिथ्यात्वानुसन्धान दोनों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न जो है ।।१७४।।

इनकी विभिन्नविषयता को स्पष्ट करते हैं—

निर्बन्धस्तत्त्वविद्याया इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ ।
प्रारब्धस्याग्रहो भोगे जीवस्य सुखदुःखयोः ।।

अन्वय—तत्वविद्यायाः इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ निर्बन्धः, प्रारब्धस्य जीवस्य सुखदुःखयोः भोगे आग्रहः ।

अर्थ—तत्त्वज्ञान का तो इतना ही आग्रह है कि यह स्मरण रहे कि संसार इन्द्रजाल की भान्ति मिथ्या है, भोगविनाश उसका कोई लक्ष्य नही है । प्रारब्ध कर्म का लक्ष्य है जीवो को सुख-दुःख का भोग देना, योग्य विषय की सत्यता सिद्ध करना प्रारब्ध कर्म का लक्ष्य नही है ।।२७५।।

अनुमान से उपरोक्त कथन की स्थापना करते हैं—

विद्यारब्धे विरुध्येते न भिन्नविषयत्वतः ।
जानद्भिरप्यैन्द्रजालविनोदो दृश्यते खलु ।।१७६

अन्वय—विद्यारब्धे न विरुध्येते, भिन्नविषयत्वतः, जानद्भिः अपि ऐन्द्रजालविनोदः खलु दृश्यते ।

अर्थ—विद्या और प्रारब्ध कर्म का परस्पर विरोध नही है क्योकि दोनो के विषय पृथक् पृथक् हैं, अनुभव किये भिन्न विषय

वाले रूपज्ञान और रसज्ञान की भान्ति+। दृष्टान्त देते हैं कि जो लोग समझते हैं कि यह इन्द्रजाल है वे भी इन्द्रजाल के तमाशे को देखते ही है। अतएव स्पष्ट ही है कि भोग्य का मिथ्यात्वज्ञान, भोग का बाधक नही होता ॥१७२॥

प्रारब्ध विद्या का विरोधी नहीं है।

जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धं भोजयेद्यदि।
तदा विरोधि विद्याया भोगमात्रान्न सत्यता॥

अन्वयः—प्रारब्ध जगत्सत्यत्वं आपाद्य यदि भोजयेत् तदा विद्यायाः विरोधि, भोगमात्रात् सत्यता न।

अर्थ—यदि 'प्रारब्धकर्म भोग्यविषयो की अबाध्यता का प्रतिपादन करके ही सुख-दुःख देता है' ऐसा माना जाय तभी वह विद्या का विरोधी माना जायगा परन्तु यह ऐसा नही करता, यह तो केवल भोग ही देता है, इसलिये विद्या का विरोधी नही है। तथाच कोई पदार्थ भोग दे देने मात्र से सत्य नही हो सकता। क्योंकि, 'विवादास्पद जगत् सत्य है, भोग्य होने से' इस अनुमान को पूरा करने के लिये कोई दृष्टान्त ही नही मिल सकता ॥१७३॥

+खांडका रूप श्वेत और रस मधुर है, इन दोनो के ज्ञान विभिन्न वस्तुओ (यहा गुणो) के ज्ञान हैं इसलिये आपस में विरोधी नही हैं। ऐसे ही मिथ्यात्वज्ञान का विषय (लक्ष्य) तो मिथ्यात्व का न भूलना है और प्रारब्ध का विषय (लक्ष्य) सुख दुःख देना है—दोनो मे कोई विरोध नहीं हैं। अपितु ज्ञान निष्काम कर्म से उत्पन्न है और प्रारब्ध, देहादि की स्थिति का हेतु, सकाम कर्म ही हैं। अतएव दोनो का भतीजे-चचा का सम्बन्ध होने से परस्पर स्नेह ही मानना चाहिये।

यो तो 'भोग मिथ्यापदार्थों से ही होता है' इसका भी तो कोई दृष्टान्त नही है ? उत्तर देते हैं—

अनूनो जायते भोगः कल्पितैः स्वप्नवस्तुभिः।
जाग्रद्वस्तुभिरप्येवमसत्यैर्भोग इष्यताम् ॥१७८

अन्वय—कल्पितै स्वप्नवस्तुभि अनून. भोग जायते । एव असत्यै· जाग्रद्वस्तुभि अपि भोग· इष्यताम् ।

अर्थ - जैसे कल्पित वस्तुओ से स्वप्न मे पूरा भोग मिल जाता है ऐसे ही (इस दृष्टान्त से) जाग्रत् समय की असत्य वस्तुओ से ही जाग्रत् मैं भोग होता है—ऐसा स्वीकार कर लो ॥१७८॥

और न विद्या ही प्रारब्ध की विरोधिनी है !

यदि विद्यापह्नुवीत जगत्प्रारब्धघातिनी ।
तदा स्यान्न तु मायात्वबोधेन तदपह्नवः ॥१७६

अन्वय--विद्या यदि जगत् अपह्नुवीत तदा प्रारब्धघातिनी स्यात् । मायात्वबोधेन तदपह्नव न ।

अर्थ—विद्या यदि भोग्य पदार्थों को छिपा ले, 'यह चान्दी नही है' इस निषेधक ज्ञान की भान्ति, प्रतीयमान भोग्य पदार्थों के स्वरूप को छिपादे तव, वह प्रारब्ध को नष्ट करने वाली कही जा सकती है क्योकि वह प्रारब्धकर्म के भोग, 'सुख-दु.खानुभव' के साधनभूत जगत् के स्वरूप को नष्ट नही करती, इसलिये, वह प्रारब्ध कर्मविरोधिनी भो नही है। किन्तु जगत् को माया (मिथ्या) समझ लेने मात्र से जगत् का विलय (विनाश) नही होता। इन्द्रजाल आदि मे भी स्वरूप के विलय हुए बिना ही मिथ्यात्वज्ञ.न होता है ॥१७६॥

इसको अधिक स्पष्ट करते हैं—

अनपह्नुत्य लोकास्तदिन्द्रजालमिदं त्विति ।
जानन्त्येवानपह्नुत्य भोगं मायात्वधीस्तथा ॥१८०

अन्वय–लोकाः तत् अनपह्नुत्य 'इद तु इन्द्रजाल' इति जानन्ति एव । तथा भोग अनपह्नुत्य मायात्वधी· ।

अर्थ—लोग उस इन्द्रजाल के स्वरूप को न हटा कर भी तो जान लेते हैं कि यह इन्द्रजाल है । ऐसे ही भोग्य पदार्थ को नष्ट किये विना भी जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है ॥१८०॥

तत्वज्ञानी के भोग के विषय में एक शङ्का

यत्र त्वस्य जगत्स्वात्मा पश्येत्कस्तत्र केन कम् ।
किं जिघ्रेत्किं वदेद्वेति श्रुतौ तु बहुघोषितम् ॥
तेन द्वैतमपह्नुत्य विद्योदेति न चान्यथा ।
तथा च विदुषो भोगः कथं स्यादिति चेच्छृणु ॥

अन्वय—यत्र तु जगत् अस्य स्वात्मा तत्र कः केन क पश्येत् ? किं जिघ्रेत, किं वा वदेत् ? इति श्रुतौ तु वहु घोषितम् ॥ तेन द्वैत अपह्नुत्य विद्या उदेति च अन्यथा न, तथा च विदुष भोग. कथ स्यात् ? इति चेत् ? शृणु :–

अर्थ— शङ्का) "जब इस ज्ञानी को सम्पूर्ण जगत् आत्मरूप ही हो जाता है तब कौन देखने वाला ? कौन नेत्रादि इन्द्रिय साधन ? कौन देखने—सूघने या बोलने योग्य विषय रह जाता है ? कुछ भी नही ।' श्रुतियो में इस प्रकार का वर्णन कई स्थानो पर है ॥ १८१ ॥ इससे यह सिद्ध हो जाता है कि द्वैत अपह्नव करके ही विद्या उत्पन्न होती है—ऐसी अवस्था में

का विद्वान् को भोग कैसे होगा ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं ॥१७२॥

सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा श्रुतिस्त्विति ।
उक्तं स्वाप्ययसंपत्त्योरिति सूत्रे ह्यतिस्फुटम् ॥

अन्वय—श्रुतिः तु सुषुप्तिविषया वा मुक्तिविषया इति 'स्वाप्ययसपत्यो' इति सूत्रे अतिस्फुट हि उक्तम् ।

अर्थ—'उपरोक्त अभिप्राय की श्रुति सुषुप्ति अथवा मुक्ति के विषय मे है' यह बात "स्वाप्ययसपत्यो" सूत्र मे स्पष्टरूप से कही है ।

"स्वाप्ययसम्पत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृत होति" (ब्रह्मसूत्र ४-१६-१८ इस सूत्र मे 'यत्र त्वस्य (बृ० ४-५-१५) को उद्धृत कर स्पष्ट ही समझाया है कि वह उद्धृत श्रुति या तो 'स्वाप्यय' अपना ध्वस अर्थात् सुषुप्ति का वर्णन कर रही है या मुक्ति का : अर्थात् केवल इन दोनो अवस्थाओ मे ही, इस विशेष ज्ञान का अभाव बताया है । यह श्रुति विद्या से जगत् के अपह्नव होजाने की बात नही कहती ।

यदि ऐसा न मानो तो ?

अन्यथा याज्ञवल्यादेराचार्यत्वं न संभवेत् ।
द्वैतदृष्टावविद्वत्ता द्वैतादृष्टा न वाग्वदेत् ॥१८४

अन्वय—अन्यथा याज्ञवल्क्यादे. आचार्यत्व न सम्भवेत्, द्वैतदृष्टौ अविद्वत्ता, द्वैतादृष्टौ वाक् न वदेत् ।

अर्थ—यदि इस श्रुति को उक्त वेदान्तसूत्र के अनुसार सुषुप्ति और मुक्ति विषयक ही न मानोगे तो याज्ञवाल्क्य आदि ब्रह्म विद्या के आचार्य न हो सकेंगे . क्योकि यदि मानो कि वे द्वैत को देख रहे हैं तो अद्वैत के न होने से आचार्य नही होगे

और यदि कहो कि द्वैत को नही देख रहे हैं तो बोध योग्य शिष्यो की भी प्रतीति नहीं होगी तो फिर उपदेश के लिए वाणी कैसे प्रवृत्त होगी ? इस प्रकार विद्यासम्प्रदाय का भी नाश हो जायगा ।।१८४।।

निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः ।
सैवापरोक्षविद्येति चेत्सुषुप्तिस्तथा न किम् ।।

अन्वय–निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः सा एव अपरोक्षविद्या इति चेत् तथा सुषुप्ति. कि न ?

अर्थ—(शङ्का) याज्ञवल्क्यादि आचार्यों का ज्ञान आचार्यत्व की दशा मे विद्या भले ही हो , अपरोक्षज्ञान नही है क्योंकि उस समय द्वैत की प्रतीति हो रही होती है . हां निर्विकल्प समाधि में द्वैत की प्रतीति न होने के कारण वह विद्या अपरोक्ष ज्ञान है । (समाधान) यदि यह ठीक है तो फिर सुषुप्ति में भी द्वैत की अप्रतीति है तो सुषुप्ति भी अपरोक्ष ज्ञान क्यो न होगा । अर्थात् सुषुप्ति में भी द्वैतादर्शन हेतु के अतिव्याप्त होने से उपरोक्त कथन ठीक नही है ।

आत्मतत्त्वं न जानाति सुप्तौ यदि तदा त्वया ।
आत्मधीरेव विद्येति वाच्यं न द्वैतविस्मृतिः ।।

अन्वय - सुप्तौ आत्मतत्व न जानाति यदि, तदा 'आत्मधी. एव विद्या, द्वैतस्मृति. न' इति त्वया वाच्यम् ।

अर्थ—(वादी) सुषुप्ति मे द्वैतदर्शन तो नहीं है पर आत्म-तत्त्व का ज्ञान भी तो नही है, इसलिये सुषुप्ति को अपरोक्ष ज्ञान नही कहते (सिद्धान्ती) तब तो यह कहो कि "आत्म-ज्ञान ही विद्या हुई, द्वैतदर्शन के अभाव का नाम विद्या नही है" ।।१८६।।

उभयं मिलितं विद्या यदि तर्हि घटादयः ।
अर्धविद्याभाजिनः स्युः सकलद्वैतविस्मृतेः ॥

अन्वय –उभय मिलित विद्या यदि, तर्हि घटादयः अर्धविद्याभाजिनः स्युः, सकलद्वैतविस्मृते. ।

अर्थ—(वादी) यदि द्वैतादर्शन और आत्मज्ञान दोनो मिल कर ही विद्या होते हैं ! (सिद्धाती) तब तो, द्वैतादर्शन को भी यदि विद्या का एक भाग मानोगे तो, घटादि जड़ भी अर्धविद्या वाले सिद्ध हो जायेंगे । क्योकि उनको द्वैत की पूरी विस्मृति है ॥१८७॥

मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां बहुत्वतः ।
तव विद्या तथा न स्याद् घटादीनां यथा दृढा ॥

अन्वय—मशकध्वनिमुख्याना विक्षेपाणा बहुत्वतः घटादीना यथा विद्या दृढा तथा तव न स्यात् ।

अर्थ—और फिर तो, जितनी दृढ द्वैत विस्मृति घटादियो की है उतनी दृढ द्वैतविस्मृति समाधिस्थ पुरुषो को भी न होगी क्योकि समाधिस्थ पुरुष को भी मच्छर ध्वनि आदि विविध विक्षेपो की बहुलता होती ही है ॥१८८॥

आत्मधीरेव विद्येति यदि तर्हि सुखी भव ।
दुष्टचित्तं निरुन्ध्याच्चेन्निरुन्द्धि त्वं यथासुखम् ॥

अन्वय—आत्मधी एव विद्या इति यदि, तर्हि सुखीभव । दुष्टचित्त निरुन्ध्यात् चेत् त्व यथा सुख निरुन्धि !

अर्थ—(वादी) तब तो आत्मज्ञान को ही विद्या मानो ! (सिद्धान्ती) ठीक है—सुखी होओ । (वादी) आत्मज्ञान विद्या है, मान लिया, परन्तु विक्षेपादि से दुष्ट चित्त को आत्मज्ञान हो ही

नही हो सकता . तो फिर दोष निवृत्ति के लिये चित्त वृत्ति का निरोध करना पड़ेगा ? (सिद्धान्ती) ठीक है, करलो ॥१८६॥

तदिष्टमेवाद्वयमाया मयत्वस्य समीक्षणात् ।

इच्छन्नप्यज्ञवन्नेच्छेत्किमिच्छन्नितिहि श्रुतम् ॥

अन्वय—तत् इष्टम् एवाद्वयमायामयत्वस्य समीक्षणात्। इच्छन् अपि अज्ञवत् न इच्छेत् हि किं इच्छन् इति श्रुतम् ।

अर्थ—चित्त का निरोध हमे भी इष्ट ही है। क्योकि चित्त-दोष के हटने पर ही अद्वितीयात्म-ज्ञान के लिए अभीट, जगत् का मिथ्यात्व, भलीभान्ति दीख पडता है। इसीलिये 'इच्छा करता हुआ भी यह मूढ की भान्ति इच्छा नहीं करता' इस अभि-प्राय से श्रुति मे "किं इच्छन् कस्य कामाय" इत्यादि वाक्य है ॥१९०॥

उक्त प्रकार से अभिप्राय वर्णन का कारण यह है :

रागो लिङ्गमबोधस्य सन्तु रागादयो बुधे ।

इति शास्त्रद्वयं सार्थमेवं सत्यविरोधतः ॥१९१

अन्वय—एवं सति राग अबोधस्य लिंग बुधे रागादय सन्तु, इति शास्त्रद्वय अविरोधतः सार्थम् ।

अर्थ—ऐसा होने पर ही, अर्थात् तत्वज्ञानी को दृढ राग नही होता इसीलिए, "राग अबोधस्य लिंगम्" और "बुधे रागादयः सन्तु" ये दोनो शास्त्रवचन अविरोधी सिद्ध हो सकते हैं ।

'शास्त्र का एक वचन है—'रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु कुत. शाद्वलता तस्य यस्याग्नि. कोटरे तरो.' । अर्थात् 'चित्त की विहार भूमिरूपी विषयो मे राग होना ही अबोध का चिन्ह* है, जिस वृक्ष की खोह मे आग लगी हो उसमे हरियाली

---

* जैसे धुआ अग्निज्ञान का लिंग है, वैसे ही, विषयो में अनुराग का

कहा से आवेगी+ ? इस वचन से ज्ञानी मे राग का निषेध किया है। दूसरा वचन है–शास्त्रार्थस्य समाप्तत्वान्मुक्ति. स्यात् तावताऽपि, ते रागादय: सन्तु काम न तदभावोऽपराध्यते।' अर्थात् शास्त्र के अर्थ को समाप्त कर लेने के कारण, असङ्गाद्वितीय आत्मा के ज्ञान मात्र से भी ज्ञानी की मुक्ति हो ही जायगी और मन के धर्म रागादि चाहे जितने रहे, उनके होने से कोई हानि नही।' इन दोनो वचनो में से पहला तो दृढराग का निषेध करता है और दूसरा अदृढरागरूप रागाभास को×ज्ञानी मे होना स्वीकार करता है। इस प्रकार दोनो का विरोध दूर हो जाता है ॥१६१॥

होना अज्ञानज्ञान का चिह्न है। अनुमान इस प्रकार होगा .—यह पुरुष अज्ञानी है, रागवान् होने से, अन्य अज्ञानी की भान्ति।

+यदि किसी कारण किसी वृक्ष की खोह मे आग लग जाय तो जैसे वह हरा नही रहता वैसे ही, अज्ञान के कारण अनुकूलज्ञानके साधक भेदज्ञान द्वारा उत्पन्न रागरूप भीतरी भाग वाला पुरुष, बहुत से कामो मे फंस जाता है, अतएव शान्ति को प्राप्त नही करता। वह विक्षेप की ज्वालाओ से जलता ही रहता है।

×स्थूल अन्त करण रूप उपादान का सम्बन्ध भी हो और अनुकूल पदार्थरूप निमित्त के सम्बन्ध से निरन्तर राग न हो उसे अदृढराग कहते है—यही ज्ञानी का लक्षण है। इस लक्षण को भली भान्ति समझने के लिए निम्नलिखित सन्दर्भ ध्यान देने योग्य है —(क) अन्त.करण का सम्बन्ध होते हुए भी अज्ञानी मे राग का अभाव नही है। (ख) सुषुप्ति मे राग का अभाव है पर अन्त करण का सम्बन्ध नही है। (ग) फिर सुषुप्ति मे राग के अभाव के साथ-साथ, सूक्ष्म (सस्कार रूप) अन्त.-करण का सम्बन्ध है, स्थूल अन्त करण का सम्बन्ध नही है (घ) कभी उद्योग के समय, अज्ञानी को भी स्थूलान्तःकरण के सम्बन्ध के साथ-

'कस्य कामाय' के अभिप्राय को कहते हैं।

जगन्मिथ्यात्ववत्स्वासङ्गत्वस्य समीक्षणात्।
कस्य कामयेति वचो भोक्त्रभावविवक्षया ॥

अन्वय–जगन्मिथ्यात्ववत् स्वात्मासङ्गत्वस्य समीक्षणात् भोक्त्रभाव-विवक्षयया 'कस्य कामाय' इति वच.।

अर्थ – जैसे जगत् के मिथ्यात्वज्ञान से वास्तविक भोग्य के अभाव की विवक्षा से 'कि इच्छन्' वाक्य कहा है वैसे ही, आत्मा की असङ्गता की समीक्षा से वास्तविक भोक्ता के अभाव की विवक्षा से 'कस्य कामाय' यह वाक्य श्रुति मे कहा गया है ॥१९२॥

(शंका) 'आत्मा भोक्ता नही है' यह तो तभी कहोगे जब उसमे आसक्ति होना सम्भव हो : वह तो असग है फिर आसक्ति कहा से होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आत्मा में आसक्ति का होना अनुभवसिद्ध है और यह बात भी श्रुति में प्रतिपादित है: –

पतिजायादिकं सर्वं तत्तद्भोगाय नेच्छति।

साथ रागका अभाव है परन्तु वहाँ अनुकूल पदार्थ की स्मृति या सन्निधि नही है। (ङ) स्थूलान्त करण के और अनुकूल वस्तु के सम्बन्ध के साथ-साथ कभी अविचार दशा मे राग ज्ञानी को भी हो जाता है परन्तु वह निरन्तर नही होता। (च) स्थूलान्त.करण और अनुकूल पदार्थ का स्मृति सम्बन्ध होते हुए राग का अभाव तो उपासकादि शुद्ध चित्त वाले अज्ञानी मे भी दिखाई देता है परन्तु उसमे राग का अभाव बाहिर से होता है, भीतर से सूक्ष्म राग का अभाव नहीं होता। अतएव ऊपर जो अदृढराग बताया है वही ज्ञानी का निर्दोष लक्षण है। सक्षेप मे दृढ़राग के अभाव वाला ज्ञानी होता है।

कित्वात्मभोगार्थमिति श्रुतावुद्घोषितं बहु ।।

अन्वय—पतिजायादिक सर्वं तत्तद्भोगाय न इच्छति, किन्तु आत्म-भोगार्थम्, इति श्रुतौ बहु उदघोषितम् ।

अर्थ—'पति, स्त्री आदि किसी की भी इच्छा उन-उनके भोग के लिये नही अपितु अपने ही भोग के लिए करता है' यह बात श्रुति में खूब घोषणा पूर्वक कही गई है। "न वा अरे पत्यु कामाय पति प्रियो भवति" से लेकर "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति" तक याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपनी पत्नी को यही बताया है कि पति स्त्री आदि सारा जगत् आत्मा का ही भोग-साधन है। इसलिए "आत्मा भोक्ता है" यह बात सिद्ध होती है ।।१९३।।

'परन्तु वस्तुत. आत्मा भोक्ता नही है' यह दिखाने के लिए उस विषय मे शङ्का करते हैं—

कि कूटस्थश्चिदाभासोऽथवा किं वोभयात्मकः ।
भोक्ता तत्र न कूटस्थोऽसङ्गत्वाद्भोक्तृतां व्रजेत् ।।

अन्वय–कि कूटस्थ. अथवा चिदाभास कि वा उभयात्मक. भोक्ता? तत्र कूटस्थ. असङ्गत्वात् भोक्तृता न व्रजेत् ।

अर्थ—क्या भोक्ता कूटस्थ है अथवा चिदाभास या आत्मा दोनो ही रूपो मे भोक्ता है ? इन विकल्पो मे कूटस्थ तो असङ्ग होने से भोक्ता वन नहीं सकता ।

'असङ्गत्व और भोक्तृत्व' दोनो एक साथ नही रह सकते।

सुखदुःखाभिमानाख्यो विकारो भोग उच्यते ।
कूटस्थश्च विकारी चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ।।१९५

अन्वय—सुखदु खाभिमानाख्यः विकार. भोग. उच्यते । कूटस्थ. च विकारी च इति एतत् कथ न व्याहतम् ।

अर्थ—सुख-दुःख का अभिमान रूप विकार ही भोग कहलाता है। इसलिये "कूटस्थ है साथ ही विकारी है' यह कथन परस्पर विरुद्ध ही तो है, फिर असङ्ग कूटस्थ, सुख-दुःख आदि का अभिमानी विकारी कैसे हो सकता है? ॥१६५॥

अच्छा तो विकारी चिदाभास को ही भोक्ता मान लो, उत्तर देते हैं:—

विकारिबुद्ध्यधीनत्वादाभासे विकृतावपि ।
निरधिष्ठानविभ्रान्तिः केवला न हि तिष्ठति ॥

अन्वय—आभासे विकारिबुद्ध्यधीनत्वात् विकृतौ अपि हि निरधिष्ठान-विभ्रान्तिः केवला न तिष्ठति ।

अर्थ–चिदाभास विकारी बुद्धि के अधीन होने से ही विकारी है परन्तु स्वयं विकारी होने पर भी चिदाभास (भ्रान्ति) की अधिष्ठान के बिना सत्ता नहीं है, अतएव केवल चिदाभास का भोक्ता होना सम्भव नहीं है ॥१६६॥

इसलिए अन्त में तीसरा पक्ष 'कूटस्थ चिदाभास दोनों ही भोक्ता हैं' यही ठीक है।

उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते ।
तादृगात्मानमारभ्य कूटस्थः शेषितः श्रुतौ ॥१६७

अन्वय—अतः लोके उभयात्मकः एव भोक्ता निगद्यते । तादृक् आत्मनं आरभ्य श्रुतौ कूटस्थः शेषितः ।

अर्थ—इसलिए व्यवहार में उभयात्मक अर्थात् साधिष्ठान चिदाभास ही भोक्ता है—यह कहा जाता है। (परमार्थ दृष्टि से तो उसकी उभयात्मकता ही सिद्ध नहीं है।

यदि कहो कि 'असङ्गोऽह्य पुरुषः' इत्यादि श्रुति-वाक्यों में जिस को असङ्ग कहा है उसी को 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु'

इत्यादि में बुद्धि साक्षी कहा है। अतएव भोक्ता के दोनो स्वरूप पारमार्थिक ही है, तो यह शङ्का निर्मूल है, क्योकि यहां श्रुति का यह अभिप्राय नही हैं। श्रुति मे तो, वैसे अर्थात् बुद्धि उपाधि वाले भोक्ता आत्मा से आरम्भ कर अन्त में बुद्धि आदि की कल्पना के अधिष्ठान-भूत चिदात्मा कूटस्थ को ही शेष रखा है तथा बुद्धि आदि सब अनात्मपदार्थों का निषेध कर दिया है। इस प्रकार श्रुति मे केवल मात्र कूटस्थ को ही सत्यरूप माना है ॥१६७॥

बृहदारण्यक के उसी वाक्य का सक्षिप्त अर्थ दिखाते हैं:—

आत्मा कतम इत्युक्ते याज्ञवल्क्यो विबोधयन् ।

विज्ञानमयमारभ्यासङ्गं तं पर्यशेषयत् ॥१६८

अन्वय—"कतम आत्मा" इति उक्ते याज्ञवल्क्य त विबोधयन् विज्ञानमय आरभ्य असग परि अशेषयत् ।

अर्थ—राजा जनक के इस प्रश्न के उत्तर मे कि "आत्मा कौन सा है ?' याज्ञवल्क्य ऋषि ने, उसे समझाते हुये 'यह विज्ञानमय, जो प्राणो मे है, आत्मा है' इस वाक्य मे विज्ञानमय को आत्मा बताना आरम्भ करके, पर साथ-साथ सबका खण्डन करके, अन्त मे 'असगोऽय पुरुष.' 'यह असङ्ग ही आत्मा है' कह कर असङ्ग कूटस्थ को ही परिशेप से आत्मा बताया है ॥१६८॥

ऐतरेयादि अन्य श्रुतियो मे भी इसी प्रकार वर्णन है .

कोऽयमात्मेत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः ।

उभयात्मकमारभ्य कूटस्थः शेष्यते श्रुतौ ॥१६९

अन्वय—'क' अय आत्मा' इति एवमादौ श्रुतौ आत्मविचारत. सर्वत्र उभयात्मक आरभ्य कूटस्थ. शेष्यते ।

अर्थ—'कोऽयमात्मा इति वयमुपास्महे कतर स आत्मा'

इत्यादि (ऐतरेय ५ १) उपनिषदो मे आत्मा का विचार करते हुये सर्वत्र यह शैली है कि उभयात्मक अर्थात् अन्त.करणोपाधिक आत्मा से आरम्भ करके, अन्त मे प्रज्ञानमात्र कूटस्थ को शेष रखा है। इस प्रकार युक्ति और श्रुतियो का सार यह है कि उभयात्मक भोक्ता तो मिथ्या है और पारमार्थिक असङ्ग कूटस्थ भोक्ता नही है।

(प्रश्न' यदि भोक्ता मिथ्या है तो प्राणी उसे सत्य क्योकर समझने लगते है ?

कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन्नध्यस्यात्माऽविवेकतः ।
तात्त्विकी भोक्तृतां मत्वा न कदाचिज्जिहासति ॥

अन्वय–आत्मा अविवेकत कूटस्थसत्यता स्वस्मिन् अध्यस्य भोक्तृता तात्त्विकी मत्वा कदाचित् न जिहासति ।

अर्थ––(उत्तर आत्मा जो लोक में भोक्ता के नाम से प्रसिद्ध है, अविवेक से, अपने कूटस्थ रूप मे निष्ठ सत्यता का, अपने आप में अभ्यास करके उस सत्यता के द्वारा अपने भोक्तापन को भी सत्य मानकर कभी भी भोगों को नही छोडना चाहता ॥२००॥

'आत्मनस्तु कामाय' इत्यादि श्रुति मे जो भोग्य को आत्मा के लिए ही बताया है वह लोकप्रसिद्ध उभयात्मक भोक्ता आत्मा के लिए ही है, कूटस्थ आत्मा के लिए नही :—

भोक्ता स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिमिच्छति ।
एष लौकिकवृत्तान्त श्रुत्या सम्यगनूदितः ॥

अन्वय – भोक्ता स्वस्य एव भोगाय पतिजायादिक इच्छति, एषः लौकिकवृत्तान्त श्रुत्या सम्यक् अनूदित. ।

अर्थ—लोकप्रसिद्ध भोक्ता अपने ही भोग के लिये पति या

पत्नी आदि भोग-सामग्री को चाहता है, इस लौकिक वृत्तान्त का ही उक्त श्रुति ने केवल अनुवाद कर दिया है, किसी दूसरी अलौकिक बात का प्रतिपादन यहाँ नही किया गया है ॥२०१॥

इस अनुवाद का प्रयोजन वताते हैं –

भोग्यानां भोक्तृशेषत्वान्मा भोग्येष्वनुरज्यताम् ।
भोक्तर्येव प्रधानेऽतोऽनुरागं तं विधित्सति ॥२०२

अन्वय—भोग्याना भोक्तृशेपत्वात् भोग्येषु मा अनुरज्यता, प्रधाने भोक्तरि एव, अत. त अनुराग विधित्सति

अर्थ--पति पत्नी आदि सव भोग्य तो भोक्ता के भोग के उपकरण हैं, इसलिए अमुख्य भोग्यो मे अनुराग नही करना चाहिए अपितु प्रधान भोक्ता मे अनुराग करना चाहिए–इस विधान को ही श्रुति कहना चाहती है ॥२०२॥

भोग्यो के प्रति प्रेम को छोडते हुए, आत्मा के प्रति प्रेम करना चाहिए, इस विषय मे ईश्वर के प्रति प्रार्थना सम्बन्धी पुराण वचन को उद्धृत करते हैं–

या प्रीतिरविवेकिनां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु ॥

अन्वय—आववेकिना विपयेषु अनपायिनी या प्रीति., माप! सा त्वा अनुस्मरत. मे हृदयात् सर्पतु ।

यद्वा–अविवेकिना विपयेष अनपायिनी या प्रीति , सा त्वां अनु स्मरत मे हृदयात् मा अपसर्पतु ।

अर्थ—"अज्ञानियो को विषयो मे जो दृढ भक्ति होती है, हे लक्ष्मीपति ! तेरा सदा चिन्तन करने से, मेरे हृदय से वह विषय-प्रीति, निकल कर भाग जाय अर्थात् मेरा मन विषय-प्रीति को

छोड़ कर सदा तुझ में ही लगा रहे ।"

इति न्यायेन सर्वस्माद्भोग्यजाताद्विरक्तधीः ।
उपसंहृत्य तां प्रीतिं भोक्तर्येनं बुभुत्सते ॥२०४

अन्वय—इति न्यायेन सर्वस्मात् भोग्यजातात् विरक्तधीः तां प्रीतिं भोक्तरि उपसंहृत्य एनं बुभुत्सते ।

अर्थ—इस पुराणोक्तन्याय से पति-पत्नी आदि भोग्यमात्र से विरक्त हुआ पुरुष, उस भोग्यविषयक प्रीति को भोक्ता आत्मा में ही समेट कर इस भोक्ता को जानने की अभिलाषा करता है ॥२०४॥

आत्मा में सकल प्रेम समेट लेने का फल बताते हैं:—

स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु पामरः ।
अप्रमत्तो यथा तद्वन्न प्रमाद्यति भोक्तरि ॥२०५

अन्वय—पामरः स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु यथा अप्रमत्तः, तद्वत् भोक्तरि न प्रमाद्यति ।

अर्थ—जैसे पामर (अविवेकी) माला, चन्दन, पत्नी, वस्त्र और सुवर्ण आदि भोग्य पदार्थों की उपेक्षा नहीं करता, इनके अर्जनरक्षणादि में सदा सावधान रहता है ऐसे ही (मुमुक्षु) भोक्ता, आत्मा के प्रति कभी प्रमाद नहीं करता, उसका सदा चिन्तन रहता है ॥२०५॥

आत्मा के प्रति प्रमाद के अभाव को अनेक दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हैं—

काव्यनाटकतर्कादिमभ्यस्यति निरन्तरम् ।
विजिगीषुर्यथा तद्वन्मुमुक्षुः स्वं विचारयेत् ॥२०६
जपयागोपासनादि कुरुते श्रद्धया यथा ।

स्वर्गादिवाञ्छया तद्वच्छ्रद्दध्यात्स्वे मुमुक्षया ॥

चित्तैकाग्र्यं यथा योगी महायासेन साधयेत् ।

अणिमादिप्रेप्सयैवं विविच्यात्स्वं मुमुक्षया ॥

अन्वय—यथा विजिगीषुः निरन्तर काव्यनाटकतर्कादिक अभ्यस्यति, तद्वत् मुमुक्षुः स्व विचारयेत् ॥ तथा स्वर्गादिवाञ्छया जपयागोपासनादि श्रद्धया कुरुते तद्वत् मुमुक्षु स्वे श्रद्दध्यात् ॥ योगी अणिमादिप्रेप्सया महायासेन चित्तैकाग्रच साधयेत् एव मुमुक्षुया स्व विविच्यात् ।

अर्थ—जैसे शास्त्रार्थ मे प्रतिवादी को जीतना चाहने वाला, निरन्तर काव्य, नाटक न्याय शास्त्र आदि का अभ्यास करता रहता है, इसी प्रकार मुमुक्षु भी सदा अपनी आत्मा का विचार करे। जैसे स्वर्ग आदि की कामना वाला, जप-यज्ञ-उपासना आदि को श्रद्धा से करता है वैसे ही मुक्ति की इच्छा से अपने, श्रुति-प्रतिपादित आत्मा में विश्वास करे, विश्वास से आत्मा का विचार करे। योगी, अणिमा आदि सिद्धियो की इच्छा से, बड़े परिश्रम से चित्त की एकाग्रता को सिद्ध करता है वैसे ही मोक्ष की इच्छा से अपने आत्मा को देहादि से पृथक् करने जाने ॥२०६-२०७-२०८॥

अभ्यास से विवेक खूब मँज जाता है:—

कौशलानि विवर्धन्ते तेषामभ्यासपाटवात् ।

यथा तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद्विशदायते ॥

अन्वय—यथा तेषा अभ्यासपाटवात् कौशलानि विवर्धन्ते तद्वत् अस्य अपि अभ्यासात् विवेक विशदायते ।

अर्थ—जैसे उन शास्त्राभ्यासी, सकामी और योगी पुरुषों की, अभ्यास की दृढता से अपने-अपने विषय मे कुशलता बढ जाती

है, ऐसे ही, अभ्यास से मुमुक्षु का, देहादि से आत्मा का भेद ज्ञानरूप विवेक खूब मंज जाता है ॥२०९॥

विवेक के मंजने का क्या फल होता है ?

विविञ्चता भोक्तृतत्त्वं जाग्रदादिष्वसङ्गता ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते ॥

अन्वय.—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भोक्तृतत्त्वं विविञ्चता जाग्रदादिषु साक्षिणि असङ्गता अध्यवसीयते ।

अर्थ—पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेक से भोक्ता के पारमार्थिक-स्वरूप तत्त्व का विवेचन करने वाले अर्थात् जड़पदार्थों से भोक्ता को पृथक् निश्चय कर लेने वाले मुमुक्षु को जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में साक्षी (कूटस्थ) की असंगता का निश्चय हो जाता है ॥२१०॥

साक्षी की असङ्गता के साधक अन्वय व्यतिरेकों को स्पष्ट करते हैं.—

यत्र यद्दृश्यते द्रष्ट्रा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
तत्रैव तन्नेतरत्रेत्यनुभूतिर्हि संमता ॥२११

अन्वय—जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु यत्र यत् द्रष्ट्रा दृश्यते, तत् तत्र एव, इतरत्र न, इति अनुभूतिः संमता हि ।

अर्थ—जाग्रत् आदि अवस्थाओं में से जिसमें जो स्थूल-सूक्ष्म और आनन्दरूप त्रिविध भोग्य साक्षी को अनुभव होता है वह दृश्य (भोग्य) उस ही एक अवस्था में रहता है दूसरी अवस्था में वह दृश्य दिखाई नहीं पड़ता, (पर इन तीनों में अनुगत इनका द्रष्टा सबसे पृथक् रहता है ।) यह अनुभव सर्व-सम्मत अनुभव है ॥२११॥

साक्षी की असङ्गता में श्रुतिप्रमाण उपस्थित करते हैं :—

स यत्तत्रेक्षते किञ्चित्तेनानन्वागतो भवेत् ।

दृष्ट्वैव पुण्यं पापं चेत्येवं श्रुतिषु डिण्डिमः ॥

अन्वय—स तत्र यत् किंचित् ईक्षते तेन अनन्वागन भवेत्। पुण्य पाप दृष्ट्वा एव, इति एव श्रुतिषु डिंडिम।

अर्थ "वह आत्मा उस अवस्था मे जिस भोग्य को देखता है उसके साथ अनुगत नही होता"—उससे सम्बद्ध नही होता अपितु उन दृश्यो को उसी अवस्था मे छोडकर अकेला ही दूसरी अवस्था मे पहुँच जाता है" "पुण्य अर्थात् पुण्य के फल सुख को या पाप के फल दुख को केवल देखकर ही साथ में लिये विना चला जाता है" श्रुति मे यह वात डके की चोट से कही गई है ॥२१२॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥११३

अन्वय—यत् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपच प्रकाशते, 'तत् ब्रह्म अह' इति ज्ञात्वा सर्वबन्ध प्रमुच्यते।

अर्थ—जो सत्यज्ञानानन्दरूप ब्रह्म, साक्षिरूप से स्थित हुआ, जाग्रदादि रूप जगत् को प्रकाशित करता है, वह ब्रह्म मैं हूँ, चिदाभासादि रूप मैं नही हू—ऐसा निश्चय श्रुति और अनुभव से करके प्रमाता-कर्त्ता-भोक्ता आदि समस्त बन्धनो से पूरी तरह छूट जाता है ॥२१३॥

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥११४

अन्वय—जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु एक एव आत्मा मन्तव्य। स्थानत्रयव्यतीतस्य पुन. जन्म न विद्यते।

अर्थ—जाग्रत् आदि तीनो अवस्थाओ मे एक ही आत्मा मानना चाहिये इस प्रकार विवेक-ज्ञान से आत्मा को तीनो

अवस्थाओं से विविक्त पहचान लेने वाले आत्मा का इस देह को छूटने पर दूसरा जन्म (शरीरान्त प्राप्ति) नहीं होता ।।११४।।

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ।

अन्वय—त्रिषु धामसु यत् भोग्य यत् भोक्ता च भोग. भवेत्, तेभ्यः विलक्षण. चिन्मात्र. साक्षी सदाशिव. अहम् ।

अर्थ—जाग्रत् आदि तीनो धामो में जो स्थल-सूक्ष्म-आनन्द रूप तीन प्रकार का भोग्य है और जो विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ नाम के भोक्ता हैं और इनमें जो नाना भोग होते हैं–उन धाम आदि सबसे *विलक्षण जो एक चिन्मात्र सदा कल्याणस्वरूप* अथवा निरतिशय आनन्दरूप होने से सर्वदा शोभायमान साक्षी परमात्मा है, वही मैं हूँ ।।२१५।।

इस प्रकार विवेक द्वारा आत्मतत्व असङ्ग है ऐसा तो निश्चय हो गया–फिर भोक्ता कौन है ?

एवं विवेचिते तत्त्वे विज्ञानमयशब्दितः ।
चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्य शिष्यते ।।

अवन्य-एव तत्वे विवेचिते विज्ञानमयशब्दितः विकारी यः चिदाभासः तस्य भोक्तृत्व शिष्यते ।

अर्थ—इस प्रकार आत्मतत्व की विवेचना करके जब आत्मा को असङ्ग जान लिया जाता है तब विज्ञानमय कहाने वाला और विकारी चिदाभास ही भोक्ता रह जाता है ।।२१६।।

यदि कहो कि 'कस्य कामाय' की व्याख्या करते हुए पहले (१६२वें श्लोक में) जो यह कह आये हैं कि उक्त वचन भोक्ता के अभाव को बताता है सो अब चिदाभास को भोक्ता कैसे कहा ? इसका उत्तर देते हुए बताते हैं कि वह वचन तो पारमार्थिक भोक्ता के अभाव को कहता

है—भोक्ता चिदाभास तो मिथ्या ही है—

मायिकोऽयं चिदाभासः श्रुतेरनुभवादपि ।
इन्द्रजालं जगत्प्रोक्तं तदन्तः पात्ययं यतः ॥२१७

अन्वय—अय चिदाभासः मायिक. श्रुते. अनुभवात् अपि । यतः जगत् इन्द्रजाल प्रोक्त तदन्त पाती अयम् ।

अर्थ–यह चिदाभास मिथ्या है, "जीवेशावाभासेन करोति" इस श्रुति से और द्रष्टा-दर्शन-दृश्यो मे से एक रूप मे अनुभव होने से भी । क्यो कि जगत् को विद्वान् इन्द्रजाल अर्थात् मिथ्या मानते है और चिदाभास उसके अन्तर्गत है । इसलिये भी यह चिदाभास मिथ्या है ॥२१७॥

विलयोऽप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा ह्यनुभूयते ।
एतादृशं स्वस्वभावं विविक्ति पुनः पुनः ॥२१८

अन्वय—हि अस्य विलय. अपि सुप्त्यादौ साक्षिणा अनुभूयते, स्व-स्वभाव एतादृश पुन पुन विविनक्ति ।

अर्थ—क्योकि इस चिदाभास का विनाश भी सुषुप्ति-मूर्छा आदि मे साक्षी द्वारा अनुभूत होता है, इसलिए भी यह चिदाभास मिथ्या है । जब यह मिथ्या ज्ञात हो जाता है तब यह अपने मिथ्यात्व स्वभाव का वार-वार विवेक करने लगता है ॥२१८॥

विविच्य नाशं निश्चित्य पुनर्भोगं न वाञ्छति ।
मुमुर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवाञ्छति ।

अन्वय–विविच्य नाश निश्चित्य पुन· भोग न वाञ्छति, मुमूर्षुः भूमौ शायित· क. विवाह अभिवाञ्छति ।

अर्थ—विवेचन करते-करते अपने नाश का निश्चय हो जाने पर फिर वह भोगो की इच्छा करना छोड़ देता है । जिस मुमूर्षु

को खाट से उतार कर भूमि पर सुला दिया गया हो भला वह विवाह कब चाहता है ॥२१६॥

जिह्रेति व्यवहर्तुं च भोक्ताहऽमिति पूर्ववत् ।
छिन्ननास इव ह्रीतः क्लिश्यन्नारब्धमश्नुते ॥

अन्वय—च पूर्ववत् अहं भोक्ता इति व्यवहर्तुं जिह्रेति, छिन्ननास. इव ह्रीतः क्लिश्यन् प्रारब्ध अश्नुते ।

अर्थ – फिर पहले की भांति "मैं भोक्ता हूँ"–इस व्यवहार में भी उसे लज्जा होती है । (ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् प्रारब्ध की समाप्ति पर्यन्त) वह नकटे की भांति लज्जित हो, अभी तक मेरा कर्म नष्ट न हुआ इस बात मे दुःख मानता हुआ, प्रारब्ध के कर्म के फल का भोग करता है ॥२२० ।

यदा स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं जिह्रेत्ययं तदा ।
साक्षिण्यारोपयेदेतदिति कैव कथा वृथा ॥२१

अन्वय—यदा अयं स्वस्य अपि भोक्तृत्वं मन्तुं जिह्रेति तदा एतत् साक्षिणि आरोपयेत् इति वृथा कथा का इव ।

अर्थ—'जब यह ज्ञानी चिदाभास अपने आपको भोक्ता मानने मे ही लजाने लगता है तब अपने भोक्तापन को भी साक्षी पर लादने लगेगा' ! ऐसी व्यर्थ (अर्थशून्य) कथा (शङ्का) नही करनी चाहिये ॥२२१॥

इसीलिए श्रुति मे भी कहा है—

इत्यभिप्रेत्य भोक्तारमाक्षिपत्यविशङ्कया ।
कस्य कामकायेति ततः शरीरानुज्वरो न हि ॥२२२

अन्वय—इति अभिप्रेत्य 'कस्य कामाय इति' भोक्तार अविशंकया आक्षिपति । ततः शरीर नुज्वर. नहि ।

अर्थ—'कूटस्थ या चिदाभास में से कोई भी पारमार्थिक भोक्ता नही है' इसी अभिप्राय से ही तो 'कस्य कामाय' इस श्रुति से, भोक्ता का, निःशङ्कभाव से निराकरण किया है। इसी कारण तत्व-ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी को शरीर कष्ट नही होता ॥२२२॥

शरीर और शरीर ज्वर

स्थलं सूक्ष्म कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतम् ।
अवश्यं त्रिविधोऽस्त्येव तत्र तत्रोचितो ज्वरः ॥

अन्वय—स्थूल सूक्ष्म च कारण त्रिविध शरीर स्मृत, तत्र तत्र उचितः त्रिविध. ज्वर अवश्यम्।

अर्थ—स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीन प्रकार का शरीर है: उस शरीर मे उचित तीन प्रकार का सन्ताप अवश्य हुआ करता है।

स्थूल शरीर के ज्वर

वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधयः कोटिशस्तनौ ।
दुर्गन्धित्वकुरूपत्वदाहभङ्गादयस्तथा ॥२२४

अन्वय-तनौ कोटिश. वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधय' तथा दुर्गन्धित्व-कुरूपत्वदाहभगादयः।

अर्थ—स्थूल शरीर में (होने वाले) वात-पित्त और कफ से उत्पन्न होने वाले करोडों रोग और दुर्गन्ध, कुरूपता, जलन, चोट आदि अनेक ज्वर (उपद्रव) स्थूल शरीर के ज्वर हैं ॥२२४॥

सूक्ष्म शरीर के ज्वर

कामक्रोधादयः शान्तिदान्त्याद्याः लिङ्गदेहगाः ।
ज्वरा द्वयेपि बाधन्ते प्राप्त्याप्राप्त्या नरं क्रमात् ॥

अन्वय–कामक्रोधादय. शान्तिदान्त्याद्याः लिंगदेहगा. द्वये अपि ज्वर क्रमात् प्राप्त्या अप्राप्त्या अप्राप्त्या नर बाधते ।

अर्थ काम-क्रोध आदि और शम-दम आदि सूक्ष्म शरीर गत ज्वर हैं। ये दो भान्ति के ज्वर क्रमशः प्राप्त होने और न होने से मनुष्य को दु खी करते हैं❀ ॥२२५॥

कारणशरीरगत ज्वर का छान्दोग्य श्रुति में वर्णन

स्वं परं च न वेत्त्यात्मा विनष्ट इव कारणे ।
आगामिदुःखबीजं चेत्येतदिन्द्रेण दर्शितम् ॥

अन्वय–कारणे आत्मा स्वं च पर न वेत्ति च विनष्ट. इव च आगामिदु खबीज इन्द्रेण दर्शितम् ।

अर्थ–कारण शरीर में (पहुँचने पर) आत्मा अपने आपको और दूसरे को नही जानता, वह (अज्ञान से) विनष्ट हुआ–सा हो जाता है और यह अवस्था आगामी दु खो का कारण भी होती है। इन्द्र शिष्य ने प्रजापति गुरु को यही बतलाया था : यही कारणशरीर का ज्वर है। यह वर्णन छान्दोग्य ८-११-२ मे आया है ।

❀अज्ञानी पुरुष को, काम-क्रोधादि शरीर में रहते जैसे तंग करते हैं वैसे ही 'मुझे सज्जन पुरुष की न्याई शान्ति प्राप्ति नहीं हुई' आदि रूप मे शम-दम आदि भी उसे सन्तप्त करते हैं। इसलिए दोनो को समान रूप से ज्वर कहा है। ज्ञानी पुरुष तो गीता के अनुसार गुणातीत है इसीलिए सात्विक आदि वृत्तियो की अनात्मता को भली भान्ति समझता है अतएव प्रकाश (सत्वगुण का कार्य), प्रवृत्ति (रजोगुण का कार्य) और मोह (तमोगुण का कार्य) में से किसी से न डरता है न उन्हें चाहता ही है, अतएव उसे देहज्वर नही सताते।

ये त्रिविध ज्वर अपरिहार्य हैं:—

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः ।
वियोगे तु ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते ॥२२७

अन्वय–त्रिषु शरीरेषु एते ज्वराः स्वाभाविकः मता.। ज्वरै. वियोगे तु तानि शरीराणि न आसते एव ।

अर्थ–तीनो शरीरो में ये ज्वर स्वभाव से रहते हैं, क्योकि ज्वरो से इन शरीरो का वियोग होने पर ये शरीर ही नही रहते। शरीरो के साथ उत्पन्न होने से और इनके वियोग से शरीरो के न रहने के कारण ज्वर शरीरो में स्वाभाविक है–यह मानना पडता है ॥२२७॥

तन्तोर्वियुज्येत पटो बालेभ्यः कम्बलो यथा ।
मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योपीति दृश्यताम् ॥

अन्वय—यथा तन्तो. पट वियुज्येत, बालेभ्य. कम्बल., मृदः घटः तथा ज्वरेभ्य देह. अपि इति दृश्यताम् ।

अर्थ–जैसे तन्तुओ से वियुक्त होने पर वस्त्र, वालो से वियुक्त होने पर कम्वल और मिट्टी से वियुक्त होने पर घडा नही रहता वैसे ही ज्वरो से वियुक्त होने पर देह भी नही रहते यह स्पष्ट है ॥१२८॥

चिदाभास मे ज्वर का अभाव

चिदाभासे स्वतः कोपि ज्वरो नास्ति यतश्चितः ।
प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं न चेतरत् ॥२२९

अन्वय---चिदाभासे स्वत. क' अपि ज्वर न अस्ति, यतः चित. प्रकाशैकस्वभावत्व एव दृष्ट च इतरत् न ।

अर्थ—चिदाभास मे स्वत (तीनो शरीरो) से विद्यमान

सम्वन्ध के विना कोई ज्वर नहीं होता, क्योंकि चित् को तो एक मात्र प्रकाश स्वभाव वाला ही विद्वानो ने अनुभव किया है ॥२२९॥

चिदाभासेऽप्यसंभाव्या ज्वराः साक्षिणि का कथा ।
एवमप्येकतां मेने चिदाभासो ह्यविद्यया ॥२३०

अन्वय—चिदाभासे अपि ज्वराः असंभाव्याः, साक्षिणि का कथा ? एवं अपि चिदाभास. हि अविद्यया एकता मेने ।

अर्थ—और जव चिदाभास मे ही ज्वरो का होना असम्भव है तव में साक्षी ज्वरो की होने की तो वात ही क्या है ? परन्तु ऐसा होने पर भी चिदाभास अपनी अविद्या के कारण उन शरीरो से अपनी एकता को मान लेता है और इस प्रकार शरीरों के ज्वरो से अपने आप को सन्तप्त मान बैठता है ॥२३०॥

साक्षिसत्यत्वमध्यस्य स्वेनोपेते वपुस्त्रये ।
तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य स्वरूपमिति मन्यते ॥

अन्वय–स्वेन उपेते वपुस्त्रये साक्षिसत्यत्वं अध्यस्य तत् सर्वं स्वस्य वास्तव इति मन्यते ।

अर्थ—चिदाभास अपने सहित तीनो शरीरो में साक्षिगत सत्यता का अभ्यास करके उन ज्वर सहित तीनो शरीरो को अपना वास्तविक रूप समझ बैठता है ॥२३१॥

एतस्मिन्भ्रान्तिकालेऽयं शरीरेषु ज्वरत्स्वथ ।
स्वयमेव ज्वरामीति मन्यते हि कुटुम्बिवत् ॥

अन्वय—अथ एतस्मिन् भ्रान्तिकाले शरीरेषु ज्वरत्सु अय स्वयं एव ज्वरामि इति हि मन्यते । कुटुम्बिवत् ।

अर्थ—यह चिदाभास इस भ्रान्तिकाल मे जव शरीरों को सन्ताप होता है तव उस ज्वर को अपने आप में आरोपित कर

'मैं ही सन्तप्त हो रहा हूँ'–ऐसा समझता रहता है। जैसे पत्रादि के दुःख से कुटुम्बी दुःखी होने लगते हैं ॥२३२॥

पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामीति वृथा यथा।
मन्यते पुरुषस्तद्वदाभासोऽप्यभिमन्यते ॥२३३

अन्वय–यथा पुरुष पुत्रदारेषु तप्यत्सु 'तपामि' इति वृथा मन्यते, तद्वत् आभास अभिमन्यते।

अर्थ––जैसे गृहस्थ मनुष्य पुत्र स्त्री आदि के दुःखी होने पर 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा व्यर्थ मे ही मानने लगता है, ऐसे ही चिदाभास भी व्यर्थ ही, मैं दुःखी हू ऐसा समझने लगता है ॥२३३॥

विविच्य भ्रान्तिमुज्झित्वा स्वमप्यगणयन् सदा।
चिन्तयन्साक्षिणं कस्माच्छरीरमनुसंज्वरेत् ॥२३४

अन्वय—विविच्य, भ्रान्ति उज्झित्वा, स्व अपि अगणयन्, सदा साक्षिण चिन्तयन्, कस्मात् शरीर अनुसज्वरेत् ?

अर्थ—चिदाभास, कूटस्थ, अपने और शरीरो के भेदो को जानकर, 'यह सब मैं ही हूँ' इस भ्रान्ति को छोडकर तथा अपने को आभास रूप जानने से अपने आप को कुछ न गिनता हुआ, सदा साक्षी का ही विचार करता हुआ इस ज्वर वाले शरीर के पीछे क्यो दुःखी होता फिरेगा ? इस स्थिति मे वह फिर दुःखी नही होता ॥२३४॥

भ्रान्तिज्ञान और तत्वज्ञान, ज्वर और ज्वराभाव के कारण हैं :–

अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने।
रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ॥२३५

अन्वय—अयथार्थवस्तुसर्पादिज्ञान पलायने हेतुः, रज्जुज्ञाने अहिधीध्वस्तौ कृत अपि अनुशोचति।

अर्थ—अयथार्थ वस्तु, रज्जु आदि मे कल्पित सर्प आदि (स्थाणु में कल्पित चोर) का ज्ञान पलायन का कारण होता है, अर्थात् यहा रज्जु में सर्प आदि भ्रान्ति ज्ञान मे पलायन रूप दु ख का कारण हुआ है। परन्तु रज्जु के ज्ञान होने पर, सर्प आदि की बुद्धि हट जाने पर, अपने किये पलायन आदि पर भी पश्चात्ताप करता है। अर्थात् तत्वज्ञान के पश्चात् दु.ख तो होता ही नहीं, पिछले किये दु.ख का पश्चात्ताप भी होने लगता है ॥२३५॥

'साक्षी का सदा चिन्तन करे' इस उक्ति को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं :—

मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये ।
क्षमापयन्निवात्मानं साक्षिणं शरणं गतः ॥

अन्वय—मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तत्वसिद्धये साक्षिण आत्मानं क्षमापयन् इव शरण गत. ।

अर्थ—लोक मे जैसे कोई झूठा दोष लगाने वाला उस दोष के प्रायश्चित रूप मे अभियुक्त से वार-वार क्षमा मांगता है वैसे ही यह चिदाभास, साक्षी आत्मा पर लगाये भोक्तृत्वादि मिथ्या अभियोग के प्रायश्चित्त करने के लिये साक्षी आत्मा की शरण मे पहुँचता है—अर्थात् मैं सच्चिदानन्द हूँ ऐसे कहने लगता है ॥२३६॥

'साक्षिपरायणता' को एक दूसरे दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं:—

आवृत्तपापनुत्यर्थं स्नानाद्यावर्त्यते यथा ।
आवर्तयन्निव ध्यानं सदा साक्षिपरायणः ॥

अन्वय—यथा आवृत्तपापनुत्यर्थं स्नानादि आवर्त्यते, ध्यानं आवर्त्त-यन् इव सदा साक्षिपरायण: ।

अर्थ—जैसे बार-बार पाप करने वाला पुरुष बार-बार स्नानादि रूप प्रायश्चित्त करता है वैसे ही यह चिदाभास भी देर तक किये साक्षी मे ससारीपन आदि के आरोपण के अपराध का प्रायश्चित्त करने के लिए, बार-बार ध्यान करता हुआ-सा, सदा साक्षिपरायण रहने लगता है ।।२४७।।

अब, अपने कर्तृत्व आदि मे उसकी अपनी लज्जा को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं –

उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते ।
जनतोऽग्रे तथाभासः स्वप्रख्यातौ विलज्जते ।।

अन्वय–उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते तथा आभास. जानत अग्रे स्वप्रख्यातौ विलज्जते ।

अर्थ–जैसे गुप्तांग मे कोढ रोग वाली वेश्या विलास मे लज्जा मानती है, वैसे ही चिदाभास ज्ञानी के सन्मुख अपनी ख्याति को रोकता हुआ लजाता है—वह अपने आपको 'मैं' कहने में लज्जा अनुभव करता है ।।२३८।।

तीनो शरीरो में पृथक् जाने हुए चिदाभास को, पुन उनके तादात्म्य की भ्रान्ति नही होती–इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं :—

गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन्पुनः ।
म्लेच्छैः संकीर्यते नैव तथा भासः शरीरकैः ।।

अन्वय.—म्लेच्छै गृहीत ब्राह्मण प्रायश्चित्त चरन् म्लेच्छै न एव सकीर्यते, तथा आभास. शरीरकै ।

अर्थ—जैसे म्लेच्छो से पकडा हुआ ब्राह्मण प्रायश्चित्त करने के पश्चात् म्लेच्छो मे नही मिलता, वैसे ही चिदाभास उक्त प्रायश्चित्त करने के पश्चात फिर से शरीरो के साथ तादात्म्याभास या सकरता को प्राप्त नही होता ।।२२६।।

चिदाभास केवल प्रायश्चित के लिए ही नहीं अपितु, एक महान् प्रयोजन के लिए भी साक्षी की शरण में जाता है : इसको दृष्टान्त से समझाते हैं :—

यौवराज्ये स्थितो राजपुत्रः साम्राज्यवाञ्छया ।
राजानुकारी भवति तथा साक्ष्यनुकर्य्ययम् ॥

अन्वय—यौवराज्ये स्थित राजपुत्रः साम्राज्यवांछया राजानुकारी भवति, तथा अय साक्ष्यनुकारी ।

अर्थ—जैसे युवराज बनाया हुआ राजपुत्र साम्राज्य पाने की इच्छा से राजा का अनुकरण किया करता है, वैसे ही यह चिदाभास ब्रह्म भावरूप आत्म साम्राज्य की इच्छा से सदा साक्षी का अनुसरण करने लगता है ॥२४०॥

साक्षी का अनुकरण करने के फल को श्रुति से प्रतिपादित करते हैं :—

यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येव इति श्रुतिः ।
श्रुत्वा तदेकचित्तः सन् ब्रह्म वेत्ति न चेतरत् ॥

अन्वय—'य' ब्रह्म वेदब्रह्म एव भवति, इति श्रुतिः श्रुत्वा तदेकचित्त. सन् ब्रह्म वेत्ति च इतरत् न ।

अर्थ—'जो ब्रह्म को जानता है वह निश्चय से ब्रह्म ही हो जाता है' इस अभिप्राय की श्रुति को सुनकर, उस ब्रह्म में एकनिष्ठ हो कर उस ब्रह्म को ही जानता है अन्य को नहीं । अर्थात् साक्षी के अनुसरण का फल ब्रह्मज्ञान है ।

'स यो ह वै एतत् परम ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति । नास्याब्रह्मवित् कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति' इस श्लोक में उद्धृत यह श्रुति ब्रह्मभावादि को साक्ष्यनुसरण का फल बता रही है ॥२४१॥

परन्तु चिदाभास ब्रह्म हो जाने से अपना विनाश क्यो चाहेगा ?

देवत्वकामा ह्यग्न्यादौ प्रविशन्ति यथा तथा ।
साक्षित्वेनावशेषाय स्वविनाशं स वाञ्छति ॥

अन्वय—यथा देवत्वकामा हि अग्न्यादौ प्रविशन्ति, तथा साक्षित्वेन अवशेषाय स. स्वविनाश वाछति ।

अर्थ—जैसे लोक मे देवत्व की चाह से लोग अग्निप्रवेश आदि काम कर जाते हैं, इसी प्रकार साक्षी रूप में स्थित रूप महान् फल की प्राप्ति के लिए, चिदाभास अपने विनाश तक को भी चाहने लगता है* ॥२४२॥

जब तत्त्वज्ञान से आभासत्व दूर हो गया तो फिर तत्त्वज्ञानी को जीव कैसे कहेगे ?

यावत्स्वदेहदाहं स नरत्वं नैव मुञ्चति ।
यावदारब्धदेह स्यान्नाभासत्वविमोचनम् ॥२४३

अन्वय—यावत् स्वदेहदाह स नरत्व न एव मुचति, यावदारब्ध.-देह स्यात् तावत् आभासत्वविमोचन न ।

अर्थ—जैसे अग्नि आदि मे प्रविष्ट मनुष्य, अपने देह के

---

* (शङ्का) देवभाव को चाहने वाले पुरुष अग्नि आदि मे प्रविष्ट हो स्थूल देह का विनाश ही करना चाहते हैं, वे अपने जीवत्व का तो नाश नही चाहते इसलिए उनकी तो देवभाव की प्राप्ति सम्भव है, परन्तु चिदाभास जब अपने विनाश को चाहता है तो फिर उसके नष्ट हो जाने पर ब्रह्म प्राप्ति किसको होगी ?

(समाधान) यहा कूटस्थ विशिष्ट बुद्धि मे पडे प्रतिविम्बरूप चिदाभास को ही जीव कहा है, उसको ही बन्ध मोक्ष का अधिकार है, इसलिए ब्रह्मज्ञान द्वारा बुद्धिसहित चिदाभास और जीवत्व का विनाश हो जाने पर भी, अवशिष्ट कूटस्थ को ब्रह्मभाव की प्राप्ति सम्भव है ।

विनाश हो जाने तक, मनुष्य ही कहलाता है, ऐसे ही जब तक प्रारब्ध कर्म का देह है, प्रारब्ध कर्म का क्षय नहीं होता, तब तक उसे चिदाभास कहा ही जाता है ।।२४४।।

जब भोक्ता आदि रूप भ्रमोत्पादक अज्ञान निवृत्त हो जाता है तब पुन. भोग क्यों कर प्राप्त होते हैं और फिर से 'मैं मर्त्य हूँ' यह विपरीत प्रतीति कैसे होने लगती है ? इसका समाधान दृष्टान्त से करते हैं :—

रज्जुज्ञानेऽपि कम्पादिः शनैरेवोपशाम्यति ।
पुनर्मन्दान्धकारे सा रज्जुः क्षिप्तोरगोभवेत् ।।

अन्वय—रज्जुज्ञाने अपि कपादि शनै एव उपशाम्यति, पुन. मन्दान्धिकारे क्षिप्ता सा रज्जु उरगीभवेत् ।

अर्थ—जैसे रज्जु का ज्ञान हो जाने पर भी सर्पभय से उत्पन्न कपकपी आदि कुछ समय पश्चात् ही हटते हैं : और कम अन्धेरे में फेंकी हुई वह रस्सी फिर भी साप लगने लग सकती है.—

एवमारब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति नो हठात् ।
भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते ।।

अन्वय—एव आरब्धभोगः अपि शनै शाम्यति, हठात् न, भोगकाले कदाचित् तु 'अहं मर्त्य.' इति भासते ।

अर्थ—ऐसे ही प्रारब्धभोग भी धीरे-धीरे निवृत्त होता है, वह जबर्दस्ती नहीं हटता । भोगकाल मे कभी-कभी 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसी प्रतीति होने लगती है । यह प्रतीति ज्ञान होते ही नष्ट नहीं हो जाती ।।२४५।।

तो क्या मैं मनुष्य हूँ' इस प्रतीति के समय उसका तत्त्वज्ञान नष्ट हो जाता है ?

नैतावताऽपराधेन तत्त्वज्ञानं विनश्यति ।
जीवन्मुक्तिव्रतं नेदं किंतु वस्तुस्थितिः खलु ।।

अन्वय—एतावता अपराधेन तत्वज्ञान न विनश्यति । इद जीवन्मुक्तिव्रत न, किन्तु वस्तु स्थिति. खलु ।

अर्थ—'मै मनुष्य हूँ' इस प्रतीतिरूप छोटे से अपराध से आगमप्रमाणित तत्त्वज्ञान नष्ट नही होता । क्योकि यह जीवन्मुक्ति का व्रत नही है, अपितु वस्तु स्थिति है । मर्त्यबुद्धि को हटा देना, नियम से अनुष्ठेय जीवन्मुक्ति व्रत नही है किन्तु सम्यक् ज्ञान से भ्रान्तिज्ञान की निवृत्ति मात्र है । यदि विपरीत भावना कभी आयेगी भी तो उसे तत्वज्ञान दूर कर देगा* ।।२४६।।

---

*जैसे रज्जु के ज्ञान से सर्प भ्रान्ति का बोध होने पर भी, सर्वज्ञानजन्य कम्प आदि की विलम्ब से निवृत्ति होती है, वैसे ही प्रत्यक् अभिन्न अधिष्ठान ब्रह्म के ज्ञान से अहंकारादि जगत् भ्रान्ति का बोध होने पर भी प्रारब्ध कर्म का भोग प्रारब्ध के अन्त मे ही निवृत्त होता है, किसी दूसरे साधन से निवृत्त नही होता है, तथाच मन्द अन्धकार मे फैकी रज्जु मे फिर सर्प की प्रतीति होने लगती है ऐसे ही भोगकाल मे कभी-कभी 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसी प्रतीत होने लगती है । इसको बाधितानुवृत्ति कहते हैं । यहा मिथ्यात्व निश्चय बाध और प्रपच बाधित है, उस बाधित का प्रारब्ध पर्यन्त स्थित रहना ही बाधितानुवृत्ति है ।

यद्यपि उपादान अज्ञान के हट जाने पर उसके कार्य, प्रपञ्च की स्थिति अयुक्त है तथापि जैसे व्याघ्र समझ कर, गाय पर फैके बाण का वेग, पीछे गाय को पहचान लेने और पश्चात्ताप से धनुष समेत शेष बाणो को नष्ट कर देने पर भी शान्त नही होता, वह जहा तक जा सकता है वहा जाकर ही रुकता है, ऐसे ही अज्ञान और क्रियमाण तथा

दशमोऽपि शिरस्ताडं रुदन्बुध्वा न रोदिति ।
शिरोव्रणस्तु मासेन शनैः शाम्यति नो तदा ।।

अन्वय—दशमः अपि शिरस्ताड रुदन् बुध्वा न रोदिति, शिरोव्रणं तु शनै मासेन शम्यति, तदा नो ।

अर्थ–दशम भी जो अब तक सिर धुनकर रो रहा था, 'तू दशम है' इस वाक्य से ज्ञान होते ही, तुरन्त रोना वन्द कर देता है, परन्तु सिर पीटने से सिर मे हुआ घाव तो महीनो मे जाकर अच्छा होता है, उसी समय अच्छा नही होता ।।२४७।।

तत्वज्ञान के पश्चात् भी यदि ससार की अनुवृत्ति होती है तब तो जीवन्मुक्ति के लिये पुरुषार्थ ही क्यो करे ? इसका समाधान दृष्टान्त देकर करते हैं :–

दशमामृतिलाभेन जातो हर्षो व्रणव्यथाम् ।
तिरोधत्ते मुक्तिलाभस्तथा प्रारब्धदुःखिताम् ।।

अन्वय—दशमामृतिलाभेन जात. हर्ष व्रणव्यथा तिरोधत्ते, तथा मुक्ति-लाभः प्रारब्धदु खिताम् ।

अर्थ––जैसे, दशम के न मरने के लाभ को सुनकर उत्पन्न हुआ हर्ष घाव की पीड़ा को भुला देता है, ऐसे ही जीवन्मुक्ति का लाभ भी प्रारब्ध से मिलने वाली दु ख की स्थिति को छिपा देता है । इसीलिए संसार की अनुवृत्ति चाहे हो तो भी जीवन्मुक्ति के लिये पुरुषार्थ करना लाभदायक तो है ही ।।२४८।।

जीवन्मुक्ति व्रत नही है, इसलिये –

व्रताभावाद्यदाऽभ्यासस्तदा भूयो विविच्यताम् ।

सचित कर्मों का ज्ञान से नाश कर देने पर भी मुक्त बाण रूप प्रारब्ध कर्म के वेगरूप कार्य की अनुवृत्ति होती है ।

रससेवी दिने भुङ्क्ते भूयो भूयो यथा तथा ।।

अन्वय–व्रताभावात् यदा अध्यास॰ तदा भूयः विविच्यता, यथा रससेवी दिने भूय. भूय. भुङ्क्ते तथा।

अर्थ—जीवन्मुक्ति कोई व्रत नही है (देखो श्लोक २४६) इस कारण जब अध्यास हो तभी फिर विवेक करे, जैसे पारा, हर्ताल, तावा आदि रसो का औषधि-रूप से सेवन करने वाला मनुष्य एक ही दिन मे, क्षुधा की पीड़ा को हटाने के लिए बार बार भोजन करता है, वैसे ही अध्यास की निवृत्ति के लिए ज्ञानी को वार वार देहादि से अपना भेद ज्ञान-रूप विवेक करना चाहिए* ।।२४६।।

'ज्ञान मे जो प्रारब्ध का कर्मफल नहीं हटता है, वह भोग से हटता है' दृष्टान्त से इसे समझाते हैं –

शमयत्यौषधेनायं दशमः स्वं व्रणं यथा ।
भोगेन शमयित्वैतत्प्रारब्धं मुच्यते तथा ।।२५०

अन्वय–यथा अय दशम. औषधेन स्व व्रण शमयति तथा भोगेन एतत् प्रारब्ध शमयित्वा मुच्यते ।

अर्थ—जिस प्रकार दशम पुरुष औषधि से अपने व्रण को अच्छा कर लेता है ऐसे ही भोग से प्रारब्ध को शान्त कर लेने पर ही मुक्त होना है× ।।२५०।।

---

* एकादशी का व्रत अन्नकण से भङ्ग हो जाता है परन्तु ऐसे ही जीवन्मुक्ति व्रत अध्यास से भङ्ग नही होता, हा ज्ञानी को अध्यासजन्य दुष्ट दु खरूप विक्षेप को हटाने के लिये बार-बार ब्रह्म का विचार करना चाहिये ।

× जैसे दशम-पुरुष का व्रत ताडन निमित्त से उत्पन्न होता है ऐसे ही प्रारब्ध निमित्त से उत्पन्न शरीर रूपी व्रण है, औषधिलेप के स्थान

किमिच्छन्निति वाक्योक्तः शोकमोक्ष उदीरितः ।
आभासस्य ह्यवस्थैवा षष्ठी तृप्तिस्तु सप्तमी ॥

अन्वय—'किम् इच्छन्' इति वाक्योक्तः शोकमोक्षः उदीरित. एषा आभासस्य षष्ठी अवस्था, हि तृप्ति तु सप्तमी ।

अर्थ—यहा तक 'किमिच्छन् कस्य कामाय' (बृ०४-४-१२) इस वाक्य मे वर्णित शोकमोक्ष अवस्था की व्याख्या की-यह चिदाभास की छठी अवस्था है, यह 'तृप्ति' सातवी अस्वथा है ॥२५१॥

अपरोक्षज्ञानजन्य तृप्ति की निरकुशता

साङ्कुशाःविषयैस्तृप्तिरियं तृप्तिर्निरंकुशा ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तृप्यति ॥२५२

अन्वय--विषयै. तृप्तिः साकुशा, इयं तृप्ति. निरकुशा, कृत कृत्य, प्रापणीयं प्राप्त इति एव तृप्यति ।

अर्थ—विपयो से मिलने वाली तृप्ति, दूसरे विपय की कामना से कु ठित होने के कारण, परिमित-तृप्ति है, परन्तु यह अपरोक्ष-ज्ञान-जन्य तृप्ति अपरिमित्त है। क्योकि 'जो कुछ करना था कर लिया, जो कुठ मुझे पाना था, पा लिया' यही तो इस तृप्ति का रूप है ॥२५२॥

इस तृप्ति के स्वरूप की व्याख्या करते हैं :–

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्धयै मुक्तेश्च सिद्धये ।
बहुकृत्यं पुराऽस्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ॥२५३

पर अन्न, प्रक्षालन के स्थान पर जल, पट्टी बाधने के रूप मे वस्त्र का योग है। इस प्रकार अन्न, जल, वस्त्र आदि द्वारा प्रारब्ध की निवृत्ति करते ही ज्ञानी विदेह मुक्त होता है ।

अन्वय—अस्य पुरा ऐहिकामुष्मिकव्रातसिध्यै च मुक्तेः सिद्धये बहु कृत्य अभूत्, तत्सर्वं अधुना कृतम् ।

अर्थ—इस ज्ञानी को, तत्वज्ञान होने से पहले, इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी भोगो की सिद्धि और मोक्ष सिद्धि के लिए बहुत से कर्तव्य करने थे वे सब अब ज्ञानोदय के पश्चात् किये हुए के समान ही हो गये। ज्ञानोदय से पहले वाछित की प्राप्ति, प्रतिकूल विषयो की निवृत्ति, खेती व्यापार आदि, स्वर्ग आदि के लिऐ यागोपासनादि तथा मोक्ष के साधनज्ञान की सिद्धि के लिए श्रवणादि कर्त्तव्य जो करने थे, वे सब ज्ञानोदय हो जाने पर सासारिकफलो की इच्छा न रहने के कारण तथा ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार हो जाने के कारण, किये से हो गये : अब कुछ करना शेष नही रहा।) ॥२५३॥

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥२५४

अन्वय—अय तत् एतत् कृतकृत्यत्व प्रतियोगिपुर.सरम अनुसंदधत् एव एव नित्यश तृप्यति ।

अर्थ—यह ज्ञानी इस अपनी ब्रह्मभावरूपी कृतकृत्यता को, कृतकृत्यताविरोधी बातो के साथ-साथ स्मरण करता हुआ, आगे कहे प्रकार से नित्य तृप्त होने लगता है ॥२५४॥

इस तृप्ति के प्रकार की विस्तार से व्याख्या करते हैं :—

दुःखिनोऽज्ञा संसरन्तु कामंपुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोहं संसरामि किमिच्छया ॥

अन्वय—दु खिन. अज्ञा. पुत्राद्यपेक्षया काम ससरन्तु परमानन्दपूर्णः अह किमिच्छया ससरामि ।

अर्थ—दु.खी अज्ञानी लोग, पुत्र आदि की अपेक्षा से सासा-

रिक व्यवहार मे चाहे फसे रहे, परन्तु परमानन्द से परिपूर्ण मैं भला किस इच्छा से सासारिक व्यवहार मे उलझा रहूँ ?

अनुतिष्ठन्ते कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥

अन्वय—परलोकयियासव कर्माणि अनुतिष्ठन्तु, सर्वलोकात्मकः कस्मात् कि कथ अनुतिष्ठामि ।

अर्थ—परलोक जाने की इच्छा वाले पुरुष भले ही यज्ञादि शुभ-कर्म करे, परन्तु सर्वलोक बना हुआ मैं भला उन कर्मो को क्यो करूं ? कैसे करूं ?

परार्थ के लिये भी ज्ञानी की प्रवृत्ति सम्भव नही है, यह बताते हैं :—

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥

अन्वय—ये तत्र अधिकारिण. ते शास्त्राणि व्याचक्षता वा वेदान् अध्यापयन्तु, मे तु अक्रियत्वतः अधिकार. न ।

अर्थ—जो आचार्य परार्थ के अधिकारी हैं वे भले ही शास्त्रों की व्याख्या करे या वेद पढावें, मैं तो अब 'अक्रिय' हूँ, इस कारण मेरा इन कामों मे अधिकार ही नही है ॥२५७॥

यदि "अक्रिय" हो तो फिर भिक्षाऽऽहरण आदि कार्य कैसे होते हैं ? :—

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥

अन्वय—निद्राभिक्षे स्नानशोचे न इच्छामि च न करोमि, द्रष्टारः कल्पयन्ति चेत् ? अन्यकल्पनात् मे कि स्यात् ?

अर्थ—निद्रा, भिक्षा, स्नान और शौच आदि कर्मों को मैं चिदाभास न तो चाहता ही हूँ, न करता ही हूँ, यदि देखने वाले कल्पना से इनको मेरे काम मानते है तो मानें, उनके मानने से मेरा क्या बने या बिगडेगा ? ॥२५८॥

गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥१५६

अन्वय—गु जापु जादि अन्यारोपित वह्निना न दह्येत, एव अन्यारोपितससारधर्मान् अह न भजे।

अर्थ—जैसे लाल होने से अग्नि सदृश रत्ती आदि, वानरादि अन्यो से अग्नि समझी हुई भी, दाह उत्पन्न नही करती, ऐसे ही दूसरो से आरोपित सासारिक धर्मों को मैं नही अपनाता।

ज्ञानी को तो श्रवणादि भी कर्त्तव्य नही है —

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम्।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येहमसंशयः ॥२६०

अन्वय —अज्ञाततत्वा ते शृण्वन्तु अह जानन् कस्मात् शृणोमि ? सशयापन्ना. मन्यता अह असशय न मन्ये।

अर्थ—तत्व के अज्ञानी मुमुक्षु भले ही श्रवण करें, मै ज्ञानी श्रवणादि क्यो करू ? तत्व के स्वरूप के प्रति संशयालु भले ही मनन करें, मैं तो सशय-रहित हूँ। इसलिए मनन नही करता।

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्ययात्।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥२६१

अन्वय--विपर्यस्तः निदिध्यासेत्, अह देहात्मत्वविपर्यासं कदाचित् न भजामि, अविपर्ययात् किं ध्यानम् ?

अर्थ—जिसको विपरीत भावना हो, वह निदिध्यासन करे-

कृतकृत्य हुए ज्ञानी का आचरण : प्रारब्धवश अनियताचरण

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा।
ममाकुर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥२६७

अन्वय—लौकिकः शास्त्रीयः वा अन्यथा अपि वा व्यवहारः अकर्तुः अलेपस्य मम यथाऽऽरब्धं प्रवर्तताम्।

अर्थ—भिक्षा आदि लौकिक, जप-समाधि आदि शास्त्रीय, तथा हिंसा प्रतिषिद्ध अन्य व्यवहार भी कर्ता-भोक्ता आदि रूप से अलेप मेरा, प्रारब्ध के अनुकूल चलता रहे तो चले : क्यो कि तीव्र प्रारब्ध, भोग के विना निवृत्त नही होता।

भी विद्वान् कर्म नही कर सकता, क्योंकि वह तो पुत्र, वित्त और लोक इन तीनो एषणाओ से ऊपर उठ चुका होता है। (३) सबको आत्मा ही देखने वाला विद्वान् अन्यस्थान पर रति प्राप्त ही क्यो कर करेगा ? इसलिए विलासार्थ वह कर्म नहीं कर सकता।

परलोकसम्बन्धी फल मे तीन पक्ष सम्भव हैं—(१) स्वर्ग (२) अपवर्ग (३) आत्मा की शुद्धि। (१) स्वर्ग के लिए वह क्यो कर्म करेगा ? उसके तो यहाँ ही सब काम नष्ट हो चुके हैं। (२) वह जीवन्मुक्त है तो मोक्ष के लिए भी वह कर्म न करेगा। (३) आत्मशुद्धि मे तीन पक्ष सम्भव हैं—(१) शरीर शुद्धि (२) चित्त शुद्धि और (३) आत्मा की शुद्धि। इनमे से शरीर शुद्धि तो कर्म से असम्भव ही है—शरीर मे मल मास और अस्थियाँ जो हैं। (२) ज्ञान जब शुद्ध चित्त वाले को ही होता है तो चित्त शुद्धि की विद्वान् को आवश्यकता ही नही है। (३) शुद्ध, निरवयव, अविषय आत्मा की शुद्धि की तो कल्पना भी नही हो सकती।

अब यदि परार्थ कर्म मानें तो वह ज्ञानी या तो अपरोक्ष ज्ञानी संन्यासी होगा या गृहस्थ। इनमे से संन्यासी तो यो ही कर्म और उनके

फिर भी शास्त्रोक्त मार्ग से व्यवहार श्रेष्ठ है।

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः॥

अन्वय.—अथवा अहं कृतकृत्य. अपि लोकानुग्रहकाम्यया शास्त्रीयेण मार्गेण एव वर्ते, मम का क्षति. ?

अर्थ—अथवा कृत-कृत्य भी मैं प्राणियो पर कृपा करने की इच्छा से शास्त्रीय मार्ग से ही चलता हूँ : मेरी इसमे कोई हानि नही है।

शास्त्रीय मार्ग से चलना स्वीकार करने पर उससे विकार न होगा?

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः।
तारं जपतु वाक्तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम्॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम्।

साधनो का त्याग किये रहता है। प्रवृत्ति के छ ओ कारणो का ब्रह्मात्मा की एकता को जानने वाले में सर्वथा अभाव ही होता है। गृहस्थ को जब ब्रह्मात्मा की एकता का ज्ञान उत्पन्न हो जायगा तो वह याज्ञवल्क्य आदि की भाँति तीन एषणाओ से ऊपर उठ जायगा।

'अपरोक्षज्ञानीको लोकसग्रहार्थ कर्म करना पडता है' यह मानना भी उचित नही है, क्योकि ऐसा ज्ञानी या तो सिद्ध होगा या साधक। सिद्ध की दृष्टि मे तो सारा ससार ही मुक्त है, वह लोक सग्रह किसके लिए करेगा ? 'साधक मुमुक्षु को लोकसग्रहार्थ कर्म करना चाहिए' ऐसा कोई श्रुतिविधान नही है। अपितु यही कहा है कि मुमुक्षु को ब्रह्मनिष्ठा रखनी चाहिए। उसे तो समाधि से ही अवकाश नही मिल सकता। इसलिये आभासरूप आत्मज्ञानवान् परोक्षज्ञानी ही लोक संग्रहार्थ कर्म करता है, सिद्ध और साधक मुमुक्षु नही।

"तो अब कभी देह को आत्मा मानने का विपर्यास नही होता", जब विपर्यय ही नही है तो ध्यान की क्या आवश्यकता है ? ॥२६१॥

जब विपर्यय नहीं है तो मैं मनुष्य हूँ' यह व्यवहार कैसे होता है ?

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥२६२

अन्वय–अह मनुष्य इत्यादि व्यवहार. अमु विपर्यास विना अपि चिराभ्यस्तवासनात· अवकल्पते ।

अर्थ—'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि व्यवहार इस विपर्यय के बिना भी अनादिकालाभ्यस्त वासनावश चलता ही रहता है ॥२६२॥

और यह व्यवहार प्रारब्धक्षय होने पर ही निवृत्त होता है .–

प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥

अन्वय---प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहार. निवर्त्तते, कर्माक्षये तु असौ ध्यानसहस्रत न एव शाम्येत् ।

अर्थ---प्रारब्ध कर्म के क्षीण होने पर ही व्यवहार निवृत्त होता है, कर्मक्षय हुए विना तो, हजारो वार ध्यान करने पर भी व्यवहार निवृत्त नही होता ॥२६३॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ।
आबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥

अन्वय–व्यवहृते· विरलत्व इष्ट चेत्, ते ध्यान अस्तु, अह व्यवहृति अबाधिका पश्यन् कुत. ध्यायामि :

अर्थ—व्यवहार की विरलता (कमी) के लिए यदि ध्यान करना है तो ध्यान करो, मैं तो व्यवहार को अबाधक देखता हूँ तो ध्यान क्यो करू ? ॥२६४॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ।।

अन्वय—यस्मात् मे विक्षेपः न अस्ति ततः मम समाधि. न । विक्षेपः वा समाधि. वा विकारिणः मनसः स्यात् ।

अर्थ—क्योकि मुझे विक्षेप नही होता इसलिए मुझे समाधि की भी आवश्यकता नही होती । विक्षेप और समाधि दोनो विकारी मन के ही धर्म है ।।२६५।।

नित्यानुभवरूपस्य को मे वाऽनुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चय ।।

अन्वय—नित्यानुभवरूपस्य मे क वा अनुभव. पृथक् । 'कृत्य कृत, प्रापणीय प्राप्त' इति एव निश्चय ।

अर्थ—उत्पत्तिविनाशरहित मुझे नित्यानुभवस्वरूप से भिन्न पृथक् अनुभव कौन सा है ? इसीलिए समाधि का फलरूप अनुभव भी मुझे सम्पादन नही करना है । मुझे तो अब यह निश्चय हो गया है कि जो कुछ करना था, कर लिया, जो कुछ पाना था, सो पा लिया+ ।।२६६।।

+ज्ञानी को कर्म किस हेतु करना चाहिए ? इन प्रश्न के उत्तर मे दो पक्ष सम्भव हैं.—(१) स्वार्थ के लिए अथवा (२) परार्थ के लिए । स्वार्थपक्ष के भी दो पक्ष हैं—(१) इहलोक सम्बन्धी फल के लिए अथवा (२) परलोक सम्बन्धी फल के लिए ? इहलोकसम्बन्धी फल के भी तीन विकल्प हैं–(१) शरीर रक्षार्थ (२) पुत्रशिष्यादि परिग्रह की रक्षार्थ अथवा (३) विलासार्थ ।

(१) शरीररक्षार्थ विद्वान् कर्म नही कर सकता क्योकि भागवत के अनुसार शरीररक्षा तो प्रारब्ध के अधीन है । (२) परिग्रह की रक्षार्थ

साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ।।

अन्वय – वपु. देवार्चनशौचभिक्षादौ वर्तता, वाक् तार जपतु तद्वत् आम्नायमस्तक पठतु ।। धी. विष्णु ध्यायतु, यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयतां, साक्षी अह अत्र किंचित् अपि न कुर्वे न अपि कारये ।।

अर्थ—शरीर देव-पूजा, स्नान, शौच, भिक्षा आदि कुछ भी करे, वाणी प्रणव का जप करे अथवा वेदान्त-शास्त्र को पढ़े। मेरी बुद्धि विष्णु का ध्यान करे या ब्रह्मानन्द मे विलीन हो जाय। मैं साक्षी तो यहाँ न कुछ करता हूँ न कुछ करवाता हूँ। अतएव शास्त्रीय मार्ग पर चलने का अभिमान और उससे विकार मुझे नही हो सकता ।।

इसका फल यह है कि

एवं च कलहः कुत्र संभवेत्कर्मिणो मम ।
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत् ।।२७१

अन्वय—एव पूर्वापरसमुद्रवत् विभिन्न विषयत्वेन मम च कर्मिण· कलह कुत्र सम्भवेत् ?

अर्थ--इस अवस्था में पृथक्-पृथक् स्थानो मे स्थित पूर्वी और पश्चिमी समुद्रो के समान ज्ञानी और कर्मी भिन्न विषय वाले होने से, मुझ ज्ञानी और कर्मी का परस्पर विवाद कैसे सम्भव है ?

ज्ञानी और कर्मी की भिन्न विषयता को स्पष्ट करते हैं —

वपुर्वाग्धीषु निर्बन्धः कर्मिणो न तु साक्षिणी ।
ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बन्धो नेतरत्र हि ।।२७२

अन्वय–कर्मिण· वपुर्वाग्धीषु निर्बन्ध. साक्षिणि तु न, ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बन्ध. इतरत्र न हि ।

अर्थ—कर्मी का तो शरीर, वाणी और बुद्धि मे निर्बन्ध है,

साग्रह निश्चय है, साक्षी मे उसका कोई निर्वन्ध नही है तथा साक्षी का निर्वन्ध साक्षी के अलेप होने मे है—शरीरादियो में उसका कोई निर्वन्ध नही है। इस प्रकार दोनो का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। ज्ञानी का क्षेत्र आत्मा और कर्मी का क्षेत्र अनात्म-पदार्थ हैं ॥२७२॥

एवं चान्योन्यवृत्तान्तानभिज्ञौ बधिराविव ।
विवदेतां बुद्धिमन्तो हसन्त्येव विलोक्य तौ ॥

अन्वय—एव च अन्योऽन्यवृत्तान्तानभिज्ञो वधिरौ इव विवदेताम्' तौ विलोक्य बुद्धिमन्त हसंति एव ।

अर्थ—इस प्रकार एक दूसरे की वात को न जानने वाले ज्ञानी और कर्मी यदि विवाद करते हैं तो वहरो के समान झगड़ते हैं, बुद्धिमान् उनको देखकर हसते ही है ॥२७३॥

यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्त्ववित् ।
ब्रह्मत्वं बुध्यतां तत्र कर्मिणः किं विहीयते ॥

अन्वय—य साक्षिण कर्मी न विजानाति तस्य ब्रह्मत्व तत्त्ववित् बुध्यता, तत्र कर्मिण' किं विहीयते ?

अर्थ—कर्मी जिस साक्षीतत्त्व को नही पहचानता, उसकी ब्रह्मता को तत्त्वज्ञानी जानले तो इसमे कर्मी की क्या हानि है ? उस के कर्मानुष्ठान मे इससे कोई रुकावट नही होती ॥२७४॥

देहवाग्बुद्धयस्त्यक्ता ज्ञानिनानृतबुद्धितः ।
कर्मी प्रवर्तयत्वाभिर्ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम् ॥

अन्वय ज्ञानिना अनृत वुद्धित देहवाग्बुद्धय त्यक्ता' , कर्मी आभि प्रवर्तयतु अत्र ज्ञानिन किं हीयते ?

अर्थ—मिथ्या जानकर ज्ञानी ने देह, वाणी और बुद्धि को

छोड दिया, कर्मी इनसे यदि कर्मो मे प्रवृत्त होता है तो इससे ज्ञानी का क्या बिगडता है ? इस प्रकार ज्ञानी और कर्मी का विवाद विषय-रहित है . इसको देखकर सबका हसना ठीक ही है ॥२७५॥

ज्ञानी को न प्रवृति से लाभ है न निवृत्ति से .—

प्रवृत्तिर्नोपयुक्ता चेन्निवृत्तिः क्वोपयुज्यते ।
बोधहेतुर्निवृत्तिश्चेद्बुभुत्सायां तथेतरा ॥२७६

अन्वय—प्रवृत्ति॰ न उपयुक्ता इति चेत् निवृत्ति क्व उपयुज्यते ? बोधहेतु निवृत्ति. चेत् ? तथा बुभुत्साया इतरा ।

अर्थ—ज्ञानी के लिए प्रवृत्ति का कोई उपयोग नही है, ऐसा कहने वाले वादी से यह तो पूछो कि ज्ञानी के लिए निवृत्ति का ही क्या प्रयोजन है । यदि कहो कि निवृत्ति तो बोध की हेतु है, तो इस प्रकार तो शुभ्र कर्मो मे प्रवृत्ति भा चित्तशुद्धि और वैराग्य के द्वारा स्वरूप की जिज्ञासा का हेतु है, अतएव ज्ञानी के लिए उपयोगी है❁ ।

❁ज्ञान और कर्म का एक समसमुच्चय होता है और दूसरा क्रम समुच्चय । ज्ञान और कर्म दोनो को मोक्ष का साधन जानकर दोनो का एक साथ अनुष्ठान समसमुच्चय और प्रथम कर्मानुष्ठान तथा पीछे से सर्व कर्मन्यास अर्थात् ज्ञान के साधन श्रवणादि का अनुष्ठान क्रम समुच्चय कहलाता है । श्रुतिस्मृतियो मे इसी क्रमसमुच्चय को मोक्ष का साधन बताया है । भाष्यकारने अनेक स्थलो मे समसमुच्चय का खण्डन किया है । भाष्यकार का सिद्धान्त यह है कि मोक्ष का साक्षात् साधन कर्म नही, कुन्तु ज्ञान है, और कर्म, साक्षात् अथवा जिज्ञासा द्वारा ज्ञान का साधन है । वाचस्पति कर्म को जिज्ञासा का साधन मानते हैं, कर्म का साक्षात् साधन नहीं मानते, क्योकि नही तो ज्ञान की

बुधश्चेन्न बुभुत्सेत नाप्यसौ बुध्यते पुनः ।
अबाधादनुवर्तेत बोधो न त्वन्यसाधनात् ॥२७७

अन्वय—बुद्ध न बुभुत्सेत चेत् ? असौ पुन बुध्यते अपि न । बोधः अबाधात् अनुवर्तेत, अन्यसाधनात् तु न ।

अर्थ—यदि कहो कि ज्ञानी को ज्ञानेच्छा होगी ही नही तो फिर यह कहना चाहिए कि उस ज्ञानी को दुबारा बोध भी तो

उत्पत्तिपयन्त कर्मों का अनुष्ठान मानना होगा तो फिर साधन सहित कर्मत्यागरूप सन्यास कैसे सिद्ध होगा ?

विवरणकार कर्म को ज्ञान का साधन मानते हैं, जिज्ञासा का नही। उनके मत मे वैराग्य सहित तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होने तक कर्म करना चाहिए, उसके पश्चात् उसका सन्यास करना चाहिए। जिज्ञासा पर्यन्त किये कर्म से अपूर्व (पुण्यरूप सस्कार) उत्पन्न होता है जो ज्ञानोदय तक रहकर पीछे नष्ट हो जाता है। इस कारण जिज्ञासा पर्यन्त किया हुआ कर्म अपूर्व द्वारा ज्ञान का साधन है. इस प्रकार सन्यास की सिद्धि भी हो जाती है।

कुछ आचार्य यह मानते हैं कि वर्णमात्र के धर्म नही अपितु आश्रम के कर्म ही ज्ञान में उपयोगी हैं।

कल्पतरुकार का मत है कि सब नित्य कर्म, क्योकि निष्काम कर्म हैं अतएव वे ही ज्ञान के प्रतिबन्धक पाप की निवृत्ति द्वारा ज्ञान के साधक हैं, काम्य कर्म नही।

सक्षेप शारीरिक कर्त्ता का मत है कि काम्य हो या नित्य, सब शुभ कर्म विद्या मे उपयोगी हैं। इस प्रकार विभिन्न मत हैं।

परन्तु 'तीव्र जिज्ञासा पर्यन्त सब शुभ कर्म कर्तव्य हैं, पीछे नही,' यह बात आचार्य मानते हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति (कर्मानुष्ठान), जिज्ञासा मे उपयोगी है।

नही होता अर्थात् ज्ञानेच्छा न होने से यदि ज्ञानी के लिए प्रवृत्ति अनुपयोगिनी है तो उसके लिए दुबारा बोध न होने के कारण निवृत्ति का भी तो कोई उपयोग नही है। महावाक्य के प्रमाण से उत्पन्न बोध तो किसी बलवान् प्रमाण से बाधित नही होता, इसलिए ही, वह तो अनुवृत्त रहता है : वह किसी अन्य साधन से अनुवृत्त नही होता। इसीलिए एक बार उत्पन्न बोध को स्थिर रखने के लिए संसार-निवृत्ति आदि किसी भी दूसरे साधन की अपेक्षा नही रहती। बोध की स्थिरता अबोध पर निर्भर है, निवृत्ति पर नही ॥२७७॥

अविद्या या उसके कार्य कर्तृत्वाभ्यास से तो कही ज्ञान बाधित नही होगा ?

नाविद्या नापि तत्कार्यं बोधं बाधितुमर्हति।
पुरैव तत्त्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः ॥

अन्वय—न अविद्या न तत्कार्यं अपि बोधं बाधितुं अर्हति। यतः ते उभे पुरा एव तत्त्वबोधेन बाधिते।

अर्थ—अविद्या अथवा उसका कार्य भी बोध को बाधा नही कर सकते, क्योंकि उन दोनों को तो पहले ही तत्त्वबोध ने नष्ट कर दिया था ॥२७८॥

प्रतीयमान भी अविद्याकार्य बोध का बाधक नही हो सकता.—

बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते।
जीवन्नाखुर्न मार्जारं हन्ति हन्यात् कथं मृतः ॥

अन्वय—बाधितं अक्षैः दृश्यतां तेन बाधः न दृश्यते। जीवन् आखुः मार्जारं न हन्ति, मृतः कथं हन्यात् ?

अर्थ—बाधित अविद्या का कार्य, चाहे इन्द्रियो से प्रतीत होता रहे, परन्तु उससे बोध का बाध नही होता : जैसे जीता

हुआ ही चूहा जब बिल्ली को नही मार सकता तो वह मरा हुआ क्या मारेगा ? ।।२७९।।

द्वैतदर्शन भले ही हो, पर तत्त्वबोध नही टलता :–

अपि पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः ।

निष्फलेषुवितुन्नाङ्गो नङ्क्ष्यतीत्यत्र का प्रमा ।।

अन्वय—यः पाशुपतास्त्रेण विद्ध अपि न ममार चेत्, निष्फलेषु-वितुन्नाग नक्ष्यति, इति अत्र का प्रमा ?

अर्थ—जो शक्तिशाली पुरुष, पाशुपतास्त्र जैसे अस्त्र से बिंधकर भी नही मरा, फिर वह लोहबाण से रहित धनुष से सताने पर ही मर जायगा–इसमें क्या प्रमाण है ? ।।२८०।।

आदावविद्यया चित्रैः स्वकार्यैर्जृम्भमाणया ।

युद्ध्वा बोधोऽजयत्सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम् ।

अन्वय—आदो चित्रै स्वकार्यै जृम्भमाणया अविद्यया बोध. युद्ध्वा अजयत्, स सुदृढ· अद्य कथ बाध्यताम् ?

अर्थ—विद्याभ्यास के समय से विविध प्रमातृत्व आदि कार्यों से बढ़ी हुई अविद्या से लड़भिडकर भी जिस बोधने उस अविद्या को जीत लिया है वह, अभ्यासकुशलता से सुदृढ होकर अब अविद्या के हट जाने पर, अविद्या के कार्य अध्यास से, जिसकी जड ही कट चुकी है, भला किस प्रकार रुकेगा ? ।।२८१।।

इसी बात को रूपक से स्पष्ट करते हैं·—

तिष्ठन्त्वज्ञानतत्कार्यशवा बोधेन मारिताः ।

न भीतिर्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः ।।

अन्वय-बोधेन मारिता अज्ञानतत्कार्यशवा. तिष्ठन्तु, तै बोधसम्राज. भीतिः न, प्रत्युत तस्य कीर्ति. ।

अर्थः—बोध के मारे हुए ज्ञान और अज्ञान के कार्यों के मुर्दे भले ही पड़े रहें, उनसे बोधरूपी सम्राट् को क्या डर है? इससे उसका यश है कि देखो ये बोध के मारे हुए पड़े हैं ॥२८२॥

य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते ।
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयास्य किम् ॥

अन्वय—य एव अतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते, अस्य देहादिगतया प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या किम् ?

अर्थ—जो पुरुष ऐसे शूरवीर, अविद्या और उसके कार्य के घातक, ब्रह्मात्मा के एकत्वज्ञानरूप बोध से कभी वियुक्त नहीं होता उसको देहादि की प्रवृत्ति या निवृत्ति से क्या हानि-लाभ है? कुछ भी नहीं ।

तो बोधहीन ही कर्म क्यों करे? करे तो कैसे करे?

प्रवृत्तावाग्रहो न्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा ।
स्वर्गाय वाऽपवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः ॥

अन्वय—बोधहीनस्य सर्वथा प्रवृत्तौ आग्रह न्याय्य, यतः नृभिः स्वर्गाय वा अपवर्गाय वा यतितव्यम् ।

अर्थ—बोध हीन का यज्ञ, श्रवण आदि प्रवृत्तियों में आग्रह करना सर्वथा उचित ही है, क्योंकि मनुष्यों का स्वर्ग या मुक्ति के लिए यत्न करना ही चाहिए ॥२८४॥

जब ज्ञानी कर्मिष्ठों में बसे तो उसका कैसा व्यवहार हो?

विद्वांश्चेत्तादृशां मध्ये तिष्ठेत्तदनुरोधतः ।
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः ॥

अन्वय—विद्वान् तादृशां मध्ये तिष्ठेत् चेत् तदनुरोधतः कायेन मनसा वाचा अखिलाः क्रियाः करोति एव।

अर्थ—विद्वान् यदि वैसे कर्मियो के बीच रहे तो उनके अनुसार शरीर, मन और वाणी आदि से सब क्रियाएं करे ही, न कि उन कर्मियो को उन्हे करने का निषेध करे ॥२८५॥

और यदि विद्वान् जिज्ञासुओ के मध्य मे बसे तो ?

एष मध्ये बुभुत्सूनां यदा तिष्ठेत्तदा पुनः।
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम् ॥

अन्वय—पुन एष. बुभुत्सूना मध्ये यदा तिष्ठेत् तदा एषा बोधाय सर्वा. क्रिया दूषयन् स्वय त्यजतु।

अर्थ—यह विद्वान् जब जिज्ञासुओ के बीच रहे तो इनके बोधार्थ सब क्रियाओ के गुप्त दूषण बताये और स्वय भी उनको छोड दे ॥२८६।

इसका कारण यह है कि,

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते।
स्तनन्धयानुसारेण वर्तते तत्पिता यतः ॥२८७

अन्वय—अविद्वदनुसारेण बुद्धस्य वृत्तिः युज्यते, यतः स्तनन्धयानुसारेण तत्पिता वर्तते।

अर्थ—अज्ञानी के अनुसार ज्ञानी का व्यवहार होना चाहिए, क्यो कि ज्ञानी कृपालु है और अज्ञानी दया के पात्र हैं। देखते हैं कि दूध पीते बच्चे के अनुसार ही उसके पिता का व्यवहार होता है ॥२८७॥

अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा।
न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत् ॥

अन्वय–बालेन स्वपिता अधिक्षिप्त. वा ताडित. तदा न क्लिश्नाति न कुप्येत प्रत्युत् बाल लालयेत् ।

अर्थ—दूधपीता बच्चा जब अपने पिता को बुरा-भला कहता है या मार बैठता है तो उसका पिता न तो दु.ख मानता है और न क्रोध ही करता है, अपितु, वह बालक को प्यार करता है ।।२८८।।

उपरोक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्त मे घटाते हैं :—

निन्दितः स्तूयम नो वा विज्ञानज्ञैर्न निन्दति ।
न स्तौति किंतु तेषां स्याद्यथा बोधस्तथाचरेत् ।।

अन्वय—विद्वान् अज्ञै निन्दित. वा स्तूयमान', न निन्दति, न स्तौति, किन्तु तेषां यथा बोध' स्यात् तथा आचरेत ।

अर्थ—विद्वान् अज्ञानी पुरुषो से निन्दा या स्तुति पाकर भी स्वय न तो निन्दा करता है न ही स्तुति । अपितु उनको जिस काम से बोध हो जाय वह काम करता है ।।२८९।।

येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्यमेव तत् ।
अज्ञप्रबोधान्नैवान्यत् कार्यमस्त्यत्र तद्विदः ।।

अन्वय—अय अत्रयेन नटनेन बुध्यते तत् कार्यं एव । तद्विद अत्र अज्ञप्रबोधात् अन्यत् कार्यं न एव अस्ति ।

अर्थ—इस अज्ञानी को इस लोक में जिस आचरण से तत्त्व-बोध हो, वह आचरण ज्ञानी करता है, क्योकि ज्ञानी का, अज्ञानी को बोध देने के अतिरिक्त और कुछ कर्त्तव्य नही है । (अतएव ज्ञानी को चाहिए कि वह अज्ञानी का अनुसरण करके उसे तत्त्वबोध कराये, उसकी भान्ति काम करने लगना इष्ट नही है ।) ।।२९०।।

तात्पर्य यह है कि

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ।।
धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ।।

अन्वय—असौ कृतकृत्यतया तृप्त. पुन. प्राप्तप्राप्यतया तृप्यन् स्वमनसा निरन्तर एव मन्यते नित्य स्व आत्मन अजम वेद्मि, अह धन्य अह धन्य. । ब्रह्मानन्द, मे स्पष्ट विभाति । अह धन्यः अह धन्य. ।।

अर्थ—वह विद्वान् पूर्वोक्त प्रकार से अपनी कृतकृत्यता से सतुष्ट हो कर और वक्ष्यमाण प्रकार से प्राप्त प्राप्तव्यता से भी तृप्त हुआ, यही मानता है कि मैं अपने देशाद्यनवच्छिन्नप्रत्यगात्मारूप को साक्षात् जानता हूँ इसलिए मैं कृतार्थ हूँ। और आत्मज्ञान का लाभ, ब्रह्मनाम का आनन्द मुझे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, इसलिए, आत्मज्ञान के फलस्वरूप सम्पूर्ण इष्ट के मिल जाने के कारण, मैं धन्य हूँ ।

धन्योहं धन्योहं दुखं सांसारिकं न वीक्षेद्य ।
धन्योहं धन्योहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ।।

अन्वय—अद्य सासारिक दुख न वीक्ष्ये, अह धन्यः अह धन्यः । स्वस्य अज्ञान क्व अपि पलायितम् । अह धन्य· ।

अर्थ—अब मुझे सासारिक दुख या दुख रूप ससार नही दीख पडता इसलिए मै धन्य हूँ। मेरा अज्ञान अर्थात् कर्मवासनाओ का समूह न जाने कहां भाग गया है—नष्ट हो गया है, इसलिए मै धन्य हूँ ।।

धन्योहं धन्योहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यां सर्वमद्य संपन्नम् ॥

अर्थ—आज मुझे कुछ कर्तव्य नही रहा, 'मैं धन्य हूँ मुझे जो कुछ प्राप्तव्य था वह मुझे मिल गया, मैं धन्य हूँ ॥२६४॥

धन्योहं धन्योहं तृप्तेर्मे कोपमा भवल्लोके ।
धन्योहं धन्योहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥

अर्थ—मैं धन्य हूँ, आज मेरी तृप्ति के समान लोक मे तृप्ति कहा है ? और क्या कहूँ ? वस, मैं धन्य हूँ, वार वार धन्य हूं ॥२६५॥

तृप्ति के कारणभूत पुण्य समूह के फल का स्मरण करके भी ज्ञानी तृप्त होता है:—

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्व पुण्यस्य संपत्तोरहो वयमहो वयम् ॥२६६

अर्थ–धन्य है मेरा पुण्य ! जिसका ऐसा दृढ़ फल हुआ और इस पुण्य के सम्पादक हम भी महान् हैं !! ॥२६६॥

सम्यक्ज्ञान के साधक शास्त्र और उसके उपदेशकर्ता आचार्य का स्मरण कर सन्तोष व्यक्त करते हैं–

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहा गुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥

यह शास्त्र अद्‌भुत है ! शास्त्र अद्‌भुत हैं, शास्त्र और गुरु से मिला ज्ञान भी अद्‌भुत है और ज्ञान प्राप्ति का सुख भी अद्‌भुत है !!

अन्त मे ग्रन्थाभ्यास का फल बताते हैं :—

तृप्तिदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ।
ब्रह्मानन्दे निमज्जन्तस्ते तृप्यन्ति निरन्तरम् ॥

अन्वय—ये बुधा. इमं तृप्तिदीपं नित्यं अनुसन्दधते, ते ब्रह्मानन्दे निमज्जन्त. निरन्तरं तृप्यन्ति ।

अर्थ.—जो बुद्धिमान् इस 'तृप्तिदीप' प्रकरण का नित्य विचार करते हैं, ब्रह्मानन्द मे स्नान करते हुए, नित्यतृप्त रहते है ॥२६८॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके सप्तम प्रकरण-तृप्तिदीप
की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्वप्रकाशिका
व्याख्या समाप्त ।



अथ कूटस्थदीप-प्रकरण-८

मङ्गलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया।
कुर्वे कूटस्थदीपस्य टीकां तत्वप्रकाशिकाम् ॥

मुमुक्षु का मोक्षसाधन ब्रह्मात्मैक्यज्ञान, 'त्व' पदार्थ के शोधन से जन्य है. वही 'त्व' पदार्थ का शोधन इस प्रकरण का उद्देश्य है। यहाँ आरम्भ मे आचार्य ने दृष्टान्त देकर 'त्व' पद के क्रमश. लक्ष्य और वाच्य, कूटस्थ और जीव का भेद समझाया है –

खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत् ।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते ॥१

अन्वय—खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तवत् कूटस्थभासितः देह. धीस्थजीवेन भास्यते ।

अर्थ—आकाशस्थ प्रसिद्ध सूर्य से प्रकाशित भित्ति पर पड़ी हुई, दर्पणगतसूर्य से प्रतिक्षिप्त, दीप्ति की भान्ति कूटस्थ से प्रकाशित यह देह, पुनः बुद्धिस्थचिदाभास से भासित हुआ करता है। अर्थात् जैसे भित्ति पर एक प्रकाशक सूर्य का सामान्यप्रकाश है और दूसरा दर्पण से प्रतिक्षिप्त दर्पण-सूर्य का विशेष प्रकाश होता है, ऐसे ही, अविकारी चैतन्य से सामान्यतया प्रकाशित देह, बुद्धिस्थ चिदाभास रूप जीव से विशेषतया प्रकाशित हुआ करता है। देह के सामान्य और विशेष प्रकाशक दो चैतन्य हैं ॥ १ ॥

भित्ति पर पडी दो प्रकार की दीप्तियों का विश्लेषण

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसंधिषु ।

इतरा व्यज्यते तासामभावेपि प्रकाशते ॥२

अन्वय--अनेकदर्पणादित्यदीप्तीना बहुसन्धिषु इतरा व्यज्यते, तासा अभावे अपि प्रकाशते।

अर्थ—भित्ति पर पड़े अनेक दर्पणो से प्रतिक्षिप्त, मण्डलाकार विशेषप्रकाशो के (आन्तर स्थानो) या मध्य में दूसरा आकाशादित्य के हटा लेने पर दर्पणो से प्रतिक्षिप्त प्रकाशो के अभाव मे, भित्ति पर स्वय प्रकाश करता है ॥२॥

उपरोक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक मे घटाते हैं :–

चिदाभासविशिष्टानां तथानेकधियामसौ ।
संधिं धियामभावं च भासयन्प्रविविच्यताम् ॥३

अन्वय—तथा चिदाभास विशिष्टाना अनेकधिया सन्धि च धिया अभाव भासयन् असौ प्रविविच्यताम्।

अर्थ—उपरोक्त दृष्टान्त की भान्ति, चित्प्रतिबिम्ब से युक्त, अनेक, घटज्ञानादि शब्दो से वाच्य, बुद्धि वृत्तियो की सन्धि को, जाग्रत् आदि अवस्थाओ मे, और उनके अभाव को सुषुप्ति आदि में, प्रकाशित करते कूटस्थ को उन वृत्तियो से भिन्न समझलेना चाहिए ॥३॥

देह के बाहर भी चिदाभास और ब्रह्म पृथक्-पृथक् हैं –

घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवावभासयेत् ।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते ॥४

अन्वय—घटैकाकारधीस्था 'चित् घट एव अवभासयेत्। घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येन अवभासते।

अर्थ—एक घट के आकार वाली बुद्धि में वर्तमान चिदाभास, "यह घट है" इस रूप मे घट को प्रकाशित करता है, परन्तु उस घट का जो, 'घट जान लिया' इस व्यवहार का हेतु घटज्ञातता

नाम का धर्म है, वह धर्म तो, घट-कल्पना के अधिष्ठानसाधन-भूत ब्रह्मचैतन्य द्वारा ही प्रकाशित होता है ॥४॥

जब ज्ञातताभासक चैतन्य से घट की प्रतीति सम्भव है तो बुद्धि का क्या काम है ?

अज्ञातत्वेन ज्ञातोऽयं घटो बुद्ध्युदयात्पुरा ।
ब्रह्मणैवोपरिष्टात्तु ज्ञातत्वेनेत्यसौ भिदा ॥५

अन्वय —बुद्ध्युदयात् पुरा अयं घटं ब्रह्मणा एव अज्ञातत्वेन ज्ञातः उपरिष्टात् तु, ज्ञातत्वेन इति असौ भिदा ।

अर्थ—घटाकार हुई बुद्धि के उदय से पूर्व, इस घट को 'मैं घट नहीं जानता हूँ' इस प्रकार अज्ञातरूप मे ब्रह्म चैतन्य प्रकाशित करता है और बुद्धि के उदय के पश्चात् 'मैं घट को जानता हूँ' इस प्रकार से ज्ञातरूप में इस घट को वही ब्रह्म चैतन्य प्रकाशित करता है। बुद्धि के होने और न होने मे इतना ही भेद है। (बुद्धि के अनुदय तक घट में अज्ञातता रहती है, उसके उदय होने पर अज्ञातता नष्ट होकर ज्ञातता प्रतीत होने लगती है) ॥५॥

एक ही घट के 'ज्ञातता और अज्ञातता' दो रूप कैसे सम्भव हैं यह बताने के लिए पहले ज्ञातता एवं अज्ञातता के निमित्त, ज्ञान एवं अज्ञान का स्वरूप दिखाते हैं:—

चिदाभासान्तधीवृत्तिर्ज्ञानं लोहान्तकुन्तवत् ।
जाड्यमज्ञानमेताभ्यां व्याप्तः कुम्भो द्विधोच्यते ॥

अन्वय—लोहांतकुंतवत् चिदाभासान्तधीवृत्तिः ज्ञानं जाड्य अज्ञानं एताभ्या व्याप्तः कुंभः द्विधा उच्यते ।

अर्थ—भाले की नोक पर लोह के समान, चित्प्रतिबिम्ब को अग्रभाग में रखने वाली बुद्धि-वृत्ति 'ज्ञान' कहलाती है। और

'जड़ता' का नाम 'अज्ञान' है, इन दोनो से क्रमशः व्याप्त घट दो प्रकार का कहा है ॥६।

पर, ज्ञात-कुम्भ भी ब्रह्म चैतन्य से क्यो भासित होता ? वह तो ज्ञात ही है। उत्तर देते हैं :-

अज्ञातो ब्रह्मणा भास्यो ज्ञातः कुम्भस्तथा न किम्।
ज्ञातत्वजननेनैव चिदाभासपरिक्षयः ॥७

अन्वय—अज्ञात. ब्रह्मणा भास्य' तथा ज्ञात. कुम्भ न किम् ? ज्ञातत्वजननेन एव चिदाभासपरिक्षय ।

अर्थ—जैसे अज्ञात कुम्भ ब्रह्म से प्रकाश्य है वैसे ही ज्ञात कुम्भ भी क्यो न ब्रह्म से प्रकाश्य हो, क्योकि चिदाभास तो ज्ञातता उत्पन्न करके ही कृतार्थ हो जाता है। जैसे अज्ञान, अज्ञातता को उत्पन्न करके कृतार्थ हो जाता है वैसे ही ज्ञान (चिदाभास) भी ज्ञातता उत्पन्न कर उपक्षीण हो जाता है : और ज्ञातघट भी, अज्ञातघट की भान्ति ब्रह्म से भासमान होता है ॥७॥

जैसे अज्ञातता की उत्पत्ति के लिए अज्ञान पर्याप्त है ऐसे ही ज्ञातता की उत्पत्ति के लिए बुद्धि ही पर्याप्त है, फिर चिदाभास का नया प्रयोजन है ? बताते हैं.—

आभासहीनया बुध्या ज्ञातत्वं नैव जन्यते ।
तादृग्बुद्धेर्विशेषः को मृदादेः स्याद्विकारिणः ॥८

अन्वय—आभासहीनया बुध्या ज्ञातत्व न एव जन्यते, तादृग्बुद्धे विकारिण. मृदादे क विशेष स्यात् ?

अर्थ—आभासरहित बुद्धि से ज्ञातता की उत्पत्ति नही होती, क्योकि ऐसी बुद्धि और विकारी मिट्टी आदि मे क्या भेद है—कुछ भी नही है। चिदाभास रहित बुद्धि घट आदि के समान अप्रकाशरूप है, इसलिए ज्ञातता को उत्पन्न नही कर सकती ॥८॥

इसी को दृष्टान्त से समझाते हैं :–

ज्ञात इत्युच्यते कुम्भो मृदा लिप्तो न कुत्रचित्।
धीमात्रव्याप्तकुम्भस्य ज्ञातत्वं नेष्यते तथा ॥९

अन्वय–कुत्रचित् मृदालिप्तः कुम्भः ज्ञातः इति न उच्यते, तथा धीमात्रव्याप्तकुम्भस्य ज्ञातत्व न इष्यते ।

अर्थ—जैसे लोक मे कही भी, श्वेत-काली मिट्टी से लिपे-पुते घट को 'यह ज्ञात है' ऐसा कोई नही कहता, ऐसे ही चिदाभास से रहित, केवल, बुद्धि से व्याप्त घट को भी ज्ञात नही मानते ॥

तात्पर्य यह है कि,

ज्ञातत्वं नामकुम्भेतश्चिदाभासफलोदयः।
न फलं ब्रह्मचैतन्यं मानात्प्रागपि तत्त्वतः॥१०

अन्वय–अत कुम्भे चिदाभासफलोदयः ज्ञातत्व नाम । ब्रह्मचैतन्यं फलं न, मानात् प्राक् अपि सत्वत ॥

अर्थ क्योंकि केवल बुद्धि ज्ञातता-जनन मे असमर्थ है, इसलिए घट में चिदाभास रूप फल की उत्पति होना ही ज्ञातता है, और ब्रह्मचैतन्य को फल नहीं मान सकते, क्योंकि वह तो प्रमाण-प्रवृत्ति से पहले ही विद्यमान है और घटादि स्फुरण-रूप फल, नियम से उसके पश्चात् होता है* ॥१०॥

---

* जैसे टङ्की में भरा पानी छिद्र द्वारा निकलकर नाली के आकार मे हो, खेत मे जा उसके आकार का हो जाता है, ऐसे ही देह मे स्थित अन्त करण, इन्द्रियो के छिद्रो से निकल कर, (खेत स्थानीय) घटादि विषयो के आकार का हो जाता है । यहाँ, अवच्छेदवाद की रीति से, चार प्रकार का चेतन है:–(१) अन्त.करण-विशिष्ट चेतन 'प्रमाण चेतन' है, (२) इन्द्रिय से लेकर विषय पर्यन्त विद्यमान वृत्ति से विशिष्ट चेतन 'प्रमाण चेतन' है, (३) घटादि अवच्छिन्न चेतन जब अज्ञात होता है तब

'परागर्थप्रमेयेषु' सुरेश्वराचार्य के इस वार्तिक का क्या अभिप्राय है ? :—

परार्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता ।
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥११
इति वार्तिककारेण चित्साद्दश्यं विवक्षितम् ।
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः साहस्रयां विश्रुतो यतः ॥१२

अन्वय—पर अर्थप्रमेयेषु या फलत्वेम समता सवित् सा एव इह वेदान्तोक्तिप्रमाणत मेय अर्थ.। इति वार्तिककारेण चित्साद्दश्य विवक्षितम्, यत ब्रह्मचित्फलयो· भेद साहस्रया विश्रुत ॥

अर्थ—पराक् अर्थात् बाह्य घटादि पदार्थ जब प्रमेय अर्थात् प्रमाणो के विषय बनते है तब जो ज्ञान (सवित्), प्रमाण का फल माना जाता है, वही ज्ञान (सवित्), इस वेदान्तशास्त्र मे वेदान्तवाक्यरूपी प्रमाणो से जानने योग्य पदार्थ है। इस प्रकार कह कर वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने ब्रह्मचैतन्य सदृश चिदाभास को प्रमाण का फल माना है ' श्रीसुरेश्वराचार्य का यही अभिप्राय है, यह इस बात से सिद्ध है कि उनके गुरु श्री शकराचार्य ने उपदेश साहस्री ग्रन्थ मे ब्रह्मचैतन्य और चिदाभास का भेद कहा है ॥११-१२॥

'विषयचेतन' और 'प्रमेय चेतन' होता है और (४) जब वह ज्ञात होता है तब उसको 'फलचेतन', 'प्रमिति चेतन' और 'प्रमाचेतन' कहते हैं। आभासवाद की रीति से चिदाभास सहित अन्त करण विशिष्ट चेतन, प्रमाताचेतन, साभासवृत्ति विशिष्ट चेतन, प्रमाणचेतन, घटादि-अवच्छिन्न चेतन विषयचेतन अथवा प्रमेयचेतन और वृत्ति के सम्बन्ध से, घटादि मे जो चेतन का प्रतिबिम्ब (आभास) है, वह फलचेतन है, घटादिअवच्छिन्न-ब्रह्मचेतन फल नही है।

आभास उदितस्तस्माज्ज्ञातत्वं जनयेद् घटे ।
तत्पुनर्ब्रह्मणाभास्यमज्ञातत्ववदेव हि ॥१३

अन्वय—तस्मात् घटे उदित: आभास: ज्ञातत्व जनयेत्, तत् पुन. अज्ञातत्ववत् ब्रह्मणा एव भास्य हि ।

अर्थ—क्योकि ब्रह्मचित् और चिदाभास का भेद सिद्ध हो चुका, इसलिए घट मे उत्पन्न चिदाभास उसमे ज्ञातता को उत्पन्न करता है और वह ज्ञातता अज्ञातता की भान्ति ब्रह्म से ही भासित होती है, यह बात प्रसिद्ध है ॥१३॥

ब्रह्मचित् और आभास विषय भेद से भिन्न हैं.—

धीवृत्त्याभासकुम्भानां समूहो भास्यते चिदा ।
कुम्भमात्रफलत्वात्स एक आभासतः स्फुरेत् ॥

अन्वय—धीवृत्त्याभासकुम्भाना समूह. चिता भास्यते । कुम्भमात्र-फलत्वात् आभासत स एक. स्फुरेत् ।

अर्थ—इन्द्रिय द्वारा निर्मल बुद्धि वृत्ति, चिदाभास और घट ये तीनो ब्रह्मचैतन्य से प्रकाशित होते हैं। और क्योकि चिदाभास से घट अकेले घट मे रहने वाला फल है, इस कारण उस आभास से घट अकेला ही स्फुरित हो सकता है ॥१४॥

चैतन्यं द्विगुणं कुम्भे ज्ञातत्वेन स्फुरत्यतः ।
अन्येऽनुव्यवसायाख्यमाहुरेतद्यथोदितम् ॥१५

अन्वय—अत: कुम्भ ज्ञातत्वेन द्विगुण चैतन्य स्फुरति यथोदित । एतत् अन्ये अनुव्यवसायाख्य आहु ।

अर्थ—इसलिए घट मे ज्ञातता होते ही दुगना चैतन्य प्रतीत होने लगता है। दूसरे अर्थात् नैय्यायिक उपरोक्त घट की ज्ञातता के अवभासक ब्रह्मचैतन्य को अनुव्यवसाय नाम का ज्ञान मानते हैं। (ज्ञान के ज्ञान का नाम अनुव्यवसाय ज्ञान है।) ॥१५॥

व्यवहारभेद से भी चिदाभास और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं.—

घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः ।

विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत् ॥१६

अन्वय—'अय घट.' इति असौ उक्ति' आभासस्य प्रसादत , 'विज्ञात' घट' इति उक्ति ब्रह्मानुग्रहत भवेत् ।

अर्थ—'यह घट है' यह व्यवहार तो अभ्यास की सहायता से होता है और 'घट को जान लिया' यह कथन ब्रह्म के अनुग्रह से होता है । १६॥

आभासब्रह्मणी देहाद्बहिर्यद्वद्विवेचिते ।

तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि ॥१७

अन्वय—देहात् बहि आभासब्रह्मणी यद्वत् विवेचिते, तद्वत् वपुषि अपि आभासकूटस्थौ विविच्येताम् ।

अर्थ—देह से बाहर जैसे चिदाभास और ब्रह्म का विवेचन किया वैसे ही देह के भीतर भी चिदाभास और कूटस्थ का विवेक करना चाहिए ॥१७॥

जब कि, देह से बाहर चिदाभास द्वारा व्याप्य घटाकार वृत्ति की भाँति, देह के भीतर कोई विषयीगोचरवृत्ति नही है, तब उसमें व्यापक चिदाभास की कल्पना क्योकर होगी ? उत्तर देते हैं —

अहंवृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकेषु च ।

संव्याप्य वर्तते तप्ते वह्निर्यथा तथा ॥१८

अन्वय—यथा तप्ते लोहे वह्नि संव्याप्य वर्तते तथा अहवृत्तौ च कामक्रोधादिकेपु चिदाभास ।

अर्थ—जैसे तपे लोहे मे अग्नि व्याप्त रहती है वैसे ही, अहवृत्ति मे और कामक्रोधादि वृत्तियो मे चिदाभास व्याप्त रहता है ।

उक्त अर्थ को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं:—

स्वमात्रं भासयेत्तप्तं लोह नान्यत्कदाचन ।
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः ॥१९

अन्वय—तप्त लोह स्वमात्र भासयेत् अन्यत् कदाचन न, एवं आभाससहिता. वृत्तय स्वस्वभासिका ।

अर्थ—जैसे, तपा लोहा केवल अपने आपको ही प्रकाशित करता है, दूसरी किसी वस्तु को कभी प्रकाशित नही करता, ऐसे ही चिदाभाससहित अहमादि वृत्तिया+अपनी अपनी प्रकाशक हैं ॥१९॥

वृत्तियो का अभावकाल कौन है ? बताते हैं :—

क्रमाद्विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते वृत्तयोऽखिलाः ।
सर्वा अपि विलीयन्ते सुप्तिमूर्च्छासमाधिषु ॥२०

अन्वय —क्रमात् विछिद्य विछिद्य अखिलाः वृत्तय. जायन्ते सुप्तिमूर्छासमाधिषु सर्वा अपि विलीयन्ते ।

अर्थ—जाग्रत् और स्वप्न मे सब वृत्तिया क्रमश. रुक रुककर

+सुख, दु ख, काम क्रोध आदि अन्तःकरण के परिमाणो को अनेक स्थलों पर वृत्ति माना है, इसलिये स्थूल बुद्धि अधिकारियों को सुगमता से समझाने के लिये ग्रन्थकार ने भी अन्त करण के परिणाम-मात्र मे वृत्तिशब्द का व्यवहार किया हैं । इसलिये अहमादि वृत्तिया अन्य विषय की प्रकाशक नही हैं । वस्तुत तो तत्वानुसन्धान आदि ग्रन्थो मे प्रकाशक माया और अन्त करण के परिणाम को वृत्ति कहा है और वृत्तिप्रभाकर मे अस्मिव्यवहार के हेतु अविद्या और अन्त करण के परिणाम को वृत्ति कहा है, इसलिए माया और अन्तःकरण का ज्ञानरूप परिणाम ही वृत्ति शब्द का अर्थ है, परिणाममात्र नही ।

उत्पन्न होती है और सुषुप्ति, मूर्छा तथा समाधि में सभी वृत्तिया विलीन हो जाती हैं ॥२०॥

वृत्तियो के अभाव के साक्षीरूप मे कूटस्थ का ज्ञान

संधयोऽखिलवृत्तीनामभावाश्चावभासिताः ।
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते ॥२१

अन्वय—अखिलवृत्तीना सन्धयः च आभावाः येन निर्विकारेण अवभासिता असौ कूटस्थ इति च उच्यते ।

अर्थ—सब वृत्तियो की सन्धिया (जब तक वृत्ति नष्ट होकर दूसरी उत्पन्न होने को होती है) तथा अभाव जिस निर्विकार चैतन्य से प्रकाशित (ज्ञात) होते हैं उसको कूटस्थ कहते हैं। अर्थात् कूटस्थ का ज्ञान वृत्यभाव के साक्षी के रूप मे सभव है।

घटे द्विगुणचैतन्यं यथा बाह्ये तथाऽन्तरे ।
वृत्तिष्वपि ततस्तत्र वैशद्यं संधितोऽधिकम् ॥२२

अन्वय—बाह्ये घटे यथा द्विगुण चैतन्य तथा आन्तरे वृत्तिषु अपि । ततः संधितः तत्र वैशद्य अधिकम् ।

अर्थ—बाह्यघट मे जैसे दुगना चैतन्य (पूर्व प्रतिपादित) है इसी प्रकार भीतरी अहकारादि वृत्तियो मे भी, एक कूटस्थ चैतन्य और दूसरा वृत्तियो का अवभासक चिदाभास चैतन्य—दुगना चैतन्य है। क्योकि द्विगुण चैतन्य है, इसीलिये वृत्तियो मे सन्धियो से अधिक स्पष्टता पायी जाती है ॥२२॥

वृत्तियो मे भी घटादि के समान, ज्ञातता और अज्ञातता का अवभासक कूटस्थ क्यो नही मानते ? उत्तर देते हैं .—

ज्ञातताज्ञातते न स्तो घटवद्वृत्तिषु क्वचित् ।
स्वस्य स्वेनागृहीतत्वात्ताभिश्चाज्ञाननाशनात् ॥

अन्वय—घटवत् वृत्तिषु क्वचित् ज्ञातताऽज्ञातते न स्त.। स्वस्य स्वेन अग्रहीतत्वात् च ताभि. अज्ञानशाशनात्।

अर्थ–घट की भाँति, वृत्तियो में कभी ज्ञातता और अज्ञातता नही होती, क्योकि एक तो अपना आपा अपने आप से गृहीत नही हुआ करता और दूसरे उनके उत्पन्न होते ही, उनसे अज्ञान का नाश हो जाता है। [ज्ञान की और अज्ञान की व्याप्ति से क्रमश ज्ञातता (ज्ञान का विषय होना) और अज्ञातता (अज्ञान का विषय होना, उत्पन्न होती हैं। परन्तु वृत्तियां स्वय प्रकाश हैं इसलिये उन में ज्ञान की व्याप्ति नही होती, इसलिए ज्ञातता' भी नही होती। और ये वृत्तिया उत्पन्न होते ही स्व-विषयक अज्ञान को हटा देती हैं, इसलिये अज्ञान की व्याप्ति भी इनमे नही रहती और अज्ञातता भी नही आती। इस प्रकार कूटस्थ वृत्तिसम्बन्धी ज्ञातता का अवभासक नही माना जाता।] ॥२३॥

दोनो चैतन्यो मे से एक कूटस्थ क्यो और दूसरा अकूटस्थ क्यो ?

द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः।
अकूटस्थं तदन्यत्तु कूटस्थमविकारतः ॥२४

अन्वय—द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतित. तत् अकूटस्थ तु अन्यत् अविकारत. कूटस्थम्।

अर्थ—दोहरे चैतन्य मे से जिस (चिदाभास नामक चैतन्य) के जन्म और नाश होते दीख पड़ते हैं वह तो अकूटस्थ है और दूसरा अविकारी होने से 'कूटस्थ' कहलाता है ॥२४॥

अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा।
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः ॥२५

अन्वय—पूर्वाचार्यैः अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादौ सर्वत्र कूटस्थः एव विनिश्चितः ।

अर्थ—पूर्वाचार्यों ने 'अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षी चैतन्य विग्रहः, आनन्दरूपः सत्यः सन् किं नात्मानं प्रबुध्यसे' (उपदेशसाहस्री) इत्यादि में, सर्वत्र अनेक प्रकार से कूटस्थ ही निश्चित किया है। यह कूटस्थ कपोल कल्पित नहीं है ॥२५॥

चिदाभास भी कपोलकल्पित नहीं है ।—

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा ।
गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्यामित्याभासश्च वर्णितः ॥२६

अन्वय—यथा मुखाभासाश्रयाः एवं आत्माभासाश्रयाः च शास्त्रयुक्तिभ्यां गम्यन्ते इति आभासः च वर्णितः ।

अर्थ—जैसे मुख, मुखाभास अर्थात् मुख का प्रतिबिम्ब और उसका आश्रय दर्पण ये तीन प्रत्यक्ष दीखते हैं, इसी प्रकार आत्मा कूटस्थ, चिदाभास और अन्तःकरणादि आश्रय से तीनों शास्त्र और युक्ति से जाने जाते हैं।' इस प्रकार उपदेश साहस्री के इस वाक्य में चिदाभास का वर्णन किया गया है ॥२६॥

अवच्छेदवादी * चिदाभास का खण्डन करता है ।—

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थो लोकान्तरगमागमौ ।
कर्तुं शक्तो घटाकाश इवाभासेन किं वद ॥२७

---

* अवच्छेदवाद में अन्तःकरण विशिष्ट चेतन ही जीव है। अन्तःकरण, कर्मवश जहाँ आता जाता है, वहाँ-वहाँ चेतन तो पूर्व से ही विद्यमान रहता है, वह चेतन उस अन्तःकरण से विशिष्ट हो संसारी जीव कहलाने लगता है। इस प्रकार अन्तःकरण रूप विशेषण तो संसार है ही, परन्तु कूटस्थ विशेष्य में संसार की भ्रान्ति से प्रतीत होती है। शास्त्र में यह नियम भी बताया है कि विशेषण के धर्म का भी

अन्वय—बुद्धयवच्छिन्नकूटस्थः घटाकाशः इव लोकान्तरगमागमौ कर्तुं शक्तः आभासेन किं वद ?

अर्थ—बुद्धि से विशिष्ट (अपने में कल्पित बुद्धि से युक्त होने के कारण दूसरे चेतनो से भिन्न हुआ) कूटस्थ रूप जीव ही, घट द्वारा घटाकाश की भान्ति लोकान्तर में आवागमन कर लेगा, फिर यह बताओ कि चिदाभास को क्यो मानते हो ? ॥२७॥

वादी के उक्त आक्षेप का परिहार

शृण्वसङ्गः परिच्छेदमात्राज्जीवो भवेन्नहि ।
अन्यथा घटकुड्याद्यैरवच्छिन्नस्य जीवता ॥२८

अन्वय—शृणु हि असङ्ग परिच्छेदमात्रात् जीवः न भवेत् । अन्यथा घटकुड्याद्यैः अवच्छिन्नस्य जीवता ।

अर्थ—सुनो, असङ्ग कूटस्थ चेतन, यदि, केवल परिच्छेद, दूसरे चेतनो से व्यावृत होने मात्र से ही जीव हो जाय तो फिर घट और भित्ति आदि से परिच्छिन्न चेतन को भी जीव मानना पड़ेगा ! वह तुम्हे भी इष्ट नही है ॥२८॥

भित्ति की अस्वच्छता से इस परिच्छित्ता मे कोई अन्तर नही आता !

न कुड्यासदृशी बुद्धिः स्वच्छत्वादिति चेत्तथा ।
अस्तु नाम परिच्छेदे किं स्वाच्छ्यं न भवेत्तव ॥

अन्वय—कुड्यसदृशी बुद्धिः न, स्वच्छत्वात् इति चेत् ? तथा

विशेष्य मे व्यवहार होता है । अतएव अन्तःकरण के धर्म—ससार—का अन्तःकरण विशिष्ट चेतन मे व्यवहार होने से अन्तःकरण विशिष्ट चेतन, ससारी जीव, कहलाने लगता है । इस प्रकार चिदाभास के बिना सब व्यवहार सम्भव है तो चिदाभास की कल्पना में गौरवदोष है ।

ऽस्तुनाम, स्वाच्छ्येन तव परिच्छेदे किं भवेत् ?

अर्थ—यदि कहो बुद्धि स्वच्छ होने से भित्ति के समान नही है ? तो हुआ करे, बुद्धि के स्वच्छ होने से चेतन के परिच्छेद में क्या अन्तर होगा ? कुछ भी नही ।।२९।

उपरोक्त कथन को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं —

प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा नहि ।
विक्रेतुस्तण्डुलादीनां परिमाणं विशिष्यते ।।३०

अन्वय — दारुजन्येन वा कास्यजन्येन प्रस्थेन विक्रेतु तण्ड्डुलादीना परिमाण न विशिष्यते ।

अर्थ—प्रस्थ (एक माप, चाहे लकड़ी का हो या कासे का बना हो उससे बेचने वाले की, चावल आदि की माप में कोई अन्तर नही आता। अर्थात् स्वच्छता-अस्वच्छता से परिच्छेद में कोई न्यूनाधिकता नही आ सकती ।।३०।।

परिमाणाविशेषेऽपि प्रतिबिम्बो विशिष्यते ।
कांस्ये, यदि तदा बुद्धावप्याभासो भवेद्बलात् ।।

अन्वय—यदि कास्ये परिमाणविशेषे अपि प्रतिबिम्बः विशेष्यते, तदा, बुद्धौ अपि आभास बलात् भवेत् ।

अर्थ—यदि कहो कि कासे और लकड़ी के बने प्रस्थों में परिमाण मे चाहे कोई विशेषता न हो, परन्तु उसमें चावलो आदि का प्रतिविम्व पड़ना रूपी विशेषता तो है ही, तब तो हम कहेगे कि बुद्धि में भी आभास पड़ेगा ही-वह तुम्हें मानना ही पड़ेगा ।। ३१ ।।

ईषद्भासनमाभासः प्रतिविम्बस्तथाविधः ।
बिम्बलक्षणहीनः सन्बिम्बवद्भासते स हि ।।३२

अन्वय–ईषद्भासनं आभासः तथाविधः प्रतिविम्बः हि सः विम्ब-लक्षणहीनः सन् विम्बवत् भासते ।

अर्थ—थोड़े भास को 'आभास' कहते हैं, वैसा ही प्रतिविम्ब भी होता है, निश्चय ही वह (प्रतिविम्ब) विम्ब के लक्षण से हीन होने पर भी विम्ब की भान्ति भासा करता है। इसलिये वह विम्ब का आभास कहा जाता है ॥३२॥

ससङ्गत्वविकाराभ्यां विम्बलक्षणहीनता ।
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य विम्बवद्भासनं विदुः ॥३३

अन्वय—एतस्य ससङ्गत्वविकाराभ्या विम्बलक्षणहीनता, स्फूर्तिरूपत्व विम्बवत् भासन विदुः ।

अर्थ—यह चिदाभास सङ्ग और विकार से युक्त होने के कारण विम्ब के लक्षणों से हीन है, किन्तु इसकी स्फुरणरूपता विम्ब की भान्ति भासना कहलाती है। (जैसे हेतु के लक्षणो से हीन होते हुये भी जो हेतु की भान्ति भासमान हो उसे हेत्वाभास कहते हैं: ऐसे ही चिदाभास चेतनरूप विम्ब के लक्षण से रहित भी, विम्ब की भान्ति भासता है इसलिए चिदाभास कहलाता है।) ॥३३॥

चिदाभास, बुद्धि से पृथक् सत्तावान है, क्योंकि :–

न हि धीभावभावित्वादाभासोऽस्ति धियः पृथक् ।
यथा मृदल्पमेवोक्तं धीरप्येवं स्वदेहतः ॥३४

अन्वय–यथा मृत धीभावभावित्वात् आभास. धिय. पृथक् न हि अस्ति, अल्प एव उक्त, एव धीः अपि स्वदेहतः ।

अर्थ—यदि कहो कि जैसे मिट्टी की सत्ता से ही सत्तावान् घट, मिट्टी से भिन्न नही होता, इसी प्रकार बुद्धि की सत्ता से सत्तावान् चिदाभास भी, बुद्धि से भिन्न नही होगा ? तो हम

कहते हैं कि वह तो तुमने थोडा ही कहा, क्योंकि यो तो बुद्धि देह से भी पृथक् सिद्ध नही हो सकेगी ॥३४॥

देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेच्छास्त्रादस्ति तथासति।
बुद्धेरन्यश्चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः ॥३५

अन्वय–देहे मृते अपि शास्त्रात् बुद्धि. अस्ति चेत् ? तथा सति बुद्धे अन्यः चिदाभास प्रवेशश्रुतिषु श्रुत ।

अर्थ—यदि कहो कि "देह के मरने पर भी, बुद्धि है"—यह बात शास्त्रो मे कही गई है अर्थात् 'सविज्ञानो भवति' इस शास्त्र-वचन से देह से भिन्न बुद्धि का सद्भाव सिद्ध है तो हम कहेगे कि "बुद्धि से भिन्न चिदाभास है" यह बात प्रवेशश्रुतियो में कही गई है। (जैसे तुम श्रुति के आधार पर बुद्धि को देह से भिन्न मानते हो वैसे ही प्रवेशश्रुतियो के आधार पर बुद्धि से भिन्न चिदाभासको भी मानो।)

धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेन्नैतरेये धियः पृथक्।
आत्मा प्रवेशं सङ्कल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ॥३६

अन्वय–धीयुक्तस्य प्रवेशः चेत् ? न, 'धिय. पृथक् आत्मा प्रवेश सङ्कल्प्य प्रविष्ट' ऐतरेये इति गीयते ।

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि वहां बुद्धि युक्त का ही प्रवेश बताया गया है, सो ठीक नही है, क्यो कि 'बुद्धि से अतिरिक्त आत्मा, पहले प्रवेश का सकल्प कर फिर उसमे प्रविष्ट हुआ' ऐतरेय मे यह बात कही गई है। अतएव बुद्धि रूप उपाधि वाले आत्मा का प्रवेश मानना ठीक नही, वहा अकेले आत्मा के प्रवेश की बात कही है ॥३६॥

उक्त श्रुति का तात्पर्य बताते हैं :—

कथं न्विदं साक्षदेहं मद्दते स्यादितीरणात्।

विदार्य मूर्धसीमानं प्रविष्टः संसरत्ययम् ॥३७

अन्वय—'अय साक्षदेह इद मद्दते कथं नु स्यात्' इति ईरणात् मूर्धसीमानं विदार्य प्रविष्टः सहरति ।

अर्थ—यह परमात्मा 'इन्द्रिय और देह समेत वर्तमान यह जड समुदाय मुझ चेतन के विना कैसे रहेगा !' (यह देखने के लिए) तीनो कपालों की सीमाभूत मस्तक की सीवन को (अपनी सन्निधि मात्र से) भेदकर उसमें प्रविष्ट हो जाता है और जाग्रत आदि अवस्थाओ को अनुभव करने लगता है ॥३७॥

कथं प्रविष्टोऽसङ्गश्चेत्सृष्टिर्वास्य कथं वद ।
मायिकत्वं तयोस्तुल्यं विनाशश्च समस्तयोः ॥३८

अअवय—असङ्ग. कथं प्रविष्टः चेत् ? अस्य सृष्टिः वा कथ वद ? तयोः मायिकत्वं तुल्य, च तयो. विनाशः समः ।

अर्थ—यदि पूछो 'जव वह असग है तो देहादि में कैसे प्रविष्ट हो गया ?' तो हमारा प्रश्न है कि असंग होते हुए उसने सृष्टि की रचना कैसे की ? तुम्हारा आक्षेप सृष्टि-रचना में भी तुल्य है । यदि कहो कि सृष्टिकर्ता तो मायिक है अतएव वह जगत् रूप से उत्पन्न हो सकता है : इस पर हमारा कथन है कि जैसे सृष्टिकर्ता मायिक है ऐसे प्रवेश-कर्ता भी मायिक है और दोनो का विनाश भी समान है ॥३८॥

समुत्थायैष भूतेभ्यस्तान्येवानुविनश्यति ।
विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य उवाच हि ॥३९

अन्वय—'एषः भूतेभ्य. समुत्थाय तानि एव अनुविनश्यति' इति विस्पष्ट याज्ञवल्क्य मैत्रेय्यै हि उवाच ।

अर्थ—यहा 'प्रज्ञाघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सञ्ज्ञास्ति ।' इति श्रुति का निर्देश करते हुए

कहते हैं कि 'यह प्रकर्षज्ञानघन आत्मा इन देहादि पंचभूतो के कार्यादि-रूप उपाधियो से नष्ट हो जाने के साथ-साथ नष्ट होता है उनके नष्ट होने पर जीवत्वाभिमान को छोड देता है याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार मैत्रेयी को सोपाधिक का विनष्ट होना समझाया है।

अविनाश्ययमात्मेति कूटस्थः प्रविवेचितः ।
मात्रासंसर्ग इत्येनमसङ्गत्वस्य कीर्तनात् ॥२४०

अन्वय—अय आत्मा अविनाशी इति कूटस्थ. प्रविवेचित. । मात्रासंसर्ग इति एव असङ्गत्वस्य कीर्तनात ।

अर्थ—'यह आत्मा अविनाशी, अर्थात् अनुच्छित्ति (नाश का अभाव) धर्म वाला है' इस कथन से सोपाधिक जीव से भिन्न कूटस्थ रूप दिखाया है । उसके अविनाशी होने मे कारण यह है कि 'मात्राऽससर्गस्त्वस्य भवति' अर्थात् 'मात्रा, देहादि विषय, का ससर्ग कभी नही हो पाता' इस श्रुति ने इस आत्मा की असगता का कीर्तन किया है। आत्मा की असगता को यहा अविनाशी होने का हेतु बताया गया है ॥४०॥

जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न सः ।
इत्यत्र न विमोक्षोऽर्थः किंतु लोकान्तरे गतिः ॥

अन्वय—जीवापेत वाव शरीर किल म्रियते, स. न इति अत्र विमोक्ष. न । किन्तु लोकान्तरे गति ।

अर्थ—यदि कहो कि 'जीव से रहित यह शरीर ही मरता है, निश्चय ही जीव नही मारता' इस श्रुति मे तो औपाधिक जीव को भी अविनाशी माना है ? यह वात ठीक नही है—इस श्रुति मे जीव के मोक्ष का वर्णन नही है किन्तु उसकी लोकान्तरगति दर्शायी गई है। 'इस श्रुति का विषय विमोक्ष अर्थात् अत्यन्त

विनाश न होना (अविनाशीपना दिखाना नही है अपितु देहान्तर-गति ही इसका प्रतिपाद्य है ॥८१॥

नाहं ब्रह्मेति बुध्येत स विनाशीति चेन्न तत् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात् ॥

अन्वय—विनाशी सः 'अहं ब्रह्म इति न बुध्येत चेत् ? तत् न, सामानाधिकरण्यस्य बाधायां अपि सम्भवात् ।

अर्थ- -यदि जीव विनाशी है तो वह 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अविनाशी ब्रह्म के साथ एकता का ज्ञान कैसे करेगा ? यह बात नही है, क्योंकि समानाधिकरण्य बाधा मे भी होता है।

सामानाधिकरण्य दो प्रकार का होता है+यहा मुख्य समानाधिकरण्य नही है तो न सही, बाधा सामानाधिकण्य तो है। वह अपने जीवभाव की बाधा करके ब्रह्मभाव को समझा सकता है ॥४३॥

+परस्पर अपर्याय, एवं समानविभक्तिकपदो की एक ही अर्थ मे प्रवृत्ति (तात्पर्य) 'सामानाधिकरण्य' कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है। जिस वस्तु का जिसके साथ सदा सम्बन्ध होता है उनका परस्पर मुख्य सामानाधिकरण्य अथवा अभेदसामानाधिकरण्य होता है। जैसे कि घटाकाश का महाकाश के साथ अथवा कूटस्थ का ब्रह्म के साथ है।

जिस वस्तु का बोध होकर जिसके साथ अभेद है, उस वस्तु का उसके साथ बाधसामानाधिकरण्य होता है। जैसे, स्थाणु वा प्रतिबिम्ब का बाध होकर पुरुष वा बिम्ब के साथ अभेद होता है अतएव इनका आपस मे बाधसामानाधिकरण्य है। इसी प्रकार चिदाभास का भी बाध होकर कूटस्थ के साथ अथवा ब्रह्म के साथ अभेद होता है अतएव चिदाभास का कूटस्थ वा ब्रह्म के साथ बाधसामानाधिकरण्य है।

बाधसामानाधिकरण्य से वाक्यार्थ के निश्चय के प्रकार को वार्तिककार की रीति से सोदाहरण प्रदर्शित करते हैं—

योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव ।
ब्रह्मास्मीति धियाप्येषामहंबुद्धिर्निवर्त्यते ॥४३

अन्वय—'य अय स्थाणु. एष पुमान्' इति पुंधिया स्थाणुधीः इव 'ब्रह्म अस्मि' इति धिया अपि एषा अहबुद्धि निवर्त्यते ।

अर्थ—'जो यह स्थाणु दीख रहा है, यह पुरुष है' इस वाक्य मे पुरुष ज्ञान से जैसे स्थाणु ज्ञान निवृत्त हो जाता है ऐसे ही 'मै ब्रह्म हूँ'' इस प्रतीति से मैं कर्ता हू, मैं भोक्ता हूँ' आदि अह बुद्धि नष्ट हो जाती है ।

नैष्कर्म्यसिद्धावप्येवमाचार्यैः स्पष्टमीरितम् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत् ॥

अन्वय—एव आचार्यै नैष्कर्म्यसिद्धौ अपि सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्व स्पष्ट ईरितम्, अत. तत् अस्तु ।

अर्थ—पूर्वोक्त श्लोक मे वर्णित रीति से, वार्तिककार आचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि नामक ग्रन्थ मे सामानाधिकरण्य-बाध के लिए है' यह स्पष्ट कहा है, इसलिए, 'अह ब्रह्मास्मि' वाक्य मे जो सामानाधिकरण्य है उसे बाधार्थक रहने दो ।.४४॥

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् ।
अहं ब्रह्मेति जीवेन समानाधिकृतिर्भवेत् ॥४५

अन्वय—'सर्वं ब्रह्म' इति जगता सामानाधिकरण्यवत् 'अह ब्रह्म' इति जीवेन समानाधिकृति भवेत् ।

अर्थ—'यह सारा जगत् ब्रह्म है' इस श्रुति मे जैसे बाधा में भी जगत् के साथ सामानाधिकरण्य है, ऐसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' वाक्य

में जीव के साथ भी बाधा में भी सामानाधिकरण्य सम्भव है+॥४५॥

समानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम् ।
प्रयत्नतो विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया ॥४६

अन्वय–विवरणे कूटस्थ विवक्षया सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं प्रयत्नतः निराकृतम्,

अर्थ—विवरणकार ने अपने विवरण ग्रन्थ में 'अहं' शब्द से कूटस्थ-कहना चाहकर बाधसामानाधिकरण्य का प्रयत्न-पूर्वक खण्डन किया है ॥४६॥

शोधितस्त्वंपदार्थो यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम् ।
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्तमितरत्र च ॥४७

अन्वय—शोधितः त्वं पदार्थो यः कूटस्थ तस्य ब्रह्मरूपता वक्तुं विवरणे च इतरत्र तथा उक्तम् ।

अर्थ—शोधित अर्थात् बुद्धि आदि से विवेचित त्वं पद का लक्ष्यार्थ जो कूटस्थ है उसकी, सत्यादिलक्षण ब्रह्म-रूपता को,

---

+"सब जगत् ब्रह्म है" इस श्रुति में जगत् का ब्रह्म के साथ एकतारूप सामानाधिकरण्य है वहां यदि मुख्य सामानाधिकरण्य मानें तो ब्रह्म दृश्यता, विनाशिता आदि जगत् के धर्म मानने से अनर्थ होगा । इसलिए जगत् का बाध कर के ब्रह्म के साथ अभेदरूप बाध सामानाधिकरण्य है। जिनके मत मे आरोपित का अभाव (निवृत्ति), अधिष्ठान से भिन्न है, उनके मत में यहां 'जगत् के अभाव वाला ब्रह्म है, ऐसा बोध होता है और जिनके मत में आरोपित का अभाव अधिष्ठान रूप है उनके मतसे "जगत् का अभाव ब्रह्म है" ऐसा बोध होता है ।

'मैं ब्रह्म हूं' इस वाक्य में भी इसी प्रकार सामानाधिकरण्य है ।

विवक्षा से विवरण आदि ग्रन्थों मे बाधसामानाधिकरण्य का निराकरण किया है ।।४७।।

कूटस्थ और ब्रह्म की एकता दिखलाने के लिए कूटस्थ का विवक्षित अर्थ कहते हैं :—

देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या ।

अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थाऽत्र विवक्षिता ।।

अन्वय—देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या अधिष्ठानचितिः सा एषा अत्र कूटस्था विवक्षिता ।

अर्थ—देह-इन्द्रिय-मन आदि से युक्त अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म, दोनोशरीरो से युक्त जीवाभास-चिदाभास-रूप भ्रम का अधिष्ठान चैतन्य ही वेदान्तो मे कूटस्थ शब्द का अर्थ कहा गया है ।

ब्रह्मशब्द का अर्थ बताते हैं —

जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदधिष्ठानमीरितम् ।

त्रय्यन्तेषु तदत्र स्याद्ब्रह्मशब्दविवक्षितम् ।।४९

अन्वय—सर्वस्य जगत्भ्रमस्य अधिष्ठान यत् त्रय्यन्तेषु ईरितम् । तत् अत्र ब्रह्मशब्दविवक्षित स्यात् ।

अर्थ—सम्पूर्ण जगत् की कल्पना का अधिष्ठान चैतन्य वेदान्तो मे ब्रह्म शब्द से विवक्षित है ।।४९।।

एतस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा ।

तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ।।५०

अन्वय—एतस्मिन् एव चैतन्ये यदा जगत् आरोप्यते, तदा, तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ?

अर्थ—जब एक ही चैतन्य मे समस्त जगत् आरोपित है, तब उसी जगत् के एक भाग जीवाभास या चिदाभास का तो कहना

हो क्या ? अर्थात् जीव तो स्पष्ट ही आरोपित है, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है ।।५०।।

'तत्' और 'त्व' पदों का अर्थ (वाच्य) वस्तुत: एक है, परन्तु उसमें औपाधिक भेद है :—

जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः ।
तत्त्वंपदार्थौ भिन्नौ स्तो वस्तुतस्त्वेकता चितेः ।।

अन्वय—जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः तत्त्वंपदार्थौ भिन्नौ स्तः वस्तुतः चितेः एकता ।

अर्थ—जगत् और जगत् का एकदेश (चिदाभास) इन दो नामों वाले आरोपणीय पदार्थों के भेद से 'तत्' और 'त्व' पदों के अर्थ (वाच्य) भिन्न भिन्न हैं—वास्तव में तो यह अर्थ, चिति, एक ही है ।।५१।।

जैसे शुक्ति में आरोपित रजत में, अधिष्ठान शुक्ति का "यह पना" और आरोप्य रजत का 'रजत पन' ये दोनों धर्म प्रतीत होते हैं, और इसलिए रजत आरोपित कहलाती है, ऐसे ही कूटस्थ में आरोपित चिदाभास में भी आरोपितपना सिद्ध करने के लिए अधिष्ठान और आरोप्य के धर्मों की प्रतीति होनी चाहिये ? चिदाभास में जब वे नहीं हैं, तो वह क्यों कर आरोपित कहा जाता है ? उत्तर देते हैं :—

कर्तृत्वादीन्बुद्धिधर्मान्स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम् ।
दधद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत् ।।

अन्वय—बुद्धिधर्मान् कर्तृत्वादीन् च स्फूर्त्याख्यां आत्मरूपतां दधत् पुरतः विभाति । अतः आभासः भ्रमः भवेत् ।

अर्थ—बुद्धि के धर्मों, कर्तृत्व आदि को और स्फूर्तिनाम के आत्मा के धर्म को धारण करता हुआ यह आभास दीखता है, इसलिए आभास, भ्रम अथवा कल्पित ही है ।।५२।।

इस भ्रम का क्या कारण है ?

का बुद्धिःकोऽयमाभासः को वात्मात्र जगत्कथम् ।
इत्यनिर्णयतो मोहः अयं संसार इष्यते ॥५३

अन्वय—"बुद्धिः का ? अयं आभासः कः, वा आत्मा कः ? अत्र जगत् कथं ?" इति अनिर्णयतः मोहः । सः अयं संसारः इष्यते ।

अर्थ--बुद्धि क्या है ? आभास क्या है ? आत्मा कौन ? इस मे जगत् कैसे हुआ ? इन प्रश्नो का निर्णय न होने के कारण ही भ्रम होता है । यह मोह ही 'ससार' कहाता है । अर्थात् यही मोह सब अनर्थो का मूल है ॥५३॥

भ्रम की निवृत्ति कौन करता है ?

बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्त्ववित् ।
स एव मुक्त इत्येवं वेदान्तेषु विनिश्चयः ॥५४

अन्वय—बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यः विविनक्ति सः तत्त्ववित् सः एव मुक्तः इति वेदान्तेषु विनिश्चयः ।

अर्थ—जो, बुद्धि आदि के स्वरूप का विवेचन करता है वही तत्त्वज्ञानी है और वही मुक्त है--ऐसा वेदान्तशास्त्रो का निर्णय है । अर्थात् बुद्धि आदि का विवेक ही भ्रम का निवारक है ॥५४॥

एवं च सति बन्धः स्यात् कस्येत्यादिकुतर्कजाः ।
विडम्बना दृढं खण्ड्याः खण्डनोक्तिप्रकारतः ॥

अन्वय—एवं च सति कस्य बन्धः स्यात् इत्यादि कुतर्कजाः विडम्बनाः खण्डनोक्तिप्रकारतः दृढं खण्ड्याः ।

अर्थ—इस प्रकार जब कि 'बन्ध और मोक्ष दोनो अविवेक-मूलक हैं तब फिर अद्वैतवाद मे किसका बन्ध या किसका मोक्ष

है ?' इत्यादि तार्किको के लिए कुतर्कमूलक व्यङ्गो का खण्डन श्रीहर्ष मिश्राचार्यकृत "खण्डनखडखाद्य" नामक ग्रन्थ मे वताई रीति से, करना चाहिए। (जो परम आस्तिकअधिकारी हैं, उनको वोध कराने के रीति तो इस पञ्चदशी ग्रन्थ मे वताई है परन्तु जो नैय्यायिको के किए कुतर्कों और व्यङ्गो से सशय मे पड़ जाते हैं, उनको, 'खण्डनखडखाद्य' आदि सरीखे ग्रन्थो मे वोध कराना चाहिए।) ॥५५॥

इस प्रकार युक्ति और श्रुति से कूटस्थ का वुद्धि आदि से विवेचन कर अब पुराणो मे दिखाते हैं .—

वृत्तेः साक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः ।
बुभुत्सायां तथाज्ञोस्मीत्यऽभासज्ञानवस्तुनः ॥५६
असत्यालम्बनत्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु ।
साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥५७
आनन्दरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना ।
सर्वसम्वन्धवत्त्वेनसम्पूर्णः शिवसंज्ञितः ॥५८

अन्वय—वृत्तेः च वृत्तिप्रागभावस्य वुभुत्साया तथा अज्ञः अस्मि इति आभासज्ञानवस्तुन. साक्षितया स्थित ॥ ५६ ॥ असत्यालम्बनत्वेन सत्यः । सर्वजडस्य तु साधकत्वेन चिद्रूप. । सदा प्रेमास्पदत्वतः आनन्दरूप । सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना सर्वसम्वन्धवत्त्वेन सम्पूर्णः शिवसञ्ज्ञित ॥

अथ –पुराणो मे कहा है कि (कामादि वृत्तियो की उत्पत्ति के समय) यह शिव ही वृत्ति का और उदय से पूर्व उस वृत्ति के प्रागभाव का साक्षी होकर और स्वरूप को जानने की इच्छा होने पर उसका साक्षी और उस जिज्ञासा से पूर्व 'मैं अज्ञानी हूँ" इस रूप मे अनुभूयमान अज्ञान का साक्षी होकर, स्थित है। और वह

शिव, असत्यजगत् के आलम्बन अर्थात् अधिष्ठानरूप में तो "सत्य', सब जड पदार्थो का साधक (अवभासक) होने से 'चिद्रूप', सदा प्रेम का विषय होने से 'आनन्दरूप, और सब पदार्थों का अवभासकता के कारण सब का सम्बन्धी होने से, 'सम्पूर्ण' कहलाता है।

अभिप्राय यह है.–विवाद का विषय शिव वृत्ति आदियो से भिन्न है, क्योकि यह वृत्ति आदियो का साक्षी है : जो भी वृत्ति आदि से भिन्न नही है, वह उनका साक्षी भी नही है–जैसे वृत्ति आदि स्वयम्। यदि कोई शका करे कि वृत्ति आदि स्वय अपने आपसे भिन्न नही हैं, इसलिए अपने साक्षी भी नही है। इसी प्रकार कूटस्थ भी, वृत्ति आदि से भिन्न नही हो यह बात नही–इसलिए वृत्ति आदि का साक्षी न हो, यह बात नही, अपितु साक्षी ही है। यह व्यतिरेकी अनुमान का प्रकार है।

इसी प्रकार–(१) विवाद का विषय शिव, सत्य है, क्योकि मिथ्या का अधिष्ठान है, जैसे असत्य रजत की अधिष्ठान शुक्ति। (२) विवाद का विपय शिव चिद्रूप है, क्योकि जडमात्र का अवभासक है। जो चिद्रूप नही होता वह सर्वजड का अवभासक नही होता। जैसे घटादि। (३) विवाद का विषय शिव परमानन्दरूप है, क्योकि सर्वोत्कृष्ट प्रेम का विषय है, जो परमानन्दरूप नही होता वह परमप्रेमास्पद भी नही होता, जैसे घटादि। (४) विवाद का विषय शिव, परिपूर्ण है, क्योकि वह आकाश की भान्ति सर्वसम्बन्धी है। (यह अन्तिम अन्वयी अनुमान है · शेष तीनो व्यतिरेकी अनुमान हैं।) शिव का सर्वसम्बन्धीपना सब पदार्थों का अवभासकता के कारण है। विवाद का विषय शिव सब पदार्थों से आध्यासिक सम्बन्ध वाला है, क्योकि सब का प्रकाशक है। ५८॥

इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः ।
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः ५६॥

अन्वय—इति शैवपुराणेषु जीवेशत्वादिरहित· केवल स्वप्रभ शिव· कूटस्थः प्रविवेचित· ।

अर्थ—इस प्रकार सूतसहितादि शैव पुराणो में, (शिव को) जीव–ईश्वर–आदि की कल्पना से रहित, केवल (अद्वितीय), स्वय प्रकाश चैतन्य रूप शिवनामक कूटस्थ तत्त्व का विवेचन किया है ॥५६॥

कूटस्थ, जीव, ईश्वराभास से रहित कैसे सिद्ध होता है ? वताते हैं ·—

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ।
मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुम्भवत् ॥

अन्वय—'माया आभासेन जीवेशौ करोति' इति श्रुतत्वत जीवेशौ मायिकौ एव । तौ काचकुम्भवत् स्वच्छौ ।

अर्थ—'माया आभास के द्वारा 'जीव' 'ईश्वर' को वना लेती है'' श्रुति में यह वताया है, इसलिए जीव और ईश्वर मायिक और दोनो काचकुम्भ की भान्ति स्वच्छ होते हैं । अर्थात् जैसे काचनाम की मिट्टी से वना काचकुम्भ, मिट्टी के घडेसे अधिक स्वच्छ होता है ऐसे ही माया के वने होने पर भी, जीव और ईश्वर, देहादि जडो से भिन्न हैं ॥६०॥

परन्तु माया तो, काच और वेकाच के घडो की मिट्टियो की भान्ति, दो तरह की नही है, इसलिये दूसरा दृष्टान्त देते हैं –

अन्नजन्यं मनो देहात्स्वच्छं यद्वत्तथैव तौ ।
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात्स्वच्छतां गतौ ॥

अन्वय—अन्नजन्य मन. यद्वत् स्वच्छ, तथा एव तो मायिको अपि अन्यस्मात् सर्वस्मात् स्वच्छता गतो।

अर्थ—देह और मन दोनो अन्न से उत्पन्न है, तथापि मन देह से स्वच्छ होता है। इसी प्रकार 'जीव' और 'ईश्वर' दोनो मायिक हैं तो भी अन्य सब मायिक पदार्थों से (सारे जगत् से अधिक) स्वच्छ हैं।

जीव और ईश्वर की चेतनता को कैसे जानते है ?

चिद्रूपत्वं च संभाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात्।
सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं न हि ॥६२

अन्वय—चित्त्वेन एव प्रकाशनात् चिद्रू पत्व च सभाव्यम्। हि सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्कर न।

अर्थ—क्योकि वे जीव और ईश्वर चिद्रूप से प्रकाशित हुए रहते हैं इसलिए उनकी चिद्रूपता की (अनुभव से) सम्भावना करो। सब की कल्पना करने मे समर्थ माया के लिए भी कुछ दुर्घट नही है उसी ने दोनो मायिको को चिद्रूप से प्रकाशित कर डाला है।

अस्मन्निद्रापि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत्।
महामाया सृजत्येतावित्याश्चर्यं किमत्र ते ॥६३

अन्वय--अस्मन्निद्रा अपि स्वप्नगो चेतनो जीवेशो सृजेत्। महामाया एतो सृजति इति अत्र ते किं आश्चर्यम् ?

अर्थ—हमारी निद्रा भी जब स्वप्न के जीव और ईश्वर की सृष्टि कर डालती है तो 'महामाया इन चेतन जीवेश्वर को बना लेती हैं'-इसमे आश्चय की क्या बात है ! ॥६३॥

ईश्वर भी मायिक है तो फिर वह भी जीव की भान्ति असर्वज्ञता आदि गुणो से युक्त क्यो नही है ? इसका उत्तर देते हैं—

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत् ।
धर्मिणं कल्पयेद्याऽस्याः को भारो धर्मकल्पने ॥

अन्वय—च ईशे सर्वज्ञत्वादिकं कल्पयित्वा प्रदर्शयेत् । या धर्मिणं कल्पयेत् अस्याः धर्म कल्पने क. भार. ?

अर्थ—और यही महामाया ईश्वर में सर्वज्ञता आदि की रचना करके दिखाती है : बात यह है कि जो माया ईश्वररूप धर्मी की कल्पना कर लेती है उसको सर्वज्ञता आदि धर्मों की कल्पना करने मे क्या भार लगेगा !! ॥६४॥

कूटस्थेऽप्यतिशङ्का स्यादिति चेन्माऽतिशङ्क्यताम्।
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं नहि विद्यते ॥६५

अन्वय—कूटस्थे अपि अतिशङ्का स्यात् इति चेत् ? मा अतिशक्यताम् ! हि कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाण न विद्यते ।

अर्थ—जीव-ईश की भान्ति कूटस्थ को भी मायिक मानना उचित नहीं, क्योंकि कूटस्थ को मायिक मानने का कोई प्रमाण नही है ।

हां, कूटस्थ की वास्तविकता में सब श्रुतिया प्रमाण हैं .–

वस्तुत्वं घोषयन्त्यस्य वेदान्ताः सकला अपि ।
सपत्नरूपं वस्त्वन्यन्न सहन्तेत्र किंचन ॥६६

अन्वय-वेदान्ता· सकलाः अपि अस्य वस्तुत्व घोषियन्ति । अत्र सपत्नरूप अन्यत् किंचन न सहन्ते ।

अर्थ—सभी वेदान्तशास्त्र इस कूटस्थ के वास्तविक होने की घोषणा करते हैं। वे इस कूटस्थ की पारमार्थिकता के सम्बन्ध में उसके प्रतिद्वन्द्वी किसी दूसरे पदार्थ को सहन नही करते ॥६६॥

परन्तु उपरोक्त तथ्यो की सिद्धि मे प्रमाण से ही काम क्यो लेते हो तर्क क्यो नही उपस्थित करते ?

श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मो न तर्काद्वच्मि किंचन ।
तेन तार्किकशङ्कानामत्र कोऽवसरो वद ।।६७

अन्वय श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मः तर्कात् किंचन न वच्मि । तेन तार्किकशङ्काना अत्र कः अवसरः ? वद ।

अर्थ—हम तो यहा केवल श्रुति अर्थ को स्पष्ट कर रहे हैं, तर्क के सहारे कुछ नही कहते इस स्थिति मे तार्किको की शङ्काओ को यहा क्या अवसर है ? ।।६७।।

तस्मात्कुतर्कं संत्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिमाश्रयेत् ।
श्रुतौ तु माया जीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम् ।।

अर्थ—इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह कुतर्क को छोड़कर श्रुति का आश्रय ले । श्रुतियो मे माया जीव-ईश्वर को बनाती है, यह दिखाया ही है ।।६८।।

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशकृता भवेत् ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकर्तृकः ।।६९

अर्थ—ईक्षेण से लेकर प्रवेश तक की सृष्टि ईश्वर कृत है और जाग्रत, स्वरूप, सुषुप्ति, बन्ध तथा मोक्षरूप ससार को जीव ने बनाया है ।।३६।।

असङ्ग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन ।
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ।।७०

अन्वय—कूटस्थ असङ्ग· एव, अस्य किंचन अतिशय न भवति, तेन एव सर्वदा मनसि विचारयेत् ।

अर्थ—कूटस्थ तो असग ही है, (जन्म, जरा, रोग आदि से) इसका कभी कुछ अतिशय नही होता। इसलिए इन तथ्यों का सदा मन में विचार करे ॥७०॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न वद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥७१

अन्वय-निरोधः न, च उत्पत्ति. न, वद्धः न, च साधकः न, मुमुक्षु न, वै मुक्त न-इति एषा परमार्थता ।

अर्थ—मरण, जन्म, वद्ध, साधक, मुमुक्षु और मुक्त-कोई कुछ नही है, श्रुति में परमार्थता इतनी ही है ॥७१॥

अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा ।
जीवमीशं जगद्वापि समाश्रित्य प्रवोधयेत् ॥७२

अन्वय—अवाङ्मनसगम्य त प्रवोधयितु श्रुति. सदा जीवं ईश वा जगत् अपि समाश्रित्य वोधयेत् ।

अर्थ—वाणी और मन से अगम्य उस तत्व को समझाने के लिए, श्रुति, सदा जीव ईश्वर या जगत् का आश्रय लेकर वोध कराती है। जीवेश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन श्रुतियो में असग तत्त्व को समझाने के लिए ही है ॥७२॥

एक ही अद्वैत तत्व को समझाने के लिए, श्रुतियो मे विवाद क्यो है ?

यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात्साध्वीत्याचार्यभाषितम् ॥

अन्वय—'यया यया पुंसा प्रत्यगात्मनि व्युत्पत्ति. भवेत्, सा सा एव प्रक्रिया इह साध्वी स्यात्" इति आचार्यभाषितम् ।

अर्थ—"जिस जिस प्रक्रिया से पुरुषों को ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यगात्मा का ठीक ज्ञान हो जाय, वही वही प्रक्रिया उसके लिए ठीक है" यह बात सुरेश्वराचार्यने कही है। आत्मतत्व तो एक-रूप है : बोध्य और बोध कराने वालो के चित्तो मे विषमता है, इसलिए बोध कराने की रीति भी भिन्न भिन्न हो जाती हैं ॥७३॥

और यह विवाद भी श्रुति के तात्पर्य को न जानने वालो मे ही होता है —

श्रुतितात्पर्यमखिलमबुध्वा भ्राम्यते जडः ।
विवेकी त्वखिलं बुध्वा तिष्ठत्यानन्दवारिधौ ॥

अन्वय—जड अखिल श्रुतितात्पर्यं अबुध्वा भ्राम्यते। विवेकी तु अखिल बुध्वा आनन्दवारिधौ तिष्ठति।

अर्थ—मूर्ख तो श्रुति के सम्पूर्ण तात्पर्य को न जानकर भ्रम मे पड़ जाता है और विवेकी सम्पूर्ण तात्पर्य को जानकर आनन्द-समुद्र मे मग्न रहता है ॥७४॥

विवेकी के निश्चय का स्वरूप

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा ।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः ॥

अन्वय—एष मायमेघ: जगन्नीर यथा तथा वर्षतु, चिदाकाशस्य हानि: न, लाभः न, इति स्थिति: ।

अर्थ—विवेकी का निश्चय है कि मायारूपी मेघ, जगत् रूपी जल को, चाहे जैसे बरसाता रहे : इसके बरसने से चैतन्यरूप आकाश की न कोई हानि है, न लाभ है। यही सच्ची स्थिति है।

ग्रन्थाभ्यास का फल

इमं कूटस्थदीपं योऽनुसंधत्ते निरन्तरम् ।
स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥७६

अन्वय—यः इम कूटस्थदीपं निरन्तर अनुसन्धत्ते, असौ स्वयं निरन्तर कूटस्थरूपेण दीप्यते ।

जो सदा इक कूटस्थदीप का विचार करेगा वह सदा स्वयं कूटस्थ रूप होकर चमक उठेगा ।

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके अष्टम प्रकरण-कूटस्थदीप

की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्वप्रकाशिका

व्याख्या समाप्त ।



अथ ध्यानदीप-प्रकरण * —९

मङ्गलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया।
कुर्वे ध्यानदीपस्य टीकां तत्वप्रकाशिकाम् ॥

वेदान्तशास्त्र के अनुसार नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, शम-दम-उपरतितितिक्षा-श्रद्धा-समाधानरूप षट्सम्पत्ति और मोक्षकी तीव्र इच्छा-इन चार साधनो से युक्त और श्रवण-मनन-एव निदिध्यासन का अनुष्ठान करने वाले मुमुक्षु को 'तत् एव त्व' पदो के अर्थ विवेचन द्वारा महावाक्यो के अर्थज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है . परन्तु बुद्धि की मन्दता आदि प्रतिबन्धो के कारण जिसको उपनिषदो के श्रवण से भी अपरोक्षज्ञान न हुआ हो उसको, महावाक्यो के अर्थ को विषय करने वाली यथार्थानुभवरूप अपरोक्षप्रभा कैसे हो ? यह बताते हैं.—

संवादिभ्रमवद्ब्रह्मतत्त्वोपास्त्यापि मुच्यते ।
उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा ॥१

अन्वय—सवादिभ्रमवत् ब्रह्मतत्त्वोपास्त्या अपि मुच्यते, अतः उत्तरे तापनीये अनेकधा उपास्ति श्रुता ।

---

*'ध्यान अर्थात् निर्गुणोपासना का प्रकाशक होने से यह प्रकरण 'ध्यानदीप' है ।

अर्थ—जैसे सवादी भ्रम से प्रवृत्त हुए पुरुष को भी अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है वैसे ही ब्रह्मतत्त्व की उपासना से भी अभीष्ट ब्रह्मभाव रूप मुक्ति प्राप्त हो जाती है : इसीलिए तापनीयोपनिषद् में अनेक प्रकार की तत्वोपासना+का वर्णन पाया जाता है ॥१॥

सवादी भ्रम की व्याख्या

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्धयाभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोर्थक्रियां प्रति ॥२

अन्वय—मणिप्रदीपप्रभयोः मणिबुद्धया अभिधावतोः मिथ्याज्ञानाविशेषे अपि अर्थक्रियां प्रति विशेषः ।

अर्थ मणि और दीपक की प्रभाओं को मणि समझकर उनकी ओर दौडने वाले दो मनुष्यो के मिथ्याज्ञान मे कोई विशेष

+जब किसी उपास्यवस्तु के आकार की वृत्ति का ऐसा निरन्तर प्रवाह उत्पन्न हो जाय कि दूसरी वस्तु के आकार की वृत्ति का विघ्न उसमे न पड़ने पावे तो वह उपासना या उपासन कहाता है । इसके दो भेद हैं—निर्गुण और सगुण, इनमे से प्रत्येक पुन. प्रतीक रूप और ध्येयके अनुसार भिन्न-भिन्न : इस प्रकार दो प्रकार की है ।

और-वस्तु में और की बुद्धि करके उपासना करना प्रतीकोपासना है । जैसे शालिग्राम मे विष्णु बुद्धि से अथवा नर्मदेश्वर मे शकर-बुद्धि से उपासना प्रतीकोपासना है। उपास्यवस्तु के यथार्थस्वरूप का चिन्तन ध्येयानुसार उपासना है ।

(अन्तर) नही है—अर्थात् दोनो भ्रम ही हैं परन्तु फिर भी प्रयोजनसिद्धि मे विशेषता है ही, मणिप्रभा को मणि समझने वाले को तो मणि मिल ही जाती है। (यहाँ मणिप्रभा मे मणि का भ्रम सवादी भ्रम है।) ॥ २ ॥

उपरोक्त कथन की व्याख्या तीन श्लोको मे करते हैं :—

दीपोऽपवरकस्यान्तर्वर्तते तत्प्रभा बहिः ।
दृश्यते द्वार्यथान्यत्र तद्वद्दृष्टा मणेः प्रभा ॥३

दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि ॥४

न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता ।
प्रभायां धावतावश्यं लभ्यतैव मणिर्मणेः ॥५

अन्वय—अपवरकस्य अन्तः दीप. वर्तते, तत्प्रभा वहि द्वारि दृश्यते। अथ तद्वत् अन्यत्र मणे प्रभा दृष्टा ॥ प्रभाद्वय दूरे दृष्ट्वा मणिबुद्ध्या अभिधावतो द्वयो. अपि प्रभाया मणिबुद्धि' तु मिथ्याज्ञानम्। दीपप्रभा प्रत्यभिधावता मणि न लभ्यते, मणे प्रभाया धावता अवश्य मणि लभ्यते एव ॥

अर्थ—किसी मन्दिर के भीतरी कमरे में दीपक रखा है : उसका प्रकाश वाहर द्वार पर दिखाई दे रहा है, और वह रत्न की भाति गोलाकृति है। इसी प्रकार किसी दूसरे कमरे के भीतर रखी मणि का प्रकाश वाहर द्वार पर दिखाई दे रहा है। ऐसे दो प्रकाशो को दूर से देखकर 'यह मणि है' यह समझते हुये दो

पुरुष दौड़े। इनमें से दोनो ही की प्रकाश में मणिबुद्धि मिथ्या-ज्ञान है। परन्तु इन दोनो में से दीपप्रकाश को रत्न समझ कर उस ओर दौडने वाले पुरुष को तो रत्न की प्राप्ति होती नही, परन्तु जो पुरुष मणि के प्रकाश को मणि समझकर दौडा है–उसे फिर भी मणि मिल जाती है ॥३-४-५॥

विसवादी और संवादी भ्रम का स्वरूप

दीपप्रभावमणिभ्रान्तिर्विसवादिभ्रमः स्मृतः।
मणिप्रभामणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते ॥६

अर्थ---यहां दीपप्रकाश में जो मणि की भ्रान्ति है, वह विस-म्वादिभ्रम और मणिप्रकाश मे जो मणि-बुद्धि है उसे सम्वादी भ्रम कहते हैं। (विसवादिभ्रम अर्थात् विफलभ्रम, कारण कि उससे मणि का लाभ नही होता और संवादिभ्रम 'सफलभ्रम' है-क्योकि इससे मणि का लाभ हो जाता है।)

प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय मे सवादिभ्रम दिखाकर अब अनुमान में सवादिभ्रम का वर्णन करते हैं :---

बाष्पं धूमतया बुध्वा तत्राङ्गारानुमानतः।
वह्निर्यदृच्छया लब्धः स सम्वादिभ्रमो मतः ॥७

अर्थ—किसी स्थान में स्थित भाप को धुआ समझकर, उस स्थान के विषय मे, 'यह देश अग्निमान् है' ऐसा अनुमान से निश्चय कर, प्रवृत्त पुरुष को यदि दैवयोग से अग्निलाभ हो जाय तो वहा भाव दिखाने वाला धूमज्ञान सवादी भ्रम कहलाता है ॥७॥

गोदावर्युदकं गङ्गोदकं मत्वा विशुद्धये ।
संप्रोक्ष्य शुद्धिमाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥

अर्थ—अब आगम मे सम्वादी भ्रम को दिखाते है-गोदावरी के जल को गङ्गाजल मान कर शुद्धि के लिए अपने देह पर छिडककर मनुष्य शुद्ध हो जाता है यह भी सम्वादी भ्रम है। गोदावरी का जल भी, यद्यपि, शास्त्र मे शुद्धि का हेतु बताया है अतएव उसके प्रोक्षण से भी शुद्धि तो होती है, तथापि उसमे गङ्गाजल की बुद्धि भ्रम ही है।

ज्वरेणप्तः संनिपातं भ्रान्त्या नारायणं स्मरन् ।
मृतः स्वर्गमवाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥९

अन्वय—ज्वरेण सन्निपात आप्त भ्रान्त्या नारायण स्मरन् मृत स्वर्गं अवाप्नोति । स सवादिभ्रम मत. ।

अर्थ—ज्वर के कारण सन्निपात का रोगी हुआ मनुष्य ("यह नारायणस्मरण मेरे लिए स्वर्गप्राप्ति का साधन है" यह न जानता हुआ भी, सन्निपात से हुये भ्रम के वश शिशुपाल आदि साधारण पुरुषो की भान्ति) नारायण का स्मरण करता हुआ, मर कर स्वर्ग मे पहुँच ही जाता है, यह सम्वादी भ्रम है ॥९।

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे ।
उक्तन्यायेन सवादिभ्रमाः सन्ति हि कोटिशः ॥१०

अर्थ—इस प्रकार 'प्रत्यक्ष' अनुमान और शास्त्र के विषय में, पूर्वोक्त न्याय से करोड़ो सम्वादी भ्रम प्रसिद्ध हैं ॥१०॥

अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवताः कथम् ।
अग्नित्वादिधियोपास्याः कथं वा योषिदादयः ॥

अन्वय—अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः देवता. कथ, स्युः ? वा योषिदादय. अग्नित्वादिधिया कथ उपास्या. ?

अर्थ—यदि सम्वादिभ्रम को न मानोगे तो, फलसिद्धि के लिये, मिट्टी काठ और शिला कैसे देवता होंगे ? और स्त्री आदि, अग्नि आदि की बुद्धि से उपास्य कैसे होते ? यहाँ छान्दोग्योपनिषद् के चतुर्थ अध्याय मे वर्णित 'पञ्चाग्नि विद्या' की ओर निर्देश है ॥११॥

अयथावस्तुविज्ञाना फलं लभ्यत ईप्सितम् ।
काकतालीयतः सोऽयं संवादिभ्रम उच्यते ॥१२

अन्वय—अयथावस्तुविज्ञानात् ईप्सित फल काकतालीयत लभ्यते । स. अय सवादिभ्रम उच्यते ।

अर्थ—जहा शास्त्र से विहित अथवा अविहित विपरीतज्ञान से अभीष्ट फल, दैवात्, प्राप्त हो जाय, वहाँ सवादी भ्रम माना है ।

अयथार्थवस्तु विषयक ब्रह्मोपासना से मुक्ति का यही प्रकार है.—

स्वयंभ्रमोऽपि संवादो यथा सम्यक्फलप्रदः ।
ब्रह्मतत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा ॥१३

अन्वय—यथा सवादी स्वय भ्रम अपि सम्यक् फलप्रद' तथा ब्रह्मतत्वोपासना अपि मुक्तिफलप्रदा ।

अर्थ जैसे सवादी अर्थात् सफल प्रवृत्ति का जनक ज्ञान

स्वय भ्रम रूप है तो भी, सम्यक् फल देता है ऐसे ही ब्रह्मतत्व की उपासना भी मुक्तिफल देती है ।।१३।।

परोक्षज्ञान से ब्रह्मोपासना का प्रकार

वेदान्तेभ्यो ब्रह्मतत्त्वमखण्डैकरसात्मकम् ।
परोक्षमवगम्यैतदहमस्मीत्युपासते ।। १४

अन्वय–वेदान्तेभ्य अखण्डैकरसात्मक ब्रह्मतत्व परोक्ष अवगम्य 'एतत् अहं अस्मि' इति उपासते ।

अब प्रश्न यह है कि ब्रह्मतत्व को पहले जानकर उपासना करते हो या जाने विना ? प्रथम पक्ष तो ठीक नही है क्योकि ब्रह्म का ज्ञान होने से तो मोक्ष हो जायगा फिर उपासना की क्या आवश्यकता रहेगी ? फिर बिना जाने उपासना कैसे हो सकती है ? बताते हैं–वेदान्तशास्त्रों से अखड एकरस ब्रह्मतत्व को परोक्ष जानकर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप मे उपासना की जाती है। अभिप्राय यह है कि मोक्ष का साधन तो ब्रह्मात्मैकता रूप अपरोक्षज्ञान है—वह अभी उत्पन्न नही हुआ अतएव शास्त्र से ब्रह्म का परोक्षज्ञान होने पर उपरोक्त अपरोक्षज्ञान के लिए ब्रह्म की उपासना उचित है ।।१४।।

उपास्य ब्रह्मतत्व के परोक्षज्ञान का स्वरूप बताते हैं –

प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद्विष्ण्वादिमूर्तिवत् ।
अस्ति ब्रह्मेति सामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः ।।१५

अन्वय–प्रत्यग्व्यक्ति अनुल्लिख्य शास्त्रात् 'ब्रह्म अस्ति' इति सामान्यज्ञान अत्र परोक्षधी , विष्ण्वादिमूर्तिवत् ।

अर्थ—बुद्धि आदि के साक्षी आनन्दरूप आन्तर आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्षरूप से विषय न करके, शास्त्र से "ब्रह्म है" ऐसा जो सामान्यज्ञान होता है वह परोक्षज्ञान है। जैसे विष्णु आदि की मूर्ति के प्रतिपादकशास्त्र से विष्णु का परोक्षज्ञान होता है ॥१५॥

विष्णु आदि का मूर्तिज्ञान कैसे परोक्षज्ञान है ?

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्तिमनुल्लिखन् ।
अक्षैः परोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुमीक्षते ॥१६

अन्वय--चतुर्भुजाद्यावगतौ अपि अक्षैः मूर्ति अनुल्लिखन् परोक्षज्ञानी एव, तदा विष्णु न ईक्षते ।

अर्थ—शास्त्र से मूर्ति का चतुर्भुजपना आदि ज्ञात हो जाने पर भी, मूर्ति को इन्द्रियो से नही देख पाता इसलिए वह मूर्ति का परोक्षज्ञानी ही है · वह उपासना के समय विष्णु को इन्द्रियो से देखता भी तो नही है ॥१६॥

और इसको भ्रम भी नही कह सकते ·—

परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम् ।
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्यमूर्तेविभासनात् ॥१७

अन्वय–परोक्षत्वापराधेन अतत्ववेदन न भवेत् । प्रमाणेन शास्त्रेण एव सत्यमूर्ते विभासनात् ।

अर्थ—क्योकि परोक्षता के अपराध से अतत्ववेदन नही होता, भ्रान्तिज्ञान का कारण, परोक्षज्ञान नही, अपितु विषय का मिथ्या होना है। यहा तो प्रमाणभूत शास्त्र से ही यथार्थभूत

मूर्ति का अवभास होता है, अतएव यह परोक्षज्ञान यथार्थ है, भ्रम नही।

परन्तु शास्त्र से उत्पन्न हुआ, सच्चिदानन्द व्यक्ति का उल्लेखी, ब्रह्मतत्वज्ञान परोक्ष कैसे हो सकता है?

सच्चिदानन्दरूपस्य शास्त्राद्भानेप्यनुल्लिखन्।
प्रत्यञ्चं साक्षिणं तत्तु ब्रह्म साक्षान्न वीक्षते ॥१८

अन्वय---शास्त्रात् सच्चिदानन्दरूपस्य भाने अपि प्रत्यच साक्षिण अनुल्लिखन् तत् ब्रह्म तु साक्षात् न वीक्षते।

अर्थ—शास्त्र के प्रमाण से सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर भी, प्रत्यक् अर्थात् आन्तर साक्षी को विषय न करता हुआ अर्थात् ब्रह्म के प्रत्यगात्मरूप को न जानता हुआ पुरुष, उस ब्रह्मको साक्षात् नही देखा पाता ॥१८॥

शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानन्दनिश्चयात्।
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्त्वज्ञानं न तु भ्रमः ॥१९

अन्वय—शास्त्रोक्तेन एव मार्गेण सच्चिदानन्दनिश्चयात् परोक्ष अपि तत् ज्ञान तत्वज्ञान, भ्रम: तु न।

अर्थ- वह पूर्वोक्त परोक्ष ब्रह्मज्ञान शास्त्रोक्त रीति से ही सच्चिदानन्द रूप का निश्चायक होता है, इसलिए परोक्ष है तो भी वह भ्रम नही यथार्थ ज्ञान अथवा तत्वज्ञान ही है। १९॥

ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम्।
महावाक्यैस्तथाप्येतद्दुर्बोधमविचारिणः ॥२०

अन्वय—यद्यपि शास्त्रेषु महावाक्यैः ब्रह्म प्रत्यक्त्वेन एव वर्णित तथापि एतत् अविचारिण. दुर्बोधम् ।

अर्थ—यद्यपि वेदान्तो में 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों से ब्रह्म का प्रत्यगात्मारूपसे उपदेश किया है तथापि यह प्रत्यगात्मरूप, 'तत्त्व' पदार्थ के विवेक से रहित पुरुष के लिए दुर्बोध है . इसलिए निरे, अर्थात् विचाररहित, वाक्य से अपरोक्षज्ञान उत्पन्न नही होता ।

जब, सम्यक्ज्ञान प्रमाण और प्रमेय के अधीन है और 'तत्वमसि' आदि प्रमाण और ब्रह्मात्मैक्य वस्तु भी विद्यमान है तब विचार के बिना ब्रह्म का प्रत्यगात्मरूप दुर्बोध क्यो है ? इसलिए कि :—

देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां न हठात्पुमान् ।
ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मन्दधीत्वतः ॥२१

अन्वय—देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्या पुमान् मदधीत्वतः हठात् ब्रह्म आत्मत्वेन विज्ञातु न क्षमते ।

अर्थ—विचार से निवृत्तियोग्य देहादिक में आत्मपन को भ्राति के विद्यमान रहते, पुरुष मन्दबुद्धि होने के कारण, हठ से ब्रह्म को आत्मा समझने मे असमर्थ होता है : उपरोक्त भ्रम को निवृत्ति के लिए विचार करना आवश्यक है ॥२१॥

ब्रह्मसात्वं सुविज्ञेयं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः ।
अपरोक्षद्वैतबुद्धिधः परोक्षाद्वैतबुद्धवनुत ॥२२

अन्वय--अपरोक्षद्वैतबुद्धि परोक्षाद्वैतबुद्धयनुत् श्रद्धालो. शास्त्र-दर्शिन. ब्रह्मापरोक्षं सुविज्ञेयम् ।

अर्थ—क्योंकि अपरोक्षद्वैतज्ञान, परोक्षअद्वैतज्ञान का विरोधी नही है इसलिए श्रद्धालुशास्त्रदर्शी पुरुष को ब्रह्म का परोक्षज्ञान होना सुकर है ।+ ॥२२॥

फिर शास्त्रो में विवाद क्यो चलता है ? इसका उत्तर देते है :-

अपरोक्षशिलाबुद्धिर्न परोक्षेशतां नुदेत् ।
प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिपद्यते ॥२३

अर्थ—पत्थर की प्रतिमा मे प्रत्यक्ष पाषाण-ज्ञान, ईश्वरता के परोक्षज्ञान को नही हटा पाता भला प्रतिमा आदि मे विष्णु-त्व मानने मे किस को विवाद है ? ॥२३॥

अश्रद्धालोरविश्वासो नोदाहरणमर्हति ।
श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेष्वधिकारतः ॥२४

अर्थ—इस विषय मे अश्रद्धालु अविश्वासी का उदाहरण देना

+ नियम यह है कि एक वस्तु को विषय करने वाले भिन्न आकार वाले दो ज्ञान एक अन्त करण मे नही होते इसलिये एक ही द्वैत अथवा अद्वैत के अपरोक्ष और परोक्षज्ञान के एक अन्त करण मे होने का विरोध हैं . परन्तु द्वैत के अपरोक्षज्ञान और अद्वैत के परोक्षज्ञान का विरोध नही है । इसलिये उपासक को देहादिद्वैत की अपरोक्ष भ्राति के होते हुये भी, अद्वैत ब्रह्म का परोक्षज्ञान होना सम्भव है ।

उचित नही है क्योकि वेदोक्तानुष्ठानो मे सर्वत्र श्रद्धालु ही अधिकारी है उसी का उदाहरण उचित है ॥२४॥

सकृदाप्तोपदेशेन परोक्षज्ञानमुद्भवेत् ।
विष्णुमूर्त्युपदेशो हि न मीमांसामपेक्षते ॥२५

अर्थ —यथार्थवक्ता के एकवार के उपदेश से ही परोक्षज्ञान उत्पन्न हो जाता है : विष्णुमूर्ति का उपदेश परोज्ञान के जनन में विचार की अपेक्षा नही रखता . वह तो विचार के विना ही परोक्षज्ञान को उत्पन्न कर देता है ॥२५॥

फिर शास्त्रो मे विचार क्यो चलता है ? इसका उत्तर देते हैं ?

कर्मोपास्ती विचार्येते अनुष्ठेयाविनिर्णयात् ।
बहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं कः प्रभुर्नरः ॥२६

अन्वय—अनुष्ठेयाविनिणयात् कर्मोपास्ती विचार्येते, बहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं क. नर प्रभु. ?

अर्थ—अनुष्ठेय कर्म और उपासनाओ का निर्णय न होने के कारण उन दोनो का शास्त्र मे विचार किया गया है। नाना शाखाओ मे जहा-तहां विखरे हुए कर्म और उपासनाओ को एकत्र कर निर्णय करने मे आज हम मे से कौन मनुष्य समर्थ है कोई भी नही।

निर्णीतोऽर्थः कल्पसूत्रैर्ग्रथितस्तावताऽस्तिकः ।
विचारमन्तरेणापि शक्तोऽनुष्ठातुमञ्जसा ॥२७

अन्वय.—निर्णीत. अर्थ कल्पसूत्रैः ग्रथितः तावता आस्तिकः विचार विना अपि अञ्जसा अनुष्ठातु शक्त ।

अर्थ—परन्तु जो पूर्वाचार्यों से निश्चित किया अनुष्ठान-प्रकार, कल्पसूत्रो ने सग्रह कर दिया है, उसका अनुष्ठान आस्तिक पुरुष विना विचारे भी कर सकते हैं। (जैमिनीय, आश्वलायन, आपस्तम्ब, बोधायन, कात्यायनीय और वैखानसीय ये छ कल्प-सूत्र हैं।)

उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम् ।
विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः ॥२८

अन्वय—आर्षग्रन्थेषु उपास्तीना अनुष्ठान वर्णित विचाराक्षममर्त्या-श्च तत् गुरो श्रुत्वा उपासते ।

अर्थ—ऋषिकृतग्रन्थो मे उपासनाओ का अनुष्ठान है, इसी-लिए स्वय विचार मे असमर्थ पुरुष उस उपासना को गुरुमुख से सुनकर उसका अनुष्ठान कर पाते है ॥२८॥

फिर आधुनिक ग्रन्थकर्ता भी वेदवाक्यो का विचार क्यो करते हैं ?

वेदवाक्यानि निर्णेतुमिच्छन्मीमांसतां जनः ।
आप्तोपदेशमात्रेण ह्यनुष्ठानं हि संभवेत् ॥२९

अन्वय—वेदवाक्यानि निर्णेतु इच्छन् जन. हि मीमासताम्, अनुष्ठान् हि आप्तोपदेशमात्रेण सम्भवेत् ।

अर्थ—वेदवाक्यो का निर्णय करना चाहने वाला विद्वान् जन भले ही विचार करे, परन्तु उपासना का अनुष्ठान तो आप्तपुरुष के उपदेशमात्र से सम्भव है ॥२९॥

परन्तु अपरोक्षज्ञान, विचार के विना उत्पन्न नहीं होता :—

ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्त्वेवं विचारेण विना नृणाम् ।
आप्तोपदेशमात्रेण न संभवति कुत्रचित् ॥३०
परोक्षज्ञानमश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत् ।
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः ॥३१

अन्वय—एव नृणा ब्रह्मसाक्षात्कृति. तु विचारेण विना आप्तोदेश मात्रेण कुत्र चित् न सम्भवति । (कुत.) अश्रद्धा परोक्षज्ञान प्रतिवध्नाति इतरत् न, अविचार· अपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिवन्धक ।

अर्थ—इस प्रकार मनुष्यो को ब्रह्मका साक्षात्कार (अपरोक्ष-ज्ञान) तो, विचार के विना, केवलमात्र आप्तोपदेश से कभी सम्भव नही है । आप्तोपदेशमात्र से तो उपासना के अनुष्ठान के विषय मे उपयोगी परोक्षज्ञान ही उत्पन्न होता है । क्योकि अश्रद्धा अर्थात् अविश्वास ही, परोक्षज्ञान का प्रतिवन्धक है, अविचार नही । (इसलिए अविश्वास के हटते ही एक ही वार के उपदेश से परोक्षज्ञान हो जाता है ।) अपरोक्षज्ञान का प्रतिवन्ध अविचार है । वह अविचार तो विचार के विना हट नही सकता ॥३०-३१॥

एक वार विचार से अपरोक्षज्ञान न हो तो वार-वार विचार करे :—

विचार्याप्यापरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत् ।
आपरोक्ष्यावसानत्वाद्भूयो भूयो विचारयेत् ॥३२
विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत् ।

जन्मान्तरे लभेतैव प्रतिबन्धक्षये सति ॥१३
इह वाऽमुत्र विद्येत्येवं सूत्रकृतोदितम् ।
शृण्वन्तोऽप्यत्र बहवो यन्न विद्युरिति श्रुतिः ॥

अन्वय —विचार्य अपि ब्रह्मात्मान आपरोक्ष्येण न वेत्ति चेत् ? आपरोक्ष्यावसानत्वात् भूय भूय. विचारयेत् ॥ आमरण विचारयन् आत्मान न लभेत चेत् ? जन्मान्तरे प्रतिबन्धक्षये सति लभेत एव ॥ "इह वा अमुत्र वा विद्या" इति सूत्रकृता उदितम्, "बहवः शृण्वन्त. अपि यत् अत्र न विद्यु" इति श्रुतिः ॥

अर्थ—'तत्त्व' पदो के अर्थो का भलीभान्ति विचार करके भी यदि ब्रह्मात्मा की एकता का प्रत्यक्षज्ञान नही होता तो, क्योकि केवल विचार ही अपरोक्षज्ञान का हेतु है, इसलिए बार-बार विचार करे। (बार बार विचार करते हुए) आमरण विचार करने पर भी यदि आत्मा का ज्ञान न हो तो, जन्मान्तर मे प्रतिबन्ध के नष्ट होने पर तो, ज्ञान हो ही जायगा अतएव विचार व्यर्थ न होगा। (हमारा यह कथन प्रमाण के आधार पर है) क्योकि ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' (ब्रह्म सू० ३-४-५१) सूत्र*

---

* इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि कोई भी पुरुष इस दृष्टि से श्रवणादि मे प्रवृत्त नही होता कि मुझे दूसरे जन्म मे ज्ञान प्राप्त हो : उसकी तो यही इच्छा रहती है कि इस जन्म मे ही ज्ञान मिले परन्तु प्रसङ्गागत प्रतिबन्ध के न होने पर ही इस जन्म मे ज्ञानोत्पत्ति होती है—यह बात श्रुति-स्मृतियों से स्पष्ट है।

में—"विचार करने वाले को इस जन्म में या दूसरे जन्म में ब्रह्म-ज्ञान हो जाता है" यह कहा है। और "प्रतिबन्ध होने पर, बहुत से ब्रह्म को इस जन्म मे नही जान पाते" यह श्रुति (कठ० २-७) मे कहा है ॥३२-३३-३४॥

गर्भ एव शयानः सन् वामदेवोऽवबुद्धवान् ।
पूर्वाभ्यस्तविचारेण यद्वदध्ययनादिषु ॥३५
बहुवारमधीतेऽपि तदा नायाति चेत्पुनः ।
दिनान्तरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं स्मरेत्पुमान् ॥३६

अन्वय—गर्भे एव शयानः सन् वामदेव पूर्वाभ्यस्तविचारेण अव-बुद्धवान्, यद्वत् अध्ययनादिषु। बहुवार अधीते अपि यदा न आयाति चेत् पुनः दिनान्तरे अनधीत्य एव पूर्वाधीत पुमान् स्मरेत्।

अर्थ—'गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदहं देवाना जनिमानि विश्वा' (ऐतरेय ४-५) इस श्रुति मे कहा है कि गर्भवास के दिनो मे ही, वामदेव, पूर्वजन्म में अभ्यस्त विचार के प्रभाव से अपरोक्षज्ञानी हो गया था, जैसे अध्ययन आदि मे पूर्वाभ्यास से जान जाता है। बहुतवार पढ़ने पर भी जब वेद पाठ उस दिन स्मरण नही होता, तो, दूसरे दिन विना पढ़े हुए पाठ स्मृति में आ जाते हैं। ऐसे ही जन्म मे अनुत्पन्न ज्ञान, इस जन्म के अभ्यासवश, कालान्तर में उत्पन्न हो जाता है ॥३५-३६॥

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा ।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते ॥३७

अन्वय—यथा कृषिदर्भादिय. कालेन परिपच्यते, तद्वत् आत्मविचार: अपि शनै कालेन पच्यते।

अर्थ—जैसे खेती तथा दर्भ आदि समय पाकर ही पकते हैं, तुरन्त नही, ऐसे हो आत्मविचार भी धीरे धीरे फल देता है ।।३७।।

पुनः पुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबन्धतः ।
न वेत्ति तत्त्वमित्येतद्वार्तिके सम्यगीरितम् ।।३८

अन्वय—पुन पुन· विचारे अपि त्रिविधप्रतिबन्धत. तत्त्व न वेत्ति।' इति एतत् वार्तिके सम्यक् ईरितम्।

अर्थ—"बार-बार विचार करने पर भी तीन प्रकार के प्रतिबन्धो के होने से तत्व का साक्षात्कार नही होता" यह बात वार्तिककार ने भी भली भान्ति समझाई है।।३८।।

वार्तिककार के सन्दर्भ को अब यहाँ से ४५ वें श्लोक पर्यन्त स्पष्ट करते हैं।

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात् ।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्तते़ऽथ वा ।३९

अन्वय—कुत. तत् ज्ञान इति चेत् ? तत् हि बन्धपरिक्षयात्। असौ अपि च भूत, वा भावी, वा अथवा वर्तते।

अर्थ—(प्रश्न) वह ज्ञान (जो पहले जन्म मे उत्पन्न नही हुआ) अब क्यो हुआ ? (उत्तर) प्रतिबन्ध के क्षीण होने से। यह प्रतिबन्ध 'भूत' 'भावी' और 'वर्तमान' भेद से तीन प्रकार का है ।। ३९ ।।

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते ।
हिरण्यनिधिदृष्टान्तादिदमेव हि दर्शितम् ॥

अन्वय—अत. एव अधीतवेदवेदार्थ. अपि न मुच्यते, हि हिरण्यनिधि दृष्टान्तात् इद एव दर्शितम् ।

अर्थ—प्रतिवन्ध होने से ही वेदवेदार्थ के ज्ञाता भी मुक्त नही हो पाते । हिरण्यनिधि के दृष्टान्त से यही सिद्धांत श्रुति में स्पष्ट किया है कि प्रतिवन्ध के होते ज्ञान का उदय नही होता । "यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयु. एवमेवेमा. सर्वा प्रजा अहरर्ब्रह्मलोक गच्छन्त्य एत ब्रह्मलोक न विदन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढा' (छा० ८–३–२) इस श्रुति मे दर्शाया है कि भूगर्भविद्या को न जानने वाले हिरण्यनिधि के ऊपर चलते-फिरते भी उसे पा नही सकते, ऐसे ही ये सारी प्रजाएं ब्रह्म के पास दिन रात जाती हुई भी (वासनारूप) अनृत से ढकी रहने के कारण ब्रह्मलोक को नही पा सकती ॥४०॥

भूत (अतीत) प्रतिवन्ध का उदाहरण

अतीतेनापि महिषीस्नेहेन प्रतिबन्धतः ।
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते ॥४१
अनुसृत्य गुरुः स्नेह महिष्यां तत्त्वमुक्तवान् ।
ततो यथावद्वेदैष प्रति प्रतिबन्धस्य संक्षयात् ॥४२

अन्वय–'अतीतेन अपि महिषीस्नेहेन प्रतिबन्धत. भिक्षु तत्त्व न वेद' इति गाथा लोके प्रगीयते ॥ गुरु. स्नेह अनुसृत्य महिष्या तत्व उक्तवान्,

तत. एव प्रतिबन्धस्य सक्षयात् यथावत् वेद ॥

अर्थ —'अतीतकालके भी महिषी-स्नेह से उत्पन्न प्रतिबन्ध के कारण भिक्षु तत्व को न जान सका' यह कहानी लोक मे प्रसिद्ध है। गाथा यह है कि किसी गृहस्थ को अपनी भैस के प्रति वहुत स्नेह था। वह जब सन्यासो हुआ तो वेदान्त का श्रवण करने पर भी उस महिषी-स्नेह से उत्पन्न हुए प्रतिबन्ध के कारण, उसको गुरु की बात समझ मे नही आयी ॥४१॥ जब गुरु ने उसके महिषी-स्नेह का अनुसरण करके उसी महिषी मे तत्त्व, महिष्युपाधिक ब्रह्म, का उपदेश दिया, तब, उस महिषीस्नेहरूपी प्रतिवन्ध के हट जाने पर ही, वह यति ठीक-ठीक तत्त्व को जान पाया ॥ ४२ ॥

वर्तमान प्रतिबन्ध

प्रतिबन्धो बर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः ।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ॥४३

अन्वय—वर्तमान. प्रतिबन्ध. विषयासक्तिलक्षण., प्रज्ञामाद्य कुतर्क', व विपर्ययदुराग्रह ।

अर्थ—वर्तमान प्रतिबन्ध का एकरूप तो विषयो मे चित्त की आसक्ति का होना है। फिर बुद्धि की मन्दता, कुतर्क (शुष्क तर्क से श्रुति का दूसरा ही अर्थ लगाना) और विपरीत ज्ञान (आत्मा को कर्ता आदि मानना आदि) मे हठ—वर्तमान प्रतिवन्ध के ये चार रूप हैं, इनमे से किसी के भी रहते ज्ञानोदय नही होता। ४३।

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम् ।
नीतेऽस्मिन्प्रतिबन्धेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ॥४४

अन्वय–शमाद्यैः च श्रवणाद्यैः तत्र तत्र उचितैः अस्मिन् प्रतिबन्धे क्षयं नीते अतः स्वस्य ब्रह्मत्वं अश्नुते ।

अर्थ—शमादि तथा श्रवणादि साधनों में जो जहाँ उचित हो वहाँ उससे, इस वर्तमान प्रतिबन्ध को हटा देने पर, इस प्रतिबन्ध के क्षीण होने पर ही, पुरुष प्रत्यगात्मा के ब्रह्मभाव को पा लेता है।

आगामी (भावी) प्रतिबन्ध का उदाहरण

आगामिप्रतिबन्धश्च वामदेवे समीरितः ।
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः ॥४५

अन्वय–च आगामिप्रतिबन्धः वामदेवे समीरितः । एकेन जन्मना क्षीणः भरतस्य त्रिजन्मभिः ।

अर्थ—आगामी प्रतिबन्ध वामदेव ने बताया है। (जन्मान्तर दिखाने वाला प्रारब्धशेष आगामी प्रतिबन्ध कहलाता है। वह भोग के बिना निवृत्त नहीं होता।) वामदेव का आगामी प्रतिबन्ध अथवा प्रारब्धशेष एक जन्म में और भरत का तीन जन्मों (नृप, मृग और जड भरत इन तीन जन्मों) में क्षीण हो पाया था।

तो क्या प्रारब्ध शेष (भावी प्रतिबन्ध) नियतकाल तक ही रहता है ? नहीं,

योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते तुहुजन्मनि ।
प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तो न विचारोप्यनर्थकः ।

अन्वय—गीतायां योगभ्रष्टस्य प्रतिबन्धक्षय. वहुजन्मनि अतीते प्रोक्त, विचार अपि अनर्थक. न ।

अर्थ—गीता मे योगभ्रष्ट, अर्थात् तत्व साक्षात्कार होने तक विचार को जारी न रख बीच में छोड़ बैठने वाले पुरुष के प्रतिबन्ध का विनाश बहुत से जन्म बीतने पर बताया है। परन्तु फिर भी उसका पूर्वजन्म मे किया तत्वविचार निष्फल नही होगा, क्योंकि प्रतिबन्ध की निवृत्ति होते ही उसको विचार का फल अपरोक्षज्ञान के रूप मे मिल जायगा * ॥४६॥

गीता के छठे अध्याय (श्लो० ४१—४५) का अभिप्राय कहते हैं —

प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानात्मतत्त्वविचारतः ।

---

* बात यह है कि किसी किसी कर्म के कारण मनुष्य को अनेक जन्म भोगने पडते हैं, जैसे ब्रह्महत्या से कुत्ता, सर्प, भेड आदि दस जन्म होते हैं, अथवा कार्तिक पूर्णिमा के दिन किए कार्तिक स्वामी के दर्शन से धनादि विभूति सम्पन्न सात ब्राह्मण जन्म होते हैं। इस प्रकार अनेक जन्म का हेतु कोई-कोई कर्म प्रारब्ध फल का आरम्भक होता है, वही आगामी प्रतिबन्धक है ।

इस प्रतिबन्ध के रहने पर श्रवणादि ज्ञान साधको से भी, ज्ञानोदय नही होता । अन्तिम जन्म मे ही ज्ञान होना है ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषोऽभिजायते ॥४७
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
निःस्पृहो ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात्तद्धि दुर्लभम् ॥४८
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम् ॥४९
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥५०

अन्वय—आत्मतत्त्वविचारतः पुण्यकृतान् लोकान् प्राप्य साभिलाषः शुचीनां श्रीमतां गेहे अभिजायते ॥ अथवा, निस्पृहः ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात् एव धीमतां योगिनां कुले भवति, हि तत् दुर्लभम् ॥ हि तत्र पौर्वदेहिकं तं बुद्धिसंयोगं लभते च ततः भूयः यतते, तस्मात् एतत् दुर्लभम् ॥ सः तेन पूर्वाभ्यासेन एव हि अवशः अपि ह्रियते, अनेक जन्म संसिद्धः ततः परां गतिं याति ।

अर्थ—योगभ्रष्ट पुरुष आत्मतत्त्व विचार के बल से ही, पुण्यकारियों के लोक विशेष, स्वर्ग को प्राप्त होकर, (वहाँ भोग भोगने के पश्चात् भी यदि) उसकी अभिलाषा बनी रहे तो इस लोक में शुद्ध और श्रीमान् माता-पिता के कुल में जन्म लेता है अथवा स्वयं विरक्त (निस्पृह) हो चुका है तो ब्रह्मतत्त्व के विचार के प्रभाव से ही धीमान् (आत्मतत्त्व के निश्चयी) योगियों के कुल में जन्म लेता है, हाँ, यह योगिकुल में जन्म दुर्लभ है—थोड़े पुण्य से प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि, योगिकुल में जन्म

होने पर, वह योग भ्रष्ट, पहले देह वाले बुद्धि सम्बन्ध को शीघ्र प्राप्त कर लेता है : तत्वविचार करने वाली पहले जन्मवाली बुद्धि उसे शीघ्र मिल जाती है और वहा वह पहले प्रयत्न से भी अधिक प्रयत्न करने लगता है। इस कारण यह, योगिकुल जन्म, दुर्लभ है। अधिक प्रयत्न करने का कारण यह है कि वह पूर्वाभ्यास उसको बलपूर्वक अपनी ओर खीच लेता है और इस प्रकार अभ्यास करने के लिए विवश है। ऐसे अनेक जन्मो में तत्वज्ञान सम्पन्न होकर परमगति–मुक्ति–को प्राप्त कर लेता है ॥४७-५०॥

आगामी प्रतिबन्ध का दूसरा उदाहरण

ब्रह्मलोकाभिवाञ्छायां सम्यक्सत्यां निरुध्यताम् ।
विचारयेद्य आत्मानं न तु साक्षात्करोत्ययम् ॥

अन्वय—ब्रह्मलोकाभिवाञ्छाया सम्यक् सत्या या निरुध्य य आत्मान विचारयेत् अय तु न साक्षात् करोति।

अर्थ—ब्रह्मलोक को पाने की दृढ इच्छा होने पर भी, जो, उस इच्छा को रोक कर, आत्म विचार करेगा उसे आत्मसाक्षात्कार नही होगा ॥५१॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः ।
ब्रह्मलोके स कल्पान्ते ब्रह्मणा सह मुच्यते ॥

अर्थ—'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था.' (मु० ३–२–६) इत्यादि शास्त्र का प्रमाण है कि ऐसा पुरुष पहले ब्रह्मलोक में पहुँच कर,

वहा तत्त्व का साक्षात्कार करता है और कल्पान्त के समय ब्रह्म के साथ होता है। ५२॥

तीव्रपापी के लिए तो विचार ही दुर्लभ है।

केषांचित्स विचारोपि कर्मणा प्रतिबध्यते।
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः ॥५३

अर्थ—किन्ही-किन्ही का तो वह तत्त्वविचार भी पापकर्म के कारण रुक जाता है। इसमे प्रमाण 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य ' क० २-७) श्रुति है उसमें बताया है कि परमतत्त्व बहुत से पापियो को सुनने को भी नही मिलता ॥५३॥

यदि विचार मे असमर्थ मनुष्य पुरुषार्थ करना चाहे तो क्या करे ?

अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात्।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोनिशम् ॥

अन्वय—अत्यन्त बुद्धिमान्द्यात् वा सामग्र्या असम्भवात् अपि वा य विचार न लभते, स अनिश ब्रह्म उपासीत।

अर्थ—बुद्धि की अत्यन्त मन्दता के कारण, अथवा, सामग्री अर्थात् उपदेष्टा गुरु, अध्यात्मशास्त्र वा देशकालादि के अभाव के कारण, यदि किसी को विचार का अवसर न मिले तो वह, दिन रात ब्रह्म की उपासना किया करे ॥५४॥

उपासना निर्गुण की भी सम्भव है:—

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसंभवः।

सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात् ॥५५

अन्वय—निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य उपास्ते असम्भवः न, हि सगुणब्रह्मणि इव अत्र प्रत्ययावृत्ति सम्भवात् ।

अर्थ निर्गुण ब्रह्मतत्व की उपासना असम्भव हो, यह बात नही है, क्योंकि सगुण ब्रह्म की भांति निर्गुण ब्रह्म में भी प्रत्ययावृत्ति अर्थात् वृत्तियो की आवृत्ति रूप उपासना सर्वथा सम्भव है ।

ब्रह्म जैसे वेद्य है, वैसे ही उपास्य भी हैः—

अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा ।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न संभवेत् ॥५६

अन्वय—अवाङ्मनसगम्य तत् उपास्य न इति चेत् ? तदा अवाङ्मनसगम्यस्य वेदन च न सभवेत् ।

अर्थ—यदि कहो कि निर्गुण होने से ब्रह्म तो वाणी और मन का विषय नही इसलिये उपास्य भी नही है, तो फिर तो वाणी और मन के अविषय निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान भी कैसे सम्भव होगा ?

वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ ।
वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः ॥५७

अन्वय—वागाद्यगोचराकार इति एव यदि असौ वेत्ति, वागाद्यगोचराकार इति कुतः न उपासीत ?

अर्थ—'ब्रह्म वागादि का विषय नही है' यदि इस रूप में

उसको जानना सम्भव है तो इसी रूप में उसकी उपासना क्यो सम्भव नही ? सम्भव ही है ॥५७॥

सगुणत्वमुपास्यत्वाद्यदि वेद्यत्वतोपि तत् ।
वेद्यं चेल्लक्षणावृत्त्या लक्षितं समुपास्यताम् ॥

अन्वय—उपास्यत्वात् यदि सगुणत्व, वेद्यत्वत. अपि तत् । लक्षणा-वृत्त्या वेद्य चेत् लक्षण समुपास्यताम् ।

अर्थ.—यदि कहो कि ब्रह्म को उपास्य मानने से उसे सगुण मानना पडेगा तो यह दोष तो उनको वेद्य मानने मे भी है । फिर यदि कहो कि उसको वेद्य तो लक्षणावृत्ति से मानेंगे . सिद्धान्ती कहता है कि उपासना भी लक्ष्यरूप ब्रह्म की करो ॥५८॥

ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते ।
इति श्रुतेरुपास्यत्वं निषिद्ध ब्रह्मणो यदि ॥५९
विदितादन्यदेवेति श्रुतेर्वेद्यत्वमस्य न ।
यथा श्रुत्यैव वेद्यं चेत्तथा श्रुत्याप्युपास्यताम् ॥

अन्वय—'त्वं तत् एव ब्रह्म विद्धि, न तु यत् इद उपासते' इति ब्रह्मण: उपास्यत्वं निषिद्धं यदि ? 'विदितात् अन्यत् एव' श्रुति अस्य वेद्यत्व न। यथा श्रुत्या एव वेद्य' चेत्, तथा श्रुत्या अपि उपास्यताम् ।

अर्थ—यदि कहो कि 'तू उसी को ब्रह्म समझ, जिसकी उपासना करते हैं, इसको नही' इस आशय की श्रुति (केन १–५) से ब्रह्म की उपास्यता का निषेध हो जाता है ? तो, यो तो, वह ब्रह्म 'वह ब्रह्म विदित से भी अनोखा है' इस आशय की श्रुति

कन १—३) के अनुमार, वेद्य भी नही है। तो वात यह हुई
कि जैसे श्रुति से ब्रह्म को विदित और अविदित से अनोखा
जानते हो वैसे ही श्रुति से ही उसकी उपासना भी कर
लो ॥५९—६०॥

अवास्तवी वेद्यता चेदुपास्यत्वं तथा न किम् ।
वृत्तिव्याप्तिर्वेद्यता चेदुपास्यत्वेपि तत्समम् ॥६१

अन्वय—वेद्यना आवास्तवी चेत् ? उपास्यत्व कि तथा न ?, वृत्ति-व्याप्ति वेद्यना चेत् ? उपास्यत्वे अपि तत् समम् ।

अर्थ—यदि कहो कि ब्रह्म में वेद्यता आवास्तव है तो हम पूछते हैं कि उनमें वैमी ही उपास्यता भी क्यो नही है ? फिर यदि कहो कि वेद्यता वृत्ति की विषय है · वेदन पक्ष मे वृत्ति ब्रह्माकार हो सकती है तो हम कहेंगे कि उपास्य पक्ष मे भी वृत्ति ब्रह्माकार हो सकती है ।

का ते भक्तिरुपास्तौ चेत्कस्ते द्वेषस्तदीरय ।
मानाभावो न वाच्योस्यां बहुश्रुतिषु दर्शनात् ॥

अन्वय—ते उपास्तौ का भक्ति. चेत् ते क द्वेष तत् ईरय । बहु-श्रुतिषु दर्शनात् अस्या मानाभाव न वाच्य ।

अर्थ—यदि पूछो कि तुम्हारी उपासना मे इतनी भक्ति क्यो है तो यह बताओ कि तुम्हारा उपासना से इतना द्वेष क्यो है ? बहुत सी श्रुतियो मे उपासना का विधान देखते हैं, इस कारण यह भी नही कह सकते कि निर्गुणोपासना मे कोई प्रमाण नही है ॥६२॥

उत्तरस्मिंस्तापनीये शैव्यप्रश्नेऽथ काठके ।
माण्डूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता ।।६३

अर्थ--उत्तरतापनीय, शैव्य प्रश्न (प्रश्नोपनिषद्) कठवल्ली और माण्डूक्य आदि उपनिषदो मे सर्वत्र निर्गुणोपासना का विधान है। (तापनीय मे 'देवाह वै प्रजापति······ आत्मानमोकार नो व्याचक्ष्व।" प्रश्नोपनिषद् के पाचवें प्रश्न में "य. पुनरेत"······ इत्यादि कठवल्ली मे 'सर्वे वेदा' ··· आदि, मण्डूक्योपनिषद् मे ओमित्येतदक्षरमिद सर्वत्र' इसी प्रकार तैत्तिरीय मुण्डकादि मे निर्गुणोपासना वर्णन है।)। ६३।।

निर्गुणोपासना का प्रकार

अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पञ्चीकरण ईरितः ।
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम् ।।६४

अन्वय—अस्या. अनुष्ठान प्रकार. पञ्चीकरणे ईरित., एतत् ज्ञानसाधन चेत्? अत्र न इति केन वारितम्।

अर्थ—निर्गुणोपासना की विधि 'पञ्चीकरण' नामक ग्रन्थ मे कही गई है। यदि कहो कि इस प्रकार निर्गुणोपासना केवलज्ञान की साधक होगी, मुक्ति का साधन नही, तो इसका उत्तर यह है कि उपासना ज्ञान का साधन हो, हम कब इस बात का निषेध करते हैं?

नानुतिष्ठति कोप्येतदिति चेन्मानुतिष्ठतु ।
पुरुषस्यापराधेन किमुपास्तिः प्रदुष्यति ।।६५

अन्वय––कः अपि एतत् न अनुतिष्ठति इति चेत् ? मा अनुतिष्ठतु, पुरुषस्य अपराधेन किं उपास्ति प्रदुष्यति ?

अर्थ—(प्रश्न) निर्गुणोपासना तो संसार में कोई करता नही ? (उत्तर) न करे ! क्या पुरुष के अपराध से उपासना दूषित हो जायगी ?

प्रमाण सिद्ध का अनुष्ठान न भी हो, तो भी, वह अपरित्याज्य ही है :-

इतोऽत्यतिशयं मत्वा मन्त्रान्वश्यादिकारिणः ।
मूढा जपन्तु तेभ्योऽतिमूढाः कृषिमुपासताम् ॥

अन्वय—इतः अपि अतिशय मत्वा मूढाः वश्यादिकारिण मन्त्रान् जपन्तु, तेभ्य अतिमूढाः कृषि उपासताम् ।

अर्थ ––सगुणोपासना से भी अधिक फल देने वाला मान कर, अज्ञानी जन, वश्य आदि ऐहिकफल देने वाले वशीकरण मन्त्रों का भले ही जाप करें और उन से भी अधिक मूढजन खेती आदि कामो मे लग जावें, पर मुमुक्षु निर्गुणोपासना को नही छोडते । सगुणोपासना बहुत देर में परलोक फल देती है, तथा वशीकरण-मन्त्रो से तत्काल ऐहिकफल मिलता है, यह देखकर भी विवेकी (सगुणोपासना को नही छोडते, और मन्त्रानुष्ठान मे फलकी अनियमता एवं अनुष्ठानश्रम को देखते हुए जप करने वाले जाप छोडकर खेती आदि नही करने लग जाते : ऐसे ही मुमुक्षु निर्गुणोपासना को नही छोड़ते ।) ॥९९॥

तिष्ठन्तु मूढाः प्रकृता निर्गुणोपास्तिरीर्यते ।
विद्यैक्यात्सर्वशाखास्थान्गुणानत्रोपसंहरेत् ।।६७

अन्वय—मूढाः तिष्ठन्तु, प्रकृता निर्गुणोपास्तिः ईर्यते, विद्यैक्यात् सर्वशाखास्थान् गुणान् अत्र उपसंहरेत् ।

अर्थ—मूढो की बात जाने दो, अब प्रकृत निर्गुणोपासना का ही कथन करते हैं। निर्गुणोपासना नाम की विद्या, क्योंकि एक ही है, इसलिए भिन्न-भिन्न शाखाओ मे वर्णित, उपास्य के सब गुणो को यहां उपासना में एकत्र कर, उपासना, करनी चाहिए। वेदान्त (३–३–१) का सूत्र 'सर्ववेदान्तप्रत्यय चोदनाद्यविशेषात्' यह बताता है कि सब उपनिषदो से प्रतीयमान उक्त) जो विज्ञान (उपासनायें) हैं वे सब एकरूप हैं, कारण कि उनमे आज्ञा आदि एक ही हैं। उपसहार का अर्थ है, ब्रह्म के वाचक आनन्द आदि पदो का एक वाक्यरूप मे उच्चारण। जैसे यदि चार पुरुष एक-एक हजार रुपये लेकर, मिलकर व्यापार करें तो पूछने पर प्रत्येक यही कहेगा कि वह चार हजार रुपये से व्यापार कर रहा है, ऐसे ही भिन्न-भिन्न शाखाओ मे वर्णित उपास्य के गुणो, साधनो, वा विशेषणो का एक बुद्धि मे आरोहण करना गुणोपसहारन्याय कहलाता है : इसी न्याय से यह उपसहार सम्भव है ।।६७।।

आनन्दादेर्विधेयस्य गुणसंघस्य संहृतिः ।
आनन्दादय इत्यस्मिन्सूत्रे व्यासेन वर्णिता ।।६८

अस्थूलादेर्निषेध्यस्य गुणसंघस्य संहृतिः ।
तथा व्यासेन सूत्रेस्मिन्नुक्ताक्षरधियां त्विति ॥

अन्वय—आनन्दादे विधेयस्य गुणसघस्य सहृति. 'आनन्दादयाः,इति अस्मिन् सूत्रे व्यासेन वर्णिता। तथा अस्थूलादेः निषेध्यस्य गुणसघस्य सहृति. 'अक्षरधिया तु' इति अस्मिन् सूत्रे व्यासेन उक्ता ।

अर्थ—ये उपास्य के गुण या धर्म, विधेय (विधिवाक्यबोधित) और निपेध्य (निषेधवाक्यबोधित) भेद से दो प्रकार के हैं। इन में से जो, 'आनन्द, विज्ञान, नित्य, शुद्ध' आदि विधेय गुण हैं उनके उपसहार का विधान 'आनन्दादय प्रधानस्य' (वेदात ३-३-११) इस सूत्र मे व्यासदेव ने किया है। तथा ब्रह्म स्थूल नही है, अणुरूप नही है, ह्रस्व नही है आदि निषेध्य गुणो के उपसहार का विधान 'अक्षरधिया त्वविरोध. सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदनवत्तदुक्तम्' (वे० ३–३–३३) इस अधिकरण सूत्र में किया है।

अभिप्राय है कि प्रथमसूत्र में तो यह बताया है कि प्रधान ब्रह्मतत्त्व के समस्त सभाव्यधर्मों का उपसहार सर्वत्र कर लेना चाहिए और दूसरे सूत्र मे यह बतलाया है कि विशेष निराकरणरूपी ब्रह्म प्रतिपादन प्रकार तथा ब्रह्म प्रतिपादन सर्वत्रसमान होने से भिन्न-भिन्न प्रकरणो मे बिखरी हुई, अक्षर ब्रह्म मे द्वैत का निषेध करने वाली समस्त बुद्धियो का सब निषेधो मे उपसहार कर लेना चाहिए ॥६९॥

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः ।

न युज्येतेत्युपालम्भो व्यासं प्रत्येव मां न तु ॥

अर्थ—गुणो का उपसहार निर्गुण-उपासना का विरोधी है, इसलिए 'निर्गुण ब्रह्म की विद्या में गुणो का उपसंहार होना ही उचित नही है।' यह आक्षेपतो व्यासदेव पर ही होना चाहिए, मुझ पर नही। मैंने तो व्यासोक्त उपसंहार को दुहरा दिया है ॥७०॥

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनामनुदाहृतेः ।
अविरुद्धं निर्गुणत्वमिति चेत्तुष्यतां त्वया ॥७१

अन्वय—हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनां अनुदाहृते· निर्गुणत्व अविरुद्धम् इति चेत् ? त्वया तुष्यताम् ।

अर्थ—'सोने की बनी मूछों वाला सूर्य' इस प्रकार गुणविशिष्ट मूर्तियो का कथन न करने से निर्गुणता का कोई विरोध नही होता–यदि यह मान कर कहो कि यह तो निर्गुणोपासना ही है–तब तो ठीक है : तू सन्तोष कर क्योकि तुझे तत्व ज्ञान हो गया ॥७१॥

'आनन्दादि धर्म उपास्य के भीतर प्रविष्ट न भी हो तो भी सगुणोपासना उचित ही है, लक्षक गुणो से लक्षित ब्रह्म उपास्य है :–

गुणानां लक्षकत्वेन न तत्त्वेऽन्तःप्रवेशनम् ।
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्मतत्त्वमुपास्यताम् ॥७२
आनन्दादिभिरस्थूलादिभिश्चात्मात्र लक्षितः ।
अखण्डैकरसः सोहमस्तीत्येवमुपासते ॥७३

अन्वय—गुणाना लक्षकत्वेन तत्त्वे अन्त.प्रवेशन न इति चेत ? अस्तु एव एव, ब्रह्मतत्त्व उपास्यताम् ।। अत्र अखण्डैरस· आत्मा आनन्दादिभि च अस्थूलादिभि लक्षित. 'स: अह अस्मि' इति एव उपासते ।

अर्थ—(प्रश्न) गुण क्योकि लक्षक हैं अतएव उनका लक्ष्य-ब्रह्म मे प्रवेश नहीं है?'' (उत्तर) हम भी ऐसा ही मानते हैं। ऐसा ही अर्थात् लक्ष्यभूत ही ब्रह्मतत्त्व उपास्य है। उपासना की रीति यह है कि इन श्रुतियो में अखण्डैकरस जो आत्मा आनन्दमयत्व आदि एव अस्थूलता आदि से लक्षित किया, मुमुक्षुजन उसी की 'मैं वही हूँ' इस रूप मे उपासना करते हैं ।।७३।।

ज्ञान और उपासना का भेद

बोधोपास्त्योर्विशेष: क इति चेदुच्यते शृणु ।
वस्तुतन्त्रो भवेद्बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम् ।।७४

अन्वय—बोधोपास्त्यो क विशेष इति चेत् ? उच्यते शृणुबोध: वस्तुतन्त्र. भवेत्, उपासन कर्तृतन्त्रम् ।

अर्थ—(प्रश्न) ज्ञान और उपसना मे क्या अन्तर है ? (उत्तर) सुनो, ज्ञान तो ज्ञेय वस्तु के अधीन होता है और उपासना कर्ता के अधीन होता है ।।७४।।

ज्ञान के हेतु, स्वरूप और फल

विचाराज्जायते बोधोनिच्छा यं न निवर्तयेत् ।।
स्वोत्पत्तिमात्रात्संसारे दहत्यखिलसत्यताम् ।।७५

तावता कृतकृत्यः सन्नित्यतृप्तिमुपागतः ।
जीवन्मुक्तिमनुप्राप्य प्रारब्धक्षयमीक्षते ।।७६

अन्वय–विचारात् बोध जायते, य अनिच्छा न निवर्तयेत् । स्वोत्पत्ति मात्रात् समारे अखिलसत्यता दहति । तावता कृतकृत्यः सन् नित्यतृप्ति उप गत. जीवन्मुक्ति अनुप्राप्य प्रारब्धक्षय इक्षते ।

अर्थ — वस्तुतत्व के विचार से ज्ञान उत्पन्न होता है, ज्ञान को, 'मुझे ज्ञान न हो' यह अनिच्छा भी रोक नही सकती । उत्पन्न होते ही वह ज्ञान, जगत् की सारी सत्यता को नष्ट कर देता है । इस ज्ञानमात्र से कृतकृत्य हुआ, सर्वाधिक सुख को प्राप्त हुआ विवेकी, जीवन्मुक्ति का लाभकर, प्रारब्ध क्षय की प्रतीक्षा करने लगता है ।

ज्ञान से दूसरी विशेषता दिखाने के लिए उपासना का स्वरूप दिखाते हैं –

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालुरविचारयन् ।
चिन्तयेत्प्रत्ययैरन्यैरनन्तरितवृत्तिभिः ।।७७

अन्वय—श्रद्धालुः आप्तोदेश विश्वस्य अविचारयन् अन्यै. प्रत्ययैः अनन्तरितवृत्तिभि. चितयेत् ।

अर्थ– गुरु के उपास्य-प्रतिपादक वाक्य मे विश्वास करके, स्वय उस विषय मे कुछ भी न विचार करता हुआ, अपने उपास्यतत्व के चिन्तन मे अन्य, विजातीय घटादिविषयकविचारो को न आने दे कर, निरन्तर उपास्य का चिन्तन करे : यही उपासना का स्वरूप है ।

कब तक उपासना करे ?

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते ।
तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत् ।।

अर्थ—जब तक चिन्त्य के स्वरूप का अभिमान, उपासक न हो जाय, तब तक, चिन्तन करता रह कर, और पीछे से, मरण पर्यन्त इसी धारणा को बनाये रखे ।।७८।।

उपासक के उपास्य स्वरूपाभिमान का उदाहरण

ब्रह्मचारी भिक्षमाणो युतः संवर्गविद्यया ।
संवर्गरूपतां चित्ते धारयित्वा ह्यभिक्षत ।।७९

अन्वय—सवर्गविद्यया युत ब्रह्मचारी भिक्षमाण. सवर्गरूपता चित्ते धारयित्वा हि अभिक्षत ।

अर्थ—सवर्ग+गुणविशिष्ट प्राण के उपासक ब्रह्मचारी ने अपने आपको अपने चित्त मे सवर्गरूप मानकर भिक्षा की थी ।

यह गाथा छान्दोग्योपनिषद् (४–३) मे है । सवर्गोपासक ब्रह्मचारी भिक्षा के लिए अभिप्रतापी राजा के समीप गया । उसको ब्रह्मवित् होने

+अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल को, अधिदैवरूप (समष्टिरूप) वायु प्रलयसमय मे विलीन (सवर्जन) करता है, इसलिए वायु को सवर्ग कहते हैं । और वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन को अध्यात्म (व्यष्टि) वायु, सुषुप्तिकाल में विलीन करता है—इसलिये भी वायु सवर्ग कहलाता है ।

का अभिमान था। भिक्षा न देने पर ब्रह्मचारी ने कहा—"एक (प्राण रूप) प्रजापति है, वह अग्नि तथा वाग् आदि को अपने में लीन कर लेता है, वह सब लोकों का रक्षक है। उस प्रजापति को अविवेकी मर्त्य नहीं जानते। उसके खाने के लिए ही यह अन्न बनता है। उसके लिए तुमने अन्न नहीं दिया ...." इत्यादि। इस प्रकार उस ब्रह्मचारी ने अपने उपास्य प्राण को अपने से अभिन्न मानकर भिक्षा मांगी। इस प्रकार उपास्य वस्तु की स्वरूपता का अभिमान उपासना की अवधि है।

उपासना सदा करनी चाहिए क्योंकि

पुरुषस्येच्छया कर्तुमकर्तुं कर्तुमन्यथा ।
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात्प्रत्ययसंततिम् ॥

अन्वय–उपास्तिः पुरुषस्य इच्छया कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् शक्या, अतः प्रत्ययसंततिं नित्यं कुर्यात्।

अर्थ—उपासना को पुरुष अपनी इच्छानुसार कर सकता है, न चाहे तो न भी करे, या उल्ट-पुलट कर सकता है। इसीलिए (इच्छाधीन होने से) उपासना नित्य करे ॥८०॥

स्वप्न में भी उपास्यचिन्ता करने लगे :–

वेदाध्यायी ह्यप्रमत्तोऽधीते स्वप्ने ऽधिवासतः ।
जपिता तु जपत्येव तथा ध्याताऽपि वासयेत् ॥८१

अन्वय––अप्रमत्तः वेदाध्यायी जपिता अधिवासतः तु स्वप्ने हि अधीते जपति एव। तथा ध्याता अपि वासयेत्।

अर्थ–जैसे सदा सावधान वेदाध्यायी और जपकर्ता, वासना–युक्त हुआ, स्वप्न मे भी पढता और जप करता है। ऐसे ही ध्यान करने वाला उपासक भी वासना को दृढ करे और उसके कारण स्वप्न मे भी ध्यान करे ।।८१।।

स्वप्न मे भी ध्यान रहने का कारण बताते हैं :—

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्तर्येण भावयन् ।
लभते वासनावेशात्स्वप्नादावपि भावनाम् ।।८२

अर्थ—उपास्य से भिन्न वस्तु के आकार वाली वृत्ति रूप विरोधी विचार को छोडकर निरन्तर भावना करते-करते, सस्कार की दृढ़ता से स्वप्न आदि मे भी ध्यान (भावना होने लगता है ।।८२।।

प्रारब्ध-कर्मवश विषयभोग के रहते, ध्यान कैसे जमेगा ? :—

भुञ्जानोपि निजारब्धमास्थातिशयतोनिशम् ।
ध्यातुं शक्तो न संदेहो विषयव्यसनी यथा ।।

अन्वय—निजारब्ध भुञ्जान अपि आस्थातिशयत. अनिश ध्यातु शक्त, सन्देह न, यथा विषयव्यसनी ।

अर्थ—अपने प्रारब्ध को भोगता हुआ भी, उपास्य के प्रति श्रद्धा की अधिकता के कारण, निरन्तर उपासना करने में समर्थ हो सकता है—इसमे कोई सन्देह नही है। जैसे कि विषयो का व्यसनी ।।८३।।

"जैसे विषयो का व्यसनी" दृष्टान्त की व्याख्या करते हैं :—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।

तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥८४
परसङ्गं स्वादयन्त्या अपि नो गृहकर्म तत् ।
कुण्ठीभवेदपि त्वेतदापातेनैव वर्तते ॥८५
गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक्करोति तत् ।
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा ॥८६

अन्वय—परव्यसनिनी नारी गृहकर्मणि व्यग्रा अपि अन्तः तत् एव परसङ्गरसायन आस्वादयति । परसङ्ग स्वादयन्त्या अपि तत् कर्म कुण्ठी-भवेत् अपि तु एतत् आपातेन एव वर्तते । यथा गृहकृत्यव्यसनिनी तत् सम्यक् करोति, तद्वत् परव्यसनिनी सर्वथा न करोति एव ।

अर्थ—परपुरुष मे आसक्त नारी घर के (झाड़ना, बुहारना आदि) कामो मे लगी रह कर भी, परपुरुष के सङ्गरूप औषध का स्वाद मन में ही मन मे लेती रहती है। परपुरुष सङ्ग का स्वाद लेते हुये भी उसका घर का कर्म कुण्ठित नही होता—वह ऊपरी मन से चलता ही रहता है। अर्थात् जैसे घर के कामो में व्यसन रखने वाली उनको भली भान्ति करती है वैसे, वह पर-सङ्ग व्यसनिनी नारी कभी भी नहीं करती ॥८४—८६॥

दार्ष्टान्त मे उक्त दृष्टान्त को घटाते हैं :—

एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमारभेत् ।
तत्त्ववित्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत् ॥८७

अर्थ—इसी प्रकार ध्यान निष्ठ पुरुष भी आंशिक रूप में, थोड़ा बहुत लौकिक कर्मो को करता है। परन्तु तत्वज्ञानी तो,

लौकिक व्यवहार और तत्वज्ञान के परस्पर विरोधी न होने के कारण, लौकिक व्यवहार को भी भली भान्ति-निभाता रहता है+ ॥८७॥

तत्वज्ञान और लौकिक व्यवहार का अविरोध कैसे है?

मायामयः प्रपञ्चोयमात्मा चैतन्यरूपधृक् ।
इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः ॥८८

+इस प्रकरण मे ज्ञान और उपासना मे अन्तर बताया है। ज्ञान वस्तु के अधीन हैं : भ्रमज्ञान अयथार्थ वस्तु के और प्रमाज्ञान, प्रमेय एव प्रमाण के अधीन रहता है। कोई भी ज्ञान, शास्त्र विधान, पुरुषो की इच्छा, उसके हठ और विश्वास के पीछे नही चलता। 'आत्मा वा अरे मन्तव्य.' आदि श्रुतिया ज्ञान का विधान नहीं करती अपितु पुरुष की प्रवृत्ति के लिए, आत्मज्ञान सम्पादन की योग्यता को जताती हैं। जिज्ञासा रूप इच्छा भी, प्रमाण के बिना ज्ञानोत्पादन नही करती, अतएव घटनिर्माण के प्रति, कुलाल पत्नी की न्याई अन्यथा सिद्ध है। श्रवणादि प्रयत्न का हेतु हठ, श्रवणादि का ही कारण है, ज्ञान का कारण नही। और गुरुवेदान्त वाक्यो दें श्रद्धारूप विश्वास भी श्रवण में ही उपयोगी है, बोध का कारण नही। वह परोक्ष ज्ञान का कारण अवश्य है परन्तु अपरोक्ष ज्ञान का नही। क्योंकि विचार के बिना विश्वासमात्र से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न नही होता। इस प्रकार ज्ञान, प्रमेय और प्रमाण के ही अधीन है।

परन्तु उपासना तो, (१) विधि (२) कर्ता की इच्छा (३) हठ और (४) विश्वास के अधीन है। क्योंकि (१) शास्त्रविधि के अनुसरा

अपेक्षते व्यवहृतिर्न प्रपञ्चस्य वस्तुताम् ॥
नाप्यात्मजाड्यं किं त्वेषा साधनान्येव काङ्क्षति ।

अन्वय—'अय प्रपञ्चः मायामयः आत्मा चैतन्यरूपधृक्' इति बोधे लौकिक व्यवहारिण. क. विरोधः ? व्यवहृति प्रपञ्चस्य वस्तुता न अपेक्षते, आत्मजाड्य अपि न, किन्तु एषा साधनानि एव काक्षति ।

अर्थ—"यह दृश्यमान जगत् मिथ्या है और आत्मा चैतन्य रूप वाला है" तब तत्वज्ञानी को ऐसा ज्ञान है तब उसके लोकव्यवहार मे विरोध क्यो कर सम्भव है ? बात यह है कि व्यवहार के लिए न तो जगत् की सत्यता अपेक्षति है, न आत्मा की जड़ता, व्यवहार के लिए साधनो का होना आवश्यक है ।

जब मन आदि साधन विद्यमान है तो, व्यवहार क्यो न होगा ?

मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः साधनानि तान् ।
तत्त्वविन्नोपमृद्नाति व्यवहारोऽस्य नो कुतः ।६०

अर्थ—मन, वाणी, शरीर और इनके वाह्य घर, खेत आदि पदार्थ व्यवहार के साधन हैं। तत्वज्ञानी इनका निवारण करता

की हुई उपासना ही फल देती है। मनगढ़न्त उपासना से उचित फल नही मिलता । (२) उपासना की कर्ता की इच्छा के अधीनता तो स्पष्ट ही है। (३) वहिर्मुख को उपासना के लिए हठ का आश्रय लेना ही पडता है । (४) विष्णु के चतुर्भुज आदि चिन्ह न होने पर भी शालिग्राम को विष्णु समझ कर उपासना करना विश्वास के अधीन है।

नही, तो फिर व्यवहार क्यो न होगा ? होगा ही ॥६०॥

पर तत्ववेत्ता को भी चित्त का निवारण करना तो आवश्यक है ? नही :—

उपमृद्नाति चित्तं चेद्ध्याताऽसौ न तु तत्त्ववित् ।
न बुद्धिमर्दयन्दृष्टो घटतत्त्वस्य वेदिता ॥६१

अन्वय—चित्त उपमृद्नाति चेत् ? असौ ध्याता, तत्त्ववित् तु न । घटतत्त्वस्य वेदता बुद्धि मदयन् न दृष्ट ।

अर्थ—जो चित्त को रोकता है, वह 'ध्याता' (उपासक) है, तत्त्वज्ञानी नही । घट के स्वरूप का ज्ञाता, कोई, क्या बुद्धि का निरोध करता हुआ देखा है ?

ब्रह्म तो घट से भी अधिक स्पष्ट है । इसलिए चित्तनिरोध कैसा ?

सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटश्चेद्भासते सदा ।
स्वप्रकाशोयमात्मा किं घटवच्च न भासते ॥६२

अर्थ—एक बार के ज्ञान से ही जब परप्रकाश्य घट सदा प्रतीत होता रहता है तब स्वप्रकाशरूप यह आत्मा, जो घट से कही अधिक स्पष्ट है, घट की भान्ति सदा नही भासता ? भासता ही है । अतएव आत्मा के ज्ञान मे चित्तनिरोध की आवश्यकता नही है ।

ठीक है, ब्रह्मस्वप्रकाश है, परन्तु तत्वज्ञान तो, 'अह ब्रह्मास्मि' इस आकार वाली बुद्धि वृत्ति को ही होता है और वह क्षणिक है इसलिए उसको ब्रह्म मे बार-बार ठहराना पडता है, इसीलिए चित्तनिरोध की आवश्यकता है उत्तर देते हैं :—

स्वप्रकाशतया किं ते तद्बुद्धिस्तत्त्ववेदनम् ।
बुद्धिश्च क्षणनाश्येति चोद्यं तुल्यं घटादिषु ॥९२

अर्थ—(प्रश्न) ब्रह्म के स्वप्रकाश होने पर भी तत्त्वज्ञान तो ब्रह्मगोचर बुद्धि ही है, और वह क्षण भगुर है, इसलिये उसको वार-वार ब्रह्म में ठहराने की आवश्यता है। (उत्तर) यह आक्षेप तो घटादियो में भी वैसा ही है। घटादि में भी बुद्धि को वार-वार लगाते रहना आवश्यक हो जायगा।

घटादौ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव यदा घटः ।
इष्टो नेतुं तदा शक्य इति चेत्सममात्मनि ॥
निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम् ।
वक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव हि तत्त्ववित्॥

अन्वय–घटदौ निश्चिते यदा बुद्धिः नश्यति एव, तदा इष्टः घटः नेतु शक्यः इतिचेत् ? आत्मनि समम् । हि तत्त्ववित् सकृत् आत्मान निश्चित्य यदा एव त वक्तु, मन्तुं तथा ध्यातुं शक्नोति ॥

अर्थ—(प्रश्न) घटादि का निश्चय हो जाने पर जव बुद्धि अर्थात् घटाकार वृत्ति नष्ट हो जाती है (क्षणिक होने से), तव भी इष्ट घट को दूसरे स्थान पर ले जा सकते हैं–उसमें चित्त को स्थिर रखने की आवश्यकता नही होती ? (उत्तर) यही वात आत्मा मे भी समान है। उसमें भी चित्त को स्थिर रखने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि तत्त्वज्ञानी जव एक वार आत्मा को निश्चय करके जान लेता है, तव पीछे जव भी वह चाहता

है तभी उस आत्मा का कथन, मनन या ध्यान कर सकता है ॥६४-६५॥

उपासक इव ध्यायंल्लौकिकं विस्तरेद्यदि ।
विस्मरत्येव सा ध्यानाद्विस्मृतिर्न तु वेदनात् ॥

अन्वय--उपासकः इव ध्यायन् यदि लौकिक विस्मरेत्, विस्मरति एव, सा विस्मृतिः ध्यानात् वेदनात् न ।

अर्थ—यदि तत्वज्ञानी, उपासक के समान, ध्यान करता-करता लौकिक, अर्थात् जगदनुसन्धान को भूलता है तो, उसका यह विस्मरण ध्यान की प्रबलता से है, ज्ञान से नहीं । ६६ ।

तत्वज्ञानी को मोक्ष के लिए, ध्यान करने की आवश्यकता नहीं है ।—

ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः ।
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिण्डिमः ॥

अन्वय—ध्यानं तु एतस्य ऐच्छिक, वेदनात् मुक्तिसिद्धितः, ज्ञानात् एव तु कैवल्य, इति शास्त्रेषु डिडिमः ।

अर्थ—ध्यान तो तत्वज्ञानी का ऐच्छिक व्यापार है, क्योंकि मुक्ति तो इसे ज्ञान से प्राप्त हो जाती है : मुक्ति अकेले ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है--यह शास्त्रों की घोषणा है ॥६७॥

तत्त्वविद्यदि न ध्यायेत्प्रवर्तेत तदा बहिः ।
प्रवर्ततां सुखेनायं को बाधोऽस्य प्रवर्तने ॥६८

अर्थ—'तत्वज्ञानी यदि ध्यान नहीं करेगा तो बाहर प्रवृत्ति

करेगा ?" इसका उत्तर यह है कि वह बेशक बाहर प्रवृत्त हो, इसकी प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं है ॥६८॥

अतिप्रसङ्ग इति चेत्प्रसंगं तावदीरय ।
प्रसङ्गो विधिशास्त्रं चेन्न तत्त्वविदं प्रति ॥६६

अर्थ—(प्रश्न) तत्वज्ञानी की वहि प्रवृत्ति को स्वीकार करने में तो 'अतिप्रसङ्ग' हो जायगा ? (उत्तर) तुम पहले प्रसङ्ग की व्याख्या तो करो ! प्रसङ्ग का निरूपण ही नहीं हो सकता। (प्रश्न) प्रसग दुर्निरूप्य नहीं है : विधिशास्त्र (उपलक्षण से निषेधशास्त्र भी) ही तो प्रसग है ! उत्तर) यदि यही प्रसग है तो वह तो तत्वज्ञानी के लिए होता ही नहीं ! वह तो अज्ञजन के लिए ही है ॥६६॥

विधि-निषेधशास्त्र अज्ञानी के लिये ही है, यह दर्शाते हैं:—

वर्णाश्रमवयोवस्थाभिमानो यस्य विद्यते ।
तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि ॥१००

अर्थ—ब्राह्मणादि वर्ण, गृहस्थादि आश्रम, बाल्य-युवा आदि आयु और स्थिति की दशारूप अवस्थाओं का अभिमान जिस पुरुष को है, उसके लिए ही शास्त्र के सब विधि और निषेध हैं ॥१००॥

ज्ञानी का निश्चय इस सम्बन्ध में कैसा है ?

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ।
नात्मनो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चयः ॥१०१

अन्वय—"देहे मायया परिकल्पिताः वर्णाश्रमादयः बोधरूपस्य आत्मन न" इति एव तस्य विनिश्चयः।

अर्थ—तत्वज्ञानी देहधारी है तो भी "देह में माया से कल्पित जो वर्ण आश्रम आदि हैं, वे मुझ बोधरूप आत्मा के धर्म नहीं हैं" ऐसा उसका निश्चय होता है इसलिए उसे वर्णाश्रम आदि का अभिमान नहीं होता ॥१०१॥

शास्त्र भी यही बताता है कि तत्वज्ञानी को कोई कर्त्तव्य+ नहीं है —

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृद्वयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥१०२

अन्वय—हृदयेन अस्तसर्वास्थ. उत्त माशयः मुक्त. एव, समाधि अथ कर्माणि मा करोतु वा करोतु।

अर्थ—जिस पुरुष ने हृदय से सब आसक्तियों को छोड़ दिया है, और इस कारण जो निर्मल ज्ञान वाला है, वह महापुरुष मुक्त ही है, समाधि और कर्मों को चाहे न करे या करे ही ॥१०२॥

यही बात औरों ने भी कही है :

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः।

+"अमुक काम का करने से ही मुझे स्वर्ग या मोक्षफल मिलेगा, नहीं करूंगा तो नहीं मिलेगा" ऐसा सोचकर जो काम किया जाता है, वह 'कर्त्तव्य' कहलाता है, इस विचार के बिना जो क्रिया की जाती है उसे कर्त्तव्य नहीं कहते।

न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥१०३

अन्वय—यस्य मनः निर्वासन तस्य नैष्कर्म्येण न अर्थः, तस्य कर्मभिः अर्थः न अस्ति, समाधानजप्यभ्या न।

अर्थ—जिसका मन वासनाओ से रहित हो गया है, उसे न तो कर्म के त्याग को आवश्यकता है न कर्म करते रहने की ! न उसे समाधि से प्रयोजन है न जप से ही कुछ प्रयोजन है ॥१०३॥

यथार्थज्ञानी को तो कोई वासना ही नही रहती :-

आत्मासङ्गस्ततोन्यत्स्यान्द्रिजालं हि मायिकम् ।
इत्यचञ्चलनिर्णीते कुतो मनसि वासना ॥१०४

+दृढ भावना वश, पूर्वा पर का विचार छोडकर, पदार्थ का ग्रहण वासना है, इसी को अभिनिवेश कहते हैं। यह वासना दो प्रकार की है :-(१) अशुद्ध और (२) शुद्ध। अशुद्ध अथवा मलिन वासना चार प्रकार की है :-(१) पञ्चकोश और चिदात्मा के भेद के आवरक अज्ञान से घनरूप (ठोस) बनी हुयी और घन अहङ्कार से युक्त, जन्म-मरण की हेतु, वासना मलिनवासना एक है। इसी प्रकार (२) लोक-वासना (३) शास्त्रवासना और (४) देह वासनायें हैं इनके भी फिर अनेक भेद हैं। ये चारो प्रकार की वासनायें निवारण करने योग्य हैं।

तत्ववेत्ता को, आत्मा के असङ्ग होने और उससे भिन्न सब अनात्म वस्तुओ के मिथ्या होने का निश्चय है, इसलिये अनात्म पदार्थो मे उसका

अर्थ—"आत्मा असग अर्थात् सजातीयविजातीयस्वगतभेद से रहित है-उससे भिन्न सब कुछ इन्द्रजालरूप जगत् मिथ्या है' ऐसा दृढ निर्णय कर चुकने के पश्चात् मन मे वासना+ही कैसे होगी ? जब वासना ही नही तो उसको हटाने के लिए ध्यान की भी आवश्यकता नही ॥१०४॥

एवं नास्ति प्रसङ्गोऽपि कुतोऽस्यातिप्रसञ्जनम् ।
प्रसङ्गो यस्य तस्यैव शङ्क्यतेऽतिप्रसञ्जनम् ॥

अन्वय—एव अस्य प्रसङ्ग. अपि न अस्ति, कुत. अपि प्रसजनम् ? यस्य प्रसङ्ग तस्य एव अतिप्रसजन शक्येत ।

अर्थ—इस प्रकार जब ज्ञानी को प्रसग (प्रसक्ति) ही नही है तो अतिप्रसग कहा से कहा होगा ? जिसको प्रसग होता है उसी को अति प्रसग हो सकता है ॥१०५॥

कोई अभिनिवेश नही है, इसी लिये पूर्वा पर के विचार का त्याग भी नही है। अतएव उसमे मलिन वासना नही होती । देहनिर्वाहार्थ शुद्ध-वासना है तो वह, ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाने के कारण, घनीभूत नही होती इसलिए मलिन भी नही होती । यह शुद्धव सना जन्मान्तर की हेतु भी नही है ' दग्धवीज की भान्ति है . इससे ज्ञेय ब्रह्म का ज्ञान होता है, इसलिये इसे ज्ञातज्ञेय वासना भी कहते हैं । यद्यपि यह प्रारब्धभोग पर्यन्त रहती है तथापि यह फल से 'अवासना ही हैं' इस प्रकार सम्यक् ज्ञानी का मन वासना रहित कहलाता है ।

वासना का विस्तृत विवेचन श्री विद्यारण्य स्वामी के 'जीवन्मुक्ति विवेक' ग्रन्थ मे देखना चाहिये ।

विध्यभावान्न बालस्य दृश्यते ऽतिप्रसञ्जनम् ।
स्यात्कुतोऽतिप्रसंगोऽस्य विध्यभावे समे सति ॥

अन्वय–विध्यभावात् बालस्य अतिप्रसजन न दृश्यते, विध्यभावे समे सति अस्य कुतः अतिप्रसङ्ग स्यात् ।

अर्थ—लोक मे देखते हैं कि बालक के लिए विधिशास्त्ररूप प्रसग नही होता, इसलिए उसको अतिप्रसंग भी नही होता। ज्ञानी के लिए भी विधिशास्त्र नही है, अतएव वह बालक के समान है, तो इस ज्ञानी को अतिप्रसग कहा से होगा ? ॥१०६॥

न किंचिद्वेत्ति बालश्चेत्सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित् ।
अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वेस्युर्नान्ययोर्द्वयोः ॥१०७

अन्वय—बाल किंचित् न वेत्ति चेत् ? तत्त्ववित् सर्वं वेत्ति एव । अल्पज्ञस्य एव सर्वे विधयः स्यु. अन्ययो. द्वयोः न ।

अर्थ यदि कहो कि बालक तो कुछ नही जानता इसलिए उस के लिए विधि नही है, तो, हम कहेगे कि तत्त्ववेत्ता सब कुछ जानता है, इसलिए उसके लिए विधिशास्त्र नही है। बात यह है कि सर्व विधियां अल्पज्ञपुरुष के लिए ही हैं–अज्ञ या सर्वज्ञ के लिए कोई विधि नही है ॥१०७॥

शापादिसामर्थ्य ज्ञान का नहीं, तप का का फल है :–

शापानुग्रहसामर्थ्यं यस्यासौ तत्त्वविद्यदि ।
तन्न शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात्तपसो यतः ॥१०८
व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात् ।

शापादिकारणादन्यत्तपो ज्ञानस्य कारणम् ॥१०९

अन्वय—यस्य शापानुग्रहसामर्थ्यं असौ तत्त्ववित् यदि ? तत् न, यतः शापादिसामर्थ्यं तपसः फल स्यात् । व्यासादे अपि तपसः बलात् सामर्थ्यं दृश्यते, शापादिकारणात् अन्यत् तपः ज्ञानस्य कारणम् ॥

अर्थ--(प्रश्न) क्या जिसमे शाप देने अथवा अनुग्रह करने की शक्ति हो वही तत्वज्ञानी है ? (उत्तर) नही, क्योकि, शापादिसामर्थ्य तो तप का फल है, ज्ञान का नही ॥ व्यासादियो मे जो शापादि सामर्थ्य था, वह भी उनका तपोबल था, शापादि के जनक तप से भिन्न दूसरा तप ज्ञान का कारण होता है : 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इस श्रुति मे ज्ञान के कारण दूसरे तप का निर्देश है ॥१०८-१०९॥

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामर्थ्यज्ञानयोर्जनिः ।
एकैकं तु ततः कुर्वन्नेकैकं लभते फलम् ॥११०

अन्वय–यस्य द्वय अस्ति तस्य एव सामर्थ्यज्ञानयो: जनिः, तत् एकैक तु कुर्वन् एकैक फल लभते ।

अर्थ—जिससे दोनो प्रकार के तप किए हैं, उसमें सामर्थ्य और ज्ञान दोनो हैं, जो एक-एक तप करेगा, उसे एक ही एक फल मिलेगा ॥११०॥

सामर्थ्यहीनो निन्द्यश्चेद्यतिर्विधिविवर्जितः ।
निन्द्यते तत्तपोऽप्यन्यैरनिशं भोगलम्पटैः ॥१११

अन्वय—सामर्थ्यहीनः यतिः विधिवर्जित. निद्य, चेत् ? अन्यैः भोग-लम्पटै. तत्तप. अपि अनिश निद्यते।

अर्थ—यदि नियम से शापादि सामर्थ्य से सर्वथा हीन सन्यासी की विधिरहित होने के कारण, कर्मिष्ठ पुरुष निदा करते हैं तो दूसरे विषयलोलुप उस कर्मानुष्ठानरूप तप की भी तो दिनरात निंदा करते हैं ! ॥१११॥

भिक्षावस्त्रादि रक्षेयुर्यद्येते भोगतुष्टये ।
अहो यतित्वमेतेषां वैराग्यभरमन्थरम् ॥११२

अअन्वय—यदि ऐते भोगतुष्टये भिक्षावस्त्रादि रक्षेयुः वैराग्यभर-मन्थर एतेषा यतित्व अहो !

अर्थ—यदि संन्यासी भोग की तुष्टि के लिए ही भिक्षा, वस्त्र आदि धारण करने लगेंगे, तब तो वैराग्य के बोझ से बोझल यतिपना ही क्या हुआ ? ॥११२॥

वर्णाश्रमपरान् मूढा निन्दन्त्वित्युच्यते यदि ।
देहात्ममतयो बुद्धं निन्दन्त्वाश्रममानिनः ॥११३

अन्वय—मूढाः वर्णाश्रमपरान् निदन्तु इति उच्यते यदि ? देहात्ममतयः आश्रममानिन. बुद्ध निन्दन्तु ।

अर्थ—यदि कहो कि विषयलम्पट मूढ वर्णाश्रमधर्म को पालने वाले कर्मियो की निन्दा करो : इससे उनका कुछ नही बिगड़ता, तो हम कहेगे कि देहादि को आत्मा मानने वाले कर्मी, ज्ञानी की भले ही निन्दा करें : इससे ज्ञानी की कोई हानि नहीं होती।११३।

इस प्रकार प्रासङ्गिक का वर्णन कर, पुनः प्रकरणगत कहते हैं :—

तदित्थं तत्त्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात् ।
ज्ञानिनाचरितुं शक्यं सम्यग्राज्यादि लौकिकम् ॥

अन्वय—तत् इत्थ तत्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात् ज्ञानिना लौकिक राज्यादि सम्यक् आचरितु शक्यम् ।

अर्थ—उक्त रीति से तत्वज्ञान हो जाने पर, लौकिकव्यवहार के साधन मन आदि का विनाश न होने के कारण, तत्वज्ञानी, लौकिक राज्य आदि व्यवहारो को भली भान्ति कर सकता है ॥११४॥

तत्वज्ञानी, भले ही व्यवहार न चाहे :—

मिथ्यात्वबुद्धया तत्रेच्छा नास्ति चेत्तर्हि मास्तु तत्।
ध्यायन्वाऽथ व्यवहरन् यथारब्धं वसत्वयम् ॥

अर्थ—लौकिक व्यवहारो को मिथ्या समझ लेने के कारण, उन मे ज्ञानी की इच्छा ही न होगी ? ठीक है, मत हो ; वह प्रारब्धानुसार चाहे ध्यान करे अथवा व्यवहार में लग जाय ॥११५॥

उपासकस्तु सततं ध्यायन्नेव वसेदृतः ।
ध्यानेनैव कृतं तस्त ब्रह्मत्वं विष्णुतादिवत् ॥

अर्थ—परन्तु उपासक को मरणपर्यन्त सदा ध्यान में लगे रहना चाहिए, क्योकि उसकी ब्रह्मता तो ध्यान से ही सम्पादित होती है . प्रमाण से नही । अतएव जैसे ध्यान से सम्पादित

सगुणोपासक की विष्णुता पारमार्थिक नही है वैसे ही निर्गुणो-पासक की यह ब्रह्मता भी पारमार्थिक नही है ॥११६॥

ध्यानोपादनकं यत्तद्ध्यानाभावे विलीयते ।
वास्तवी ब्रह्मता नैव ज्ञानाभावे विलीयते ॥११७

अर्थ—जिस वस्तु का, ध्यान सम्पादक होता है, वस्तु ध्यान के न रहने पर लुप्त हो जाती है : परन्तु वास्तविक ब्रह्मता तो ज्ञापकज्ञान के अभाव मे भी लीन नही होती ॥११७॥

ततोऽभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः ।
ज्ञापकाभावमात्रेण न हि सत्यं विलीयते ॥११८

अन्वय—तत. अभिज्ञापकं ज्ञान, अद. नित्य न जनयति । हि ज्ञापकाभावमात्रेण सत्य न विलीयते ।

अर्थ—ज्ञान तो केवल अभिबोधक है, वह नित्य ब्रह्मत्व को उत्पन्न नही करता निश्चय ही, ज्ञापक के अभावमात्र से, सत्य वस्तु का विनाश नही हो सकता ॥११८॥

अस्त्येवोपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मतेति चेत् ।
पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता न किम् ॥

अर्थ—(प्रश्न) उपासक की ब्रह्मता भी तो वास्तविक है ? (उत्तर) यदि उपासक की ब्रह्मता वास्तविक हो तो पामर पुरुषो और पशु-पक्षियो की भी ब्रह्मता वास्तविक क्यो न हो ? ॥११९॥

अज्ञानादपुमर्थत्वमुभयत्रापि तत्समम् ।
उपवासाद्यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथाऽन्यतः ॥

पामराणां व्यवहृतेर्नरं कर्माद्यनुष्ठितिः ।
ततोऽपि सगुणोपास्तिर्निर्गुणोपासना ततः ।।

अर्थ—(प्रश्न) परन्तु पामरो का ब्रह्म तत्व तो, उनके अपने अज्ञान के कारण पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष के लिए उपयोगी नही है ? (उत्तर) मोक्षानुपयोगिता दोनो मे समान है . उपासक के ब्रह्मत्व से भी मोक्ष नही मिलता । (प्रश्न) फिर उपासना से क्या लाभ है ? (उत्तर) जैसे उपवास से भिक्षा करना श्रेष्ठ है, वैसे अन्य साधनो से उपासना श्रेष्ठ है । पामरो के खेती आदि व्यवहार से कर्मानुष्ठान श्रेष्ठ है, कर्मानुष्ठान से सगुणोपासना श्रेष्ठ है और सगुणोपासना से निर्गुणोपासना श्रेष्ठ है ।।१२०-१२१।।

यावद्विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रैष्ठ्यं विवर्धते ।
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ।।१२२

अर्थ—ज्यो-ज्यो विज्ञान की समीपता आती जाती है वैसे-वैसे श्रेष्ठता बढती जाती है । निर्गुणोपासना, तो, धीरे-धीरे ब्रह्मज्ञान मे परिणत हो जाती है, इसीलिये सर्वश्रेष्ठ है ।।१२२।।

यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते ।
विद्यायते तथोपास्तिमुक्तिकालेऽतियाकतः ।।

अर्थ—जैसे सवादिभ्रम फल मिलने के समय प्रमाज्ञान बन जाता है, वैसे ही, उपासना भी अतिपाक होने के कारण, मुक्ति काल मे 'ब्रह्मज्ञान' बन जाती है ।।१२३।।

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः ।

प्रमेति चेत्तथोपास्तिर्मान्तरे कारणायताम् ॥

अन्वय---संवादिभ्रमतः प्रवृत्तस्य पुंसः अन्ययाननः प्रमा इति चेत् ? तथा उपास्तिः मान्तरे कारणायताम् ।

अर्थ—(प्रश्न) संवादीभ्रम से प्रवृत्त हुए पुरुष को तो, उस भ्रम से प्रमाज्ञान नहीं होता अपितु किसी दूसरे प्रमाण से—इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से—प्रमाज्ञान होता है ? (उत्तर) यों तो उपासना भी स्वयं ब्रह्मज्ञान नहीं बन जाती है। निर्गुणोपासना, निदिध्यासनरूप होकर वाक्यजन्य अपरोक्षज्ञान का कारण बन जाती है ॥१२४॥

मूर्तिध्यानस्य मन्त्रादेरपि कारणता यदि ।
अस्तु नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥

अर्थ—(प्रश्न) यों तो मूर्तिध्यान और मन्त्रादि भी, चित्त की एकाग्रता के सम्पादक होने से, अपरोक्षज्ञान के साधन बनेंगे ? (उत्तर) हाँ, हम इस बात को स्वीकार करते हैं। परन्तु इस निर्गुणोपासना में विशेष प्रत्यासत्ति अर्थात् ज्ञान के प्रति समीपता पायी जाती है।

प्रत्यासत्ति को ही दिखाते हैं :—

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः ।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायसेन लभ्यते ॥

अर्थ—जब, यह निर्गुणोपासना पक जाती है तब, सविकल्प समाधि हो जाती है, फिर सविकल्प समाधि से निरोध नाम की

समाधि बन जाती है। अर्थात् 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' इस सूत्र में निर्दिष्ट निर्विकल्प समाधि अनायास ही मिल जाती है।

निरोधलाभे पुंसोऽन्तरसंगं वस्तु शिष्यते।
पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन्वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः ॥

अन्वय—निरोधलाभे पुंस अन्तः असग वस्तु शिष्यते, अस्मिन्, पुनः पुनः वासिते वाक्यात् तत्त्वधीः जायते।

अर्थ—निरोध का लाभ हो जाने पर पुरुष के भीतर असङ्ग वस्तु शेष रह जाती है और इस असङ्ग वस्तु की बार-बार भावना करने पर, 'तत्वमसि' आदि वाक्यों से—'अहं ब्रह्मास्मि' रूप तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥१२७॥

निर्विकारासङ्गनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः।
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहन्त्यविवादतः ॥

अन्वय—शास्त्रोक्ताः निर्विकारासङ्गनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः अविवादतः झटिति बुद्धौ आरोहन्ति।

अर्थ—असङ्गवस्तु की निरन्तर भावना करते रहने से, शास्त्रोक्त निर्विकारता, असङ्गता, नित्यता, स्वप्रकाशता, एकता और पूर्णताआत्मा के धर्म निर्विवाद रूप से, तत्काल बुद्धि मे बैठ जाते हैं।

योगाभ्यासस्त्वेतदर्थोऽमृतबिन्दुद्वादिषु श्रुतः।
॥१२८॥ एवं च दृष्टद्वारापि हेतुत्वादन्यतो वरम् ॥१२९

अन्वय—एतदर्थः तु अमृतविन्द्वादिषु योगाभ्यासः श्रुतः। एव च दृष्टद्वारा अपि हेतुत्वात् अन्यत. वरम्।

अर्थ—इसी निर्विकल्पसमाधि के सिद्धि के लिए, अमृतविन्दु आदि उपनिषदो में योगाभ्यास वताया है। और निर्गुर्णोपासना के अपरोक्षज्ञान के समीपतम होने के कारण, निर्विकल्पसमाधि का भी लाभ हो जाता है। इस प्रकार दृष्ट (निर्विकल्पसमाधि लाभ) और अदृष्ट प्रयोजन द्वारा ज्ञान का साधन होने से, यह सगुणोपासना आदि से श्रेष्ठ है ॥१२९॥

उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम्।
पिण्डं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत्॥

अन्वय–तत् उपेक्ष्य तीर्थयात्राजपादीन् एव कुर्वता 'पिंड' समुत्सृज्य करं लेढि' इति न्यायः आपतेत्।

अर्थ– निर्गुणोपासना की उपेक्षा करके तीर्थ यात्रा जप आदि मे लगे लोगो की तो वही अवस्था है जो हाथ मे आये ग्रास को छोडकर हाथ चाटने वाले की होती है ॥१३०॥

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि।
बाढं तस्माद्विचारस्यासंभवे योग ईरितः॥१३१

अन्वय–उपासकाना अपि विचारत्यागत. यदि एव ? वाढम्। तस्मात् विचारस्य असम्भवे योगः ईरितः।

अर्थ—(प्रश्न) यो तो, आत्म-तत्व का विचार छोड़कर निर्गुणोपासना करने वाले भी ऐसे ही अविचारशील हैं ? (उत्तर

ठीक है, इसीलिए तो विचार के असम्भव होने की दशा मे योग (निर्गुणोपासना) का विधान है ।।१३१।।

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात्तत्त्वधीर्नहि ।
योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ।।

अर्थ—क्योकि अत्यन्त व्याकुलचित्त वालो को विचार से तत्वज्ञान नही होता, इसलिए उनके लिए योग (उपासना) मुख्य उपाय बताया है · उपासना से धीदर्प नष्ट हो जाता है । इसीलिए योग मुख्य उपाय है ।।१३२।।

अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम् ।
सांख्यनामा विचारः स्यान्मुख्यो झटिति सिद्धिदः ।।

अर्थ—अव्याकुल बुद्धि वाले उन लोगो के लिए, जिनका आत्मा केवल मोह के आवरण में छिप रहा है, साख्य नाम का तत्व-विचार ही मुख्य उपाय है : उनको वही झटपट ज्ञानरूप सिद्धि देता है ।

योग (उपासना) और साख्य (तत्वविचार), दोनो ही, तत्वज्ञान द्वारा मुक्ति के साधन हैं —

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।

अर्थ—गीता के पांचवे अध्याय-श्लोक ५ में बताया है कि साख्यमार्गी जिस स्थान को पाते हैं योगमार्गी भी उसे पा लेते

हैं। जो ज्ञानी सांख्य और योग (पद्धतियो) को एक-सा समझता है, शास्त्र के तात्पर्य को वही ठीक जानता है ॥१३४॥

तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्न इति हि श्रुतिः।
यस्तु श्रुतेर्विरुद्धः स आभासः सांख्ययोगयोः॥

अर्थ—श्वेताश्वतरोपनिषद् (६–१३) मे भी बताया है कि उनके कारणभूत देव को सांख्य और योग से युक्त हुआ पुरुष जानकर, अविद्यादि पाशो से मुक्त होता है। हां, उनमें जो जो अंश श्रुति से विरुद्ध हैं वह 'सांख्य' और 'योग' नही क्रमशः 'सांख्याभास' और 'योगाभास' हैं। केवल प्रकृति ही जगत् का कारण है, ईश्वर नही, तथा प्रकृति नित्य है, आत्मा नाना हैं' साख्य का इतना अश श्रुतिविरुद्ध अतएव साख्याभास है। 'ईश्वर तटस्थ (जगत् से भिन्न स्थित) है : तथा प्रधान नित्य एवं जीव वस्तुतः नाना है' इतना अंश योग में श्रुति विरुद्ध अतएव 'योगाभास' है) ॥१३५॥

उपासनं नापि पक्वमिह यस्य परत्र सः।
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ॥१३६

अवन्य—यस्य उपासन इह अतिपरव न सः मरणे वा ब्रह्मलोके परत्र तत्व विज्ञाय मुच्यते।

अर्थ—जिसकी उपासना (योग) इस जन्म में परिपक्व नही हो पाती वह मरते समय ब्रह्मलोक में पहुँचकर, तत्वज्ञान को जानकर, मुक्त हो जाता है ॥१३६॥

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति यच्चित्तस्तेन यातीति शास्त्रतः ॥

अर्थ –गीता (८–६) मे भी कहा है कि जिस-जिस भी देवता-रूप भाव का स्मरण करता हुआ, कोई, मृत्यु-समय शरीर को छोडता है, उस-उस भाव को वह प्राप्त कर लेता है। इसी बात को शास्त्र (प्रश्नोपनिषद् ३–१०) मे इस प्रकार कहा है कि 'मृत्यु के समय यह जीव जिस लोक का सकल्प करता है, उस सहित ही प्राण को प्राप्त होता है अथात क्षीणेन्द्रिय-वृत्ति वाला होकर मुख्य प्राणवृत्ति रूप हो स्थित रहना है। और वह प्राण तेज अर्थात् उदानवृत्ति से युक्त होकर, भोक्ता स्वामी के साथ रह, उस भोक्ता को सकल्पित लोक की ओर ले जाता है ॥१३७॥

(प्रश्न) तो क्या उपरोक्त प्रमाणो से यह सिद्ध हुआ कि अन्तकाल की वृत्ति के अनुसार भावी जन्म होता है, ज्ञान से मुक्ति नही होती ?

अन्त्यप्रत्ययतो नूनं भावि जन्म तथा सति ।
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात्सगुणोपासने यथा ॥

अन्वय—अन्त्यप्रत्ययतः नून भावि जन्म, तथा सति यथा सगुणोपासने निर्गुणप्रत्यय अपि स्यात् ।

अर्थ—(उत्तर) अन्तसमय के ज्ञान के अनुसार निश्चय ही भावी जन्म होता है . जीवन के सबसे पिछले ज्ञान से भावीजन्म

के निश्चय होने का सिद्धान्त मान लेने पर, जैसे सगुणोपासना मे होता है (अर्थात् सगुणोपासक को जैसे मरण के समय पूर्वाभ्यासवश सगुण ब्रह्माकार ज्ञान हो जाता है) वैसे ही निर्गुणोपासक को भी निर्गुण ब्रह्माकार ज्ञान हो जायगा ॥१३८॥

निर्गुणप्रत्यय के अभ्यास से प्राप्त निर्गुण ब्रह्म और मोक्ष में नाममात्र का ही भेद है, यह दर्शाते हैं :—

नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम् ।
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ॥१३९

अन्वय—तत् नित्यनिर्गुणरूपं नाममात्रेण गीयतां, अर्थतः एषः मोक्षः एव, संवादिभ्रमवत् मतः ।

अर्थ—उस ब्रह्म को नित्यनिर्गुणरूप नाम से भले ही कह लो, अर्थ से तो वह मोक्ष ही है. निर्गुणब्रह्म की प्राप्ति और मोक्ष एक ही के दो नाम हैं मुक्ति का लक्षण ही 'स्वरूप से अवस्थिति, है। ऐसे ही, जैसे कि सम्वादी भ्रम को, नाम मात्र से ही भ्रम कहते हैं।

मानसक्रिया, निर्गुणोपासना नही, उपासनाजन्य ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, यह दर्शाते हैं.—

तत्सामर्थ्याज्जायते धीर्मूलाविद्यानिवर्तिका ।
अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ॥१४०

अन्वय—तत् सामर्थ्यात् मूलविद्यानिवर्तिका धीः जायते, अविमुक्तोपासनेन तारक ब्रह्म बुद्धिवत् ।

अर्थ—निर्गुणोपासना के सामर्थ्य से मूल विद्या को निवृत्त-कर देने वाली बुद्धि उत्पन्न हो जाती है : जैसे, सगुणोपासना से तारकब्रह्म (सगुण ब्रह्म) विषयकज्ञान उत्पन्न होता है ॥१४०॥

सोऽकामो निष्काम इति ह्यशरीरो निरिन्द्रियः ।
अभयं हीति मुक्तत्व तापनीये फलं श्रुतम् ॥

अर्थ—निर्गुणोपासना का फल मोक्ष है यह बात तापनीयोपनिषद् मे कही है । वहा बताया है कि 'वह उपासक अकाम और निष्काम अर्थात् अन्तरीय एव बाह्य कामनाओ से रहित 'आप्तकाम' एव 'आत्मकाम' हो जाता है । उसके प्राण अन्य लोक अथवा देह मे गमन (उत्क्रमण) नही करते । वे यहा इस लोक सम्बन्धी देह मे ही विलीन हो जाते हैं । वह ब्रह्म हुआ ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है । 'वह अशरीर, अनिन्द्रिय, अप्राण, अमन, केवल, सच्चिदान्द और स्वप्रकाश हो जाता है । 'वह अभय अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता हैं ।' इन वाक्यो से स्पष्ट है कि तापनीय उपनिषद में निर्गुणोपासना का फल मोक्ष बताया है ॥१४१॥

उपासना से मुक्ति मानो तो 'ज्ञान के बिना मुक्ति नही' का क्या अर्थ होगा ?

उपासनास्य सामर्थ्याद्विद्योत्पत्तिर्भवेत्ततः ।
नान्यः पन्था इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुध्यते ॥

अर्थ—उपासना के सामर्थ्य से विद्या (ज्ञान) की उत्पत्ति होती है : इसलिए 'मुक्ति का अन्य (ज्ञान से भिन्न) उपाय नहीं है' इस श्रुतिवाक्य का विरोध नही होता ॥१४३॥

निष्कामोपासनान्मुक्तिस्तापनीये समीरिता ।
ब्रह्मलोकः सकामस्य शैव्यप्रश्ने समीरिता ।

अर्थ—तापनीय उपनिषद् में निष्कामोपासना से मुक्ति वतलाई है और सकामोपासक को ब्रह्मलोक की प्राप्ति का विधान शैव्यप्रश्न मे किया है। वहा वताया है कि :—

य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते ।
स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरुषमीक्षते ॥१४४

अर्थ—जो पुरुष त्रिमात्र ओंकार से इस परमपुरुष की उपासना करता है, वह क्रम से ब्रह्मलोक में पहुँचाया जाता है। वहा वह (उपासक) इस जीवघन अर्थात् जीवसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ से भी उत्कृष्ट पुरुष, निरुपाधिक चैतन्य को, साक्षात् कर लेता है। (य. पुनरेतत् त्रिमात्रेण ओमित्यनेन वाऽक्षरेण पर पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एव ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्त. स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्मज्जीवघनात् पर पुरिशय पुरुषमीक्षते ।) ॥१४४॥

वेदान्त के अनुसार सकामोपासक को भी ब्रह्मलोक मिलता है :—

अप्रतीकाधिणरणे तत्क्रतुर्न्याय ईरितः ।

ब्रह्मलोकफलं तस्मात्सकामस्येति वर्णितम् ॥

अर्थ—वेदान्तसूत्र के अप्रतीकाधिकरण मे "अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात्तत्क्रतुश्च" (४–३–१५) इस सूत्र द्वारा 'तत्क्रतुन्याय' अर्थात् कमनीय सकल्पानुसारी फल मिलने का सिद्धान्त स्वीकार किया है। इस प्रकार श्रीव्यासने सकामोपासक को ब्रह्मलोक की प्राप्ति स्वीकर की है। (उपरोक्तसूत्र का अर्थ यह है कि वाणी आदि प्रतीक का अवलम्बन करने वाले उपासको से भिन्न उपासको को उनकी भावना के अनुसार के भोगसम्पन्न लोकों मे और परब्रह्म के परमधाम में दोनो ही जगह अमानव पुरुष पहुँचा देता है। इसलिए दोनो प्रकार की मान्यताओ में कोई दोष नही है। यह सकल्पानुसार परब्रह्म को और कार्य ब्रह्म को प्राप्त करना सिद्ध होता है।) ॥१४५॥

निर्गुणोपास्तिसामर्थ्यात्तत्र तत्त्वमवेक्षते ।
पुनरावर्तते नायं कल्पान्ते च विमुच्यते ॥१४६

अर्थ—वह सकाम निर्गुणोपासना के सामर्थ्य से ब्रह्मलोक में ही तत्त्व का साक्षात्कार करता है, वह फिर लौट कर इस मर्त्य लोक में नही आता : किन्तु कल्प के अन्त मे मुक्त हो जाता है। कहा भी है—"इम मानवमावर्त्तं नावर्तते, न स पुनरावर्तते। ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसचरे परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति पर पदम् ॥१४६॥

प्रणव (ओंकार) उपासना की द्विविधता

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुणा एव वेदगाः ।
क्वचित्सगुणताऽप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि ॥ १४७

अर्थ—प्रणवोपासनाएं प्रायः निर्गुण ही वेद में मिलती हैं, कहीं-कहीं प्रणवोपासना को सगुणता भी वर्णित है ॥१४७॥

परापरब्रह्मरूपं ओंकार उपवर्णितः ।
पिप्पलादेन मुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥१४८

अन्वय—पिप्पलादेन मुनिना पृच्छते सत्यकामाय परापरब्रह्मरूपः ओंकार. उपवर्णितः ।

अर्थ –पिप्पलाद मुनि ने प्रश्नकर्ता सत्यकाम को पर अर्थात् निर्गुण और अपर अर्थात् सगुण दोनो रूप ओंकार है–ऐसा समझाया । यह प्रश्नोपनिषद् के पाचवे प्रश्न का निर्देश है : वहां पिप्पलाद ने कहा है–'एतद्वै सत्यकाम ! पर. चापरं ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद् विद्वानेतेनैवायतनेन एकतरमन्वेति' ओंकार की निर्गुण और सगुण उपासना का यह एक प्रमाण है ॥१४८॥

कठवल्ली मे भी दो प्रकार की प्रणवोपासना

एतदालंबनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।
इति प्रोक्तं यमेनापि पृच्छते नचिकेतसे ॥१४९

अर्थ—'इस परस्पर ब्रह्मरूप आलम्बन को जानकर जो पुरुष जो कुछ चाहता है उसे वह मिलता है' यह उत्तर यमने प्रश्नकर्ता

नचिकेता को दिया है। यम के इस उत्तर से भी प्रणवोपासना दो प्रकार की प्रमाणित होती है ॥१४९॥

११६ से १४९ तक के श्लोको का तात्पर्य यह है कि :—

इह वा मरणे वाऽस्य ब्रह्मलोकेथवा भवेत् ।
ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम् ॥

अन्वय—अस्य सम्यक् निर्गुण उपासीनस्य इह वा मरणे च अथवा ब्रह्मलोके ब्रह्मसाक्षात्कृतिः भवेत् ।

अर्थ—निर्गुण की जो (किसी प्रकार की भी) उपासना को भली भाति कर लेता है, उसको, इसी लोक मे, या मरते समय अथवा ब्रह्म लोक में जाकर, ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है ॥ १५० ॥

अर्थोऽयमात्मगीतायमपि स्पष्टमुदीरितः ।
विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति संततम् ॥

अन्वय—'विचाराक्षम. सतत आत्मनं उपासीत' इति अय अर्थः आत्मगीताया अपि स्पष्ट उदीरितः ।

अर्थ—'विचार (से तत्वज्ञान करने) मे असमर्थ मनुष्य निरन्तर आत्मा अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की उपासना किया करे' यह बात आत्मगीता मे भी स्पष्ट कही है। १५१॥

साक्षात्कर्तुमशक्तोऽपि चिन्तयेन्मामशङ्कितः ।
कालेनानुभवरूढो भवेयं फलितो ध्रुवम् ॥

अर्थ--आत्मगीता मे कहा है:--यदि साक्षात् करने में असमर्थ भी हो तो भी, शङ्का रहित हो, मुझ प्रत्यक् अभिन्न परमात्मा का चिन्तन करे। समय आने पर अनुभव प्राप्त कर वह निश्चय ही पूर्ण फल को प्राप्त करेगा ॥१५२॥

ध्यान तत्वज्ञान का उपाय है : इसे दृष्टान्त से समझाते हैं :-

यथाऽगाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं विना ।
मल्लाभेपि तथा स्वात्मचिन्तां मुक्त्वा न चापरः ॥

अन्वय—यथा अगाधनिधे. लब्धौ खनन विना उपाय. न, तथा मल्लाभे अपि स्वार्थचिन्तां मुक्त्वा च अपर. न ।

अर्थ—जैसे भूमि में गड़े अगाध खजाने को प्राप्त करने के लिये खोदे विना काम नही चलता, वैसे ही मुझे प्राप्त करने के लिये भी, स्वात्मा के ध्यान के अतिरिक्त और कोई उपाय नही है। १५३॥

देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात्पुनः ।
खात्वा मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान् ॥

अर्थ—देह-रूप पत्थर को दूर करके, बुद्धिरूप कुदाली से मनरूप भूमि को खोदकर, मनुष्य मुझ प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्मरूप निधि को प्राप्त करे अर्थात् जाने ॥१५४॥

ज्ञान मे असमर्थ को ध्यान का अधिकार है—इनमें अन्य शास्त्रो का प्रमाण देते हैं :—

अनुभूतेरभावेपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम् ।

अप्यसत् प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥

अर्थ—अनुभूति न होती हो तो भी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे ही विचार करे। उपासक में पहले अविद्यमान वस्तु (देवत्व आदि भी) ध्यान से प्राप्त हो जाती है, तब फिर नित्य प्राप्त ब्रह्म यदि ध्यान से प्राप्त हो जाय तो, इसमे आश्चर्य ही क्या है !! ॥१५५॥

और फिर ब्रह्मध्यान का फल तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है :-

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद्दिने दिने ।
पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत् कोऽपरोस्मात्पशुर्वद ॥

अन्वय—ध्यानात् दिने दिने अनात्मबुद्धिशैथिल्य फल पश्यन् अपि चेत् न ध्यायेत् अस्मात् अपर क. पशु ? वद ।

अर्थ—ध्यान करने से, दिन पर दिन, अनात्म बुद्धि ढीली होती है, यह फल देखकर भी जो ध्यान (उपासना) न करे तो उस से बढकर मूर्ख कौन होगा ? कहो ॥१५६॥

ध्यानदीप प्रकरण का साराश बताते हैं .—

देहाभिमानं विध्वंस्य ध्यानादात्मानद्वयम् ।
पश्यन्मर्त्योमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

अर्थ—ध्यान से देहाभिमान को नष्ट करके अर्थात् मरणशील देह को 'मैं' समझना छोडकर अपने आपको अद्वितीय जानकर, मरण धर्मा मनुष्य अमृत होकर इसी शरीर मे अपने निजरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥१५७॥

ध्यानदीपमिमं सम्यक्परामृशति यो नरः ।
मुक्तसंशय एवायं ध्याय्ति ब्रह्मसंततम् ॥१५८

अर्थ—जो मनुष्य इस 'ध्यानदीप' प्रकरण का सम्यक् विचार करता रहता है, वह सभी सशयो से रहित होकर, निरन्तर ब्रह्म का ध्यान रखने लगता है ॥१५८॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशी के नवम प्रकरण-ध्यानदीप
की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्वप्रकाशिका
व्याख्या समाप्त ।



अथ नाटकदीप-प्रकरण-१०

मङ्गलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पंचदश्या नृभाषया।
कुर्वे नाटकदीपस्य* टीकां तत्वप्रकाशिकाम् ॥

इस प्रकरण मे अध्यारोप और अपवाद की प्रक्रिया से मन्दाधिकारियो को अनायास ही निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मतत्व का बोध करने के लिए प्रथम आत्मा मे अध्यारोप का प्रकार बताते हैं :–

परमात्माद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया ।
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥१

अन्वय––पूर्वं अद्वयानन्दपूर्णः परमात्मा स्वमायया स्वय एव जगत् भूत्वा जीवरूपतः प्राविशत् ।

अर्थ—सृष्टि से पहले जो श्रुति प्रसिद्ध अद्वय अर्थात् स्वगतादि त्रिविध भेद रहित, परमानन्दरूप, परिपूर्ण परमात्मा था, वह, अपनी माया अर्थात् अपने मे स्थित माया शक्ति से आप ही जगदाकार होकर उसमें जीवरूप में प्रविष्ट हुआ। (उपरोक्त में प्रमाण श्रुतिया निम्नलिखित हैं :—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् कमेवाद्वितीयम्।" "विज्ञानमानन्द ब्रह्म। पूर्णमदः।" "माया

---

* चेतन मे अध्यस्त अहकारादि और उनके प्रकाशक साक्षी को नाटकरूप से प्रकाशित करने वाला प्रकरण 'नाटकदीप' प्रकरण है।

तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्" "तदात्मानं स्वयम कुरुत। सच्च त्यच्चाभवत्।" तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, अनेन-जीवेनात्मनानुप्रविश्य।") ॥१॥

यदि एक ही परमात्मा सब शरीरो में है तो उत्तमाधम भाव क्यो है ?

विष्णवाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवताऽभवत् ।
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति देवताम् ॥२

अर्थ—वह परमात्मा जब विष्णु आदि उत्तम देहो में प्रविष्ट हुआ तब देवता बन गया और जब वही मर्त्य आदि अधम देहो में प्रविष्ट होता है तो, देवता की पूजा करता है। यह उत्तमाधम भाव शरीरोपाधिकृत है, स्वाभाविक नही है ॥२॥

अब उस जगत् के अपवाद (निषेध) का साधन रहित वर्णन करते हैं.—

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति ।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥३

अर्थ—अनेक जन्मो मे किये कर्मो को ब्रह्म मे समर्पणरूप भजन करने से, यह प्राणी, स्वविचार अर्थात् ब्रह्मरूप स्वात्मा के ज्ञानसाधन श्रवणादि को करना चाहता है। उस स्वविचार से जनित ज्ञान द्वारा, अपने अद्वयानन्दमयादिरूप की आच्छादि का माया के निवृत्त हो जाने पर, स्वय, अद्वयानन्द पूर्णरूप परमात्मा ही शेष रह जाता है ॥३॥

कहा तो यह है कि 'तद्ब्रह्माहमितिज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते' अर्थात् ज्ञान का फल बन्धनिवृत्तिरूप मोक्ष है, फिर यहां ज्ञान का फल परमात्मा के शेष रहने को कैसे बताया ? कहते हैं :–

अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता ।
बन्धः प्रोक्तः स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते ॥४

अर्थ—अद्वितीय ब्रह्म का वस्तुत बन्ध या मोक्ष तो होता नही । इसलिए अद्वय-आनन्दरूप आत्मा को द्वितीय के सहित या दु.खी आदि समझना (भ्रम हो जाना) ही बन्ध है और उसका स्वरूप मे स्थित हो जाना, बन्ध की निवृत्ति हो जाना,×ही मोक्ष है ॥४॥

'कर्मणैव ससद्धिमास्थिता जनकादयः' यह स्मृति तो मोक्ष का साधन कर्म को बताती है, तो फिर विचारजन्य ज्ञान की क्या आवश्यकता है ?

+यहां यह रहस्य है :–(१) महावाक्य के श्रवण से 'मे ब्रह्म हूँ' ऐसी अन्त'करण वृत्ति रूप ज्ञान होता है । इससे प्रपञ्च सहित अज्ञान की निवृत्ति होती है—वही मोक्ष है । कल्पित की निवृत्ति, क्योंकि, अधिष्ठानरूप होती है, इसलिए ब्रह्मरूप मोक्ष है । यह भाष्यकार का सिद्धान्त हैं । (२) कल्पित की निवृत्ति ज्ञान से जन्य है, अतएव सादि है और ब्रह्मरूप होने से अनन्त है । अतएव वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष सादि और अनन्त है । इस प्रकार स्वरूप से स्थित होना ही बन्ध की निवृत्ति है, वही मोक्ष कहलाता है ।

अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तते ।
तस्माज्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ॥५

अर्थ—अविचार से किया गया बन्ध विचार से ही हटता है अर्थात् विचार के प्रागभाव से उपलक्षित अज्ञान से कृत बन्ध विचार जन्यज्ञान से भिन्न साधन से नहीं हट सकता, इस कारण, तत्त्व साक्षात्कार होने तक सदा जीव और परमात्मा का विचार करता रहे (प्रश्न में उद्धृत-स्मृति मे 'संसिद्ध' शब्द का अर्थ चित्त शुद्धि है, मोक्ष नहीं।) ॥५॥

उपकरण सहित जीव का स्वरूप

अहमित्यभिमन्ता यः कर्ताऽसौ तस्य साधनम् ।
मनस्तस्य क्रिये अन्तर्बहिर्वृत्ती क्रमोत्थिते ॥६

अन्वय—यः 'अहं' इति अभिमन्ता, असौ कर्ता। तस्य साधनं मनः, तस्य क्रमोत्थिते अन्तर्बहिर्वृत्ती क्रिये।

अर्थ— जो चिदाभास विशिष्ट अहंकार, व्यवहारावस्था में, देह आदि में 'मैं' का अभिमान रखता है वह कर्तृत्वादिधर्म-विशिष्ट-जीव है। उसका साधन, कामादिवृत्तिवाला अन्तःकरण का एक भाग, मन, है। उस मन की बारी-बारी से उठने वाली अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति नाम की दो क्रियायें हैं ॥६॥

मन की दोनो वृत्तियो का स्वरूप और विषय

अन्तर्मुखाऽहमित्येषा वृत्तिः कर्तारमुल्लिखेत् ।
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत् ॥७

अर्थ—अन्तर्मुख वृत्ति जो 'मैं' रूप है, वह कर्त्ता का उल्लेख करती है। और वहिर्मुख रहने वाली 'यह' रूप वृत्ति देह से वाहर के पदार्थों का, 'यह' से निर्दिष्ट वस्तु का उल्लेख करती है ॥७॥

साथ-साथ चक्षु आदि भी व्यर्थ नहीं है, क्योंकि :—

इदमो ये विशेषाः स्युर्गन्धरूपरसादयः ।
असांकर्येण तान्भिद्याद् घ्राणादीन्द्रियपञ्चकम् ॥

अन्वय—इदम विशेषा ये गन्धरूपरसादय स्यु तान् घ्राणादीन्द्रियपचक असाकर्येण भिद्यात् ।

अर्थ—मन तो सामान्यरूप से 'इद' का ग्रहण करता है परन्तु उस 'इद' से निर्दिष्ट वस्तु जो विशेप गन्धरूपरसादि है, उनको प्रत्यक्ष घ्राणआदि पाच इन्द्रिया ही, पृथक् पृथक् प्रकट करती है। गन्धादि का ग्रहण ही घ्राणादि का प्रयोजन है ॥८॥

अब परमात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं —

कर्तारं च क्रियां तद्वद्व्यावृत्तविषयानपि ।
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ॥९

अन्वय—कर्तारि च क्रियां तदवत् व्यावृत्त विषयान् अपि एकयत्नेन य चिद्वपु' स्फोरयेत् असौ अत्र साक्षी ।

अर्थ—जो चिद्‌रूप, अहकाररूप कर्ता को, 'अहं-इदं' इन दो वृत्तिरूपी क्रिया को और परस्परभिन्न, घ्राणादि से ग्राह्य, गन्ध आदि विषयो को, साथ साथ प्रकाशित कर देवे, वेदान्त शास्त्र में

उसी चिद् रूप को साक्षी कहते हैं ।।६।।

साक्षी एक साथ कैसे सबको प्रकाशित करता है सो दिखाते हैं:—

ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम् ।
इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत् ।।१०

अर्थ—मैं रूप को देखता हूँ, शब्द को सुनता हूँ, गन्ध को सूंघता हूँ, रस चखता हूँ, छूता हूँ, आदि प्रकार से द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तीनो को एक साथ ऐसे प्रकाशित करता हूँ जैसे—नृत्यशाला मे रखा दीपक सबको एक साथ प्रकाशित करता है ।।१०।।

उपरोक्त दृष्टान्त को स्पष्ट करते हैं :—

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ।।११

अर्थ—नृत्यशाला में रखा दीपक, नृत्यशाला के स्वामी, सभ्यो अर्थात् दर्शको तथा नर्तकी को भी विना भेद भाव के, प्रकाशित करता है और उन स्वामी आदि के उपस्थित रहने पर भी स्वय प्रकाशित होता रहता है ।।११।।

उक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटाते हैं—

अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत् ।
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ।।१२

अन्वय—साक्षी अहङ्कारं, धियं, विषयान् अपि भासयेत् । अहंकाराद्यभावे अपि स्वयं पूर्ववत् भाति एव ।

अर्थ --ऐसे ही साक्षी, अहकार, बुद्धि और विषयो को भी प्रकाशित किया करता है और सुषुप्ति आदि के समय अहकार आदि के न रहने पर भी स्वय प्रकाशित होता रहता है ॥ १२ ॥

जब प्रकाशरूपा बुद्धि ही अहङ्कारादि का प्रकाश कर सकती है, तब उससे भिन्न साक्षी की कल्पना क्यो की जाय ? उत्तर देते हैं –

निरन्तरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः ।
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा ॥१३

अन्वय—कूटस्थे ज्ञप्तिरूपत निरन्तर भासमाने इय बुद्धि तद्भासा भासमाना अनेकधा नृत्यति ।

अर्थ—कूटस्थ अर्थात् निर्विकार साक्षी के ज्ञप्ति अर्थात् स्वप्रकाश चैतन्य रूप से सदा भासते रहने पर, बुद्धि, उस साक्षी के स्वरूप चैतन्य से प्रकाशित होकर ही, घट-पट आदि अनेक रूपो मे विकृत हुआ करती है। अभिप्राय यह है कि विकारो होने से बुद्धि जड है वह स्वय स्फूर्तिरहित है, अतएव उससे भिन्न सर्वावभासक साक्षी मानना पडता है ॥१३॥

इस बात को नाटक के उपकरणो की कल्पना से स्पष्ट करते हैं –

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः ।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः ॥

अर्थ—यहा अहकार स्वामी है, (क्योकि नाटक के स्वामी की भाति विषय भोग की सफलता या विफलता से होने वाले हर्ष

और विषाद इसी अहंकार को होते हैं), विषय ही इस नाटक के दर्शक हैं (नाटक की सुख-दुखमयी घटनाओं से जैसे दर्शक अप्रभावित रहते हैं ऐसे ही विषयों को भी सुख-दुख कुछ नही होता), बुद्धि ही नाटक की नर्तकी है (नर्तकी के अंगभंगी आदि की भान्ति नानाप्रकार के विकार इसी में होते हैं), ताल आदि के धारण करने वाली इन्द्रियाँ हैं (क्योकि इन्द्रियां बुद्धि के विकारों के अनुकूल व्यापार करने लगती हैं), और यह साक्षी ही इन सब का अवभासक दीपक है (क्योकि यही इन सबको प्रकाशित किया करता है।+)

+इस रूपक का विस्तृत रूप निम्न प्रकार है :—(१) नाटक मे नृत्य का अभिमानी राजा नृत्य की सफलता या असफलता के अभिमान से प्रसन्न या विषण्ण होता है, वह धनाढ्यता के कारण नर्तकी आदि का आश्रय, नृत्यशाला का निर्वाहक, अनेक दारायुक्त, बडे कार्य का कर्त्ता और बड़े भोग का भोक्ता होता है, यहाँ भोग की सफलता या असफलता से हर्ष-विषाद अहङ्कार को होते हैं, उपाधिरूपता से आत्मधनयुक्त होने के कारण वह बुद्धि आदि का आश्रय, समष्टिव्यष्टि देहरूप नृत्यशाला का अहंभाव से निर्वाहक और शुभाशुभ वृत्तिरूप अनेक दाराओं से युक्त, सब कर्मो का कर्ता और सब भोगो का भोक्ता है। इस प्रकार साभास अहङ्कार की नृत्य कराने वाले राजा से तुल्यता है।

(२) नृत्यसभा मे विद्यमान सभ्य पुरुष जैसे राजा के धर्मों से

परन्तु अहङ्कारादि का अवभासक होता हुआ भी साक्षी, उस-उससे सम्बन्ध के जुडने या सम्बन्ध टूटने से विकारी नही होता, क्योकि:-

स्वस्थानसंस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद्यथा ।
स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरन्तः प्रकाशयेत् ॥

रहित, राजा के अधीन चारो ओर घिरे रहते हैं, ऐसे ही शब्दादि विषय भी अहकार के कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्मों से रहित अहकार के अधीन चारो ओर दीख पड़ते हैं ये विषय ही सभ्य है।

(३) जैसे नर्तकी अनेक चेष्टायें (विकार) करती, सब की ओर हाथ आदि को मटकाती और नव रसरूप मनोभावो से राजा का मनोरञ्जन करती है, वैसे ही बुद्धि भी कामादि रूप अनेक विकारो से युक्त, सर्वविषयाकार होने के कारण अपने अग्रभाग रूप हाथ को मटकाती और अन्त करण में नौके नो रसो को दिखाकर साभास अहकार का रजन करती है। अतएव बुद्धि नर्तकी है।

(४) जैसे ताल मृदङ्ग आदि बजाने वाले, नर्तकी की चेष्टा के अनुकूल व्यापार करते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ भी, बुद्धि जिस विषय का ग्रहण करने के लिए जाती है उनके सन्मुख आने से बुद्धि मे जो परिवर्तन होता है, उसके अनुकूल व्यापार करती है : इसलिए इन्द्रिया उन ताल देने वालो के समान हैं।

(५) नृत्यशाला मे रखा दीपक बाहर-भीतर सब ओर सभा के जुडने के समय भी राजा आदि को प्रकाशित करता–और सभा न जुडी

अर्थ—जैसे दीपक अपने स्थान पर रखा हुआ, गमनादि विकार रहित हुआ, अपने समीपस्थ चारो ओर के पदार्थों को प्रकाशित करता है ऐसे ही स्थिरस्थायी अर्थात् तीनो कालो में अचल, साक्षी भी बाहर-भीतर प्रकाशित करता है ॥१५॥

'अपूर्वमनपरमनन्तरम बाह्यम्' (बृ० ३-८-८) इस श्रुति में बताया है कि साक्षी के बाहर-भीतरी विभाग नही होते तो फिर "वह बाहर एव भीतर प्रकाशित करता है,"—यह कैसे कहा ? उत्तर देते है :—

बहिरन्तर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि ।
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यान्तरहंकृतिः ॥१६

अन्वय—अयं बहिरन्तरविभाग देहापेक्ष न साक्षिणि, विषयाः बाह्य-देशस्था, देहस्य अन्त. अहकृति. ।

अर्थ—बाह्य और भीतरी विभाग, देह की दृष्टि से हैं, साक्षी के नही हैं। विषय तो शरीर से बाहर रहते है और अहकार शरीर के भीतर होता है ॥१६॥

हुयी हो तब भी प्रकाशित करता रहता है और स्वय इधर-उधर कहीं आता-जाता नही है : ऐसे ही साक्षी भी, जाग्रत् स्वप्नकाल में विद्यमान अहङ्कार आदि सब को प्रकाशित करता है और सुषुप्ति, मूर्छा एवं समाधिकाल में इनके न होने पर इनके अभाव को प्रकाशित करता है और स्वय गमनागमनादि विाकर से रहित है : इसलिये साक्षी, इस नाटक का दीपक है ।

'मैं घट को देखता हूँ' वाक्य मे तो प्रथम 'मैं' इस रूप में भीतरी अहङ्कार के साक्षी होकर भासित हुआ साक्षी, फिर 'घट को देखता हूँ' इस प्रकार घटाकार वृत्ति के स्फुरण रूप मे बहिर्गमन अनुभव मे आता है। वस्तुत. अविकारी साक्षी बाहर-भीतर कैसे प्रकाश कर सकता है ? उत्तर देते हैं :—

अन्तःस्था धीः सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः ।
भास्यबुद्धिस्थचाञ्चल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा ॥

अर्थ—देह के भीतर स्थित बुद्धि, 'मैं' इस आकार के द्रष्टा साभ स अहकार को विषय करने वाली, देह के भीतर स्थित बुद्धि) 'वह यह घट है' इत्यादि आकार से रूप आदि के विषय करने के लिए चक्ष आदि इन्द्रियो द्वारा वार-वार बाहर आती है। इस प्रकार उस बुद्धि मे जो चचलता है वह उस बुद्धि के अवभासक साक्षी मे वृथा ही आरोपित कर ली जाती है। साक्षी वस्तुत चञ्चल अथवा बाहर-भीतर आने-जाने वाला नही है ॥१७॥

भासक में भास्य की चञ्चलता के आरोप को दृष्टान्त से समझाते हैं :—

गृहान्तरगतः स्वल्पो गवाक्षादातपोऽचलः ।
तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवातपो यथा ॥१८

अन्वय—गवाक्षात् गृहान्तरगतः स्वल्पः आतपः अचल तत्र हस्ते नर्त्यमाने यथा आतप नृत्यति इव ।

अर्थ—झरोखे से घर के भीतर गया हुआ थोड़ा सा सूर्य का प्रकाश, यद्यपि स्वत अचल है, परन्तु उस प्रकाश मे हाथ के नचाने पर, वह प्रकाश नाचता प्रतीत होता है, वस्तुतः नाचता नही है ॥१८॥

निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरन्तर्गमागमौ ।
अकुर्वन् बुद्धिचाञ्चाल्यात्करोतीव तथा तथा ॥

अर्थ—इसी प्रकार, अपने स्थान अर्थात् अपने स्वरूप मे अवस्थित साक्षी, बाहर-भीतर गमनागमन न करता हुआ भी बुद्धि, की चचलता से वैसे-वैसे करता प्रतीत होता है ॥१९॥

तो क्या साक्षी बाह्य आदि किसी देश मे स्थित होता है ? बताते हैं :—

न बाह्यो नान्तर. साक्षी बुद्धेर्देशौ हि तावुभौ ।
बुद्ध्याद्यशेषसंशान्तौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः ॥

अर्थ—साक्षी न बाह्य होता है न आन्तर, क्योकि ये दोनों देश तो बुद्धि के हैं। हम तो इतना कहना चाहते हैं कि बुद्धि और इन्द्रिय आदि सबकी प्रतीति के शान्तहो जाने पर वह साक्षी जहा स्व-स्वरूप मे भासता है, वहा वह है ॥२०॥

प्रतीति मात्र के निवृत्त हो जाने पर तो देश की भी प्रतीति नही होगी, फिर वह साक्षी तन्निष्ठ कैसे कहा जायगा ? उत्तर देते है .—

देशः कोऽपि न भासेत यदि तर्ह्यस्त्वदेशभाक् ।
सर्वदेशप्रक्लृत्यैव सर्वगत्वं न तु स्वतः ॥२१

अन्वय—यदि कः अपि देश न भासेत तर्हि अदेशभाक् अस्तु । सर्वदेशप्रक्लृप्त्या एव सर्वगत्वम् ।

अर्थ—यदि कोई भी देश नही भासता तो उस साक्षी को तुम विना ही देश का समझ लो। क्योकि देश आदि की सत्य कल्पनाओ के अधिष्ठान आत्मा को अपने लिए किसी देश की अपेक्षा नही है। शास्त्रो मे उसे जो सर्वगत कहा है वह सर्वदेश की कल्पना से ही कहा है। वस्तुत तो वह आत्मा स्वभाव से सर्वगत भी नही है। स्वभाव से तो वह अद्वितीय और असग ही है ।२१॥

ब्रह्म का सर्वसाक्षित्व भी अवास्तविक है —

अन्तर्बहिर्वा सर्व वा यं देशं परिकल्पयेत् ।
बुद्धिस्तद्देशगः साक्षी तथा वस्तुषु योजयेत् ॥

अर्थ—अन्त या वहिर्देश को या जिस भी वस्तु की यह वुद्धि कल्पना कर लेती है, यह आत्मा उस देश (वस्तु) मे स्थित साक्षी कहलाने लगता है वस्तुतः तो उसका सर्वसाक्षिपन भी अवास्तविक है। इसी प्रकार अन्य सब वस्तुओ में भी साक्षी को समझ लेना चाहिए।

अन्तिम वाक्य को स्पष्ट करते है —

यद्यद्रूपादिकल्प्येत बुद्ध्या तत्तत्प्रकाशयन् ।

तस्य तस्य भवेत्साक्षी स्वतो वाग्बुद्ध्यगोचरः ।

अर्थ—जिस जिस रूपादि की बुद्धि से कल्पना की जाती है, उस उसको प्रकाशित रखने वाला यह आत्मा उस-उस का 'साक्षी' कहलाता है । यह स्वय तो वाणी और वुद्धि का अविपय ही है : फिर इसे साक्षी भी कैसे कहे ? ॥२३॥

कथं तादृङ्मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम् ।
सर्वग्रहोपसंशान्तौ स्वयमे वावशिष्यते ॥२४

अर्थ—(प्रश्न) मुमुक्षु मैं, फिर, उस अवाङ्मनोगोचर को कैसे ग्रहण करू ? (उत्तर) तुम उसको ग्रहण करो ही मत । आत्मा (तो अग्राह्य ही है), सर्वग्रह के शान्त हो जाने पर स्वयं आत्मा ही शेष रह जाता है : स्वात्मा से भिन्न द्वैत के मिथ्यापन का निश्चय हो जाने पर जव द्वैत की प्रतीति नष्ट हो जाती है, तव स्वात्मा ही सत्यरूप मे शेष रह जाता है ॥२४॥

न तत्र मानापेक्षास्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः ।
तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात् ॥

अर्थ—स्वात्मा के प्रत्यक्ष करने के लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, क्योकि वह स्वयं स्व-प्रकाशस्वरूप है । और "आत्मा स्वप्रकाशरूप है इसलिए उसके प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण अपेक्षित नही है" इस वोध की सिद्धि की अपेक्षा है ? तो, ब्रह्म-निष्ठ गुरु के मुख से श्रुति का पठन कर ॥२५॥

यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज ।
शरणं तदधीनोऽन्तर्बहिर्वैषो ऽनुभूयताम् ॥२६

अर्थ (यदि ऐसे उत्तमाधिकारी नही हो और) सर्व प्रतीति त्याग सम्भव नही है तो वुद्धि की शरण मे जाओ अर्थात् बुद्धिको अपना लक्ष्य+बनाओ । इसका फल यह होगाकि बुद्धि अन्दर या वाहर जिस-जिस पदार्थ की कल्पना करे उस उस पदार्थके साक्षी के रूप में उस बुद्धि के धीन परमात्मा को अन्दर या वाहर, जैसा अवसर हो, अनुमव करे ॥२६॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके दशम प्रकरण-नाटकदीप
की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्त्वप्रकाशिका
व्याख्या समाप्त ।

+जैसे 'शाखा मे चन्द्र है' वाक्य को सुनकर, स्थूल दृष्टि वाला पुरुष, पहले शाखा की ओर, पीछे शाखा के समीपस्थ, शाखा के अधीन चन्द्र को देखना है, ऐसे ही मन्दवुद्धि अधिकारी, गुरु के उपदेश से, पहले, वुद्धि की ओर देखकर, पीछे अधिष्ठान साक्षीरूप में वुद्धि के समीपस्थ होने से, वुद्धि के आधीन से हुये परमात्मा को अवने स्वरूप में अनुभव करता है ।

ब्रह्मानन्दगे-योगानन्द-प्रकरण-११

भापाकारकृत मङ्गलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पञ्चदश्या नृभाषया ।
+योगानन्दस्य व्याख्यान ब्रह्मानन्दगस्य हि ।

ब्रह्मानन्दं प्रवक्ष्यामि ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः ।
ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते ॥१

अन्वय—ब्रह्मानन्द प्रवक्ष्यामि । तस्मिन् ज्ञाते ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रात अशेषत· हित्वा सुखा५ते ।

अर्थ—ब्रह्मानन्द का कथन करता हूँ। उस प्रतिपाद्य एव प्रतिपादकरूप ब्रह्मानन्द का ज्ञान हो जाने पर, इस लोक तथा परलोक के सव अनर्थों का त्याग करके सुखरूप ब्रह्म ही हो जाता है।

"निरुपाधिक परब्रह्म का साक्षात्कार करने मे असमर्थ मन्द-वुद्धि अधिकारियो के लिए सोपाधिक ब्रह्म का निरूपण किया

+ब्रह्मानन्द का प्रतिपादक शेप पाच अध्याय का ग्रन्थ यहाँ से आरम्भ होता है। इसके अन्तर्गत यह योगानन्द प्रकरण है। इस प्रकरण में चित्त की एकाग्रतारूप योग से अविर्भूत होने वाले आनन्द का प्रतिपादन किया गया है।

जाता है' यह शास्त्र का वचन है। वैसे भी वृक्ष की जड को छूने से ही उस की शाखा पत्ते आदि का स्पर्श माना जाता है। ऐसे ही विष्णु आदि के अधिष्ठान निर्विशेष (निरुपाधिक) ब्रह्म के कथन से विष्णु आदि सब देवताओ का कथनरूप मगलाचरण किया गया है। अतएव यहा 'ब्रह्मानन्द' शब्द का उच्चारण ही ब्रह्म का स्मरण रूप मगलाचरण है। साथ ही इससे यह भी ध्वनित हो गया कि इस प्रकरण का विषय भी 'ब्रह्म नन्द' का वर्णन करना है। श्लोक के उत्तरार्ध मे अनिष्ट निवृत्ति एव इष्ट प्राप्ति रूप, ग्रन्थ के दो प्रयोजन कहे हैं। यहाँ 'ब्रह्मानन्द का अर्थ है—'ब्रह्म ही आनन्द', वह इस ग्रन्थ का वाच्य है और उसका वाचक ग्रन्थ भी 'ब्रह्मानन्द' है। उस वाच्य (प्रतिपाद्य) ब्रह्मानन्द और उसके प्रतिपादक ब्रह्मानन्द ग्रन्थ को जान लेने पर, देह-पुत्र कलत्रादि मे अहमाभिमान से होने वाले आध्यात्मिक आदि ऐहिक और पारलौकिक दु खो को सर्वथा छोडकर सुखरूप ब्रह्म ही हो जाता है, अर्थात् ब्रह्मज्ञान होता है ॥१॥

"ब्रह्मज्ञान अनिष्ट की निवृत्ति एव इष्ट की प्राप्ति का हेतु है, इसमे अनेक प्रमाणो मे से तीन प्रमाणो का भावार्थ यहाँ कहते हैं :—

ब्रह्मवित् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित्।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वानन्दीभवति नान्यथा ॥२

अन्वय—ब्रह्मवित् पर आप्नोति च आत्मवित् शोक तरति। रस: स रब्रह्म लब्ध्वा आनन्दी भवति: अन्यथा न।

अर्थ–तैत्तिरीय (२–१) में कहा है कि ब्रह्मवेत्ता पर अर्थात् उत्कृष्ट आनन्द रूप ब्रह्म को पा लेता है तथा छान्दोग्य उपनिषद् (७–१–३) में कहा है कि आत्मवेत्ता, (देशकाल वस्तु के परिच्छेद से रहित आत्मा को जानने वाला), शोक (अज्ञानमूलक ससार समुद्र को तर जाता है । पुनश्च तैत्तिरीय (२—७) मे कहा है कि वह आत्मा रस है, इस संसार का साररूप आनन्द है। रस-रूप ब्रह्म को पा कर ही, 'मैं ब्रह्म हूं' यह ज्ञान हो जाने पर ही, आनन्दी (अपरिच्छिन्न निरतिशय सुख वाला, होता है। मनुष्य ब्रह्मात्मैकत्व को जाने विना और किसी भी प्रकार से आनन्दी नही हो सकता ॥२॥

प्रतिष्ठां विन्दते स्वस्मिन् यदा स्यादथ सोभयः ।
कुरुतेस्मिन्नन्तरं चेदथ तस्य भयं भवेत् ॥३॥

अन्वय—यदा स्वस्मिन् प्रतिष्ठा विन्दते अथ सः अभय. स्यात् । अस्मिन् अन्तर कुरुते चेत् अथ तस्य भयं भवेत् ।

अर्थ—तैत्तिरीय (२–७) मे आये "यदा ह्येवैष" आदि वचन का अभिप्राय यह है कि जिस समय यह मुमुक्षु अपने आपे में प्रतिष्ठा अर्थात् ब्रह्मरूपस्थिति को पालेता है उस समय यह भय रहित हो जाता है अर्थात् मोक्षरूप अद्वितीय ब्रह्म को पालेता है। फिर आगे वर्णित "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते" आदि वाक्य का अभिप्राय यह हैकि जब, उसी प्रत्यग भिन्न ब्रह्म मे थोड़ा सा भी भेद करता या देखने लगता है तब तुरन्त ही

उस भेददर्शी को भय अर्थात् ससार प्रयुक्त दुख होने लगता है ॥ ३ ॥

भेददर्शी को भय होता है—इस बात को प्रमाण से पुष्ट करते हैं—

वायुः सूर्यो वह्निरिन्द्रो मृत्युर्जन्मान्तरेन्तरम् ।
कृत्वा धर्मं विजानन्तोप्यस्माद्भीत्या चरन्ति हि ॥

अन्वय—वायु, सुर्य., वह्नि., मृत्यु· जन्मान्तरे धर्मं विजानन्तः अपि अन्तर कृत्वा अस्मात् भीत्या चरन्ति ।

अर्थ—"भीतोस्माद्वात· पवते" (तै० २·८) में कहा है कि जग के नियामक रूप से प्रसिद्ध वायु आदि पाचो देवता अतीत जन्म मे इष्टापूर्तादि धर्मों का ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान करते हुए भी, प्रत्यगात्मा और ब्रह्म में अन्त कर लेने मात्र से, उसी ब्रह्म आदि का यह जन्मधारण करके, अपने-अपने व्यापारो मे ही सदा लगे रहते हैं। कठोपनिषद् में कहा भी है—भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य· । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" ॥४॥

"ब्रह्मानन्दज्ञान अनर्थ निवृत्ति का हेतु है इसमें एक दूसरा स्पष्ट प्रमाण—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ।
एतमेव तपेन्नैषा चिन्ता कर्माग्निसंभृता ॥५

अन्वय—ब्रह्मण आनन्द विद्वान् कुतश्चन न बिभेति । कर्माग्निसंभृता एषा चिन्ता एत एव न तपेत् ।

अर्थ- ब्रह्म के आनन्द (यहां 'राहु का सिर' वाक्य मे राहु में और सिर के भेद की भांति भेदकथन कथनमात्र के लिये है) अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप भूत आनन्द को जानता हुआ पुरुष किसी भी, ऐहिक व्याघ्रादि भय कारण से अथवा पारलौकिक भयहेतु पापादि से नहीं डरता। (यह तैत्तिरीय (२-८-६) के 'आनन्द ब्रह्मणो' वाक्य का अभिप्राय है।) फिर 'एत ह वाव न तपति" इत्यादि का भावार्थ कहते हैं:—कर्मरूपी हृदय दाहक अग्नि की चिन्ता केवल इस ज्ञानी को ही नही तपाती। अर्थात् शेष प्राणी तो 'मैंने पुण्य नही किया, पाप क्यो कर लिया' आदि चिन्ताओ से झुलसते ही रहते हैं॥५॥

ज्ञानी को पुण्य-पाप क्यो नहीं सताते? इस कारण जताने वाले प्रमाणो का अभिप्राय कहते हैं:—

एवं विद्वान्कर्मणी द्वे हित्वाऽऽत्मानं स्मरेत्सदा।
कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैष पश्यति॥६

अर्थ—जो कोई पुरुष, 'वही परमात्मा जो व्यष्टि संघात में है वही सूर्यमण्डल में है अर्थात् एक ही है' ऐसा जानकर और पाप-पुण्य दोनो को छोड़कर ब्रह्माभिन्न आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभव करता है, जब पाप पुण्य छोड़ ही दिये तो उनकी चिन्ता भी नही रहती और उनके कारण होने वाला दुःख भी नही होता। तथाच ऐसा पुरुष, उन दोनो प्रकार के देहेन्द्रियादि की प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाले कर्मों को 'इदं सर्वं यदयमात्मा' वाक्य के

अनुसार स्वात्म रूप से ही देखता है। वे कर्म स्वात्मा से भिन्न न होने के कारण भी दुःखदायी नही रहते।

वे असख्यात कर्म चिन्ताजनक क्यो नही हैं ? इसका उत्तर सप्रमाण देते हैं :—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥७

अन्वय—परावरे तस्मिन् दृष्टे अस्य हृदयग्रन्थि. भिद्यते, सर्वसशयाः छिद्यन्ते, च कर्माणि क्षीयन्ते।

अर्थ—उत्कृष्ट हिरण्यगर्भादि पद जिससे अवर अर्थात् निकृष्ट हैं ऐसे परावर, उस परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर, इस साक्षात्कार करने वाले का, बुद्धि और चिदात्मा का परस्पर, गाठ के समान सुदृढ जो अन्योन्याध्यास है, वह, दूर हो जाता है और आत्मा, देहादि से भिन्न है या नही आदि सब सशय छिन्न हो जाते हैं. (जिस वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है फिर उसके विषय में सशय, विपर्यय आदि नही रह सकते। और कर्म, सचित पापपुण्य, अपने उपदानभूत अज्ञान के नष्ट हो जाने से नष्ट हो जाते हैं।)

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' 'विद्या चाविद्या' 'कर्मणैव ससिद्धम्' 'एव तपश्च विद्या च' इत्यादि वाक्यो से प्रतीत होता है कि केवल कर्म अथवा ज्ञान सहित कर्म ही मुक्ति का हेतु है, तो फिर कर्म को मुक्ति का साधन मानने मे क्या प्रमाण है ? उत्तर देते हैं :—

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं पन्था न चेतरः ।
ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैर्न जन्मभाक् ॥

अन्वय—तं विद्वान् एव मृत्युं अत्येति, इतरः च पंथा न । देवं ज्ञात्वा पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैः जन्मभाक् न ।

अर्थ—श्वेताश्वतरोपनिषद् का कथन है कि 'उस परमात्मा को जानने वाला ही मृत्यु अर्थात् संसार को पार करता है, अन्य कोई मिला-जुला (ज्ञान एवं कर्मरूप, अथवा केवल कर्मरूप कोई मार्ग मुक्ति का नहीं है । इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से ऐहिक दुःखों की निवृत्ति का दिग्दर्शन करा कर अलौकिक अनिष्ट भावी जन्म के अनुसार होता है और वह भावी जन्म होता ही नहीं—इसका प्रतिपादन करने वाले श्वेताश्वरोपनिषद् के "ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानि" आदि वाक्य का अभिप्राय बताते हैं—उस स्वप्रकाश देव को प्रत्यक्ष करने वाले पुरुष के काम क्रोध आदि सब जाल कट जाते हैं, क्योंकि रागादि क्लेश तो नष्ट हो गये और भावीजन्म के हेतु कर्मों का अभी आरम्भ नहीं हुआ, इसलिए भावी जन्म होता ही नहीं ॥८॥

तत्त्वज्ञान का शोकतरणादि फल होता है, यह सुना ही है, अनुभव में तो नहीं आता ? ज्ञानी भी तो इष्टानिष्ट की प्राप्ति और परिहार के लिये प्रयत्न करते देखे जाते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कठ श्रुति का अभिप्राय उद्धृतकर अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करते हैं :—

देवं मत्वा हर्षशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान् ।

नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित् ॥९

अन्वय—धैर्यवान् देव मत्वा अत्र एव हर्षशोकौ जहाति, एत कृता-कृते पुण्यपापे क्वचित् न तापयतः ।

अर्थ –ब्रह्मचर्यादि साधन-सम्पन्न धीर पुरुष, चिदानन्दादि लक्षण वाले ब्रह्म को समझ कर इसी जन्म मे हर्ष शोक दोनो को छोड देता है । याज्ञवल्क्य ब्राह्मण के 'नैन कृताकृते तपत.' वाक्य का अभिप्राय भी बताते हैं–कि पुण्यपाप किये हो या न किये हो, वे इसमें चित्त के विकार को उत्पन्न नही करते । (पहले बता आये हैं कि "नही किया हुआ पुण्य, और किया हुआ पाप तत्व-वेत्ता को नही सताते" अब यह बतायाकि किये हो या किये न हो, वे पापपुण्य, अज्ञान की भान्ति, दु खदायी नही होते । अभिप्राय यह है कि ताप का अर्थ है चित्त-विकार, किया हुआ पुण्यकर्म अज्ञानी के चित्त में सद्धर्मरूप और न किया हुआ पाप हर्ष रूप विकार को उत्पन्न करता है । तत्त्व ज्ञानी के लिए तो, निर्विकार ब्रह्मरूपता के ज्ञान के कारण, पापपुण्य किसी भी प्रकार, विकार के हेतु नही होते ॥९॥

इत्यादिश्रुतयो बह्वचः पुराणैः स्मृतिभिः सह ।
ब्रह्मज्ञानेनर्थहानितानन्दं चाप्यघोषयन् ॥१०

अन्वय—इत्यादिश्रुतय' बह्वच पुराणैः स्मृतिभिः सह, ब्रह्मज्ञाने अनर्थहानि च आनन्द अपि अघोषयम् ।

अर्थ—पुराण और स्मृतियो सहित ऐसी बहुत सी श्रुतियां

ब्रह्मज्ञान होने पर अनिष्ट की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति की घोषणा करती हैं ॥१०॥

त्रिविध आनन्द में से ब्रह्मानन्द के विवेचन की प्रतिज्ञा :—

आनन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा ।
विषयानन्द इत्यादौ ब्रह्मानन्दो विविच्यते ॥११

अर्थ—ब्रह्मानन्द, विद्यासुख (विद्यानन्द) और विषयानन्द–ये तीन प्रकार का आनन्द है · इनमे से प्रारम्भ मे ब्रह्मानन्द का विवेचन करते हैं। यहां पहले तीन अध्यायो मे ब्रह्मानन्द का विभागशः विवेचन है ॥११॥

तैत्तिरीयश्रुति की भृगुवल्ली मे आनन्दरूप ब्रह्म का विवेचन

भृगुः पुत्रः पितुः श्रुत्वा वरुणाद् ब्रह्मलक्षणाम् ।
अन्नप्राणमनोबुद्धीस्त्यक्त्वाऽऽनन्दं विजज्ञिवान् ॥

अर्थ—पुत्र भृगु ने पिता वरुण से ब्रह्म के लक्षण ("यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादि) को सुना और अन्न, प्राण, मन और बुद्धिमय कोशो मे उस लक्षण को घटता न देखकर, इनके ब्रह्म न होने का निश्चय हो जाने से इनको छोड़कर, ब्रह्मलक्षण घट जाने के कारण आनन्दमयकोश को ही ब्रह्मरूप से जाना ॥१२॥

आनन्दमयकोश में ब्रह्म के लक्षण को घटाने वाले 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि वाक्य का अभिप्राय कहते हैं :—

आनन्दादेव भूतानि जायन्ते तेन जीवनम् ।
तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानन्दो न संशय ।।१३

अर्थ—पशुधर्मनिमित्तक आनन्द से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, और उस विषयभोगादिनिमित्तक आनन्द के कारण जीते हैं और उनका लय भी सुषुप्तिकालीन स्वरूपभूत आनन्द मे ही होता है: सुषुप्ति में आनन्द के अतिरिक्त अन्य किसी का अनुभव नही होता। इसलिये आनन्द ही ब्रह्म है: सबका ऐसा ही अनुभव है अतएव इसमे कोई सशय नही होना चाहिये ।।१३।।

'छान्दोग्योपनिषद् में भी ब्रह्म को ही आनन्द बताया है" यह सिद्ध करने के लिये उसमे आये "सनत्कुमारनारदसवाद" (सप्तमाध्याय) के 'यत्र नान्यत् पश्यति' इत्यादि का अभिप्राय उद्धृत करते है :—

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात् ।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो ।।१४

अन्वय—भूतोत्पत्तेः पुरा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात् भूमा । ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो ।

अर्थ—आकाशादि भूतो और उनके कार्य जरायुजाण्डजादियो की उत्पत्ति से पहले, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटीरूप द्वैत का अभाव होने के कारण, केवल एक, भूमा अर्थात् देश-काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न परमात्मा ही था। क्योंकि वेदान्त का

सिद्धान्त है कि प्रलयकाल में उक्त त्रिपुटी नहीं रहती। [छा० (७–२४–१) मे यही कहा है—'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा'।]

ज्ञान आदि के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं:—

विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता ज्ञानं मनोमयः।
ज्ञेयाः शब्दादयो नैतत्त्रयमुत्पत्तितः पुरा ॥१५

अर्थ—(परमात्मा से) उत्पन्न हुआ (बुद्ध्युपाधि जीव) विज्ञान मयकोश ही ज्ञाता है, मनोमयकोश (मनसे प्रतिबिम्बित चैतन्य) ज्ञान है, और शब्दादि विषय ज्ञेय हैं: कार्यरूप से तीनों (यह त्रिपुटी) उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान कारणरूप परमात्मा से भिन्न नही होते।

सारांश यह है कि –

त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ॥१६

अर्थ—समाधि, सुषुप्ति और मूर्छा मे ज्ञाता आदि तीनो का जब अभाव होता है तब, द्वैत रहित पूर्ण परमात्मा ही अनुभव मे आता है जैसे सुपुप्ति आदि में परिच्छेदक न रहने पर आत्मा में पूर्णता आ जाती है, ऐसे ही सृष्टि से पहले भी भेदक तीनो के अभाव में पूर्ण ही रहता है ॥१६॥

भूमा (पूर्ण) ही सुखरूप है:—

यो भूमा सः सुखं नाल्पे सुखं त्रेधा विभेदिनि।

सनत्कुमारः प्राहैवं नारदायातिशोकिने ॥१७

अन्वय—'यः भूमा सः सुख। श्रेधा विभेदिनि अल्पे सुख न।' एव सनत्कुमार. अतिशोकिने नारदाय प्राह।

अर्थ--अधिक शोक-सन्तप्त नारद को सनत्कुमार ने वताया था कि जिसको पहले भूमा कहा है वही सुखरूप है : जो अद्वितीय होता है उस मे दु.ख का हेतु ही नही होता। परन्तु जो देश, काल और वस्तु इन तीन से परिच्छन्न और अल्प है उसमे सुख नही होता।

नारद को शोक क्यो हुआ ? वताते हैं :-

सपुराणान्पञ्च वेदान् शास्त्राणि विविधानि च।
ज्ञात्वाप्यनात्मवित्त्वेन नारदोऽतिशुशोच ह ॥१८

अर्थ—नारद १८ पुराणासहित चारो वेदो (ऐसे पाचो वेदो, और विविध शास्त्रो को पढकर भी चू कि अनात्मवित् रहा, इस कारण उसे अतिशोक हुआ . यह छान्दोग्य के सातवें अध्याय मे वताया है।

वेदशास्त्रो के ज्ञान से तो शोक दूर होता है, फिर अतिशोक कैसे हुआ ?

वेदाभ्यासात्पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता।
पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभङ्गगर्वैश्च शोकिता ॥१९

अर्थ—वेदाभ्यास से पूर्व तो आध्यात्मिक आदि तापत्र से ुआ, और पीछे वेदाभ्यास के कष्ट भूलने के डर, अपने से

अधिक विद्वान् से किये गये तिरस्कार की शङ्का और न्यून विद्वान को देख कर किगे गये गर्व—इन कारणो से शोक हुआ ।।१६।।

सुखरूप ब्रह्म का ज्ञान ही शोकनिवृत्ति का उपाय

सोऽहं विद्वन्प्रशोचामि शोकपारं नयात्र माम् ।
इत्युक्तः सुखमेवास्य पारमित्यभ्यधादृषिः ।।२०

अर्थ नारद ने स्वय कहा है–हे विद्वन् ! मैं शोक करता हूँ–मुझे इम शोक से पार लगा दीजिए। इस प्रकार पूछे गए ऋषि सनत्कुमार ने वताया–"सुख ही इस शोक का पार है।" (देखो छा० ७–२२–१ : "सुख त्वेव विजिज्ञासितव्यम्") ।।२०।।

अल्प सासारिक सुख तो दु खरूप ही है, क्योकि :–

सुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणावृतत्वतः ।
दुःखमेवेति मत्वाह नाल्पेऽस्ति सुखमित्यसौ ।।

अर्थ—"विषयो द्वारा मिलने वाला सुख, सहस्रो शोको से ढका रहने के कारण "दु ख हो होता है" यह समझकर ही सनत्कुमार ऋषि ने कहा था कि अल्प मे सुख नही है ।।२१।।

अद्वैत मे भी सुखाभाव की शङ्का

ननु द्वैते सुखं मा भूदद्वैतेऽप्यस्ति नो सुखम् ।
अस्ति चेदुपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत् ।।२२

अर्थ—मान लिया कि द्वैत में सुख नही है, परन्तु अद्वैत में

भी तो सुख नही है : क्योकि होता तो विषय सुख की भान्ति उपलब्ध होता ! यदि कहो कि सुख उपलब्ध होता है, तव तो अनुभव के साथ-साथ अनुभाविता और अनुभाव्य भी मानने पडे गे और इस प्रकार त्रिपुटी वन जायगी अर्थात् अनुभाविता, अनुभव एव अनुभाव्य की त्रिपुटी मानने से अद्वैत ही जाता रहेगा ? ॥२२॥

(समाधान)-ठीक है, अद्वैत मे सुख नही है, परन्तु-

माऽस्त्वद्वैते सुखं किंतु सुखमद्वैतमेव हि ।
किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकाङ्क्षा स्वयंप्रभे ॥

अर्थ—अद्वैत मे सुख न सही, परन्तु अद्वैत ही सुख है : अद्वैत सुख का आश्रय नही है । यदि पूछो कि इसमे क्या प्रमाण है ? उत्तर यह है कि स्वय प्रकाश अद्वैत मे प्रमाण का प्रश्न ही नहीं उठता ।।२३॥

अद्वैत की स्वप्रकाशता मे प्रमाण

स्वप्रभत्वे भवेद्वाक्यं मानं यस्माद्भवानिदम् ।
अद्वैतमभ्युपेत्यास्मिन्सुखं नास्तीति भाषते ॥

अर्थ—अद्वैत की स्वप्रकाशकता मे तो तुम्हारा वाक्य ही प्रमाण है ! क्योकि तुम इस अद्वैत को (प्रमाणो के विना ही) स्वीकार करके ही तो कहते हो कि इसमें सुख नही है। इस प्रकार अद्वैत को प्रमाण की अपेक्षा नही : वह तो स्वप्रकाश है ॥२४॥

नाभ्युपैम्यहमद्वैतं तद्वचोऽनूद्य दूषणम् ।
वच्मीति चेत्तदा ब्रूहि किमासीद्द्वैततःपुरा ।।२५

किमद्वैतमुत द्वैतमन्यो वा कोटिरन्तिमः ।
अप्रसिद्धो न द्वितीयोऽनुत्पत्तेः शिष्यतेऽग्रिमः ।।

अर्थ –(प्रश्न) मैं स्वय अद्वैत ,को स्वीकार नही करता, मैं तो तुम्हारे कथन को दुहराकर उस पर आक्षेप कर रहा हूँ। अर्थात् मेरे शब्दो से अद्वैत की सिद्धि मानना उचित नही है। (उत्तर) अच्छा तो फिर तुम्ही वताओ कि द्वैत से पहले क्या था ? द्वैत से पहले अद्वैत था ? या द्वैत था ? या कोई अन्य कोटि थी ? अन्तिम (तीसरा पक्ष) तो कोई प्रसिद्ध है नही, द्वैत से पहले द्वैत था—-यह पक्ष भी ठीक नही है क्योकि द्वैत तव उत्पन्न हो नही हुआ था। अतएव प्रथम पक्ष ही शेष रह जाता है. द्वैत से पहले अद्वैत था यही सिद्ध होता है ।।२६।।

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैव नानुभूत्येति चेद्वद ।
निर्दृष्टान्ता सदृष्टान्ता वा कोटचन्तरमत्र नो ।।

अर्थ—यदि कहो कि अद्वैत की सिद्धि युक्ति से ही है, अनुभव से नही होती, तो वताओ कि जो युक्ति अद्वैत को सिद्ध करती है वह दृष्टान्त–रहित है या दृष्टान्त–सहित ? इसमे 'दृष्टान्त-रहित भी और सहित भी' आदि कोई तीसरा पक्ष तो वनता ही नही ।

नानुभूतिर्न दृष्टान्त इति युक्तिस्तु शोभते ।
सदृष्टान्तत्वपक्षे तु दृष्टान्तं वद मे मतम् ।।२८

अर्थ—(प्रथम पक्ष का निराकरण करते हैं) अद्वैतसिद्धि अनुभव से नही होती । युक्ति होती है पर उसमे कोई दृष्टान्त नही है—यह कहना, यह युक्ति देना तो तुझे ही शोभा दे सकता है ! भला दृष्टान्त के विना भी किसी बात का युक्ति से सिद्ध होना सम्भव है ? दृष्टान्त-सहित युक्ति है-ऐसा मानते हो, तो, ऐसा दृष्टान्त देना चाहिए जो मुझ विपक्षी को भी हो माननीय !

वादी दृष्टान्त से प्रलय को अद्वैत सिद्ध करना चाहता है :—

अद्वैतः प्रलयो द्वैतानुपलम्भेन सुप्तिवत् ।
इति चेत्सुप्तिरद्वैते तत्र दृष्टान्तमीरय ।।२९

अन्वय प्रलयः अद्वैत, द्वैतानुपलम्भेन सुप्तिवत्, इति चेत् ? अद्वैते सुप्ति. तत्र दृष्टान्त ईरय ।

अर्थ—प्रलय द्वैतरहित है, क्योकि उसमे द्वैत की प्रतीति नही होती, जिसमें द्वैत की प्रतीति नही होती वह अद्वैत ही है. जैसे सुषुप्ति ।

यदि यह बात है तो बताओ यहाँ अपनी सुषुप्ति दृष्टान्त है या पर-सुषुप्ति ? स्वसुषुप्ति तो दूसरे के प्रति असिद्ध है, अतएव उसकी सिद्धि के लिए दूसरे दृष्टान्त की आवश्यकता होगी । अर्थात् अद्वैत मे अपनी सुषुप्ति को प्रमाण मानो तो उस अपनी सुषुप्ति की सिद्धि के लिए दृष्टान्त तो कहो ।।२९।।

दृष्टान्तः परसुप्तिश्चेदहो ते कौशलं महत् ।
यः स्वसुप्तिं न वेत्त्यस्य परसुप्तौ तु का कथा ॥३०

अर्थ—यदि दूसरे की सुप्ति को दृष्टान्त मानो तो यह तुम्हारी बड़ी (भद्दी) चतुराई है ! (वह तो तुम्हारे प्रति असिद्ध है. उसका दृष्टान्त कैसे देते हो ?) भला जो अपनी सुप्ति को नही जानता (क्योंकि सुप्ति को अनुभवगम्य ही तुम नही मानते) वह दूसरे की सुप्ति को जानेगा—इसकी तो बात ही क्या है ? ॥३०॥

अनुमान से भी पर-सुषुप्ति की सिद्धि नही होती —

निश्चेष्टत्वात्परः सुप्तो यथाऽहमिति चेत्तदा ।
उदाहर्तुः सुषुप्तेस्ते स्वप्रभत्वं बलाद्भवेत् ॥३१

अन्वय—पर सुप्त, निश्चेष्टत्वात्, यथा अहं, इतिचेत् ? तदा उदाहर्तु. बलात् स्वप्रभत्व भवेत् ।

अर्थ—(प्रश्न) "पर (दूसरा) सोया हुआ है. क्योंकि प्राणादि के रहते भी निश्चेष्ट है–जैसे मैं" इस अनुमान से पर-सुप्ति सिद्ध हो जायगी ? (उत्तर) ऐसे तो मुझ को अपनी सुषुप्ति का उदाहरण देने से ही, तेरे न चाहते हुए भी, सिद्ध हो गया, नही तो बताओ तुम अपनी सुषुप्ति को कैसे जानते हो ? क्योंकि :—

नेन्द्रियाणि न दृष्टान्तस्तथाप्यङ्गीकरोषि ताम् ।
इदमेव स्वप्रभत्वं यद्भानं साधनैर्विना ॥३२

अर्थ—सुप्ति के समय सुप्ति की ग्राहक इन्द्रियां नहीं होती :

वे अपने कारण मे विलीन होजाती हैं। तुम्हारे पास कोई दृष्टान्त भी नही है। तो भी तुम सुप्ति को स्वीकार करते हो। ज्ञान के साधनो के विना भी प्रकाशित होना ही तो स्वय प्रकाशता है। यहां सुषुप्ति भी ज्ञान के साधनो के विना प्रकाशित हो रही है, अतएव वह स्वप्रकाश है। इसकी सिद्धि मे अनुमान इस प्रकार होगा-विवादास्पद सुषुप्ति है, ज्ञानसाधन के न होते हुए भी प्रकाशमान होने साख्याभिमत आत्मा की भाँति, प्रभाकर के अनुयायियो के अभिमत वृत्तिज्ञान की भाँति और बौद्धाभिमत स्वात्मा की भान्ति। जैसे साख्य, प्रभाकर और बौद्धमत मे क्रमश आत्मा,वृत्ति ज्ञान और स्वात्मा, अन्य किसी ज्ञान साधन के बिना भी प्रकाशमान होने से स्वय प्रकाशरूप है, वैसे हमारे मतमे भी सुषुप्ति से उपलक्षित आत्मा स्वय प्रकाश है ॥३२॥

सुषुप्ति मे ब्रह्मानन्द की सिद्धि

स्तामद्वैतस्वप्रभत्वे वद सुप्तौ सुखं कथम् ।
शृणु दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते सुखम् ॥

अर्थ—मान लिया कि सुषुप्ति अद्वैत और स्वयप्रभ है पर उसमे सुख को कैसे मानलें ? इसका उत्तर सुनो, क्योकि उस समय सुख का विरोधी दु ख नही होता, अतएव सुख ही शेष रह जाता है ॥३३॥

सुषुप्ति में दु ख नही होता—इसमे श्रुतिप्रमाण एव अनुभव

अन्धः सन्नप्यनन्धः स्याद्विद्धोऽविद्धोथ रोग्यपि ।

अरोगीति श्रुतः प्राह तच्च सर्वे जना विदुः ॥

अर्थ—तस्माद्वा एत सेतुं तीर्त्वान्धः सन्ननन्धोभवति•' (छा० ८–४–२) और तद्यद्यपीद भगवः शरीरमन्ध भवत्यनन्धः स भवति (छा० ८-१०-६) यह श्रुति कहती है कि सुषुप्ति में अन्धा, अन्धा नही रहता, घायल, घायल नही रहता, रोगी, रोगी नही रहता, (अर्थात् देहाभिमान के कारण उत्पन्न हुए सब दोष दूर हो जाते हैं) : श्रुति का यह कथन भी है और सब लोग इसको जानते भी हैं : रोगादि से पीडित को भी सुषुप्ति में दु.ख का अनुभव नही होता ॥३४॥

पूर्वपक्षी की शका और उसका समाधान

न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोष्टशिलादिषु ।
द्वयाभावस्य दृष्टत्वादिति चेद्विषमं वचः ॥३५

अर्थ—(शका) केवल दु ख के न होने से सुख होने की कल्पना करना ठीक नही क्योकि ढेले इत्यादि मे न दु.ख होता है न ही सुख ? (समाधान) यह तुम्हारा दृष्टान्त विषम अर्थात् दार्ष्टान्तिक का अनुसारी नही है ॥३५॥

दृष्टान्त का दार्ष्टान्तिक के अनुसारी न होने का स्पष्टीकरण

मुखदैन्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम् ।
दैन्याद्यभावतो लोष्टे दु.खाद्यूहो न संभवेत् ।

अर्थ—अन्यनिष्ठ दु ख और सुख का ऊहना तो क्रमश. मुख

पर आई कुम्हलाहट और मुस्कराहट को देखकर होती है ढंने इत्यादि मे जब दीनता और विकास आदि ही नही पाये जाते तब दु:खसुख की कल्पना भी क्यो कर सम्भव है ? अतएव दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक के अनुसार नही है ॥३६॥

हा, अपने दु ख सुख का अनुनमान नही लगाना पडत: :—

स्वकीये सुखदु:खे तु नोहनीये ततस्तयोः ।
भावो वेद्योमुभूत्यैव तदभावोपि नान्यतः ॥३७

अर्थ—अपने सुखदु ख की तो कल्पना नही की जा सकती : वे तो अपने अनुभव से ही सिद्ध हैं। उनका होना जैसे अनुभव (प्रत्यक्ष) से ज्ञात होता है, वैसे ही उनके अभाव को जानने के लिए भी प्रत्यक्ष से भिन्न किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नही होती।

अभिप्राय यह है कि :—

तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावोनुभूतितः ।
विरोधिदुःखराहित्यात्सुखं निर्विघ्नमिष्यताम् ॥

अर्थ—ऐसा होने पर अर्थात् अपना सुखादि अनुभवगम्य मान लेने पर, यह भी मान लेना चाहिए कि अपनी सुषुप्ति मे विद्यमान दु खाभाव भी अनुभवगम्य ही है। पुनश्च, सुषुप्ति मे सुख के विरोधी दु ख के न होने के कारण सुख का निर्विघ्न होना मान लेना पड़ेगा।

सुषुप्ति सुख का होना युक्ति से भी सिद्ध है :–

महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनम् ।
कुतः संपाद्यते सुख चेत्तत्र नो भवेत् ।।
दुःखनाशार्थमेवेतदिति चेद्रोगिणस्तथा ।
भवत्वरोगिणस्त्वेतत्सुखायैवेति निश्चिनु ।।४०

अन्वय—तत्र सुप्तौ सुख नो भवेत् चेत् ? महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधन कुत: सपाद्यते ? । एतत् दु:खनाशार्थं एव इति चेत् ? तथा रोगिण: भवतु, अरोगिण: तु, एतत् सुखाय एव, इति निश्चिनु ।

अर्थ—यदि वहा सुषुप्ति में सुख न होता, तो वडे वड़े प्रयत्नो से कोमल शय्या आदि साधनो को क्यो जुटाया जाता ? यदि कहो कि शय्या आदि का सब सम्पादन दु खनाश के लिए ही तो है ? उत्तर देते है कि यह वात रोगादि दु ख से पीडि . के लिए तो कह सकते हैं, परन्तु जो रोगी नही है, वहाँ दु ख तो है ही नही ' अतएव वहाँ तो शय्या आदि साधन सुख के लिए ही होते हैं ।

सौषुप्ति की सुख द्विविधता

तर्हि साधनजन्यत्वात्सुखं वैषयिकं भवेत् ।
भवत्येवात्र निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम् ।
निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केन हेतुना ।
सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत्परे सुखे ।।४२

अर्थ—(प्रश्न) यदि सुषुप्तिकालीन सुख, इस प्रकार शय्यादिसाधनो से जन्य है, तो उसे वैषयिक सुख मानना पडेगा ? (उत्तर) यहाँ नीद आने से पहले वाला सुख तो शय्या-आसनादि से जन्य होने से वैषयिक सुख है ही, परन्तु निद्राकलीव जो सुख है वह भला किस हेतु से जन्य माना जा सकता है ? किसी से भी नही, क्योकि उस समय शय्यादि आदि साधनों को ही प्रतीत नही हो रही होती। निद्रा से पहले तो जीव की बुद्धि शय्यादि से जन्य सुख के अभिमुख रहती है, इसलिए वह विषय सुख तो उसे अनुभव होता है परन्तु पीछे नीद आ जाने पर, वह उत्कृष्ट सुख (स्वरूप सुख मे डूब जाता है--मग्न हो जाता है · अतएव अजन्य अर्थात् नित्य सुख की उसे अनुभूति नही होती ।। ४१-४२ ।।

उपरोक्त कथन की तीन श्लोको मे व्याख्या करते हैं :—

जाग्रद्व्यावृत्तिभिः श्रान्तो विश्रम्याथ विरोधिनि ।
अपनीते स्वस्थचित्तोऽनुभवेद्विषये सुखम् ।।४३
आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिम्बति ।
अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रान्तिमाप्नुयात् ।।
तच्छ्रमस्यापनुत्त्यर्थं जीवो धावेत् परात्मनि ।
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत् ।।

अन्वय—जाग्रद्व्यावृत्तिभि· श्रान्त विश्रम्य अथ विरोधिनि अपनीते स्वस्थचित्त विषये सुख अनुभवेत् । आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः

प्रतिबिम्बति । अत्र अपि एत अनुभूय त्रिपुट्या श्रान्ति आप्नुयात् । तच्छ्रमस्य अपनुत्यर्थं जीव. परात्मनि धावेत् । तेन ऐक्य प्राप्य स्वय तत्रत्य· ब्रह्मानन्दः भवेत् ।

अर्थ—यह जीव जाग्रत् समय के व्यापारो से थका हुआ, कोमल शय्या पर शयन आदि से विश्राम लेकर, पीछे व्यापार से उत्पन्न दु ख के हटा दिये जाने पर, स्वस्थचित्त ह कर शय्यादि विषयो से मिलने वाले सुख को अनुभव किया करता है । विषयो के उपार्जन से दु ख होकर जब वह दु ख को मिटाने के लिए कोमलाशय्या आदि पर लेटता है तब उसकी बुद्धि अन्तर्मु खी हो जाती है, ('आत्माभिमुखधीवृत्ति' हो जाता है) उस अन्तर्मु ख हुई बुद्धि वृत्ति में स्वरूपभूत आनन्द, सामने रखे दर्पण मे मुख की भान्ति, प्रतिबिम्बित होता है । (इसी को 'विषयानन्द' कहते हैं) परन्तु वह जीव इस समय विषयानन्द को अनुभव करता हुआ भी, अनुभविता, अनुभव और अनुभाव्यरूपा त्रिपुटी से थका सा ही रहता है । इस श्रम को हटाने के लिए यह जीव परात्मा अथात् आनन्द रूप ब्रह्म में दौड़ कर जाता है ! और वहा उस ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त कर स्वय, सुषुप्ति समय का (उसमें रहने वाला) ब्रह्मानन्द बन जाता है । देखो-छा० ६–८–1 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति') ॥४३–४४–४५॥

सुषुप्ति के आनन्द के पाच दृष्टान्त

दृष्टान्ताः शकुनिः श्येनः कुमारश्च महानृपः ।

महाब्राह्मण इत्येते सुप्त्यानन्दे श्रुतीरिताः ॥४६

अर्थ—पक्षी, बाज, बालक, महाराजा और महा ब्राह्मण ये पांच दृष्टान्त सुषुप्ति के आनन्द की सिद्धि के लिए श्रुति मे कहे हैं। इसलिए यह कहना ठीक नही है कि सुषुप्ति मे आनन्द नहीं होता ॥

शकुनिदृष्टान्तपरक छान्दोग्य (६-८-२) वचन का अभिप्राय :—

शकुनिः सूत्रबद्धः सन्दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम् ।
अलब्ध्वा बन्धनस्थानं हस्तस्तम्भाद्युपाश्रयेत् ॥
जीवोपाधिमनस्तद्वद्धर्माधर्मफलाप्तये ।
स्वप्ने जाग्रति च भ्रान्त्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ॥

अर्थ—'स यथा शकुनि सूत्रेण बद्ध' (छा० ६-८-२) आदि छान्दोग्य वचन का अभिप्राय यह कि-'धागे से बधा पक्षी, जैसे सब दिशाओ मे घूम-फिरकर वहा ठहरने (बैठने) का आधार न पाकर फिर अपने बन्धन स्थान, हाथ-थम्भे आदि पर आ बैठता है, वैसे ही जीव का उपाधि मन भी, धर्माधर्म के सुखदुःख रूप फलो का स्वाद चखने-अनुभव करने के लिए, स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओ मे जहा-तहा भ्रमण करके, भोगदायी कर्मों के क्षीण होने पर, अपने उपादान अज्ञान में लीन हो जाता है। और उस उपाधिभूत मन के लीन हो जाने पर उससे उपहित जीव परमात्मा ही हो जाता है ॥४७-४८॥

श्येन के दृष्टान्त का वर्णन

श्येनो वेगेन नीडैकलम्पटः शयितुं व्रजेत् ।
जीवः सुप्त्यै तथा धावेद् ब्रह्मानन्दैकलम्पटः ॥

अन्वय—श्येनः शयितु नीडैकलम्पट. वेगेन व्रजेत्, तथा जीव. ब्रह्मानन्दैलम्पट. सुप्त्यै धावेत् ।

अर्थ—जैसे आकाशविहारी बाज पक्षी, थकावट को हटाने के लिए, सोना चाहकर, एकमात्र घोसले में ध्यान लगाये, जल्दी-जल्दी दौडकर घोसले की ओर जाता है, ऐसे ही यह जीव, मन उपाधिक चिदाभास भी, एक मात्र ब्रह्मानन्द की चाह रखता हुआ, सुषुप्ति के लिये दौड़कर शीघ्र ही हृदयाकाश में पहुँचता है। (इस श्लोक में वृहदारण्यक (४-३-२२) में आये सन्दर्व 'तद्यथास्मिन्नाकाश' आदि का अभिप्राय कहा गया है।) ॥४९॥

'बालाकि ब्र ह्मण' (वृ० २–१–१९) में आये तीन दृष्टान्तो का वर्णन ।

अतिबालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतो हसन् ।
रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेरानन्दैकस्वभावभाक् ॥५०
महाराजः सार्वभौमः संतृप्त सर्वभोगतः ।
मानुषानन्दयीमानं प्राप्यानन्दैकमूर्तिभाक् ॥५१
महाविप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम् ।
विद्यानन्दस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते ॥५२

अर्थ—जैसे दूध पीता बालक दूध पीकर कोमल शय्या पर पडा-पडा हसता है, वह राग-द्वेषादि के उत्पन्न न होने के कारण (क्योकि स्वकीय-परकीय की पहचान ही नही है) एकमात्र सुख-मूर्ति बना रहता है और सार्वभौम राजा, (अशुद्ध बुद्धि होने पर भी), सब भोगो-से तृप्त हुआ, मानुषानन्द की अन्तिम सीमा पर पहुँचकर आनन्दमूर्ति बना रहता है और महाब्राह्मण, ब्रह्म का साक्षात्कार, 'मैं कृत्यकृत्य हो चुका' इस आकार की, विद्यानन्द की अन्तिम सीमा पर पहुँच कर, अर्थात् जीवन्मुक्त होकर पर-मानन्द रूप ही हो जाता है, ठीक इसी प्रकार सोया हुआ पुरुष भी आनन्द स्वरूप ही जाता है ॥५०—५२॥

इन तीनो का ही दृष्टान्त क्यो दिया है ? बताते हैं :—

मुग्धबुद्धातिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता ।
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ॥

अर्थ—मुग्ध, बुद्ध और अतिबुद्ध—ये तीन ही लोक मे सुखी प्रसिद्ध हैं (विवेक शून्यो मे दूध पीता बच्चा, विवेकियो मे सार्व-भौम राजा और अतिज्ञानियो मे आत्म-साक्षात्कार का कर्ता ही सुखी है)-शेष तो सदा रागादिमान् हुये रहते हैं, इसलिये सुखी रहते . इसीलिये उनका दृष्टान्त नही दिया।

द्राष्टन्ति में दृष्टान्त को घटाते हैं .—

कुमारादिवदेवायं ब्रह्मानन्दैकतत्परः ।
स्त्रीपरिष्वक्तवद्वेद न बाह्यं नापि चान्तरम् ॥५४

अर्थ—कुमार आदि की भान्ति यह सुपुप्त भी, एकमात्र ब्रह्मानन्द का भागी बना रहता है। जैसे लोक मे प्रिय स्त्री से आलिंगित कामी बाह्याभ्यन्तर-विषय के ज्ञान से शून्य रहने के कारण, सुखमूर्ति बना रहता है, ऐसे ही सुपुप्ति मे प्राज्ञ परमात्मा से एकता अनुभव करने वाला जीव न बाह्य को जानता है न आभ्यन्तर (विषय) को जानता है : अतएव आनन्द रूप बना रहता है। इस श्लोक द्वारा बृहदारण्यक (४–२–२१ के अन्तर्गत ज्योति ब्राह्मण नामक प्रकरण मे आये 'तद् यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो' वाक्य का अभिप्राय बताया है ॥५४॥

बाह्याभ्यन्तर शब्दो का विवक्षित अर्थ बतलाते हैं :—

बाह्यं रथ्यादिजं वृत्तं गृहकृत्यं यथान्तरम् ।
तथा जागरणं बाह्यं नाडीस्थः स्वप्न आन्तरः ॥

अन्वय—यथा रथ्यादिकं बाह्य वृत्तं, गृहकृत्य आन्तर, तथा जागरण बाह्यं, नाडीस्थ. स्वप्न. आन्तर ।

अर्थ—जैसे गली, कूचा आदि बाह्य तथा घर के कार्य आन्तर वृत्तान्त कहलाते हैं, ऐसे ही जागरण बाह्य है और जाग्रत् की वासना से नाडी मे प्रतीयमान प्रपच (स्वप्न) आन्तर कहलाता है ॥

'जीव सुपुप्ति मे ब्रह्मानन्द रूप ही होता है'—इसमें युक्ति दिखाने वाली श्रुति का भावार्थ कहते हैं –

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् ।

सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ।

अन्वय—सुप्तौ पिता अपिता इत्यादौ जीवत्ववारणात् ससारित्वा-असमीक्षणात् सुप्तौ ब्रह्म एव, जीवः न ।

अर्थ—'अत्र पिताऽपिता भवति' (बृ० ४–३–२२) इत्यादि श्रुति मे कहा है कि सुषुप्ति के समय, पिता पिता नही रहता' इस प्रकार जीवत्व का निषेध कर देने के कारण सुषुप्ति मे ब्रह्म ही रह जाता है, जीव नही रहता, क्यो कि उस समय ससारिभाव का पता नही चलता ॥५६॥

यह ससार देहाभिमानमूलक ही है

पितृत्वाद्यभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि ।
तस्मिन्नपगते तीर्णः सर्वाञ्छोकान्भवत्ययम् ॥

अर्थ—"तीर्णो हि तदा सर्वाञ्शोकान् हृदयस्य भवति" (बृ० ४-३–२२) मे बताया है कि पितृत्व आदि का अभिमान ही सुखदु ख की खान है : उसके हटने पर यह जीव सब शोको के पार पहुँच जाता है। (यह ससार देहाभिमानमूलक है : देहाभिमान के हटते ही सब शोक अर्थात् ससार ही समाप्त हो जाता है ।) ॥५७॥

सुषुप्ति मे प्राणी के सुखरूप होने का प्रमाण

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसावृतः ।
सुखरूपमुपैतीति ब्रूते ह्याथर्वणी श्रुतिः ॥५८

अर्थ—"सुषुप्तिकाल में इस सम्पूर्ण प्रपञ्च के अपनी उपादानभूत तमःप्रधान प्रकृति में विलीन हो जाने पर उस तमोरूप प्रकृति से आच्छादित जीव सुख रूप ब्रह्म हो जाता है"—यह अथर्ववेद की श्रुति का अर्थ है ॥५८॥

श्रुति के प्रमाण से ही नहीं, अनुभव से भी यही बात सिद्ध होती है :—

सुखमस्वाप्समत्राहं न चैव किंचिदवेदिषम् ।
इति सुप्ते सुखाज्ञाने परामृशति चोत्थितः ॥५९॥

अर्थ– सोकर उठा मनुष्य "यहा मैं सुख से सोया, इतने समय में मैंने कुछ नही जाना" इस प्रकार सोने के समय हुये सुख और अज्ञान दोनो का स्मरण किया करता है। अतएव सुख का होना अनुभव सिद्ध है ॥५९॥

स्मरण, यद्यपि प्रमाण नही है तथापि :—

परामर्शोऽनुभूतेऽस्तीत्यासीदनुभवस्तदा ।
चिदात्मत्वात्स्वतो भाति सुखमज्ञानधीस्ततः ॥

अन्वय—परामर्शः अनुभूते. अस्ति तदा अनुभवः आसीत् । चिदात्मत्वात् सुख स्वत. भाति, ततः अज्ञानधीः ।

अर्थ–क्यो कि स्मरण अनुभूत विषय का ही होता है अतएव यह निश्चित है कि सुप्ति में सुख और अज्ञान का अनुभव था ।

(प्रश्न) सुषुप्ति में तो ज्ञान से मन-सहित सब साधन

विलीन हो जाते है, तव फिर अनुभव होना कैसे मान लिया जाय ? यहाँ प्रश्न यह है कि सुखानुभव साधन नही है या अज्ञानानुभव साधन नही है ? सुख तो स्वप्रकाश-चिद्रूप है, उसे साधन की अपेक्षा नही है—अज्ञानानुभवसाधन का अभाव भी नही है क्योकि, सुख के स्वप्रकाश–रूप होने से उस का आवरक अज्ञान भी प्रतीत होगा ही ! इसीलिये कहते है–'चिदात्मत्वात्–इत्यादि । अर्थात् सुख चेतनात्मक है, अतएव वह बिना साधनो के ही प्रकाशित या ज्ञात हो जाता है और उसी स्वयप्रकाश सख के सहारे से उसे ढकने वाले अज्ञान की प्रतीति हो जाती है ।।६०।।

ब्रह्म विज्ञानमानन्दमिति वाजसनेयिनः ।
पठन्त्यतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्मेव नेतरत् ।।६१

अर्थ—क्योकि वाजसनेयो शाखा वाले 'विज्ञान आनन्द ब्रह्म' ब्रह्म, 'विज्ञान' और 'आनन्द' दो प्रकार का है ऐसा कहते हैं, इसलिए जो स्वयप्रकाश सुख है' वह सव ब्रह्मतत्व है । वह और कुछ नही है अतएव सुषुप्ति में होने वाला स्वयप्रकाश सुख भी ब्रह्मरूप ही है ।

जब अनुभव और स्मरण का अधिकरण एक ही होजाता है तो फिर 'मैं सुख से सोया, जाना नही' वाक्य से प्रकट किये गये सुख और अज्ञ न को विज्ञानमय जीव स्मरण करता है,अतएव सुखादि का अनुभव भी उसी को होना चाहिए ? ऐसा नही है,क्योकि उपाधि तो अज्ञान मे विलीन हो जातो है :—

यदज्ञानं तत्र लीनौ विज्ञानमनोमयौ ।
तयोर्हि विलयावस्था निद्राऽज्ञानं च सैव हि ।।

अर्थ—'मैंने उस समय कुछ नही जाना' इस स्मरण की अन्यथा सिद्धि न होने के कारण, हम जिस सौषुप्त अज्ञान को पहचानते हैं, उसी मे प्रमाता एव प्रमाण रूप से प्रसिद्ध विज्ञानमय और मनोमय दोनो विलीन हो जाते हैं अर्थात् विज्ञानत्वादि आकार को छोड़कर कारण रूप से अवस्थित हो जाते हैं। क्यो कि उस समय उन दोनो की विलयावस्था का ही नाम 'निद्रा' है। उसी निद्रा को विद्वान लोग 'अज्ञान' भी कहते हैं।

विलीनघृतवत् पश्चात् स्याद्विज्ञानमयो घनः ।
विलीनावस्थ आनन्दमयशब्देन कथ्यते ।।६६

अर्थः—जैसे पिघला हुआ घी, पीछे जम जाता है, उसकी भान्ति ही कर्मो के क्षय के कारण निद्रारूप से विलीन हुआ अन्त.करण (जाग्रदवस्था आने पर) विज्ञानरूप में घन (गाढा) हो जाता है। उस अवस्था में घन विज्ञान ही आत्मा की उपाधि होती है, तब आत्मा भी विज्ञानमय हो जाता है। और विलीनावस्था मे विद्यमान वही 'आनन्दमय' शब्द से कहा जाता था। जब वह विलीनावस्था की उपाधि था तब उसी को 'आनन्दमय' कहते थे। अभिप्राय यह है कि सुपुप्ति में, अपनी विषयावस्था में, विज्ञानमय का स्वरूप-नाश नही होता—वह विलयावस्था रूपी उपाधि द्वारा आनन्दमय रूप से तो अनुभविता रहता है

और विज्ञान शब्दवाच्य घनी भाव-रूपी उपाधि वाले रूप से स्मर्ता बना रहता है।

'विलीनावस्था वाला आनन्दमय कहलाता है' वाक्य की व्याख्या करते हैं:—

सुप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिवृत्तिर्या सुखबिम्बिता।
सैव तद्बिम्बसहिता लीनानन्दमयस्ततः ॥६४

अन्वय—सुप्तिपूर्वक्षणे या बुद्धिवृत्ति सुखबिम्बिता, ततः तद्बिम्बसहिता लीना आनन्दमयः।

अर्थ—सुषुप्ति से ठीक पहले क्षण में जो अन्तर्मुखी बुद्धिवृत्ति स्वरूप भूत सुख के प्रतिबिम्ब से युक्त होती है, उस क्षण के पश्चात्, उस प्रतिबिम्ब के सहित वही बुद्धि-वृत्ति निद्रारूप हो विलीन हो जाती है, तब वह आनन्दमय कहलाती है ॥६४॥

आनन्दमय को सुखानुभव

अन्तर्मुखो य आनन्दमयो ब्रह्मसुखं तदा।
भुङ्क्ते चिद्बिम्बयुक्ताभिरज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः ॥६५

अन्वय—अन्तर्मुख. य आनन्दमय· तदा ब्रह्मसुख चिद्बिम्बयुक्ताभिः अज्ञानोत्पन्नवृत्तिभि. भुङ्क्ते।

अर्थ—वह अन्तर्मुख 'आनन्दमय' जो सुखप्रतिबिम्बसहितान्तर्मुखधीवृत्तियो से उत्पन्न सस्कार सहिताज्ञानोपाधिवाला है, वह, तव सुषुप्ति काल मे ब्रह्मसुख अर्थात् स्वरूप भूत सुख को, चिदाभास से युक्त, अज्ञान से उत्पन्न हुई, सुखादि को अनुभव

करने वाली सत्वगुण की परिणाम विशेष, वृत्तियों द्वारा अनुभव करता है ॥६५॥

तो फिर सुषुप्ति में भी सुखानुभव स्पष्ट प्रतीति क्यों नही होता ? क्योंकि –

अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः ।
इति वेदान्तसिद्धान्तपारगाः प्रवदन्ति हि ॥६६

अर्थ—वे अयन वृत्तिया बहुत सूक्ष्म होती हैं अर्थात् इतनी स्पष्ट नही होती, जब कि बुद्धि वृत्तियां बहुत स्पष्ट होती हैं– यह बात वेदान्त सिद्धान्त के पारङ्गतजन बताते हैं ॥६६॥

माण्डूक्यतापनीयादिश्रुतिष्वेतदतिस्फुटम् ।
आनन्दमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानन्दे च भोग्यता ॥६७

अर्थ—माण्डूक्य और तापनीय आदि श्रुतियो में यह बात स्पष्ट प्रतिपादित कर दी है कि आनन्दमय भोक्ता है और ब्रह्मानन्द भोग्य है ॥६७॥

एकीभूत. सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनतां गतः ।
आनन्दमय आनन्दभुक्चेतोमयवृत्तिभिः ॥६८

अन्वय—एकीभूत. सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनता गत. आनन्दमय. चेतोमयवृत्तिभि. आनन्दभुक् ।

अर्थ 'सुषुप्तस्थान एकीभूत प्राज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुख (माण्डूक्य ५) मे कहा है कि एकीभाव को

प्राप्त सुषुप्ति का अभिमानी प्रज्ञानघन बनकर, आनन्दप्रचुर बन जाता है। वही आनन्दमय चैतन्य की अधिकतावाली (चेतोमय) वृत्तियो से आनन्द को भोगा करता है ॥६८॥

'एकीभूत' पद का अर्थ कहते हैं :-

विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराधुना।
स लयेनैकतां प्राप्तो बहुतण्डुलपिष्टवत ॥६६

अन्वय—य. पुरा विज्ञानमयमुख्यै. रूपैः युक्तः सः अधुना लयेन एकता प्राप्तः। बहुतन्दुलपिष्टवत्।

अर्थ—जो आत्मा पहले जागरणावस्था में विज्ञानमय आदि 'स वा अयभात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः···' इत्यादि श्रु त्युक्त) आकार विशेषो से युक्त हो रहा था वही अव विज्ञान-मन-प्राण-चक्षु आदि उपाधियो के विलय हो जाने के कारण. एक रूप हो जाता है (यही 'एकीभाव' हो जाना है), जैसे—बहुत से चावलो को पीस कर एक पिट्ठी बना ली गई हो ॥६६॥

'प्रज्ञानघन' शब्द का अर्थ.—

प्रज्ञानानि पुरा बुध्विवृत्तयोऽथ घनोऽभवत्।
घनत्व हिमबिन्दूनामुदग्देशे यथा-तथा-॥७०

अन्वय—पुरा प्रज्ञानानि बुद्धिवृत्तय', अथ घनः अभवत्। यथा उदग्देशे हिमबिन्दूना घनत्वं, तथा।

अर्थ—जाग्रत् अवस्था में प्रज्ञान शब्द वाच्य और घटादि को

गोचर करने वाली जो बुद्धि वृत्तिया थी, वे सब अब सुषुप्ति में घटादि विषयो के न रहने के कारण, चिद्‌घन अर्थात् एकचेतन-रूप हो जाती हैं, (इसी को प्रज्ञानघन होना कहते हैं), जैसे कि जलप्रदेश में हिम की वहुत सी बून्दें मिल कर घनरूप-पिण्ड-वन गई हो ॥७०॥

'प्रज्ञानघन' के प्रसङ्ग मे ही कुछ और कहते हैं :-

तद्‌घनत्वं साक्षिभावं दुःखाभावं प्रचक्षते ।
लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्तिविलोपनात् ॥

अन्वय--तत् साक्षिभाव घनत्व लौकिका. तार्किका: दु.खभावं प्रचक्षते, यावतद्‌दु खवृत्ति विलोपनात् ।

अर्थ—जो यह वेदान्तो में साक्षिता नाम से प्रसिद्ध प्रज्ञान-घनता है, उसी शास्त्रसस्काररहित लौकिक जन और वैशेपिक आदि तार्किक भी दु खाभाव कहते हैं क्योंकि उस समय जितनी भी दु ख वृत्तियाँ हैं, वे सव की सव, विलीन हो जाती हैं ॥७१॥

पूर्वोक्त श्रुत्यन्तर्गत 'चेतोमुख' शब्द का अर्थ कहते हैं :-

अज्ञानबिम्बता चित्स्यान्मुखमानन्दभोजने ।
भुक्त्वं ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा बहिर्यात्यथ कर्मणा ॥

अर्थ—सुषुप्तिगत ब्रह्मानन्द के भोगने अर्थात् उसके आस्वा-दन के लिए मुख अर्थात् साधन, अज्ञान वृत्ति मे प्रतिविम्वित चैतन्य ही है (यही 'चेतोमुख' का अर्थ है) वह चैतन्य जीव पीछे पुण्य पाप रूप कर्मों के वश हुआ, उस भुज्यमान ब्रह्म सुख

को छोडकर वाहर आता है अर्थात् जाग्रन् अवस्था मे पहुँच जाता है ।+ ॥७२॥

जागरण के कर्मज होने मे प्रमाण

अर्थ—'पुनश्च जन्मातरकर्मयोगात् स एव जीव स्वपिति प्रवुद्ध' इस कैवल्य शाखा का अभिप्राय यह है कि 'जो जन्मान्तर मे कर्म था उसके योग से फिर प्रवुद्ध हो जाता है अर्थात् जागरणावस्था मे पहुँच जाता है ।' इस प्रकार कैवल्य शाखा मे जागरण अवस्था को कर्मों से उत्पन्न वताया है ॥७३॥

+घर मे बैठा बालक माता की गोद में से उठकर बाहर जाकर बालको से खेलता है : खेलता-खेलता थक कर फिर मा की गोद में पडकर थकावट मिटाता है तथा साथियो के बुलाने पर फिर खेलने बाहर चला जाता है । ऐसे ही सुषुप्तिरूप घर मे बैठी अज्ञान (कारण शरीर) रूप माता के विक्षेपशक्ति अशरूप गोद मे से उठा, चिदाभास युक्त अन्त करणरूप बालक, जाग्रत व स्वप्नरूप बाह्य देश मे जा कर क्रिया के निमित्तभूत प्रारब्ध कर्मरूप बालको के साथ व्यवहार रूप खेल खेलता है । जब जाग्रत-स्वप्नावस्था के कर्मों का विराम होता है तब अज्ञानरूप माता की गोद मे स्थित (विलीन) होकर, सुषुप्तिरूप घर के ब्रह्मानन्द को अनुभव करता हुआ, उन अवस्थाओ मे किये व्यवहारो से जन्य विक्षेपरूप थकावट को दूर करता है । और भोगप्रद कर्मरूप बालक जब उसे फिर बुलाते हैं (प्रेरणा करते हैं) तो फिर जाग्रत-स्वप्नावस्थारूप बाह्यप्रदेश मे चला जाता है ।

'सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द अनुभव होता है' इसका हेतु

कञ्चित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानन्दस्य वासना ।
अनुगच्छेद्यतस्तूष्णीमास्ते निर्विषयः सुखी ।।७४

अन्वय—प्रबुद्धस्य कंचित् कालं ब्रह्मानन्दस्य वासना अनुगच्छेत्, यतः निर्विषयः सुखी तूष्णीं आस्ते ।

अर्थ—जाग जाने पर, कुछ समय तक तो, सुषुप्ति में अनुभूत ब्रह्मानन्द के संस्कार चालू रहते ही हैं, क्योंकि हम देखते हैं कि प्राणी जागरण के आरम्भ में किसी विषय का अनुभव न करता हुआ भी, सुखी हुआ, चुपचाप बैठा रहता है (जागने वाले की इस चेष्टा से हम जानते हैं कि सुषुप्ति में इसने आनन्द भोगा था और अब भी उस आनन्द-भोग के संस्कारों के सहारे बिना किसी विषय के भी अनुभव कर रहा है ।।७४।।

फिर चुप ही क्यों बैठा रहता ? क्यों कि :—

कर्मभिः प्रेरितः पश्चान्नानादुःखानि भावयन् ।
शनैर्विस्मरति ब्रह्मानन्दमेषोऽखिलो जनः ।।७५

अर्थ–(कुछ काल पीछे) कर्मों से प्रेरित हुये सब प्राणी संसार के नाना दुःखों की भावना करते-करते क्रमशः ब्रह्मानन्द को भूल जाते हैं ।।७५।।

ब्रह्मानन्द के विवादास्पद न होने का एक दूसरा हेतु कहते हैं -

प्रागूर्ध्वमपि निद्रायाः पक्षपातो दिने दिने ।
ब्रह्मानन्दे नृणां तेन प्राज्ञोऽस्मिन्विवदेत कः ।।

अर्थ—सब मनुष्यो का, प्रतिदिन-निद्रा से पहले और पीछे-ब्रह्मानन्द की ओर झुकाव बना रहता है · (इसीलिए तो सोने के लिये कोमल शय्या जुटाता और सोने के पश्चात् उसके सुख को छोड़ना नही चाहता और चुपचाप बैठ उसका स्मरण करता है।) जब यह बात है तब ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो ब्रह्मानन्द के विषय मे विवाद करे . वह तो विवादास्पद है ही नही ॥७६॥

ननु तूष्णींस्थितौ ब्रह्मानन्दश्चेद्भाति लौकिकाः।
अलसाश्चरितार्थाः स्युः शास्त्रेण गुरुणात्र किम्।

अर्थ—(शङ्का) यदि चुप बैठने से ही ब्रह्मानन्द मिल सकता है तो लौकिक साधारण जन और आलसी सब कृतकृत्य हो जायेंगे ॥ तब शास्त्र श्रवणादि मे परिश्रम अथवा गुरुसेवा आदि को क्यो आवश्यकता होगी ? ॥७७॥

बाढं ब्रह्मेति विद्युश्चेत्कृतार्थास्तावतैव ते।
गुरुशास्त्रे विनाऽत्यन्तं गम्भीरं ब्रह्म वेत्ति कः ॥

अर्थ—(समाधान) ठीक है, यदि चुप बैठने वाले वे लोग ब्रह्म "यह है" यह जान जाय+तब तो वे इतनें मात्र से-चुप बैठनें

+दूसरे पत्थरो की भान्ति पड़े चिन्तामणि को देख लेने या गड़े धन से जैसे कोई लाभ नहीं होता, जब तक कि 'चिन्तामणि' को वस्तुतः पहचान नही लेता : ऐसे ही सुषुप्ति मे विषयसुख की भान्ति अनुभूत

मात्र से—चरितार्थ हो जांय परन्तु अत्यन्त गम्भीर वाङ्मन आदि के अगोचर, ब्रह्म को गुरु और शास्त्र के विना अन्य किसी उपाय से कौन जान सकता है ॥७८॥

जानाम्यहं त्वदुक्त्याऽद्य कुतो मे न कृतार्थता ।
शृण्वत्र त्वादृशो वृत्तां प्राज्ञंमन्यस्य कस्यचित् ॥
चतुर्वेदविदे देयमिति शृण्वन्नवोचत ।
वेदाश्चत्वार इत्येवं वेद्मि मे दीयतां धनम् ॥८०
संख्यामेवैव जानाति न वेदानशेषतः ।
यदि तर्हि त्वमप्येवं नाशेषं ब्रह्म वेत्सि हि ॥८१

अर्थ—(प्रश्न) मैं तुम्हारे कहने से तो ब्रह्मानन्द को जानता हूँ–फिर मैं क्यो नही कृतार्थ हुआ (उत्तर) इस प्रश्न के उत्तर मे अपने सरीखे किसी प्राज्ञमन्य को वात सुन लो "चारो वेदों के ज्ञाता को धन देना है" यह वाक्य सुन कर कोई तुम्हारे जैसा ही कह उठा–"वेद चार हैं" यह तो (तुम्हारे कथन को सुनकर ही) मैं भी जानता हूँ, 'मुझे धन दो ।' बस ऐसा ही तुम्हारा भी

ब्रह्मानन्द से भी अनर्थ की निवृत्तिरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति नही होती क्योंकि अनर्थ का कारण अज्ञान विद्यमान रहता है । जव यह विशेष-रूप से यह जान लेता है कि 'यह सुषुप्ति का आनन्द नित्य निरतिशय मेरा निजरूप ब्रह्म है' तब अज्ञान निवृत्त होता है और उससे कर्तव्यरूप अनर्थ की निवृत्तिरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है ।

कथन है। (प्रश्न) पर वह तो वेदो की चार संख्या ही जानता है, सम्पूर्ण वेदो को नही जानता ? (उत्तर) उस भ्रान्ति अपने आपको चतुर्वेदज्ञ मानने वाले तुम भी सम्पूर्ण ब्रह्म को नही जानते ॥७६-८०-८१॥

अखण्डैकरसानन्दे मायातत्कार्यवर्जिते ।
अशेषत्वसशेषत्ववार्तावसर एव कः ॥८२

अन्वय–मायातत्कार्यवर्जिते अखण्डैकरसानन्दे अशेषत्वसशेषत्ववार्तावसर. एव क ?

अर्थ - (प्रश्न) माया और उसके कार्य से रहित अखण्डैकरसानन्द ब्रह्म मे सम्पूर्ण और अधूरेपन की बात का अवसर ही कहाँ है ? ॥८२॥

शब्दानेव पठस्याहो तेषामर्थं च पश्यसि ।
शब्दपाठेर्थबोधस्ते संपाद्यत्वेन शिष्यते ॥८३
अर्थे व्याकरणाद्बुद्धेः साक्षात्कारोऽवशिष्यते ।
स्यात्कृतार्थत्वधीर्यावत्तावद्गुरुमुपास्व भोः ॥८४

अर्थ—(उत्तर) 'अखण्डैकरस' 'मायावर्जित' आदि शब्दो को ही पढते हो अथवा उनके स्वगतादिभेदशून्य आदि अर्थों को भी जानते हो ? (१) यदि केवल शब्दो का पाठ ही करते हो तब तो, अर्थबोध (साक्षात्कार) का सम्पादन करना अभी शेष है। (२) यदि व्याकरण और शास्त्र आदि से अर्थ जान भी लिया, परोक्ष-ज्ञान का सम्पादन हो भी गया हो तो भी, साक्षात्कार, अपरोक्ष

ज्ञान, शेष है। ज्ञान को पूरा करने के लिए तो, जब तक कृतार्थ होने की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती तब तक गुरु की उपासना करते रहो। कृतार्थत्व बुद्धि के उत्पन्न होने पर ही ज्ञान की पूर्णता समझनी चाहिए ॥

अब फिर प्रसङ्ग की बात पर आते हैं :—

आस्तामेतद्यत्र यत्र सुखं स्याद्विषयैर्विना।
तत्र सर्वत्र विद्ध्येतां ब्रह्मानन्दस्य वासनाम् ॥

अर्थ—अथवा यह सब रहने दो। अब प्रसंग पर आते हैं। जब-जब (चुप बैठ रहने आदि के समय) विषयों के बिना ही सुख होता हो, तब-तब सर्वत्र इस ब्रह्मानन्द की वासना अथवा 'वासनानन्द' को समझलो। विषयानुभव के बिना मिलने वाला सुख विषयजन्य न होने तथा सामान्य अहंकार से आच्छादित होने के कारण 'वासनानन्द' कहलाता है ॥८५॥

विषयानन्द का पुनः कथन

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति।
अन्तर्मुखमनोवृत्तावानन्दः प्रतिबिम्बति ॥८६

अर्थ—विषयों के प्राप्त हो जाने पर भी, उनकी इच्छा के शान्त होते ही, अन्तर्मुख हुए मन में आनन्द प्रतिबिम्बित हुआ करता है। यही 'विषयानन्द' + या संसार का सुख है ॥८६॥

+अभीष्ट विषय प्राप्त हो जाने पर चञ्चल राजसी वृत्ति निवृत्त हो जाती है और प्राप्त विषय की ज्ञानरूप सात्विक वृत्ति से विषयोपहित

ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इति त्रयम् ।
अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चन ॥

अर्थ—अतएव सुषुप्ति मे स्वप्रकाश रूप से भासमान 'ब्रह्मानन्द', चुप बैठ रहने के समय विषयानुभव के बिना प्रतीयमान वासनानन्द और अभीष्ट विषय की प्राप्ति से अन्तर्मुख मन में प्रतिबिम्बित विषयानन्द इन तीन प्रकार के आनन्दों को छोड़कर, जगत् में कोई किसी प्रकार का आनन्द नहीं है।* ॥८७॥

चेतनस्वरूप आनन्द की प्रतीति होती है : यह वृत्ति विषयरूप निमित्त से हुई है-इसलिये विषयानन्द कहलाती है।

अथवा वांछित विषय के ज्ञान से इच्छारूप वृत्ति की निवृत्ति हो जातीहै और उस निमित्तसे ही अन्य अन्तर्मुखवृत्ति उत्पन्न होती है,उससे अन्त करणोपहित आनन्द का भान होता है। यह अन्तर्मुखवृत्ति अथवा उस वृत्ति मे जो स्वरूप आनन्द का प्रतिबिम्ब होता है वह विषयानन्द कहलाता है। उसी को प्रतिबिम्बानन्द अथवा लेशानन्द भी कहते हैं- इससे ही ब्रह्मा से लेकर चीटी पर्यंत सब जीव निर्वाह करते हैं।

*(प्रश्न) (१) इस प्रकरण के ११ वें श्लोक मे ब्रह्मानन्द, विद्यासुख विषयानन्द नाम से तीन प्रकार का आनन्द बताया था, अब ब्रह्मानन्द वासना और प्रतिबिम्ब नाम से तीन प्रकार का आनन्द बताया भला क्या यह पूर्वापर विरोध नहीं है ? (२) फिर ६८ वें तथा १२१

शेष दो आनन्द ब्रह्मानन्द से ही उत्पन्न हुये हैं :—

तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्यमू ।
आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः ।।

अन्वय—तथा च स्वयप्रभः ब्रह्मानन्द, विषयानन्दः, वासनानन्दः इति अमू आनन्दौ जनयन् आस्ते ।

श्लोक में इनसे सर्वथा भिन्न निजानन्द और मुख्यानन्द (२) आत्मानन्द नामक द्वितीय अध्याय मे (१२ वें प्रकरण के चौथे श्लोक मे) 'आत्मानन्द' (४) त्रयोदश प्रकरण के प्रथम श्लोक मे योगानन्द। (५) और उसी प्रकरण के १०५ वें श्लोक मे 'अद्वैतानन्द' का उल्लेख है। फिर यह कहना कि ८७ वें श्लोक में कहे आनन्दो के अतिरिक्त और कोई आनन्द नही है–क्या परस्पर विरुद्ध नहीं है ?

(उत्तर) यह परस्पर विरोध नहीं है, क्योकि विद्यानन्द भी विषयानन्द को भान्ति अन्तःकरण की एक वृत्तिविशेष है अतएव विषयानन्द के अन्तर्गत है। १४ वें प्रकरण के दूसरे श्लोक मे विद्यानन्द को बुद्धि वृत्ति बता कर उसे विषयानन्द के अन्तर्गत बताया ही है। अतएव विषयानन्द से पृथक् नहीं है। (२) निजानन्द, मुख्यानन्द, आत्मानन्द, योगानन्द और अद्वैतानन्द, ब्रह्मानन्द से पृथक् नहीं है इसका प्रतिपादन आगे यथास्थान किया गया है। अतएव वस्तुत. 'ब्रह्मानन्द, वासनानन्द और विषयानन्द–ये तीन ही आनन्द हैं।

(प्रश्न) परन्तु १२ वे प्रकरण के प्रथम श्लोक मे तो निजानन्द को स्पष्ट ब्रह्मानन्द और वासनानन्द से पृथक् बताया है ? (उत्तर) वहाँ

अर्थ--इस प्रकार इन तीन प्रकार के आनन्दो मे से जो स्वयं-प्रकाश ब्रह्मानन्द है, वह शेष दो आनन्दो को उत्पन्न किया करता है ।।८८।।

जागरण में ब्रह्मानन्द के ज्ञान के उपाय का कथन-आरम्भ

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके ।
ब्रह्मानन्दे सुप्तिकाले सिद्धे सत्यन्यदा शृणु ।।

अर्थ—श्रुति (सुषुप्ति काले सकले विलीने आदि), युक्ति (सुखहमस्वाप्स आदि परामर्श की सिद्धि) और अर्थापत्ति से कल्पित सुषुप्ति के अनुभव से, सुषुप्तिकाल मे स्वय प्रकाश-चैतन्य रूप ब्रह्मानन्द के सिद्ध होने पर अब जागरण काल में भी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के उपाय सुनो ।।८९।।

उपाय का वर्णन करने से पहले भूमिका रूप में, जीव का दो अवस्थाओ मे आना और उसके निमित्त का वर्णन करते हैं –

ब्रह्मानन्द तो एक ही है परन्तु जगत् के कारणपने की उपाधि से रहित या सहित होने मात्र से भेद कथन है । 'आनन्द से ही भूत उत्पन्न होते हैं' वाक्य मे तो जगत् के कारण का निरूपण है अतएव यहाँ ब्रह्मानन्द को माया सहित बताया है और निजानन्द निरूपण के समय "जितना जितना अहङ्कार विस्मरण होता है" इत्यादि वाक्यो से कारण सहित अहङ्कार का विलय प्रतिपदित होने से निजानन्द माया रहित है । इस प्रकार इनमे परस्पर विरोध नही है ।

य आनन्दमयः सुप्तौ स विज्ञानमयात्मताम् ।
गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ।।

अन्वय—सुप्तौ यः आनन्दमय. सः विज्ञानमयात्मतां गत्वा स्थान भेदत. स्वप्न वा प्रबोध प्राप्नोति ।

अर्थ—सुषुप्ति काल में, (६३ वे श्लोक के अनुसार) जो 'आनन्दमय' है वह विज्ञानमय शब्द की वाच्य बुद्धि उपाधि वाला है, अतएव विज्ञानमयता को प्राप्त होकर, स्थानभेद से, वक्ष्यमाण स्थान विशेष के योग से, कर्मानुसार स्वप्न अथवा जागरण अवस्था मे पहुँच जाता है ।

जाग्रत् आदि अवस्थाओं के देह में स्थान

नेत्रे जागरणं कण्ठे स्वप्नः सुप्तिर्हृदम्बुजे ।
आपादमस्तकं देहं व्याप्य जागर्ति चेतनः ।।६१

अर्थ—नेत्र अर्थात् उपलक्षण से देहभर मे जागरण अवस्था होती है, कठस्थान मे स्वप्न और हृदय काल में सुषुप्ति मानी गई है। नेत्र से देहमात्र का ग्रहण है इसलिए चेतन जीव, पाँवो से लेकर मस्तक पर्यन्त समस्त देह को व्याप्तकर जाग्रत् अवस्था में पहुँचता है ।।६१।।

'देह को व्याप्त कर' इस वाक्य खण्ड का स्पष्टीकरण दृष्टान्त से करते हैं :—

देहतादात्म्यमापन्नस्तप्तायः पिण्डवत्ततः ।
अहं मनुष्य इत्येवं निश्चित्यैवावतिष्ठते ।।६२

अर्थ—तपे हुए लौह पिण्ड की भान्ति (जैसे तपे हुए लौह पिण्ड के साथ अग्नि का तादात्म्य हो जाता है इसी प्रकार) वह मनुष्यत्वादि जाति वाले, देह के साथ तादात्म्य को प्राप्त कर लेता है। इससे वह 'मै मनुष्य हूँ' यह निस्सन्दग्ध निश्चय करके ही बैठता है ॥६२॥

देह मे तादात्म्याभिमान से होने वाली अन्य अवस्थायें

उदासीनः सुखी दुःखीत्यवस्थात्रयमेत्यसौ ।
सुखदुःखे कर्मकार्ये त्वौदासीन्यं स्वभावतः ॥

अर्थ—उदासीन सुखी, और दुखी इन तीन अवस्थाओ को यह देहतादात्म्याभिमानी जीव, प्राप्त होता है। इनमे से सुख और दुख तो कर्मजन्य है (अर्थात् सुखीपन और दुखीपन कर्म-जन्य हैं) और उदासीनता स्वभाव से (कर्म वन्द हो जाने पर) आती है ॥६३॥

बाह्यभोगान्मनोराज्यात्सुखदुःखे द्विधा मते ।
सुखदुःखान्तरालेषु भवेत्तूष्णीमवस्थितिः ॥६४

अर्थ—'बाह्यभोग' तथा 'मनोराज्य' इन दो भिन्न भिन्न निमित्तो से मिलने वाले दो प्रकार के सुख-दुख होते हैं। इन दोनो अवस्थाओ के मध्य जब कि न सुख होता है, न दुख, तब चुप रहने की नाना अवस्थाए होती है ये ही उदासीन अवस्था के समय हैं ॥६४॥

जिस प्रयोजन से जाग्रदादि अवस्थाओं का वर्णन किया, वह अब दिखाते हैं .—

न कापि चिन्ता मेऽस्त्यद्य सुखमास इति ब्रुवन् ।
औदासीन्ये निजानन्दभानं वक्त्यखिलो जनः ॥

अन्वय—अखिल. जन. 'अद्य मे का अपि चिन्ता न अस्ति, सुख आस' इति ब्रुवन् औदासीन्ये निजानन्दभान वक्ति ।

अर्थ—सब लोग 'आज मुझे कोई चिन्ता नही, सुख से बैठा हूँ' कहते हुए उदासीनता मे निजानन्द (स्वरूपानन्द) की स्फूर्ति को प्रकट करते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि जागरण मे भी निजानन्द की प्रतीति होती है ॥६५॥

और उदासीनता मे प्रकाशमान यह निजानन्द, ब्रह्मानन्द नही है, क्योकि :—

अहमस्मीत्यहंकारसामान्याच्छादितत्वतः ।
निजानन्दो न मुख्योऽयं किंत्वसौ तस्य वासना ॥

अन्वय—'अह अस्मि' इति अहङ्कारसामान्याच्छादितत्वत। अयं निजानन्द. मुख्य. न । किन्तु असौ तस्य वासना ।

अर्थ—'मैं हूँ' इस प्रकार के एक सामान्य ('देवदत्त हूँ' इस प्रकार के विशेष अहकार से भिन्न) अथवा सूक्ष्म अहकार से आवृत रहने से यह 'निजानन्द' मुख्यानन्द नही है, किन्तु यह उसकी वासना है–इसीलिए इसे 'वासनानन्द' कहते हैं ! 'मुख्यानन्द' में 'मैं हूँ' ऐसा अस्पष्ट अहकार भी नही होना चाहिए । ६६॥

मुख्यानन्द से भिन्न वासनानन्द की सत्ता को दृष्टान्त से समझाते हैं :—

नीरपूरितभाण्डस्य बाह्ये शैत्यं न तज्जलम् ।
किन्तु नीरगुणस्तेन नीरसत्ताऽनुमीयते ॥६७

अर्थ—जल से भरे घड़े के बाहर प्रतीत होने वाली शीतलता को पानी नही कहते (क्यो कि उसमे द्रवत्व नही है), शीतलता तो पानी का एक गुण है : उससे पानी के होने का अनुमान हो जाता है । यहाँ अनुमान इस प्रकार होगा :-घट मे प्रतीयमान, विवादास्पद शैत्य, जल-जन्य है, क्योकि शीतलता है, जैसे कि जल मे उपलभ्यमान शीतलता जलजन्य है ॥६७॥

इसी प्रकार वासनानन्द से मुख्यानन्द का अनुमान होता है :-

यावद्यावदहङ्कारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः ।
तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते ॥६८

अन्वय—अभ्यासयोगत यावत् यावत् अहङ्कार विस्मृत. तावत् तावत् सूक्ष्म दृष्टे निजानन्द अनुमीयते ।

अर्थ -'ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेज्छान्त आत्मनि' इस श्रुति मे कही गई निरोध-समाधि के अभ्यास से अहंकार का जितना जितना विस्मरण होता जायगा (अहम् आदि वृत्तियो के विलय से चित्त मे जितनी सूक्ष्मता आती जायगी) निजानन्द भी उतना ही व्यक्त होता जायगा–यह अनुमान है ।

अभिप्राय यह है .—अहङ्कार का सकोच करने के लिये जिन क्षणो

मे हम बैठते हैं उनमे पिछले-पिछले क्षणो मे, पहले-पहले क्षणो से, अधिक निजानन्द आविर्भूत होता जाता है क्योकि अहङ्कार का सकोच करने वाले, क्षणो की लम्बाई उत्तरोत्तर बढती ही जाती है। अहङ्कार के विस्तार ने जिस निजानन्द को ढक रखा था वह अब, अहङ्कार का सङ्कोच होने से उघडने लगता है—जैसे जैसे अहङ्कार का सकोच बढने लगेगा, वैसे-वैसे निजानन्द भी बढ़ता जायगा। अनुमान का रूप इस प्रकार होगा:—अहकार के सकोच से युक्त द्वितीय आदि क्षण, पहले-पहले क्षणो से अधिक आनन्द (निजानन्द) वाले हैं, अहकार के सकोच विशेष से युक्त कालरूप होने से अहकार के सकोच से युक्त प्रथम क्षण के समान। अभिप्राय यह है कि अभ्यास योग से जितना-जितना अहकार विस्मृत होता जाता है उतना-उतना निजानन्द सूक्ष्मदृष्टि से अनुमित होता जाता है।

साक्षात्कार होने तक वुद्धि सुक्ष्म होती जाती है :—

सर्वात्मना विस्मृतः सन्सूक्ष्मतां परमां व्रजेत्।
अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोऽपि नो पतेत्॥

अर्थ—अहकार पूरी तरह विस्मृत होकर परम सूक्ष्म हो जाता है, परन्तु (वृत्तियो के विलीन हो जाने पर भी) अन्त करण का स्वरूप से विलय नही होता, इसलिए इस अवस्था को निद्रा नही कह सकते। आचार्यो ने कहा है कि 'बुद्धे. कारणात्मनावस्थान सुषुप्ति.' अर्थात् निद्रा (सुषुप्ति) वह है जब वुद्धि कारण रूप में पहुँच जाय। अन्त करण के स्वरूप का विलय

होने का चिह्न यह है कि इसी कारण (समाधिकाल में) योगी का देह निद्रा की भान्ति गिर नही पडता-जहाँ सुषुप्ति आदि में अहकार का लय हो जाता है वहाँ देहपात होता पाया जाता है ॥९९॥

अभिप्राय यह है कि :—

न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम् ।
ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति ॥१००

अर्थ—जिस समय न तो द्वैत की प्रतीति है, निद्रा भी नही आती, उस समय जो सुख प्रतीत होता है वह ब्रह्मानन्द है। यह बात भगवान् ने अर्जुन को (गीता के छठे अध्याय मे) बताई है। १००॥

गीता के उपरिनिर्दिष्ट श्लोको का अभिप्राय कहते हैं —

शनैः शनैरुपमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

अन्वय—धृतिगृहीतया बुद्धया शनै शनै उपरमेत्, मन आत्मसस्थ कृत्वा किंचित् अपि न चिन्तयेत्।

अर्थ—मनुष्य धीर बुद्धि के द्वारा धीरे-धीरे (सहसा नही) मन को शान्ति करे। जब मन को आत्मसस्थ कर चुके (जब, मन को निश्चय हो जाय कि आत्मा से भिन्न कुछ नही है) तब फिर कुछ न सोचे। यही योग की अन्तिम स्थिति ॥१०१॥

इस अवस्था की सिद्धि के लिये पहले क्या करे ? :—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥१०२

अन्वय--चञ्चल अस्थिर मन' यतः यतः निश्चरति, ततः तत नियम्य एतत् आत्मनि एव वश नयेत् ।

अर्थ—स्वभावदोष से चञ्चल एक विषय में बन्धकर न रहने से अस्थिर मन जिस जिस शब्दादि को ससारपरिभ्रमण का निमित्त बनाकर बाहर निकलता है उस-उस शब्दादि की ओर से उसको रोककर, (उन शब्दादि मे मिथ्यात्व आदि दोष दिखा-कर व वैराग्य की भावना दे देकर उन से हटाकर) इस मन को आत्मा के वश मे करता जाय : इस प्रकार योगाभ्यास करने से मन आत्मा मे शांत हो जाता है ॥१०२॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥१०३

अन्वय—शान्तरजसं प्रशातमनस ब्रह्मभूत अकल्मषं एन योगिनं उत्तम सुख उपैति हि ।

अर्थ—मोहादिक्लेश तथा रजोगुण के शान्त हो जाने से जिसका मन विक्षेप से सर्वथा शून्य होने से शान्त हो गया है-उस ब्रह्मभूत, 'यह सब ब्रह्म है' ऐसा ज्ञान हो जाने के कारण जो जीवन्मुक्त है, पाप रहित इस योगी को उत्तम सुख मिलता है-ऐसा सुख मिलता है जिसमे, क्षीण होने की अथवा उससे अधिक कही पाये जाने की आशङ्का नही है ॥१०३॥

उक्त सक्षिप्त अर्थ का गीता में निम्न प्रकार विस्तार है –

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥१०४
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥१०५
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥१०६
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥१०७

अर्थ—चित्त जिस समय योगानुष्ठान से, सब विषयों से हटाया जाकर उपराम हो जाता है तथा जिस समय (आत्मा से अर्थात्) समाधि शुद्ध अन्त करण से (आत्मा को) उत्कृष्ट ज्योति-स्वरूप चैतन्य को उपलब्ध करता हुआ अपने आप मे ही (विषयो मे नही) तुष्टि पाने लगता, और जिस समय आत्मा में स्थित यह योगी, अनन्त इन्द्रिय निरपेक्ष केवल वुद्धि से ग्राह्य, अतीन्द्रिय (इन्द्रियो की पकड में न आने वाले एव विषयो से उत्पन्न न होने वाले) सुख को अनुभव करता है और आत्मा में स्थित हुआ यह योगी तत्व से–आत्मस्वरूप–से च्युत नहा होता, उसे कभी नही भूलता, और जिस आत्मा को प्राप्त करके, किसी दूसरे लाभ को उससे अधिक लाभ मानना छोड़ देता है, और जिस

आत्म तत्त्व में स्थित हुआ योगी बड़े से बडे दुःख से भी (शस्त्राघात आदि भयङ्कर घटनाओ से हुये दुःख से भी प्रह्लाद आदि की भान्ति) विचलित नही होता, उस, दुःखो के संयोगो का वियोग कर देने वाली अवस्था को 'योग' जानो। यह 'योग' निश्चय (अध्यवसाय) से और निर्वेदरहित चित्त के साथ करना योग्य है ॥१०४-१०७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥१०८

अर्थ—विगतताप (योग में आये विघ्नो से अछूता रहने वाला) योगी, सदा ऊपर कही रीति से आत्मा का अनुसन्धान करता-करता, बिना प्रयास के ब्रह्म-स्वरूपभूत निरतिशय अविनाशी) सुख को प्राप्त कर लेता है ॥१०८॥

धीरज से योगाभ्यास करते-करते ही फल मिलता है :–

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥१०९

अन्वय—कुशाग्रेण एकबिन्दुना उदधे उत्सेकः यद्वत् तद्वत् मनसः निग्रह, अपरिखेदत. भवेत् ।

अर्थ—कुशाग्र से उठाई हुई एक एक छोटी-छोटी बून्द करके समुद्र को जैसे धीरज रखने से उलीचा जाना सम्भव है, वैसे मन का निग्रह भी अखण्ड धीरज से सम्भव है। (यह बात

टटीहरी की लोक-प्रसिद्ध कथा को ध्यान मे रखते हुये कही गई है) ॥१०९॥

यजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा मे भी ऐसा ही बताया है :—

बृहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम् ।

प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम् ॥

अर्थ—मैत्रायणी नाम की शाखा में शाकायन्य नाम के ऋषि ने अपने शिष्य वृहद्रथ नाम राजर्षि को, समाधि वर्णन के साथ-साथ ही ब्रह्मसुख का कथन किया है ॥११०॥

वहाँ का है :—

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।

तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥१११

अर्थ—जैसे ईधन से रहित हुआ अग्नि अपने कारण (अग्नि) महाभूत) मे शान्त हो जाता है अर्थात् ज्वाला रूप का त्याग कर तेजोमात्र रूप मे अवस्थित हो जाता है : उसी प्रकार अन्त.-करण भी वृत्तिक्षय हो जाने से (निरोध समाधि के अभ्यास से राजसादि सब वृत्तियो का नाश हो जाने पर) अपने कारण (सत्वमात्र) मे शान्त हो जाता है । चित्त न रहकर केवलमात्र सत्य शेष रह जाता है ॥१११॥

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यकामिनः ।

इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥११२

अन्वय—सत्यकामिनः स्वयोनौ उपशान्तस्य इन्द्रियार्थविमूढस्य मनस. कर्मवशानुगाः अनृताः ।

अर्थ—उस समय एकमात्र सत्य आत्मा के कामी, अपने कारण में शान्त तथा स्थित, विषयो से अपना मुह मोड़े हुये, मन के लिये, कर्मवश से प्राप्त होने वाले, साधनों सहित सुखादि, मायिकता को प्रतीति हो जाने के कारण, मिथ्या हो जाते हैं ।।११२।।

इस जगत् का उपादान जव चित्त नही है, तव उसकी शान्ति से जगत् का मिथ्याज्ञान क्यों ?

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत्सनातनम् ।।११३

अर्थ—चित्त ही ससार है (यह संसार चित्त के कारण ही भोग्य वनता है । सुषुप्ति मूर्छा आदि में चित्त का विलय हो जाने से भोग भी नही रहता-इसको सव अनुभव से जानते ही हैं ।) जव ससार चित्तात्मक है तो उस चित्त को ही अभ्यास आदि प्रयत्नो से शोधना चाहिए,-रज, तम आदि दोषो से मुक्त करना चाहिए । जिस देही का चित्त जिस पुत्रादि में लगा रहता है, वह उसमें तन्मय हुआ रहता है, उन पुत्रादि की पूर्णता व अपूर्णता को अपने में भली भान्ति आरोपित कर लेता है । यह एक सनातन, सदा से चला आया रहस्य है । अभिप्राय यह है कि स्वभाव से शुद्ध आत्मा में चित्त के सम्पर्क से ही संसारीपन आया है,

(ध्यायतीव, लेलायतीव) अतएव चित्त के शोधन से ही आत्मा की ससार से निवृत्ति सम्भव है ॥११३॥

चित्त शुद्धि से क्या होगा ?

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥

अर्थ चित्त प्रसन्न हो जाने पर अर्थात् चित्त में ब्रह्मतत्व का अनुसन्धान करने की योग्यता आ जाने पर मनुष्य शुभाशुभ कर्मो को नष्ट कर लेता है। और जिसका आत्मा अर्थात् चित्त प्रसन्न हो गया है, वह, ब्रह्म मे स्थित होकर, अद्वितीय ब्रह्म को, 'मैं भी यही हूँ' ऐसा निश्चय हो जाने पर, सम्पूर्ण दृश्यो को छोड़ने से चिन्मात्र-रूप मे स्थित रहकर, अविनाशी सुख को पा लेता है ॥११४॥

पूर्वोक्त श्लोक के अर्थ को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं —

समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥

अन्वय—जन्तोः चित्त विषयगोचरे यथा समासक्त,तत् ब्रह्मणि यदि एव स्यात् क. बन्धनात् न मुच्येत ?

अर्थ —प्राणी का चित्त इन्द्रियो की प्रवृत्ति की भूमि, विषय, में जैसे भली भान्ति स्वभाव से आसक्त रहता है, वह ब्रह्म में यदि उसी प्रकार रम जाय तो भला कौन इस ससार से मुक्त न होगा ॥११५॥

मनो हि द्विविध प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ॥

अर्थ—मन दो प्रकार का है, शुद्ध और अशुद्ध । काम के सम्पर्क मे मन अशुद्ध हो जाता है और काम (क्रोधादि) से रहित मन शुद्ध कहलाने लगता है ॥११६॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।

अर्थ--मनुष्या के वन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है, विषयासक्त' मन वन्धवाता है और 'निर्विषय' मन मुक्ति दिलाता है ।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥११८

अर्थ—प्रत्यक्स्वरूप आत्मा में लगाये हुए, समाधिजल अर्थात् प्रत्यक् एवं ब्रह्म के एकत्व ज्ञान के अभ्यास से जिसका ध्लिमल धो दिया गया है ऐसे चित्त को,(समाधि में) जो आनन्द मिलता है : वह सुख अलौकिक होने के कारण वाणी से वर्णनीय नही है । वह वो आत्मस्वरूपभूत सुख है. जो केवल अत करण से गृहीत हुआ करता है ॥११८॥

यद्यप्यसौ चिरं कालं समाधिर्दुर्लभो नृणाम् ।
तथापि क्षणिको ब्रह्मानन्दं निश्चाययत्यसौ ॥

अर्थ—यद्यपि चिरकाल तक स्थिर रहने वाली वह समाधि मनुष्यो को दुर्लभ है, तथापि क्षणिक भी वह (समाधि) ब्रह्मानन्द का निश्चय करा देती है ॥११६॥

श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्र निश्चिनोत्येव सर्वथा ।
निश्चिते तु सकृत्तास्मिन्विश्वसित्यन्यदाप्ययम् ॥

अर्थ—जो इस समाधि का श्रद्धालु और व्यसनी होता है अर्थात् जिसको समाधिसिद्धि करने का आग्रह हो जाता है, वह इस क्षणिक समाधि मे आनन्द मिलने का पूरा निश्चय करके ही मानता है और एक वार भी इस ब्रह्मानन्द का निश्चय हो जाने पर वह अन्य समय भी ब्रह्मानन्द के होने का अचल विश्वास रखता है ॥१२०॥

तादृक् पुमानुदासीनकालेऽप्यानन्दवासनाम् ।
उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः ॥१२१

अर्थ—श्रद्धा द्वारा एक वार निश्चय कर लेने वाला पुरुष उदासीनता की अवस्था मे आने वाली पूर्वोक्त आनन्द वासना की उपेक्षा करके, मुख्यानन्द की लगन लगाये, मुख्यानन्द की ही भावना किया करता है ॥१२१॥

निजानन्द भावना का दृष्टान्त और उसका दार्ष्टान्तिक मे समन्वय

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।

तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥१२२

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।

तदेवास्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥१२३

अर्थ—जैसे पर-पुरुष-संभोग के व्यसन वाली नारी, घरके कामो मे व्यग्रसी दीखती भी, भीतर ही भीतर (मनमे) उसी परसङ्ग रस का स्वाद लेती रहती है। इसी प्रकार 'पर' तथा 'शुद्ध' आत्मतत्व मे (एकवार क्षण भर के लिए भी , विश्राम प्राप्त कर लेने वाला धीरपुरुष, वाहर से लौकिक व्यवहार करता हुआ भी मन मे उसी आत्म तत्व का आस्वादन किया करता है ॥१२३॥

धीर शब्द का यहाँ क्या अर्थ है ?

धीरत्वमक्षप्राबल्येऽप्यानन्दास्वादवाञ्छया ।

तिरस्कृत्याखिलाक्षाणि तच्चिन्तायां प्रवर्त्तनम् ॥

अन्वय—अक्षप्राबल्ये अपि आनन्दास्वादवाछया अखिलाक्षाणि तिरस्कृत्य तच्चिन्तायां प्रवर्तनं धीरत्वम् ।

अर्थ—इन्द्रियाँ मनुष्य को विषय की ओर खीच ले जाने मे समर्थ भी हो, तो भी, आत्मसुख का आस्वाद लेने की इच्छा से, सव इन्द्रियो का निरादर कर, आनन्दचिन्ता मे ही लगे रहना 'धीरता' कहलाती है ॥१२४॥

विश्रान्ति शब्द के विवक्षित अर्थ को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं :-

भारवाही शिरोभार मुक्त्वाऽऽस्ते विश्रमं गतः ।

संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥

अर्थ—जैसे लोक मे बोझ ढोने वाली, थकावट दिलाने वाले सिर के बोझ को छोड़कर, थकावट दूर करता है, ऐसे ही सांसारिक व्यापार को छोडकर 'मैं अब श्रमरहित हो गया हूँ' इस प्रकार की उत्पन्न होने वाली बुद्धि को 'विश्रम' कहते हैं ॥१२५॥

विश्रान्ति परमां प्राप्तस्त्वौदासीन्ये यथा तथा ।
सुखदुःखदशायां च तदानन्दैकतत्परः ॥१२६

अर्थ—ऊपर बताई निरतिशय विश्रान्ति को पा लेने वाला पुरुष, अपनी उदासीन दशा मे जैसे परमानन्दास्वादन मे लगा रहता है, वैसे ही सुख और दुःख की दशाओ मे भी परमान्दास्वादन मे तत्पर रहता है ॥१२६॥

निजानन्द को छोडकर विवेकी को दुःख तो क्या सुख की भी इच्छा नही होती :—

अग्निप्रवेशहेतौ धीः श्रृङ्गारे यादृशी तथा ।
धीरस्योदेति वैषयेऽनुसंधानविरोधिनि ॥१२७

अर्थ—जब किसी के लिए (सती स्त्री के लिए) अग्नि प्रवेश का कोई कारण उपस्थित हो जाता हैं तब, श्रृङ्गार के विषय में जैसी (वैर) बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, ऐसे ही वैराग्यादि साधन सम्पन्न विवेकी धीर की ब्रह्मानुसन्धान के विरोधी विषयसुख में भी वैर बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। अभिप्राय यह है कि विषय सुख से मनुष्य बहिर्मुख हो कर आत्मानुसन्धान के अयोग्य हो

जाता है, अतएव विवेकी लोग विषय सुख की इच्छा नहीं करते ॥१२७॥

विवेकी की वुद्धि द्वारा दोनो आनन्दो का उपभोग

अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानन्दे च गमागमौ ।
कुर्वन्त्यास्ते क्रमादेवा काकाक्षिवदितस्ततः ॥
एकैव दृष्टिः काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः ।
यात्यायात्येवमानन्दद्वये तत्त्वविदो मतिः ॥१२८

अन्वय—एषा वुद्धि. अविरोधिसुखे च स्वानन्दे काकाक्षिवद् क्रमात् इतः तत गमागमौ कुर्वन्ती आस्ते । काकस्य दृष्टिः एका एव वामदक्षिणनेत्रयोः याति आयाति । एव तत्त्वविद. मतिः आनन्दद्वये ।

अर्थ--यह वुद्धि अविरोधी विषयसुख में और स्वरूपानन्द मे कौवे की पुतली की भान्ति कभी उसमे कभी इसमे, गमनागमन करती रहती है। कौवे की दर्शनशक्ति एक ही होती है, वह वाये-दायें गोलको मे क्रमशः गमनागमन करती है । इसी प्रकार विवेकी की वुद्धि भी विषयानन्द और ब्रह्मानन्द दोनों आनन्दो मे आती जाती रहती है ॥१२८॥

भुञ्जानो विषयानन्दं ब्रह्मानदं च तत्त्ववित् ।
द्विभाषाभिज्ञवद्विद्यादुभौ लौकिकवैदिकौ ॥१३०

अर्थ—तत्वज्ञानी विषयानन्द और ब्रह्मानन्द दोनो को एक साथ भोगता हुआ, दुभाषिये के समान लौकिक और वैदिक दोनो प्रकार के आनन्दो को जाना करता है ॥१३०॥

उद्वेग मे भी निजानन्द का अनुभव

दुःखप्राप्तौ न चोद्वेगो यथापूर्वं यतो द्विदृक् ।
गङ्गामग्नार्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा ।।

अन्वय—यतः द्विदृक्, दु खप्राप्तौ यथापूर्वं च उद्वेगः न, यथा गङ्गा-मग्नार्धकायस्य पु स. शीतोष्णधी. ।

अर्थ—क्योंकि विवेकी लौकिक और वैदिक दोनों व्यवहारो पर दृष्टि रखता है, इसलिए दु.ख मे भी, अज्ञानावस्था की भान्ति उसे उद्वेग नही होता। अतएव दु खानुभव के समय भी वह निजानन्द को नही भूलता। जैसे गङ्गाजल मे आधे डूबे शरीर वाले पुरुष को शीत और उष्ण दोनो ज्ञान एक साथ हो जाते है ।।१३१।।

परिणाम यह है कि,

इत्थं जागरणे तत्त्वविदो ब्रह्मसुखं सदा ।
भाति तद्वासना जन्ये स्वप्ने तद्भासते तथा ।।

अन्वय—इत्था तत्त्वविदः जागरणे सदा ब्रह्मसुख भाति। तद्वास-नाजन्ये स्वप्ने तत् तथा भासते ।

अर्थ—इस प्रकार तत्वज्ञानी को जागरण काल में सदा, (सुख-दु ख या मौन अवस्था मे) ब्रह्म सुख की प्रतीति होती रहती है। और जागरण मे ही नही, जाग्रत् की वासना से उत्पन्न होने के कारण, स्वप्न मे भी, ब्रह्मसुख वैसे ही प्रतीत होता है ।।१३२।।

परन्तु स्वप्न मे आनन्द ही आनन्द की प्रतीति नहीं होती क्यों कि,

अविद्यावासनाप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते ।
स्वप्ने मूर्खवदेवैष सुखं दुःखं च वीक्षते ॥१३३

अर्थ—अविद्यावासना भी है, स्वप्न केवल आनन्द वासना के बल से ही नही होते । अतएव अविद्या वासना जन्य स्वप्न में यह विवेकी भी मूर्खों की भान्ति सुख और दु.ख देखता है ॥१३३॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे ब्रह्मानन्दप्रकाशकम् ।
योगप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम् ॥१३४

अर्थ—इस ब्रह्मानन्द नाम के (पचाध्याय) के ग्रन्थ के इस प्रथम अध्याय में, ब्रह्मानन्द के प्रकाशक, योगियो के प्रत्यक्ष अनुभव का वर्णन किया गया है । अर्थात् इन अध्य य में सुषुप्ति, उदासीन, समाधि तथा सुख-दु.ख की दशाओ में स्वय प्रकाश ब्रह्मानन्द के प्रकाशक, योगियो के अनुभव, का वर्णन किया गया है ॥१३४॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके ग्यारहवें प्रकरण, ब्रह्मानन्दग- योगानन्द की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्त्वप्रकाशिका व्याख्या समाप्त ।



ब्रह्मानन्द-आत्मानन्द-प्रकरण-१२

भाषाकारकृत मङ्गलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पञ्चदश्या नृभाषया ।
+आत्मानन्दाभिधग्रन्थव्याख्यान क्रियते मया ॥

यहां मूढ जिज्ञासु के लिये आत्मानन्द कहाने वाले 'त्व' पदार्थ के विवेचन द्वारा ब्रह्मानन्द के अनुभव का प्रकार दिखाया गया है । इसके लिये प्रथम शिष्य प्रश्न करता है :—

नन्वेवं वासनानन्दाद् ब्रह्मानन्दादपीतरम् ।
वेत्तु योगी निजानन्दं मूढस्यात्रास्ति का गतिः ॥

अन्वय—ननु एव योगी वासनानन्दात् अपि इतर निजानन्द वेत्तु, अत्र मूढस्य का गतिः अस्ति ?

अर्थ—(शिष्य का प्रश्न) योगानन्द प्रकरण में वर्णित प्रकार से योगी भले ही वासनानन्द और ब्रह्मानन्द से भिन्न निजानन्द को जान ले परन्तु मूढ विचारा क्या करे ?

+प्रत्यगात्मा के स्वरूपभूत आनन्द का नाम 'आत्मानन्द' है इस प्रकरण मे इसका ही प्रतिपादन किया गया है ।

धर्माधर्मवशादेष जायतां म्रियतामपि ।
पुनः पुनर्देहलक्षैः किं नो दाक्षिण्यतो वद ॥२

अन्वय–एषः धर्माधर्मवशात् देहलक्षैः पुनः पुनः जायता अपि म्रियतां, नः दाक्षिण्यतः किम् ? वद ।

अर्थ—(गुरु का उत्तर) यह अतिमूढ पुरुष अनादि संसार में पूर्वजन्मो मे किए पुण्यपाप के वश हुआ, लाखो देहो में बार-बार जन्मता और मरता रहे। हमारे समझाने से क्या होना है ? कहो। (अतिमूढ को ज्ञान का अधिकार नही है : उसकी चिन्ता मत करो।)

अस्ति वोऽनुजिघृक्षुत्वाद्दाक्षिण्येन प्रयोजनम् ।
तर्हि ब्रूहि स मूढः किं जिज्ञासुर्वा पराङ्मुखः ॥३

अर्थ– (शिष्य) आप क्योकि अनुग्रह करना चाहते हैं अतएव आपने समझाकर उसका उद्धार करना ही है। (गुरु) अच्छा तो वताओ कि वह मूढपुरुष क्या स्वरूप को जानने की इच्छा वाला विरक्त है या वहिर्मुख रागी है ? ॥३॥

उपास्तिं कर्म वा ब्रूयाद्विमुखाय यथोचितम् ।
मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानन्देन बोधयेत् ॥४

अन्वय–विमुखाय यथोचित उपास्तिं, कर्म वा ब्रूयात्, मन्दप्रज्ञ जिज्ञासु तु आत्मानन्देन बोधयेत् ।

अर्थ—यदि वह विमुख (वहिर्मुख रागी है तो उसके अनुकूल उपासना अथवा कर्म का उपदेश कर देना चाहिए। यदि वह

जिज्ञासु है और साथ में मन्दप्रज्ञ है तो उसको आत्मानन्द के विवेचन से समझाना चाहिए। (अति विवेकी जिज्ञासु को तो योगानन्द प्रकरण मे वर्णित रीति से ब्रह्मसाक्षात्कार होगा ही।) ॥४॥

बोधयामास मैत्रीयों याज्ञवल्क्यो निजप्रियाम् ।
न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रिय इतीरयन् ॥५

अर्थ—याज्ञवल्क्य मुनिने अपनी पत्नी मैत्रेयी को "अरे ! पति के लिए (पत्नी को) पति प्रिय नही होता" आदि कहते हुए आत्मबोध कराया था। (शुक्लयजुर्वेद की काण्वादि पन्द्रह शाखाओ का नाम वाजसनेयी शाखा है उसके प्रवर्तक वाजसनेय याज्ञवल्यक्य ऋषि थे। बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे और छठे अध्याय के अन्तर्गत मैत्रेयी ब्राह्मण प्रकरण मे उक्त प्रसग है।) ॥५॥

आगे ७२ वें श्लोक मे "परमप्रेमास्पदत्वेन परमानन्द हृष्यताम्" कह कर बतायेंगे कि परमप्रेम का विषय होने के कारण परमानन्दरूप आत्मा को स्वीकार करे। उस 'परमप्रेमास्पद' हेतु का समर्थन करने के लिये ५ वें श्लोक मे उद्धृत वाक्य से उपलक्षित प्रकरण मे आये सब पर्याय वाक्यो का तात्पर्य बताते हैं :—

पतिर्जाया पुत्रवित्ते पशुब्राह्मणबाहुजाः ।
लोका देवा वेदभूते सर्वं चात्मार्थतः प्रियम् ॥६

अर्थ—पति, पत्नी, पुत्र, धन, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक,

देव, वेद, तथा पृथ्वी आदि भूत–ये सब भोग्य पदार्थ भोक्ता आत्मा के लिये होने से ही प्यारे होते है : ये स्वरूप से प्रिय नही हैं ॥८॥

पति-पत्नी की प्रीति का विश्लेषण और उनकी आत्मार्थता

पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा प्रीतिं करोति सा ।
क्षुदनुष्ठानरोगाद्यैस्तदा नेच्छति तत्पतिः ॥७
न पत्युरर्थे सा प्रीतिः स्वार्थ एव करोति ताम् ।
पतिश्चात्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन ॥८
अन्योन्यप्रेरणेऽप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम् ॥९

अन्वय—यदा पत्न्याः पतौ इच्छ, तदा सा प्रीतिं करोति, तत्पतिः क्षुद्अनुष्ठानरोगाद्यैः तदा नेच्छति । सा प्रीति पत्यु अर्थे न, तां स्वार्थे एव करोति । पतिः च आत्मन अर्थे एव, जायार्थे कदाचन न । एव अन्योन्यप्रेरणे अपि स्वेच्छया एव प्रवर्तनम् ।

अर्थ—जब पत्नी को पति की इच्छा होती है तभी वह पति से प्रेम करती है । जब उसका पति इच्छाभाव के कारण–भूख, अनुष्ठान, यान, रोग आदि–से युक्त होता है तब वह उसे नही चाहती । इस प्रकार पत्नी को वह प्रीति, पति के लिए नही है, वह उस प्रीति को अपने लिए ही करती है । और उधर पति भी अपने लिए ही प्रीति करता है, पत्नी के लिए कभी नही । और जब वे परस्पर एक दूसरे की प्रेरणा से एक साथ प्रेम करने में

प्रवृत्त होते हैं, तब भी वे अपनी-अपनी इच्छा मे ही प्रवृत्त होते हैं। (पत्नी अपनी कामना को पूरी करने की इच्छा से और इसी प्रकार पति अपनी कामना की पूर्ति के लिए एक दूसरे को प्रेम करने में प्रवृत्त होते हैं।)

इसी प्रकार पुत्रादि के प्रति प्रेम भी आत्मार्थ ही है, यह क्रम से दिखाते हैं :—

श्मश्रुकण्टकवेधेन बालो रुदति तत्पिता ।
चुम्बत्येव न सा प्रीतिर्बालार्थे स्वार्थ एव सा ।

अर्थ—(पिता द्वारा पुत्र मुख चुम्बन पुत्र की प्रसन्नता के लिए नही, उसकी अपनी प्रीति के लिए है। क्योंकि) डाढी-मूँछो के काटे तुल्य बालो के चुभने से बालक तो रोता है फिर भी उसका पिता चुम्बन करता ही जाता है। पिता का वह प्रेम बालक के लिए नही, अपने लिए ही है ॥१०॥

चेतन पति-पत्नी बालक की स्वार्थता-परार्थता मे सन्देह हो तो हो, परन्तु जड धनादि के प्रति प्रेम स्वार्थ ही है उसमें कोई सन्देह नहीं : यहाँ धनादि की प्रीति की स्वार्थता का निर्देश करते हैं —

निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन् ।
प्रीतिं करोति सा स्वार्थे वित्तार्थत्वं न शङ्कितम् ॥

अर्थ—इच्छाशून्य रत्न आदि धन की यत्न से रक्षा करता हुआ उससे प्रीति करता हैं यह प्रीति स्वार्थ के लिए है :

उस प्रीति को वित्त के लिए होने की तो कोई शंका ही नहीं है ॥ ११ ॥

अनिच्छति बलीवर्दे विवाहयिषते बलात् ।
प्रीतिः सा वणिगर्थैव बलीवर्दार्थता कुतः ॥१२

अर्थ—बैल के भार ढोना न चाहने पर भी, (व्यापारी) बलात् उससे भार उठवाना चाहता है। वह भार उठवाने की इच्छा रूप प्रीति, स्पष्ट ही व्यापारी के स्वार्थ के लिए है : बैल के अर्थ कभी नही, वह तो भार उठाना ही नही चाहता ॥१२॥

ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पूज्योऽहमिति तुष्यति पूजया ।
अचेतनाया जातेर्नो संतुष्टिः पुंस एव सा ॥

अर्थ—"ब्राह्मणत्व जाति मुझ में है, मैं पूजा के योग्य हूँ" ब्राह्मण यह समझ कर पूजा से सन्तुष्ट (प्रसन्न) होता है : यहाँ ब्राह्मणत्वाभिमानी पुरुष ही सन्तुष्ट होता है। जड़ ब्राह्मण जाति नही। अचेतन जाति के सन्तोष का इसमें कोई प्रश्न ही नहीं है : वह सन्तोष तो पुरुष का ही ॥१३॥

क्षत्रियोऽहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता ।
न जातेर्वैश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम् ॥१४

अर्थ—'मैं क्षत्रिय हूं–इस कारण राज्य करता हूँ।' यहाँ राजपन जाति का नही : राज्योपभोग से जन्य सुख क्षत्रिय जाति को नही होता, उस क्षत्रिय राजा को ही होता है। यह क्षत्रिय

जाति का उदाहरण वैश्य जाति आदि में इसी प्रकार समझना चाहिए ।।१४।।

स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ स्तां ममेत्यभिवाञ्छनम् ।
लोकयोर्नोपकाराय स्वभोगायैव केवलम् ।।१५

अर्थ—'स्वर्ग और ब्रह्मलोक मुझे प्राप्त हो' मनुष्य की ऐसी इच्छा उन लोको के उपकारार्थ नही हैं, अपितु केवल अपने सुखानुभव रूप भोग के लिए ही तो है। कर्मोपासना रूप दो साधनो से सम्पाद्य सब लोको के विषय मे भी यही बात समझनी चाहिए।

ईशविष्ण्वादयो देवाः पूज्यन्ते पापनुत्तये ।
न तन्निष्पापदेवार्थं तत्तु स्वार्थं प्रयुज्यते ।।१६

अर्थ—ईश, विष्णु आदि देवताओ की पूजा पाप काटने के लिए की जाती हैं. वह पूजन उन निष्पाप देवताओ के लिए नही होता : उसको पूजक अपने स्वार्थ के लिए करता है ।।१६।।

ऋगादयो ह्यधीयन्ते दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये ।
न तत्प्रसक्तं वेदेषु मनुष्येषु प्रसज्जते ।।१७

अर्थ—दुर्बाह्मण्यता (व्रात्यता) न प्राप्त हो इस प्रयोजन से ऋग् आदि वेद पढ़े जाते हैं, वह अब्राह्मणता जाति रहित वेदो को तो लगती नही, उसका मनुष्यो में प्रसक्त होना सम्भव

है।+ (मनुष्यत्वरूप व्यापक जाति में व्याप्य जाति दुर्ब्राह्मणता है।)

भूम्यादिपञ्चभूतानि स्थानतृट्पाकशोषणैः।
देतुभिश्चावकशेन वाञ्छन्त्येषा न हेतवः ॥१८

अन्वय—स्थानतृट्पाकशोषणै. च अवकाशेन हेतुभि. भूम्यादिपच-भूतानि वाञ्छन्ति, एषा हेतवः न।

अर्थ—सब मनुष्य, स्थान-प्रदान करने, प्यास बुझाने, अन्न को पकाने, गीले वस्त्रादि को सुखाने और रहने-चलने फिरने को अवकाश देने के लिए क्रमशः भूमि आदि पाच भूतों की अपेक्षा रखते हैं–इन भूतो के लिए स्थान की इच्छा आदि हेतु नही हैं : अर्थात् पृथिवी आदि भूत स्थान आदि की स्वयं आकाक्ष नही करते।

स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वाञ्छति।
तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते ॥१६

अर्थ—मालिक, नोकर आदि सब लोग अपने उपकार के

+प्राप्त दोष आदि वस्तुओ का निषेध उचित है, अप्राप्त का निषेध ही व्यर्थ होता है। ब्राह्मण होने योग्य व्यापक मनुष्य जाति में वेदाध्यन के अभाव के कारण, व्रात्यत्व का आना सम्भव है, वेदाध्ययन से उसका निवारण होता है, वेदो मे जब मनुष्यत्वादि जाति ही नहीं है तब उनमे व्रात्यत्व कहा से आवेगा ?

लिए ही नौकर आदि को चाहते हैं : दूसरो का किया हुआ उपकार (साधा हुआ स्वाथ) दूसरो को नही मिलता। भृत्य आदि, स्वामी आदि की इच्छा अपने लिए करता है और इस इच्छा से किया हुआ उसका उपकार कार, उसी को फल देता है, स्वामी आदि को नही।

ससार के परोपकारी कहलाने वाले लोग भी स्वार्थी हैं : दूसरे के दु ख को देखकर उनके हृदय में जो एक कांटा सा चुभता है, उसे निकालने के लिए ही वे परोपकार मे प्रवृत्त होते हैं परोपकार किये विना उनके जी की जलन नही मिटती ॥१६॥

सर्वव्यवहृतिष्वेवमनुसंधातुमीदृशम्।
उदाहरणबाहुल्यं तेन स्वां वासयेन्मतिम् ॥२०

अर्थ—यो इच्छा पूर्वक जितने भोजनादि व्यवहार होते हैं उनमे इसी प्रकार, "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति" इस वताये गये प्रकार से, आत्मप्रीति को समझाने के लिए (मैत्रेयी ब्राह्मण मे) ऐसे पति-पत्नी आदि मे प्रीति दिखाने वाले बहुत से उदाहरण दिये हैं। इस कारण विचारशील मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी बुद्धि को इसी प्रकार वासित करले कि आत्मा की प्रीति के लिए सब प्रिय होते हैं, अन्य के लिये नही ॥२०॥

प्रीति के स्वरूप के विषय में शङ्का व समाधान

अथ केयं भवेत्प्रीतिः श्रूयते या निजात्मनि।

रागो वध्वादिविषये श्रद्धा यागादिकर्मणि ।।
भक्तिः स्याद्गुरुदेवादाविच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि ।
तद्‌र्स्तु सात्त्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी ।।

अर्थ—(शंका) निजात्मा में जो प्रीति सुनी जाती है उसका रूप क्या है ? क्या वह (१) राग है ? (२) श्रद्धा है ? (३) भक्ति है ? या (४) इच्छा है ? यदि राग को प्रीति मानें तो वह तो वधू आदि में ही होगा ! श्रद्धा यज्ञादि मे ही होगी, भक्ति गुरुदेव आदि में ही होगी और इच्छा अप्राप्त वस्तु में ही सम्भव है। इसलिए प्रीति के ये रूप तो पृथक्-पृथक् ऐसे नहीं हैं जो सर्व विषयक हो। प्रेम का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो सब पदार्थों पर लागू हो सकता हो।

(समाधान) उस प्रीति को रागादिरूप मानना उचित नहीं है तो उसे केवल सुख को विषय करने वाली एक सात्विक (सत्व-गुणपरिणामरूप) वृत्ति मान लो। प्रीति को सत्वगुण से बनी अन्तःकरण की एक वृत्ति समझो ।।२१-२२।।

अन्तःकरण की वृत्ति होते हुए भी, वह केवल मात्र इच्छा ही नहीं है, क्योंकि :—

प्राप्ते नष्टेऽपि सद्भावादिच्छातो व्यतिरिच्यते ।
सुखसाधनतोपाधेरन्नपानादयः प्रियाः ।।२३

अर्थ—क्योंकि यह केवल सुख को विषय करने वाली सात्विक

वृत्तिरूपा प्रीति, वस्तु के मिल जाने और उसके नष्ट हो जाने पर (अप्राप्ति रहने पर भी) भी सुखादि-विषय में बनी रहती है, इस कारण इच्छा से भिन्न है। (इच्छा केवल अप्राप्त सुखादि के विषय मे होती है, यह वृत्ति प्राप्त, नष्ट, अप्राप्त सब प्रकार के विषय मे बनी रहती है।) ॥२३॥

आत्मानुकूल्यादन्नादिसमश्चेदमुनात्र कः ।
अनुकूलयितव्यः स्यान्नैकस्मिन्कर्मकर्तृता ॥

अन्वय—अन्नपानादय सुखसाधनतः उपाधे प्रिया., आत्मा आनुकूल्यात् अन्नादिसम चेत् ? अत्र अमुना अनुकूलयितव्यः क. कः स्यात् ?

अर्थ—(शका) अन्नपान आदि सुख के हेतुभूत उपाधि के कारण प्यारे हैं, ऐसे क्या आत्मा भी अनुकूल एव प्रिय होने से अन्नपानादि के समान सुख का साधन है ? (समाधान) यह तो बताओ कि आत्मा को सुख का साधन मानोगे तो इस सुख-साधन रूप से अनुकूल करने योग्य (भोक्ता) जगत् मे और कौन होगा ? आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भोक्ता ससार मे है ही नही। अन्न-पान आदि मे भोग की साधनता उपाधि है, इसीलिए उनमें सुख की साधनता है : आत्मा मे भोग्यता है नही अतएव सुख की साधनता भी नही है।

यदि कहो कि स्वय अपने आपके अनुकूल हो जायगा ? इस का उत्तर यह है कि एक ही (आत्मा) में एक ही समय कर्मत्व

(उपकार की विषयता) और कर्तृत्व (उपकार का कर्तृत्व) नहीं रह सकते। ये दोनो विरुद्ध धर्म एक आत्मा में एक साथ कैसे रह सकते हैं ? भावार्थ यह है कि अन्न आदि के समान आत्मा को अनुकूलता से युक्त मानोगे तो उस सुख के हेतु से अनुकूल करने योग्य कौन होगा ? ॥२४॥

अन्नादि की भान्ति आत्मा, सुखाधन न भी हो तो भी भोक्ता का उपकारक तो मानना होगा ही ?

सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः।
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी ॥२५

अर्थ—विषय-जन्य सुख में तो केवल प्रीति होती है, परन्तु आत्मा तो अतिप्रिय–निरतिशय प्रीति का विषय है। अतएव विषयजन्य सुख में तो यह प्रीति व्यभिचार कर जाती है–एक सुख मे बैठकर बन्धती नही है परन्तु आत्मा मे रहने वाली प्रीति कभी व्यभिचार नही करती—विषयान्तर में नही जाती। अतएव आत्मा, विषयसुख की भान्ति भोक्ता के काम में आने वाली वस्तु उपकारक) नही है ॥२५॥

वैषयिकसुखगोचर प्रीति का व्यभिचार :—

एकं त्यक्त्वा ऽन्यदादत्ते सुखं वैषयिकं सदा।
नात्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन्व्यभिचरेत्कथम् ॥

अर्थ—विषयाभिलाषी मनुष्य एक वैषयिक सुख को छोड़ कर, सदा दूसरे को अपनाता रहता है : परन्तु आत्मा तो

त्याज्य या आदेय ही नही है, अतएव प्रीति उसमें कैसे व्यभिचार करे ?

आत्मा उपेक्ष्य भी नही है.—

हानादानविहीऽस्मिन्नुपेक्षा चेत्तृणादिवत् ।
उपेक्षितुः स्वरूपत्वान्नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः ॥२७

अर्थ —(प्रश्न) त्याग और स्वीकार से हीन इस आत्मा की तृण आदि की भान्ति क्या उपेक्षा भी सम्भव नही है ? (उत्तर) उपेक्षा करने वाले चिदात्मा के निजात्मा का—स्व-स्वरूप ही होने के कारण अपने से भिन्न तृणादि के समान, इस आत्मा की उपेक्षा भी नही हो सकती ॥२७॥

रोगक्रोधाभिभूता।ां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित् ।
ततो द्वेषाद्भवेत्त्याज्य आत्मेति यदि तन्न हि ॥

अर्थ—(शङ्का रोग या क्रोध से अभिभूत लोगो में कही-कही मर जाने की इच्छा पायी जाती है : इस कारण द्वेष की सम्भावना से वृश्चिक आदि की भान्ति आत्मा भी तो त्याज्य है ? (समाधान) यह वात ठीक नही है, क्यो कि,

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तुरेव सा ।
न त्यक्तुर्यस्ति स द्वेषस्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः ॥

अर्थ—त्याज्य तो देह है और वह आत्मा नही है, त्याग करने वाला जीव ही (जो देह से भिन्न हैं) आत्मा है। वह द्वेष,

त्याग करने वाले आत्मा के प्रति नहीं है, अपितु त्याज्य देह के प्रति ही है और त्याज्य देह के प्रति द्वेष हो तो भी आत्मा का त्याग न मानने वाले तेरी क्या हानि है ? ॥२९॥

इस प्रकार 'न वा अरे अस्य पत्युः कामाय' से लेकर 'आत्मनस्तु-कामाय सर्वं प्रियं भवति' पर्यन्त सम्पूर्ण श्रुति के तात्पर्य की आलोचना से आत्मा में अत्यन्त प्रीति होती है' यह प्रमाणित कर अब युक्ति से भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—

आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यतिप्रियः ।
सिद्धो यथा पुत्रमित्रात्पुत्रः प्रियतरस्तथा ॥३०

अन्वय -सर्वस्य आत्मार्थत्वेन प्रीते. च आत्मा हि अतिप्रिय. सिद्ध. । यथा पुत्रमित्रात् पुत्र· प्रियतरः तथा ।

अर्थ – क्योंकि, सुख और सुख के साधन पति, जाया, आदि, सब की प्रीति आत्मा के लिये ही है–आत्मा की ही उपकारक है, इसलिए, आत्मा ही अतिप्रिय सिद्ध होता है । जैसे लोक में, पिता को पुत्र के मित्र से (पुत्र द्वारा प्रिय होने के कारण), सीधा) पुत्र अधिक प्यारा लगता है ॥३०॥

प्रसङ्गागत अर्थ की अनुभव से पुष्टि करते हैं:–

मा न भूवमहं किंतु भूयासं सर्वदेत्यसौ ।
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ॥

अर्थ–'मेरी असत्ता कभी न हो, मैं सदा बना रहूँ' सब

प्राणी ऐसी प्रार्थना करते पाये जाते हैं। इससे आत्मा में निरतिशय प्रीति प्रत्यक्ष सिद्ध ही है ॥३१॥

इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायामेवमात्मनि ।
पुत्रभार्यादिशेषत्वमात्मनः कैश्चिदीरितम् ॥३२

अर्थ—इस प्रकार इन (अनुभव, युक्ति और श्रुति) तीनो से ही आत्मा के प्रति निरतिशय प्रीति को सिद्ध हुआ जानकर भी कुछ लोगो ने (जो श्रुति आदि के तात्पर्य को नही जानते) आत्मा को पुत्र-पत्नी आदि का शेष (उपारक) बताया है ॥३२॥

यह तुमने किस आधार पर कहा ? कहते हैं —

एकद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् ।
आत्मा वै पुत्रनामेति तच्चोपनिषदि स्फुटम् ॥

अर्थ—उनका कहना है कि यही वात (जो श्लोक ३२ में कही है) कहने की इच्छा से 'आत्मा वै पुत्र नामासि' आदि वाक्यो द्वारा पुत्र को मुख्य आत्मा श्रुति ने कहा है और ऐतरेय आदि उपनिषदो मे पुत्र के मुख्य होने की बात स्पष्ट है। ऐतरेय उपनिषद् का यह वाक्य निम्न अभिप्राय का है :–

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीते ।
सथास्येतर आत्मायं कृतकृत्यः प्रमीयते ॥३४

अर्थ—इस पिता का यह पुत्ररूप आत्मा पुण्य कर्मों के लिये

अपना प्रतिनिधि (स्थानापन्न) वना कर छोड़ा जाता है, पश्चात् इस पिता का यह पिता रूप इतर आत्मा (वृद्ध हुआ) कृतकृत्य हुआ मरता है।

इसी वात को दूसरे वाक्य के अर्थ से पुष्ट करते हैं.–

सत्यप्यात्मनि लोकोऽस्ति नापुत्रस्यात एव हि।
अनुशिष्टं पुत्रमेव लोक्यमाहुर्मनीषिणः ॥३५

अर्थ—इसीलिए अपने आपके होने पर भी पुत्रहीन पिता को परलोक नही मिलता ('नापुत्रस्य लोकोस्ति') यह वात पुराण आदि मे कही है। इसीलिये (पुत्र को मुख्यात्मा मानने से ही) वुद्धिमान् लोग शिक्षित पुत्र को ही लोक (परलोक) का साधन वताते हैं (अनुशिष्ट पुत्र लोक्यमाहु·) ॥३५॥

मनुष्यलोको जय्यः स्यात् पुत्रेणैवेतरेण नो।
मुमूर्षुर्मन्त्रयेत्पुत्रं त्वं ब्रह्मेत्यादिमन्त्रकैः ॥३६

अर्थ—फिर यह कहा है कि 'सोऽयंमनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा" (वृ०१–५–१६) इसका अभिप्राय है कि मर्त्यलोक का सुख केवल पुत्र से सम्पादित होना सम्भव है अन्य किसी (कर्म) साधन से नही। पुत्रहीन लोग सुख के साधनो-धन-सम्पत्ति आदि को देखकर भी दु.खी होते हैं। इसीलिए यह विधान है कि मुमुर्षु पिता (मरते समय) "त्व ब्रह्म, त्व यज्ञ त्व., लोक." (वृ० १–५–१७) इत्यादि तीन मन्त्रो की शिक्षा पुत्र को दे ॥ ३६ ॥

इत्यादिश्रुतयः प्राहुः पुत्रभार्यादिशेषताम् ।
लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यमनुमन्यते ॥३७

अर्थ—इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतियो ने आत्मा को पुत्र, भार्या आदि का शेष (उपकारक अतएव, अप्रधान) बतायी है। लौकिक भी पुत्र की प्रधानता मानते हैं। (पुत्र की प्रधानता की सिद्धि होने के साथ-साथ लोक सिद्ध भी है।) ॥३७॥

स्वस्मिन्मृतेऽपि पुत्रादिर्जीवेद्वित्तादिना यथा ।
तथैव यत्न कुरुते मुख्याः पुत्रादयस्ततः ॥३८

अर्थ क्योकि देखते हैं कि यह प्राणी ऐसा यत्न करता है कि अपने आपके मर जाने पर भी पुत्र पत्नी आदि, वित्त, क्षेत्र आदि सम्पत्ति द्वारा जीते रहे। अतएव सिद्ध हुआ कि पुत्र आदि मुख्य हैं।

गौणात्मा का उदाहरण

बाढमेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित् ।
गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्मायं भवति त्रिधा ॥३९

अर्थ—(समाधान) ठीक है, पुत्रादि मुख्य तो प्रतीत होते हैं, परन्तु इतने मात्र से आत्मा किसी का शेष नही बन जाता, क्योकि गौण, मिथ्या तथा मुख्य भेद से आत्मा तीन प्रकार का है। (जिस व्यवहार मे जिस प्रकार के आत्मा की विवक्षा होती है उसमें उस प्रकार के आत्मा की प्रधानता होती है)।

देवदत्तस्तु सिंहोऽयमित्यैक्यं गौणमेतयोः ।
भेदस्य भासमानत्वात्पुत्रादेरात्मता तथा ॥४०

अर्थ—'यह देवदत्त सिंह है' इस वाक्य में देवदत्त और सिंह की एकता गौण है, क्योंकि उनका भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसे ही भेद के प्रत्यक्ष प्रतीत होने के कारण ही, पुत्रादि को आत्मा मानना भी गौण है ॥४०॥

मिथ्या आत्मा

भेदोऽस्ति पञ्चकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ ।
मिथ्यात्मताऽतः कोशानां स्थाणोश्चौरात्मता यथा ॥

अन्वय—पंचकोशेषु साक्षिण. भेदः अस्ति, असौ न तु भाति, अतः कोशानां मिथ्यात्मता ।

अर्थ—यद्यपि आनन्दमयादि पाचो कोशो में साक्षी से भेद है, परन्तु वह भेद (विद्यमान होने पर भी) किसी को भासता नही है। अतएव कोशो की आत्मता, मिथ्यात्मता है, जैसे चोर से भिन्न स्थाणु की चोररूपता मिथ्या होती है ॥४१॥

मुख्य आत्मा

न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः ।
सर्वान्तरत्वात्तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते ॥४२

अन्वय—अप्रतियोगिनः भेद. न भाति, न अस्ति अपि, सर्वान्तरत्वात् तस्य एव आत्मत्व मुख्य इष्यते ।

अर्थ—अपनी आत्मा का कोई प्रतियोगी न होने के कारण इस अप्रतियोगी साक्षी रूप आत्मा का, गौणात्मा पुत्रादि की भान्ति न तो किसी से भेद प्रतीत होता है, न वास्तव मे कोई भेद है ही, सर्वान्तर प्रतीयमान होने से उस उस साक्षी को ही मुख्यात्मा माना जाता है ॥४२॥

आत्मा को त्रिविध मानने का पुत्रादि की मुख्यता पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता ।
तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्वान्यस्य शेषता ॥४३

अन्वय—एव सति येषु व्यावहारेषु यस्य आत्मता उचिता, तेषु तस्य एव शेषित्वम् । अन्यस्य सर्वस्य शेषता ।

अर्थ—आत्मा के त्रिविध होने पर भी, जिन (लौकिक-पालन-पोषणादि और वैदिक ब्रह्मात्मत्वानुसन्धान आदि) व्यवहारो मे जिस (पुत्रादि, देहादि या साक्षी) को आत्मा मानना उचित हो, उनमे वही (पुत्रादि, देहादि या साक्षी) आत्मा शेषी (प्रधान) रहे और उससे भिन्न दोनो प्रकार के आत्मा शेष अथवा गौण रहे ।

उक्त कथन का विस्तार करते हैं.—

मुमूर्षोर्गृहरक्षादौ गौणात्मैवोपयुज्यते ।
न मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः ॥

अर्थ—मरने वाले के घर की रक्षा आदि कार्यों मे पुत्र, भार्या

आदि गौणात्माओ का ही उपयोग सम्भव है, क्योंकि वे ही उसके पश्चात् जीवित रहना चाहते हैं। अधिकारी होने से मुख्यात्मा-साक्षी का और मरण के लिए सन्नद्ध बैठे होने से मिथ्यात्मा, देह, का गृहरक्षा आदि में कोई उपयोग नही हो सकता, अतएव यहाँ पुत्र ही शेषी, मुख्यात्मा है ॥४४॥

अपने आप होते भी गृहरक्षादि मे पुत्रादि का ग्रहण क्यो ? इसको दृष्टान्त से समझाते हैं :—

अध्येता वह्निरित्यत्र सन्नप्यग्निर्न गृह्यते ।
अयोग्यत्वेन योग्यत्वाद्वटुरेवात्र गृह्यते ॥५५

अर्थ- –'यह पढने वाला अग्नि है' इस वाक्य मे विद्यमान होने पर भी 'आग' अर्थ नही लिया जाता–(क्योकि यह भौतिक अग्नि पढ़ने योग्य नही है) अतएव योग्य होने के कारण यहाँ अग्नि शब्द से, 'पढने मे तीव्र बालक' अर्थ लिया जाता है। ऐसे ही मरने के पश्चात् गृहस्थ आदि व्यवहार के लिए, अपने आप को त्याग कर 'पुत्र' आदि का ही ग्रहण होता है ॥४५॥

मिथ्यात्मा की प्रधानता का उदाहरण

कृशोहं पुष्टिमाप्स्यामीत्यादौ देहात्मतोचिता ।
न पुत्रं विनियुङ्क्तेत्र पुष्टिहेत्वन्नभक्षणे ॥४६

अर्थ—'मैं निर्बल हूँ अब मैं (अन्नादि खाकर) पुष्ट हो जाऊँगा' इत्यादि व्यवहार मे देह (देह ही पुष्टाकारक अन्न खा सकता है इसलिए) को ही 'आत्मा' मानना उचित

है। कोई भी पुष्टि हेतु अन्नादि के भक्षण मे पुत्र को नही लगाता ॥ ४६ ॥

तपसा स्वर्गमेष्यामीत्यादौ कर्त्रात्मतोचिता ।
अनपेक्ष्य वपुर्भोगं चरेत्कृच्छ्रादिकं ततः ॥४७

अर्थ—तथा च "मैं तप से स्वर्ग को प्राप्त करूंगा" इत्यादि स्थलो मे कर्ता को अर्थात् विज्ञान मयकोश को "आत्मा" मानना उचित है, क्योकि यहाँ देहादि को आत्मा नही मानते यही कारण है कि देह के भोग की इच्छा न करके "कृच्छ्र" "चान्द्रायण" आदि व्रत किये जाते है। इनसे विज्ञानमय को स्वर्ग प्राप्ति मे सहायता मिलती है।

मुख्यात्मा का उदाहरण

मोक्ष्येऽहमित्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान् ।
तद्वेत्ति गुरुशास्त्राभ्यां न तु किंचिच्चिकीर्षति ॥

अन्वय—पुमान् 'अह मोक्ष्ये' इति तदा गुरुशास्त्राभ्या तत् वेत्ति किंचित् न तु चिकीर्षति'—अत्र चिदात्मत्व युक्तम् ॥४८॥

अर्थ—जब पुरुष निश्चय करता है कि मैं मोक्ष प्राप्त करूंगा, तब गुरु और शास्त्र द्वारा ब्रह्म चेतन का ज्ञान प्राप्त करता है। अन्य कर्म आदि को करने की इच्छा नही करता-अतएव इस व्यवहार मे शुद्ध चेतन को आत्मा मानना उचित है ॥४८॥

व्यवहार विशेष मे व्यवस्था से प्रधानता को दृष्टान्त मे समझाते हैं:—

विप्रक्षत्रादयो यद्वद्‌बृहस्पतिसवादिषु ।
व्यवस्थितास्तथा गौणमिथ्यामुख्या यथोचितम् ।।

अर्थ—जैसे ब्राह्मण क्षत्रिय आदि, वृहस्पति-याग आदि में पृथक्-पृथक् व्यवस्थित हैं—(वृहस्पति याग में ब्राह्मण का ही अधिकार है, क्षत्रिय या वैश्य का नही, राजसूय क्षत्रिय ही कर सकता है, वैश्य स्तोम वैश्य को ही करना चाहिए आदि) इसी प्रकार 'गौण' 'मिथ्या' और "मुख्य" आत्मा यथोचित अपने-अपने व्यवहार में व्यवस्थित हैं ।।४६।।

अभिप्राय यह है कि.—

तत्र तत्रोचिते प्रीतिरात्मन्येवातिशायिनी ।
अनात्मनि तु तच्छेषे प्रीतिरन्यत्र नोभयम् ।।५०

अर्थ —जिस व्यवहार में जो आत्मा उचित (योग्य) है उस व्यवहार में उपयोगी होने के कारण प्रधान भूत आत्मा में ही अतिशय प्रीति होती है, शेष भोग्य अनात्मा मे केवल प्रीति होती है। और जो आत्मा और उसके शेष (उपकारक)-इन दोनों से भिन्न है उस मे दोना मे से किसी भी प्रकार का प्रेम नही होता ।+ ।।५०।।

+ बात यह है कि इच्छा की विषय बनी हुई वस्तु को अनुकूल कहते हैं, सुख, दुःखाभाव और उनके साधन—इन चारो की इच्छा

ऊपर के श्लोक मे आये 'अन्यत्' के भेद दिखाते हैं.—

उपेक्ष्यं द्वेष्यमित्यन्यद्द्वेधा मार्गतृणादिकम् ।
उपेक्ष्यं व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम् ॥५१
आत्मा शेष उपेक्ष्यं च द्वेष्य चेति चतुर्ष्वपि ।
न व्यक्तिनियमः किं तु तत्तत्कार्यात्तथा तथा ॥

अन्वय—अन्यत् उपेक्ष्य द्वेष्य इति द्वेधा, मार्गतृणादिक उपेक्ष्यं, व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यम्, एव चतुर्विधम् (वस्तु इति शेष) आत्मा, शेषः,

---

होती है अतएव ये चारो अनुकूल हैं। परन्तु इनमे इतना भेद है:— (१) आत्मा, चूकि नित्य, निरतिशय सुख और दु खाभाव रूप है अतएव वह अतिशय से भी अतिशय अनुकूलहै और इसीलिए परमप्रेम का विषय होने से प्रियतम है। (२) इस लोक और परलोक के विषयो से जन्य सुख, क्योकि अनित्य और सातिशय आदि अनन्त दु.खो से ग्रस्त हैं' इसलिए अतिशय अनुकूल है और साधन की अपेक्षा अधिक प्रीति का विषय होने से प्रियतर है। (३) सुख और दु खाभाव के साधन, क्योकि स्वरूप से सुख या दु खाभाव रूप नही हैं किन्तु उनकी उत्पत्ति या अविर्भाव मे उपयोगी हैं अतएव अनुकूल हैं, अतएव प्रिय हैं। (४) और इनसे भिन्न वस्तुएँ इच्छा के विषय ही नही अतएव अनुकूल भी नही है। अपितु वे अनुकूल प्रतिकूल हैं अतएव प्रीति के अविषय होने के कारण प्रिय नही हैं ! अपितु उपेक्षा और द्वेष के विषय अतएव उपेक्ष्य एवं द्वेष्य हैं।

उपेक्ष्य च द्वेष्य च इति। चतुर्षु अपि व्यक्तिनियमः न, किन्तु तत्तत्कार्यात् तथा तथा।

अर्थ—आत्मा और उससे शेष से भिन्न, 'अन्यत्,' दो प्रकार का है, (१) उपेक्ष्य और (२) द्वेष्य। मार्ग में आये तृण, खड्ड आदि उपेक्ष्य तथा व्याघ्र आदि द्वेष्य हैं। इस प्रकार वस्तुएँ चार प्रकार की हुई–(१) प्रियतम (आत्मा) (२) प्रिय (शेष पुत्र आदि) (३) उपेक्ष्य और (४) द्वेष्य। इन चारो में भी किसी वस्तु विशेष के नियम से प्रियतम आदि होने का नियम नही है अपितु उपाकार आदि कार्य विशेष के हेतु उनकी वैसी वैसी प्रियता आदि होती है ॥५१–५२॥

स्याद्व्याघ्रः संमुखो द्वेष्यो ह्युपेक्ष्यस्तु पराङ्मुखः।
लालनादनुकूलश्चेद्विनोदायेति शेषताम् ॥५३

अर्थ—जैसे व्याघ्र यदि सामने आता हो तो द्वेष्य होता है–वही लौटकर परे मुँह फेरकर चला जाता होतो उपेक्षणीय होता है और वही यदि लाड़प्यार से अपने अनुकूल हो जाय तो विधान साधन वन कर अपना उपकारक (शेष) हो कर प्रिय हो जाता है ॥५३॥

एक ही वस्तु को 'प्रिय' 'अप्रिय' और 'उपेक्ष्य' मानेंगे तो फिर व्यवस्था कैसे होगी ?

व्यक्तीनां नियमो मा भूल्लक्षणात्तु व्यवस्थितिः।
आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम् ॥

अर्थ 'प्रिय' आदि होने मे किसी एक नियत वस्तु के प्रिय, अप्रिय और उपेक्ष्य होने का नियम भले ही न हो, लक्षण से व्यवस्था हो जायगी। इन तीनो के लक्षण क्रमश', अनुकूलत अर्थात् सुख साधनता (प्रिय का) 'प्रतिकूलता दु ख साधनता अप्रिय का) और दोनो से रहित होना (उपेक्ष्य का) लक्षण है ।।५४।।

आत्मा प्रेयान्प्रियः शेषो द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः।
इति व्यवस्थितो लोको याज्ञवल्क्यमतं च तत्।।

अन्वय—आत्मा प्रेयान्, शेष' प्रिय., तदन्ययो द्वेषःपेक्षे। इति लोकः व्यवस्थित च तत् याज्ञवल्क्यमतम्।

अर्थ—सक्षेप यह है कि आत्मा अर्थात् प्रत्यगानन्द अतिशय प्रिय है, शेप अर्थात् आत्मा के भोग के साधन बने हुए पदार्थ, प्रिय हैं. इन से भिन्न, व्याघ्र तृण आदि पदार्थ क्रमश द्वेष्य और उपेक्ष्य हैं। लोक मे यही व्यवस्था है और याज्ञवल्क्य का भी यही मत है।

केवल मैत्रेयी ब्राह्मण मे ही नही, पुरुषविध ब्राह्मण मे भी आत्मा को प्रियतम कहा है। ("तदेतत् प्रेय पुत्रात्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादान्तरतर यदयमात्मा") यही दिखाते हैं.—

अन्यत्रापि श्रुतिः प्राह पुत्राद्वित्तात्तथाऽन्यतः।
सर्वस्मादान्तरं तत्त्वं तदेतत्प्रेय इष्यताम् ।।५६

अर्थ—अर्थात् अन्यत्र (पुरुषविधब्राह्मणमे) भी श्रुति ने कहा

है कि यह आत्मा पुत्र से, धन से और अन्य सब कुछ से आन्तर तत्व है . इस कारण इसे अतिशय प्रिय मान लेना चाहिए ॥५६॥

श्रौतया विचारदृष्टयाऽयं साक्ष्येवात्मा न चेतरः।
कोशान्पञ्च विविच्यान्तर्वस्तुदृष्टिर्विचारणा ॥५७

अर्थ—यदि श्रुत्यर्थ के आलोचना रूप विचार से देखें तो यह साक्षी ही मुख्य आत्मा है : अन्य पुत्र आदि नहीं। यहाँ 'विचार' का क्या रूप है ? वह यहीकि अन्नमय आदि पाचकोशो को तैत्तिरीय श्रुति में वताई गई रीति से आत्मा से पृथक् करके अन्तर्दृष्टि कर लेना, भीतर छिपे आत्म तत्व से विचार-विमर्श करना 'विचारणा' कहलाती है ॥५७॥

अन्त स्थित आत्मवस्तु के दर्शन (आत्म विचार) का प्रकार—

जागरस्वप्नसुप्तीनामागमापायभासनम् ।
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः ॥५८

अन्वय—जागरस्वप्नसुप्तीना आगमापायभासन यतः भवति असौ स्वप्रकाशचिदात्मक. आत्मा ।

अर्थ—जिस नित्य चैतन्य रूप साक्षी से जागरण, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओ के आने-जाने (पिछली के आने तथा पहली के चले जाने) की प्रतीति होती है, वह स्वप्रकाश चिद्रूप आत्मा है ॥५८॥

शेषाः प्राणादिवित्तान्ता आसन्नास्तारतम्यतः ।

प्रीतिस्तथा तारतम्यात्तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते ॥५६

अन्वय—शेषा: प्राणादि वित्तान्ता: तारतम्यत. आसन्ना.। तथा तेषु सर्वेषु तारतम्यत· प्रीति वीक्ष्यते।

अर्थ शेष (उस साक्षी से बचे हुए), प्राण से लेकर वित्त पर्यन्त सभी पदार्थ (तारतम्यत) न्यूनाधिक भाव से, आत्मा के आसन्न अर्थात् समीपवर्ती हैं। न्यूनाधिक भाव से जितनी-जितनी उनकी आत्मा से समीपता है, उतनी उतनी उनमे प्रीति होती है ॥५६॥

प्रेम के तारतम्य का अनुभव

वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम्।
इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणदात्मा प्रियः परः॥

अर्थ—धन से पुत्र अधिक, पुत्र से अधिक यह पिंड (अन्नमय देह), देह से अधिक इन्द्रियाँ, इन्द्रियो से अधिक प्राण+और प्राण से भी अधिक आत्मा प्यारा होता है ॥८०॥

+यहाँ प्राण शब्द से प्राणोपलक्षित मन का ग्रहण है। क्योकि (१) मन स्वरूपानन्द के प्रतिबिम्ब का ग्राहक और इन्द्रियो का प्रेरक होने से उनका स्वामी है और (२) नेत्रादि इन्द्रियो में से किसी की पीडा से जब मन विक्षिप्त होता है तब (मन विशिष्ट) पुरुष कह उठता है—"यह इन्द्रिय भले ही चली जावे, पर मैं बच जाऊँ" प्राण के बिना मन का सञ्चरण या देह से निर्गमन नहीं होता—इसलिए यहाँ 'प्राण' शब्द ही ग्रहण किया है।

एवं स्थिते निवादोऽत्र प्रतिबुद्ध विमूढयोः ।
श्रुत्योदाहारि तत्रात्मा प्रेयाचित्येव निर्णयः ॥६१

अर्थ—इस प्रकार आत्मा की प्रियतमता स्थित अर्थात् प्रमाण सिद्ध होने पर भी, इस विषय मे ज्ञानी-अज्ञानो का विवाद श्रुति ने दिखाया है और वहाँ 'आत्मा प्रियतम है' यही निर्णय किया है ।

ज्ञानी-अज्ञानी का उपरोक्त विवाद दिखाते हैं :–

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मात् प्रेयानित्याह तत्त्ववित् ।
प्रेयान्पुत्रादिरेवेमं भोक्तुं साक्षीति मूढधी ॥६२

अन्वय–साक्षी एव अन्यस्मात् दृश्यात् प्रेयान्' इति तत्त्ववित् आह । 'प्रेयान् पुत्रादि. एव साक्षी इम भोक्तुम्' इति मूढधी. ।

अर्थ—' साक्षी ही अन्य सब दृश्य पदार्थों से अधिक प्रिय है" यह तो तत्वज्ञानी ने कहा और प्रियतम तो पुत्रादि ही हैं तथा साक्षी आत्मा तो इस (प्रीतिमय पुत्रादि) को भोगने के लिये इस ससार मे उतरा है'–यह अविवेकी का कहना है ॥६२॥

आत्मा से भिन्न को प्रिय बताने वाले दो हैं, शिष्य और प्रतिवादी .—

आत्मनोऽन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि ।
तस्योत्तरं वचो बोधशापौ कुर्यात्तयोः क्रमात् ॥

अर्थ—आत्मा से भिन्न को प्रियतम, या तो (१) शिष्य कहता है या 'प्रतिवादी' । उस शिष्य या प्रतिवादी के प्रत्युत्तर-

रूप वाक्य को ज्ञानी पुरुष क्रम 'बोध' या 'शाप' कहता है अर्थात् इस प्रश्न का उत्तर शिष्य के लिये तो यह कि उसे आत्मबोध कराया जाय और प्रतिवादी के लिये उत्तर यह है कि उसे शाप दिया जाय अर्थात् उसके इस मन्तव्य से होने वाली हानि स्पष्ट की जाय ॥६३॥

पूछने वाले शिष्य और प्रतिवादी को दिया गया उत्तर.—

प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येवमुत्तरं वक्ति तत्वबित् ।

अन्वय—तत्ववित् 'प्रिय त्वा रोत्स्यति' इति एव उत्तर वक्ति ।

अर्थ—तत्व ज्ञानी दोनो को एक ही उत्तर देता है, वह यह कि "तू जिस पुत्र आदि को 'प्यारा' मानता है वह अपने को नष्ट करने पर, तुझको रुलायेगा ।" ॥६४॥

शिष्य के प्रति कहे गये उक्त प्रत्युत्तर का स्पष्टीकरण

स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्वं शिष्यो वेत्ति विवेकतः ॥६४
अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।
लब्धोऽपि गर्भपाते प्रसवेन च बाधते ।.६५
जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता ।
उपनीतेऽप्यविद्यावमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥६६
यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥

अन्वय—शिष्य. स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्व विवेकत वेत्ति । तनयः अलभ्यमान· पितरौ चिर क्लेशयेत् । लब्ध अपि गर्भपातेन च प्रसवेन

बाधते। जातस्य ग्रहरोगादिः। च कुमारस्य मूर्खता उपनीते अपि अविद्यत्वं च पडिते अनुद्वाहः। यून च परदारादि च कुटम्बिन. दारिद्रयम्। धनी चेत् तदा म्रियते। पित्रो. दु खस्य अन्त न अस्ति।

अर्थ--शिष्य इस उत्तर को सुनकर अपने प्रेमपात्र पुत्रादि की दुष्टता–दोषरूपता–को, विवेक द्वारा आगे कहे गये प्रकार से समझ जाता है। यह दोषविचार पद्धति इस प्रकार है:–जब तक पुत्र प्राप्त नही होता तब तक, देर तक माता-पिता को कष्ट होता ही है। पुत्रप्राप्ति की आशा बन्धने पर भी गर्भपात और प्रसव के कष्टादि द्वारा दु ख का कारण होता है। उत्पन्न हुये को, ग्रहपीडा, रोग आदि लग जाते हैं, कुमारावस्था में पुत्र का मूर्ख रह जाना, या यज्ञोपवीत हो जाने पर भी अनपढ रह जाना, या पण्डित हो जाने पर विवाह का न होना, जवान होकर परस्त्रीगमनादि दुराचार करने लगना, सन्तति वाले पुत्र का दरिद्र हो जाना, और धनी की मृत्यु हो जाना–इस प्रकार पुत्र के सम्बन्ध मे माँ-बाप के दु खों का कोई अन्त नही है।

एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि।
निश्चित्य परमां प्रीतिं वीक्षते तमहर्निशम् ॥६८

अन्वय—एव पुत्रादौ विविच्य पुत्रादौ प्रीति त्यक्त्वा निज त्मनि परमा प्रीति निश्चित्य त अहर्निश वीक्षते।

अर्थ—इस प्रकार पुत्रादि विषयो में विद्यमान दोषो को विश्लेषण से जान कर उनमें प्रीति को छोडकर अपने प्रत्यक्‌रूप

साक्षी आत्मा में निरतिषय प्रीति का निश्चय कर रात-दिन उसी प्रत्यगात्मा का अनुसन्धान किया करता है ॥६८॥

प्रतिवादी को दिये प्रत्युत्तररूप उसी वाक्य का स्पष्टीकरण

आग्रहाद्ब्रह्मविद्वेषादपि पक्षममुञ्चतः ।
वादिनो नरकः प्रोक्तो दोषश्च बहुयोनिषु ॥६९

अन्वय—आग्रहात् ब्रह्मविद्वेषात् अपि पक्ष अमुञ्चत. वादिन. नरक: च बहुयोनिषु दोष. प्रोक्त. ।

अर्थ—आग्रह (हठ) और ब्रह्म विद्वेष के कारण अपने पक्ष (पुत्रादि को ही प्रियतम मानने रूप विचार) को न छोडने वाले प्रतिवादी को तो नरक ही मिलता है और उसे अनेक योगियो मे जाने से होने वाले कष्ट (दोष) होते हैं । ज्ञानी लोगो का अपने प्रतिवादियो को यही 'शाप' होता है ॥६९॥

ज्ञानी के कहे गये एक वाक्य के दो अर्थ कैसे हो जाते हैं ? :-

ब्रह्मविद्ब्रह्मरूपत्वादीश्वरस्तेन वर्णितम् ।
यद्यत्तत्तथैव स्यात्तच्छिष्यप्रतिवादिनोः ॥७०

अन्वय—ब्रह्मवित् ब्रह्मरूपत्वात् ईश्वर. । तेन यत् यत् वर्णित तत् तत् तच्छिष्यप्रतिवादिनो· तथा एव स्यात् ।

अर्थ—('ईश्वरोऽहं तथैव स्यात्' बृ० १-४-८ में कहा गया है कि) अपने ब्रह्मत्व को अनुभव करने वाला ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मरूप हो जाने के कारण 'ईश्वर'+हो चुका होता है । इसलिये उसने

+क्योकि श्रुति मे भी कहा है कि ब्रह्मवित् ब्रह्म हो जाता है' तथा

जिसको जो इष्ट अथवा अनिष्ट कह दिया वह, उस शिष्य और विरोधी को वैसा ही (इष्ट या अनिष्ट) हो जाता है ॥७०॥

'आत्मानमेव प्रियमुपासीत, स य आत्मानमेव प्रियमास्ते' (बृ० १–४–७) इत्यादि वाक्य का भावार्थ कहते हैं :—

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रियमुत्तमम् ।
तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन ॥७१

अर्थ—जो (शिष्य) आत्मा को ही सबसे अधिक प्रिय मान-कर उसकी सदा सेवा करेगा–उसका स्मरण करेगा, उसका प्रिय माना हुआ वह आत्मा, प्रतिवादी के प्रिय माने हुए पुत्रादि आत्मा की भान्ति कभी नष्ट नहीं होता, परन्तु सदा आनन्द रूप हुआ प्रतीत होता है। वादी जिन पुत्रादि को प्रियतम माने बैठा है उसकी प्रियतमता व्यभिचारी प्रीति का विषय होने के कारण, भ्रान्तिसिद्ध है। अतएव वह प्रियतमता नष्ट हो सकती है।

अपने अनुभव से भी विद्वान् ब्रह्म ही हो जाता है और ईश्वर ब्रह्म से भिन्न है नहीं अतएव विद्वान् 'ईश्वर' हो जाता है। (२) फिर माया-विशिष्ट चेतन को जैसे सबके आत्मा के साथ अपना अभेद ज्ञान होने के कारण समष्टिपना और नित्यमुक्तपना है वैसे ही विद्वान् को भी सब के आत्मा के साथ अपने तादात्म्य का ज्ञान होने से समष्टिपन और नित्य-मुक्तपन है। (३) माया विशिष्ट चेतन को जैसे निज स्वरूप ब्रह्मका भान होता है वैसे विद्वान् को भी होता है। इस प्रकार गुण के सादृश्य से भी ब्रह्मवित् ईश्वर है।

परन्तु शिष्य ने जिस साक्षीरूप आत्मा को प्रियतम समझ लिया है उसकी प्रियतमता वास्तविक है, इसलिए वह कभी भी किसी भी निमित्त से नष्ट नही होती · सर्वदा प्रतीत होती रहती है। क्योकि गुरूपदेश से जन्य तत्त्वज्ञान द्वारा भ्रान्तिज्ञान नष्ट हो चुकता है।)

आत्मा के परमप्रेमास्पद सिद्ध हो जाने से क्या परिणाम निकलता है ?:—

परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्द इष्यताम् ।
सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता ॥७२

अन्वय—परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्द इष्यताम्। सार्वभौमादिषु प्रीतिवृद्धौ सुखवृद्धि श्रुता।

अर्थ—क्योकि यह आत्मा निरतिशय प्रेम का विषय है अतएव यह परमानन्दरूप है। जो घटादि परमानन्दरूप नही होता वह निरतिशय प्रेम का विषय भी नही होता। तैत्तिरीय और बृहदारण्यक आदि उपनिषदो मे बताया है कि सार्वभौम अर्थात् चक्रवर्तीराजा के पद से लेकर हिण्यगर्भपर्यन्त पदो में जितनी जितनी प्रीति बढती जाती है उतना-उतना सुख बढता जाता है। अतएव जिसमे अधिकतम प्रीति होगी उसमे अधिकतम आनन्द भी होगा ॥७२॥

चैतन्यवत्सुखं चास्य स्वभावश्चेच्चिदात्मनः ।
धीवृत्तिष्वनुवर्तेत सर्वास्वपि चितिर्यथा ॥७३

अन्वय—चैतन्यवत् सुख च अस्य चिदात्मनः स्वभाव. चेत् ? सर्वासु अपि धीवृत्तिषु यथा चिति. अनुवर्त्तेत ।

अर्थ—शङ्का होती है कि यदि चैतन्य की भाँति सुख या आनन्द भी चिदात्मा का स्वभाव होता तो, उस आनन्द की भी, चैतन्य की भान्ति सब बुद्धि वृत्तियो मे अनुवृत्त होनी चाहिये थी ? ॥७३॥

मैवमुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभा गृहे ।
व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चितेरेवानुवर्तनम् ॥७४

अर्थ—दृष्टान्त देकर उक्त शङ्का का परिहार करते हैं–यह शङ्का मत करो–दीपक के दो स्वरूप हैं. (१) उष्ण और (२) प्रकाश । उसका प्रकाश तो घर भर मे व्याप्त हो जाता है परन्तु उष्णता व्याप्त नहीं होती, इसी प्रकार धी वृत्तियो मे चैतन्य की ही अनुवृत्ति होती है, आनन्द की अनुवृत्ति नही होती ॥७४॥

गन्धरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्सु यथा पृथक् ।
एकाक्षेणैक एवार्थो गृह्यते नेतरस्तथा ॥७५

अर्थ—जैसे किसी पदार्थ में गन्ध, रूप, रस और स्पर्श सब रहते हैं–परन्तु एक इन्द्रिय से, इन में से एक का (घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का, चक्षु से इन्द्रिय का इत्यादि) ही ग्रहण होता है, दूसरे का नही । ऐसे ही चैतन्य का ही भास होता है, आनन्द का नही होता ॥७५॥

चिदानन्दौ नैव भिन्नौ गन्धाद्यास्तु विलक्षणाः

इति चेत्तादभेदोऽपि साक्षिण्यन्यत्र वा वद ।।७६

अर्थ—(शङ्का) यदि कहो कि चैतन्य और आनन्द तो कभी पृथक् नही होते गन्ध-रूप आदि तो परस्पर भिन्न हैं ?) (अतएव दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक मे समानता नही है ? (समाधान) अच्छा यह बताओ कि चित् और आनन्द का जो अभेद तुमने कहा है वह साक्षी आत्मा में है या अन्यत्र उसकी उपाधि भूत वृत्तियो मे ?

यदि साक्षी आत्मा मे अभेद मानते हो तब तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समानता है ही —

आद्ये गन्धादयोऽप्येयमभिन्नाः पुष्पवर्तिनः ।
अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात्तयोर्भिद ।।७७

अर्थ—प्रथम पक्ष मानो तो फूल मे रहने वाले गन्ध आदि भी इसी प्रकार भेदरहित हैं, क्योकि इनमें से किसी एक को छोड़ कर दूसरे का ग्रहण नही किया जा सकता। यदि दूसरा पक्ष मानें अर्थात् गन्धादि की ग्राहक इन्द्रियो के भेद से गन्धादि को पृथक् पृथक् माने (औपाधिक भेद माने) तो वृत्तिभेद के कारण (चित् और आनन्द को अभिव्यक्त करने वाली राजस और सात्विक वृत्तियो के भिन्न-भिन्न होने से) उन चिदानन्दो का भी औपाधिक भेद हो ही जायगा ।।७७।।

चैतन्य और आनन्द की एकता प्रतीति का स्थल और अन्य वृत्तियो मे भेद का कारणः—

सत्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः ।
रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात्सुखांशोऽत्र तिरस्कृतः ॥

अर्थ—सत्ववृत्ति अर्थात् शुभ कर्मों से उदित सत्वगुण की परिणामरूप बुद्धिवृत्ति मे चैतन्य और आनन्द की एकता भासित होती है, क्योकि वह सत्ववृत्ति निर्मल होती है और रजोगुण वृत्ति के मलिन होने के कारण, इसमें विद्यमान भी सुखांश छिप जाता है ॥७८॥

तिन्तणीफलमत्यम्लं लवणेन युतं यदा ।
तदाम्लस्य तिरस्कारादीषदम्लं यथा तथा ॥७९॥

अन्वय—यथा अत्यन्ल तितणीफलं यदा लवणेन युतं तदा अम्लस्य तिरस्कारात् ईषत् अम्ल, तथा ।

अर्थ—यह ऐसे ही होता है जैसे कि बहुत खट्टा भी इमली का फल, नमक मिला देने पर खटाई के छिप जाने से, कम खट्टा रह जाता है ऐसे ही रजोगुण की चचल वृत्ति में आनन्द छिप जाता है। (जैसे मन व्याकुल हो तो पास में पड़ी वस्तु भी दिखाई नहीं देती ऐये ही चचल रजोवृत्ति के कारण विद्यमान भी आनन्दाश का भान नही होता। किंवा, परमप्रेम का होने के कारण आत्मा के आनन्द की सामान्य प्रतीति तो सदा होती है परन्तु वृत्ति में प्रतिबिम्बित होकर ही उसकी विशेष प्रतीति होती है। चंचलदर्पण में व्यक्तिमात्रांश का प्रतिबिम्ब तो दीखता है, शोभांश का प्रतिबिम्ब नही दीख पाता, ऐसे ही रजोतमोगुण-

वृत्तिया चेतनांश प्रतिबिम्ब की तो ग्राहक हैं, पर आनन्दाश प्रतिविम्व की ग्राहक नही होती : इसलिए रजोतमोवृत्तियो द्वारा आनन्दांश की विशेष प्रतीति नही हो पाती। अपितु लवणरूप प्रतिवन्ध से जैसे आवले की खटाई का भान रुक जाता है वैसे ही यहा विद्यमान भी आनन्दाश छिपा रहता है।) ॥७६॥

विवेक और योग दोनो से अपरोक्ष ज्ञान

ननु प्रियतमत्वेन परमानन्दतात्मनि।
विवेक्तुं शक्यतामेवं, विना योगेन किं भवेत् ॥

अन्वय—ननु एव प्रियतमत्वेन आत्मनि परमानन्दता विवेक्तु शक्यता योगेन विना कि भवेत् ?

अर्थ—(प्रश्न) ऊपर समझाई गई रीति से परमप्रेम का स्थान होने के कारण आत्मा की परमानन्दाता का गौण और मिथ्यात्माओ से विवेक भले ही किया जा सके तो भी योग के बिना इस विवेक से क्या वनेगा ? मुक्ति का हेतु तो योग है जिससे अपरोक्ष ज्ञान होकर मुक्ति होती है ॥८०॥

यद्योगेन तदेवेति वदामो ज्ञानसिद्धये।
योगः प्रोक्तो विवेकेन, ज्ञानं किं नोपजायते ॥

अर्थ (उत्तर) जो कुछ योग से मिलेगा, वही इस विवेक से भी मिलेगा—यह हमारा कहना है। (योगानन्द अध्याय मे) अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि के लिए योग वता आये हैं, क्या इसी प्रकार, गौण आदि आत्माओ के विवेक द्वारा पचकोषो के विवेक से, अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता ?

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम् ॥

अर्थ—'सांख्य अर्थात् आत्मानात्मा के विवेकी जिस मोक्ष-स्थान को पाते हैं वही स्थान योगियो को भी मिलता है'–यह कहकर योगियो और विवेकियो को समान फल (ज्ञान द्वारा मोक्ष) मिलने की बात गीता आदि स्मृति में कही है ॥८२॥

अधिकारि-भेद से ही मार्गभेद का प्रतिपादन है :—

असाध्यः कस्यचिद्योगः, कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः ॥८३

अर्थ—किसी अधिकारी के लिए योग असाध्य है और किसी के लिए ज्ञान का निश्चय करना असाध्य होता है। इसलिए परमेश्वर ने 'ज्ञान' और 'योग' दो मार्ग बताये हैं ॥८३॥

योग श्रमसाध्य है और विवेक अनायास ही प्राप्त हो सकता है, तो क्या इनमें भेद नही है ?:—योग की विशेषतायें कल्पित कर, उत्तर देते हैं :—

योगे कोऽतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं द्वयोः ।
रागद्वेषाद्यभावश्च तुल्यो योगिविवेकिनोः ॥८४

अर्थ—तुम्हारे योग मे क्या विशेषता है ? दोनो का ज्ञान-रूपी समान फल हो तो कहा है ! राग-द्वेषादि का अभाव भी योगी और विवेकी मे तुल्य बताया है ॥८४॥

न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः ।
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रातिकूल्यमपश्यतः ।।८५

अर्थ—आत्मा प्रियतम है, यह जानने वाले विवेकी को विषया में प्रीति नही रहती। जव उसे प्रतिकूलता ही नही दीखती तो कही राग और कही द्वेष क्यो होने लगा ?

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि ।
द्वेषं कुर्वन्न योगी चेदविवेक्यपि तादृशः ।।८६

अर्थ—देहादि के प्रतिकूल दुखदायी वृश्चिक आदि के प्रति द्वेष, विवेकी और योगियो का एक समान है। यदि कहो कि प्रतिकूल विच्छू आदि से द्वेष करने वाले को हम योगी नही मानते तो यो तो ऐसे द्वेषो को हम विवेकी भी नही कहते ।।८६।।

द्वैतस्य प्रतिभानं तु व्यवहारे द्वयोःसमम् ।
समाधौ नेति चेत्तद्वन्नाद्वैतत्वविवेकिनः ।।८७

अथ—व्यवहार काल में द्वैत का प्रतिभान होना दोनो मे तुल्य है। यदि कहो कि योगी को समाधि में द्वैत की प्रतीति नही होती ? तो हम कहेगे कि वैसे ही श्रुति युक्ति से अद्वैत तत्त्व का विवेक करते समय विवेकी को भी द्वैत को प्रतीति नही होती ।।८७।।

विवक्ष्यते तदस्माभिरद्वैतानन्दनामके ।
अध्याये हि तृतीयेऽतः सर्वमप्यतिमङ्गलम् ।।८८

अर्थ–विवेकी को द्वैत का भान नही होता-यह वात

"अद्वैतानन्द" नामक ब्रह्मानन्द के तीसरे अध्याय में बतायेंगे। अतएव हमारा कहा अर्थ भी सब निर्दोष ही है ॥८८॥

सदा पश्यन्निजानन्दमपश्यन्निखिलं जगत् ।
अर्थाद्योगीति चेत्तर्हि संतुष्टो वर्धतां भवान् ॥८९॥

अर्थ—यदि कहो सदा निजानन्द को देखता हुआ तथा इस सम्पूर्ण जगत् को न देखता हुआ तो एक प्रकार से योगी ही हो गया ? तो, अच्छा तुम ऐसे हो सन्तुष्ट हो जाओ और वृद्धि पाओ ॥८९॥

ब्रह्मानन्दभिधे ग्रन्थे मन्दानुग्रहसिद्धये ।
द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानन्दो विवेचितः ॥

अर्थ—ब्रह्मानन्द नाम के पञ्चाध्यायी प्रकरण के इस दूसरे अध्याय मे मन्दाधिकारी पर अनुग्रह करने के लिये 'आत्मानन्द' का विवेचन किया गया ॥९०॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके बारहवें प्रकरण, ब्रह्मानन्दग-
आत्मानन्द की श्री पीताम्बरशर्मकृत तत्वप्रकाशिका
व्याख्या समाप्त ।



ब्रह्मानन्द-अद्वैतानन्द-प्रकरण-१३

भाषाकारकृत मङ्गलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पञ्चदश्या नृभाषया ।
अद्वैतानन्दसञ्ज्ञस्य व्याख्यान क्रियते मया ॥

योगानन्दः पुरोक्तो यः स आत्मानन्द इष्यताम् ।
कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेच्छृणु ॥१

अर्थ—जिसको पहले ११ वें प्रकरण में 'योगानन्द' कहा है वह 'आत्मानन्द' है–ऐसा समझलो । क्योकि ब्रह्मानन्द को ही, योग से जन्य साक्षात्कार का विषय होने के कारण 'योगानन्द', निरुपाधिक होने के कारण 'निजानन्द', और गौण, मिथ्या एव मुख्य आत्मा के विवेचन से अवगम्य होने के कारण 'आत्मानन्द' कहा है ।

(शका) परन्तु सजातीय स्त्री पुत्रादि गौण आत्मा, देहादि मिथ्या आत्मा और विजातीय आकाशादि विभिन्न पदार्थों भिन्न के रूप मे विद्यमान आत्मानन्द को ब्रह्मानन्द कैसे मान ले ? (उत्तर) सुनो –

आकाशादिस्वदेहान्तं तैत्तिरीयश्रुतीरितम् ।

जगन्नास्त्यन्यदानन्दादद्वैतब्रह्मता ततः ॥२

अन्वय—तैत्तिरीयश्रुतीरित आकाशादिस्वदेहान्त जगत् आनन्दात् अन्यत् न अस्ति, ततः अद्वैतब्रह्मता ।

अर्थ—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत' (तै० २-१) इस तैत्तिरीय श्रुति मे जिस आकाशादिस्वदेह पर्यन्त जगत् का वर्णन आया है (और जिसके कारण द्वैत की शका होती है) वह सब (जगत् के कारण) आनन्द से भिन्न कुछ नही है, इसीलिये (उस सबके रहने पर भी) वह आत्मानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूप ही है ॥२॥

जगत् की आनन्द से उत्पत्ति होने के कारण वह आनन्द से पृथक नही :—

आनन्दादेव तज्जातं तिष्ठत्यानन्द एव तत् ।
आनन्द एव लीनं चेत्युक्तानन्दात्कथ पृथक् ? ॥३

अर्थ—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३-६ मे) कहा है कि—वह आनन्द से ही उत्पन्न हुआ है और आनन्द मे ही वह निवास करता है। अन्त मे आनन्द मे ही लीन होता है। फिर यह जगत् अपने कारण भूत आनन्द से पृथक् कैसे है ? जो जिसका कार्य होता है वह उससे भिन्न नही होता, जैसे मृत्तिका का कार्य घटादि मृत्तिका से भिन्न नही होता ॥३॥

कुलालाद् घट उत्पन्नो भिन्नश्चेति न शङ्क्यताम् ।
मृद्वदेष उपादानं, निमित्तं न, कुलालवत् ।।४

अर्थ—(शका) कुलाल से घट उत्पन्न होकर भी उससे भिन्न ही है ? (उत्तर) यह शका उचित नही है, क्यो कि यह आत्मानन्द, घट का मिट्टी की भाति इस जगत् का उपादान कारण है, घट का कुम्हार की भाति, जगत् का निमित्त कारण नही है ।।४।

स्थितिर्लयश्च कुम्भस्य कुलाले स्तो न हि क्वचित् ।
दृष्टौ तौ मृदि तद्वत्स्यादुपादानं तयोः श्रुते ।।५

अन्वय—हि कुम्भस्य स्थिति , लय. च कुलाले क्वचित् न स्तः। तौ मृदि दृष्टौ ।

अर्थ—घट की स्थिति और लय, कुम्हार के आश्रित नही हैं इसलिये कुम्हार घट का उदापान कारण नही है। हां, मिट्टी घडे की स्थिति और नाश का आधार है . मिट्टी घट काउपादान है। इसी प्रकार जगत् की स्थिति और लय का उपादान आनन्द है . 'आनन्दाद्ध्येव' इत्यादि श्रुति इसमे प्रमाण है।

उपादानं त्रिधा भिन्नं, विवर्ति परिणामि च ।
आरम्भकं च, तत्रान्त्यौ न निरंशेऽवकाशिनौ ।।

अर्थ—उपादान तीन प्रकार का होता है विवर्ति, परिणामी और आरम्भक। इनमे से अन्तिम दो निरवयव वस्तु मे नही

घटते : वे सावयव के ही उपादान हो सकते हैं।❀

आरम्भकवादी का मत दर्शाते हैं:—

आरम्भवादिनो ऽन्यस्मदन्यस्योत्पत्तिमूचिरे ।
तन्तोः पटस्य निष्पत्तो, भिन्नौ तन्तुपटौ खलु ।।७

अर्थ—आरम्भवादी वैशेषिक आदि, कार्य से सर्वथा भिन्न रहने वाले कारण से, कारण से भिन्न कार्य की उत्पत्ति मानते हैं क्यो कि तन्तु से वस्त्र की उत्पत्ति होती है-यहां तन्तु और वस्त्र भिन्न-भिन्न हैं। पट का प्रयोजन तन्तुओं से नही सर्धता विरुद्ध परिणाम एव विरुद्ध अर्थ क्रियाकारी होने से वे परस्पर भिन्न हैं।।७।।

❀ जिस उपादान के अवयवो के सम्बन्ध आदि द्वारा उससे भिन्न कार्य की उत्पत्ति हो वह आरम्भक उपादान है—जैसे परमाणु और कपाल के संयोगादि से घट की उत्पत्ति। (२) उपादान के अवयवो के अन्यथा-भाव रूप कार्य की उत्पत्ति हो वह परिणामी उपादान है जैसे प्रवाह का तडाग जल या दही का दुग्ध है। निरवयव उपादान में आरम्भ या परिणाम रूप कार्य सम्भव नहीं है, वहाँ सम्बन्धादि एव अन्यथाभाव में आपेक्षित अवयव हैं ही नही। अतएव निरवयव आनन्द का विवर्त्त रूप जगत् उत्पन्न होना ही सम्भव है। रज्जु का विवर्त्त सर्प और आकाश का विवर्त्त नीलापन आदि है. अर्थात् अधिष्ठान से विषय सत्ता वाला, अधिष्ठान का अन्यथाभाव विवर्त्त कहलाता है।

परिणामवादी का मत दर्शाते हैं.—

अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य परिणामिता ।
स्यात्क्षीरं दधि, मृत् कुम्भः, सुवर्णं कुण्डलं यथा ।

अन्वय—एकस्य अवस्थान्तरतापत्ति. परिणामिता । यथा क्षीर दधि, मृत्कुम्भ, सुवर्ण कुण्डल स्यात् ।

अर्थ—एक ही वस्तु का दूसरी अवस्था मे पहुँच जाना ही 'परिणाम' कहलाता है । जैसे दूध दही हो जाता है मिट्टी घड़ा बन जाती है और सोना कुण्डल रूप हो जाता है ।

विवर्त्त का लक्षण

अवस्थान्तरभानं तु विवर्तो, रज्जुसर्पवत् ।
निरंशेऽप्यस्त्यसौ, व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् ।

अर्थ—पूर्वावस्था को छोड़े बिना ही, दूसरी अवस्था का भान होने लगना विवर्त्त कहलाता है । जैसे रज्जु का सर्प प्रतीत होने लगना : इसमे रज्जुत्व भी विद्यमान रहता है । पर क्या यह विवर्त्तवाद सावयव रज्जु आदि में ही है ? नही, निरवयव मे भी होता है क्यो कि आकाश में तल और मलिनता की कल्पना पायी जाती है आकाश के स्वरूप को न जानने वाले लोग आकाश को अधोमुख नीलवर्ण कटाह की भान्ति एव काला कल्पित करते हैं ॥८॥

ततो निरश आनन्दे विवर्तो जगदिष्यताम् ।
मायाशक्तिः कल्पिका स्यादैन्द्रजालिकशक्तिवत् ॥

अन्वय–ततः निरंशे आनन्दे विवर्त्तः इष्यताम्। मायाशक्तिः कल्पिका स्यात्। ऐन्द्रजालिकशक्तिवत्।

अर्थ—इसी दृष्टान्त के अनुसार, संसार को निरवयव आनन्द में विवर्त्त (कल्पित) मान लेना चाहिए। मायाशक्ति इस कल्पना को करने वाली है जैसे ऐन्द्रजालिक की शक्ति, मणिमन्त्रादिरूपा माया शक्ति से गन्धर्व नगरादि की कल्पना की जाती है, ऐसे ही ब्रह्म मे रहने वाली मायाशक्ति जगत् की कल्पना कर लेती है ॥१०॥

यो तो फिर, आनन्दात्मा से पृथक् मायाशक्ति मानी जायगी तो, द्वैत मानना पड़ेगा?

शक्तिः शक्तात्पृथङ् नास्ति तद्वद्दृष्टेर्न चाभिदा।
प्रतिबन्धस्य दृष्टत्वाच्छक्त्यभावे तु कस्य सः ॥११

अन्वय—शक्ति शक्तात् पृथक् न अस्ति, तद्वत् दृष्टेः। च अभिदा न प्रतिबन्धस्य दृष्टत्वात्। शक्त्यभावे तु स. कस्य?

अर्थ—अग्नि आदि मे रहने वाली शक्ति आदि शक्तिमान् से पृथक् नही होती, क्योकि शक्ति और शक्तिमान् एक ही दीखते हैं। फिर शक्ति और शक्तिमान् एक भी नही हैं, क्यो कि मणि-मन्त्रादि द्वारा, शक्ति कार्य स्फोट आदि का प्रतिबन्ध दिखाई देता है, यदि शक्तिमान् से पृथक् शक्ति है ही नही तो यह प्रतिबन्ध किस वस्तु का हुआ? (अर्थात् लौकिक अग्नि आदि की शक्ति को अग्नि से पृथक् या अपृथक् कहना अशक्य है–और जैसे यह

अनिर्वचनीय है वैसे हो माया भी अनिर्वचनीय है। इसीलिए आनन्दात्मा से माया को भिन्न मानते हुए भी द्वैत इसलिये नही वनता कि अनिर्वचनीय होने से अनृत है।) ॥११॥

अतीन्द्रिय शक्ति का प्रतिबन्ध कैसे जाना जा सकता है? बताते हैं :—

शक्तेः कार्यानुमेयत्वादकार्ये प्रतिबन्धनम् ।
ज्वलतोऽग्नेदाहे स्यान्मन्त्रादिप्रतिबन्धता ॥

अर्थ—क्यो कि शक्ति (यद्यपि अतीन्द्रिय है) कार्य से अनुमेय है। अतएव कारण के होते हुए भी कार्य न होने से प्रतिवन्ध का अनुमान से ज्ञान होता है। देखते हैं कि जव अग्नि धधकती हुई भी, जलाती न हो, तो मत्रादि द्वारा शक्ति (दाह शक्ति) का प्रतिबन्ध मानना पडता है ॥१२॥

इस प्रकार लौकिक शक्ति के स्वरूप व उसको प्रमाण से सिद्ध करने के पश्चात् उसके सद्भाव मे श्वेताश्वर उपनिषद् के वाक्य को उपस्थित करते हैं.—

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मुनयोऽविदन् ।
पारऽस्य शक्तिर्विविधा क्रियाज्ञानवलात्मिका ॥

अर्थ—'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे. १–३) मे बताया है कि काल स्वभाव आदि कारणवादो+मे न्यूनता देखने वाले मुनियो ने जव ध्यान योग से

+ जगत् के कारण वताने के अनेक वाद हैं। (१) कुछ लोग तो

जगत् का कारण ढूढना चाहा तो उन्होने अपने गुण अर्थात् अपने कार्यभूत स्थूल सूक्ष्मादि शरीरो से आवृत रहने कारण निगूढ अर्थात् स्वप्रकाश चिदात्मा प्रत्यगभिन्न ब्रह्म की शक्ति को जगत् का कारण जाना। फिर आगे कहा है–'परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'। अर्थात् इस ब्रह्म की उत्कृष्ट जगत् कारणरूप शक्ति विविध है। वह क्रिया, ज्ञान और बल (इच्छा शक्ति) रूपा है। अर्थात् कही क्रियारूप, कही ज्ञानरूप और इच्छारूप है ॥१३॥

योगवाशिष्ठ के अनुसार मायाशक्ति का वर्णन

इति वेदवचः प्राह वसिष्ठश्च तथाऽब्रवीत् ।
सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ॥१४

जगत् का कारण मानते ही नही, वे असत्वादी है। अभाव शून्य परमाणुआदि (नैयायिक), काल (ज्योतिषी), स्वभाव (चार्वाक), अदृष्ट (मीमासक) यदृच्छा (प्रत्यक्षवादी), पञ्चभूत (प्रत्यक्ष प्रमाणवादी), प्रकृति (साख्य), असङ्गपुरुष (योगी), कालादि का सयोग प्रतिबिम्ब रूप परिणामी पुरुष और ब्रह्म को जगत् का कारण मानने वाले (वेदान्ती)—इस प्रकार अनेक प्रकार के कारणवाद है। इनमे क्रमशः दृष्टविरोध, दृष्टविरोध, असम्भव, असम्भव, अकारणता की प्राप्ति, व्यभिचार, व्यभिचार, असम्भव, असम्भव, अयोग्यता और विशेषण भङ्ग दोष है। माया विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का कारण है, यह पक्ष निर्दोष है।

अर्थ—यह बात वेद ने तो कही है, वशिष्ठने (योगवाशिष्ठ मे भी यही बात कही है। वशिष्ठ ने कहा है कि–पर ब्रह्म नित्य आपूर्णं अद्वय सर्वशक्ति'। अर्थात् वह पर ब्रह्म नित्यपूर्ण, अद्वितीय भी है (निरुपाधिक ब्रह्म का वर्णन) और सर्वशक्तियुक्त भी (सोपाधिक ब्रह्म का वर्णन) है॥ आगे २८ वे श्लोक तक योगवाशिष्ठ के श्लोको को ही यहा उद्धृत किया गया है :—

यथोल्लसति शक्त्या ऽसौ प्रकाशमधिगच्छति।
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम ! शरीरेषूपलभ्यते ॥१५

स्पन्दशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यशक्तिस्तथोपले।
द्रवशक्तिस्तथाम्भस्सु दाहशक्तिस्तथाऽनले ॥१६

शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि।
यथाण्डेऽन्तर्महासर्पो जगदस्ति तथात्मनि ॥१७

फलपत्रलतापुष्पशाखाविटपमूलवान्।
ननु बीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥१८

क्वचित् काश्चित् कदाचिच्च तस्मादुद्यन्ति शक्तयः।
देशकालविचित्रत्वात् क्ष्मातलादिव शालयः॥

स आत्मा सर्वगो राम ! नित्योदितमहावपुः।
यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥२०

आदौ मनस्तदनुबन्धविमोक्षदृष्टी
पश्चात् प्रपञ्चरचना भुवनाभिधाना ।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठा-
माख्यायिका सुभग! बालजनोदितेव ॥२१

बालस्य हि विनोदाय धात्री वक्ति शुभा कथाम् ।
क्वचित्सन्ति महाबाहो! राजपुत्रास्त्रयः शुभाः ॥
द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भ एव न च स्थितः ।
वसन्ति ते धर्मयुक्ता अत्यन्तासति पत्तने ॥२३
स्वकीयाच्छून्यनगरान्निर्गत्य विमलाशयाः ।
गच्छन्तो गगने वृक्षान्ददृशुः फलशालिनः ॥२४
भविष्यन्नगरे तत्र राजपुत्रास्त्रयोऽपि ते ।
सुखमद्य स्थिताः पुत्र ! मृगयाव्यवहारिणः ॥
धात्र्येति कथिता राम ! बालकाख्यायिका शुभा ।
निश्चयं स ययौ बालो निर्विचारणया धिया ॥
इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् ।
बालकाख्यायिकेवेत्थमवस्थितिमुपागता ॥२७
इत्यादिभिरुपख्यानैर्मायाशक्तेश्च विस्तरम् ।
वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिर्निरूप्यते ॥२८

अर्थ—योगवशिष्ठ में कहा है कि—वह पर ब्रह्म, जब जब, जिस जिस माया-शक्ति के कारण उल्लास (विकास अथवा विवर्त्त) को प्राप्त होता है, तब-तब वह शक्ति अभिव्यक्त हो जाती है। (अर्थात् जब वह शक्ति अभिव्यक्त नही होती, दृश्यमान जगत् नही बनती, तब भी अप्रकट दशा मे यह जगत् ब्रह्म में रहता है।) हे राम ! देवादि शरीरो मे ब्रह्म की वह चिच्छक्ति दीख पडती है ॥ यही नही वायु में स्पन्दशक्ति (चलने की कारणभूत) तथा पत्थर दृढता की हेतुभूता शक्ति, जल में द्रवशक्ति, अग्नि में दाहशक्ति, आकाश मे शून्य शक्ति और विनाशी पदार्थों मे नाशशक्ति दीख पडती है, जैसे अण्डे के भीतर (अनभिव्यक्त दशा मे) महासर्प रहता है ऐसे ही यह जगत् आत्मा में अनभिव्यक्त दशा मे भी बना रहता है। जैसे फल, पत्ते, लता, फूल, शाखा और विस्तृतशाखा व जडो वाला पेड, बीज मे छिपा रहता है–इसी प्रकार यह विचित्र जगत् ब्रह्ममूल में (अनभिव्यक्त अवस्था मे भी बना) रहता है।

(प्रश्न) सब शक्तिया एक साथ अभिव्यक्त क्यो नही होती ? (उत्तर) देश और काल को विचित्रता के कारण किसी देश-विशेष में और किसी विशेष समय कुछ शक्तियो ऐसे ही अभिव्यक्त हो जाया करती हैं जैसे भूमिगत बीजो में से कुछ, कही, किसी समय चावलरूप में उग आया करते है ॥

अब जगत् के कल्पक मन का रूप दिखाते हैं–राम ! सर्वत्र विद्यमान, सदा प्रकाशमान, देश कालादिपरिछेद-रहित होने से

महान् स्वरूप वाला, वह आत्मा जिस समय मनन शक्ति जो परावबोधनरूपा (माया परिणामरूपा है) को धारण करता है, तब वह मन कहलाता है। आरम्भ में, मनन शक्ति का उल्लास होने पर, मन (उत्पन्न) होता है। उसके पश्चात् बन्ध और मोक्ष की कल्पनाए जागती है। पश्चात् बन्धन के अन्तर्गत ही, भुवन-नाम को, पहाड़-नदी-नद आदि जगत् की रचना की कल्पना होती है। इस प्रकार को यह जगत् की स्थिति प्रतिष्ठित हो गई है अर्थात् वास्तविक प्रतीत होने लगती है। यह सब ऐसे ही है जैसे कि सुन्दर बालको को समझाने के लिए कही गई कहानी उन्हे सच्ची प्रतीत होने लगती है (इसी प्रसंग में योग वाशिष्ठ में वर्णित एक कथा को उद्धृत करते हैं :-) हे महाबाहु राम! बालको को बहलाने के लिए धाय एक मनोहर कहानी कहा करती है। कही तीन राजपुत्र रहते हैं। उनमें से दो तो पैदा नही हुए और एक गर्भ में ही नही आया। वे तीनो धर्मपूर्वक एक अत्यन्त असत् नगर में रहते है। वे भ्रान्तचित्त, एक बार अपने शून्य नगर से निकल कर जा रहे थे कि आकाश मे उन्होने फलो से लदे पेड़ देखे। वे तीनो राजपुत्र आजकल भविष्यत् नगर में शिकार खेलते सुख से रह रहे हैं। हे राम! धाय ने जब सुन्दर बालको को यह कथा सुनाई तो वह सुनने वाला बालक भोली बुद्धि से इसे ठीक मान बैठा।

इसी प्रकार यह संसार रचना भी, विचार रहित चित्त वाले

पुरुषो के चित्त में बालको की कहानी के समान, दृढता से जम गई है। वशिष्ठ ने इस प्रकार के उपाख्यानो द्वारा माया शक्ति का विस्तार से निरूपण किया है। यहाँ उसी मायाशक्ति का निरूपण किया जाता है ॥१५-२८॥

यह मायाशक्ति जगत् और ब्रह्म, दोनो से भिन्न है :—

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा ।
स्फोटाङ्गारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते ॥

अन्वय—एषा शक्ति कार्यात् च आश्रयतः विलक्षणा भवेत् । तत्र स्फोटागारौ दृश्येते, शक्ति अनुमीयते ।

अर्थ—यह मायाशक्ति, अपने कार्य जगत्) और अपने आश्रय (ब्रह्म) दोनो से विलक्षण स्वभाव की है। जैसे लौकिक अग्नि के उदाहरण में वह्निस्थ शक्ति का कार्य (स्फोट) और आश्रयरूप (अङ्गारे) तो प्रत्यक्ष दीख पडते हैं—परन्तु उनमें विद्यमान शक्ति का अनुमान से ही ज्ञान होता है ॥२९॥

यही बात, मृत्तिका की शक्ति के विषय मे भी ठीक है—

पृथुबुध्नोदराकारोघटः कार्योऽत्र मृत्तिका ।
शब्दादिभिः पंचगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्विधा ॥

अन्वय—पृथुबुध्नोदराकार घट कार्यं । शब्दादिभि. पञ्चगुणै युक्ता मृत्तिका । अत्र शक्ति तु अतद्विधा ।

अर्थ—मोटे, गोल पेट वाला घड़ा कार्य है तो उस (कार्यरूप

घट) का आश्रय मिट्टी, शब्द-स्पर्श-रूप-रस गन्धवाली है। परन्तु शक्ति इन दोनो में से किसी भी प्रकार की नहीं है : उसका न कोई आकार है न उसमे कोई गुण है ॥३०॥

न पृथ्वादिर्नशब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा।
अत एव ह्यचिन्त्यैषा न निर्वचनमर्हति ॥३१

अर्थ—शक्ति में न स्थूलता आदि कार्य के गुण हैं और न शब्दादि आश्रय के ही धर्म हैं, इस कारण वह विलक्षण है। और इसीलिये यह अचैतन्य है इसका कोई निर्वचन नहीं हो सकता।

फिर वह कारण की भान्ति प्रतीति क्यों नहीं होती ?:–

कार्योत्पत्तेः पुरा शक्तिर्निगूढा मृद्यवस्थिता।
कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत् ॥३२

अर्थ—मिट्टी आदि की शक्ति घटादि कार्य की उत्पत्ति से पहले मिट्टी में ही छिपी रही। फिर कुलाल-दण्ड-चक्र आदि की सहायता से विकार अर्थात् कार्य के आकार की होकर अभिव्यक्त हो गयी ॥

यदि उपादान मे भिन्न शक्ति के कार्य को मानो तो कार्य-कारण मे भेद क्यों प्रतीत नहीं होता ?

पृथुत्वादिविकारान्तं स्पर्शादिं चापि मृत्तिकाम्।
एकीकृत्य घटं प्राहुर्विचारविकला जनाः ॥३३

अन्वय—विचारविकलाः जनाः पृथुत्वादिविकारान्त च स्पर्शादि मृत्तिका अपि एकीकृत्य 'घट' आहुः।

अर्थ—अविवेकी जन स्थूलत्वादिरूप कार्य को और स्पर्शादि गुणवाली कारणभूत मिट्टी को, एक वस्तु समझ कर, "घट" कहने लगते हैं ॥ ३३ ॥

पर ऐसा समझने मे 'अविचार' की क्या बात है? बताते हैं.-

कुलालव्यापृतेः पूर्वो यावानंशः स नो घटः ।
पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे युक्ता हि कुम्भता ॥

अन्वय—कुलालव्यापृते. पूर्व. यावानश स. घट नो । पश्चात् पृथुबुध्नादिमत्त्वे तु कुम्भता युक्ता हि ।

अर्थ—कुलाल के व्यापार से पहले जितना भाग (मिट्टी का) है, वह घट नही है, फिर भी उसे घट कहना अविचार की बात है। हा, कुलाल के व्यापार के पश्चात्, स्थूलगोल पेट के आकार वाली, वस्तु को 'घट' कहना तो जचता है ॥३४॥

घडा पारमार्थिक पदार्थ नही है.—

स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात् ।
नाप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात् ॥
अतोऽनिर्वचनीयोयं शक्तिवत्तेन शक्तिजः ।
अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता व्यक्तत्वे घटनामभृत ॥

अन्वय–स घट. मृदु भिन्न. न । वियोगे सति अनीक्षणात् । अभिन्न अपि ! पुरा पिण्डदशायां अनवेक्षणात् । अत. शक्तिवत् अय अनिर्वचनीय. तेन शक्तिजः ।

अर्थ - घट, मृत्तिका से अलग नही है, क्योंकि उसे मिट्टी से पृथक् करके कभी नही देखा गया। वह (घट) मिट्टी से अभिन्न भी नही है, क्योंकि पहले पिण्ड दशा मे वह दीखता नही है। इसलिये 'घट, शक्ति की भान्ति अनिर्वचनीय है। अतएव घट शक्ति से उत्पन्न माना जाता है। (फिर उसे कभी 'शक्ति' ओर कभी 'घट' क्यो कहते हैं ?)—इसलिये कि जब तक अव्यक्त अवस्था में रहता है तब तक उसे 'शक्ति' कहते है, और व्यक्ता-वस्था आजाने पर उस का नाम 'घट' हो जाता है ॥३५-३६॥

ऐन्द्रजालिकनिष्ठापि माया न व्यज्यते पुरा।
पश्चाद्गन्धर्वसेनादिरूपेण व्यक्तिमाप्नुयात् ॥३७

अर्थः—ऐन्द्रजालिक में रहने वाली माया भी मणि मन्त्रादि का प्रयोग करने से पहले व्यक्त नहीं होती, परन्तु पीछे से गन्धर्व सेना आदि के रूप में प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार माया पहिले अप्रकट रहती है, पीछे प्रकट होती है।।३८॥

छान्दोग्य श्रुति आदि मे भी ऐसा ही कहा है—

एवं मायामयत्वेन विकारस्यानृतात्मताम्।
विकाराधारमृद्वस्तुसत्यत्वं चाब्रवीच्छ्रुतिः ॥३८

अर्थ—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छान्दोग्य ६-४-१) इस श्रुति में इसी विचार को लेकर माया-मय अर्थात् माया का कार्य होने से, विकार को अनृत और विकारो के आधार मिट्टी को सत्य कहा है ॥३८॥

वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो नास्य सत्यता।
स्पर्शादिगुणयुक्ता तु सत्या केवलमृत्तिका ॥३९

अन्वय—वाङ्निष्पाद्य विकारः नाममात्रम्। अस्य सत्यता न। स्पर्शादि गुण युक्ता तु केवलमृत्तिका सत्या।

अर्थ—यहाँ यह कहा है कि वाणी से बोले जाने वाले विकार नाम ही नाम हैं अर्थात् ये घटादि कार्य सत्य नही हैं। परन्तु इन कार्यों का आधार बनी हुयी स्पर्श आदि गुण वाली केवल मिट्टी ही सत्य पदार्थ है ॥३९॥

क्योंकि

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्वाद्ययोर्द्वयोः।
पर्यायः कालभेदेन तृतीयस्त्वनुगच्छति ॥४०

अर्थ—व्यक्त, अव्यक्त और इन दोनो का आधार, इन तीनो में से पहले दोनो का अर्थात् कार्य और शक्ति का कालभेद से पर्याय अर्थात् क्रम रहता है, इसका अभिप्राय यह है कि शक्ति और कार्य ये दोनों कादाचित्क हैं। कभी कार्य हता है, कभी शक्ति होती है, इसी से ये मिथ्या हैं। परन्तु इन दोनो का आधार एक तीसरा पदार्थ मिट्टी आदि है, वह दोनो मे अन्वित रहता है। इस प्रकार त्रिकाल स्थायी होने से वह एक सत्य तत्व है ॥४०॥

विकारो के असत्य होने के तीन कारण—

निस्तत्त्वं भासमानं च व्यक्तमुत्पत्तिनाशभाक्।

तदुत्पत्तौ तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते नृभिः ॥

अन्वय—व्यक्त निस्तत्व भासमान च उत्पत्तिनाशभाक् तदुत्पत्तौ नृभि. तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते ।

अर्थ—(१) व्यक्त पदार्थ निस्तत्व (स्वरूप से असत्) होते हुये भी भासते हैं। (२) वे उत्पत्ति तथा विनाश वाले होते हैं। और (६) उत्पन्न हो जाने पर उनका नाम लोग शब्दों में रख लेते हैं। इन्ही कारणो से विकारों को असत्य कहा जाता है।

व्यक्ते नष्टेऽपि नामैतन्नृवक्त्रेष्वनुवर्तते ।
तेन नाम्ना निरूप्यत्वाद्व्यक्तं तद्रूपमुच्यते ॥

अर्थ-व्यक्त पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी उनका यह कार्य से अभिन्न नाम, व्यवहर्त्ता मनुष्यो की वाणियो पर चढ़ा रहता है। अव यह व्यक्त पदार्थ उस नाम से निरूपणीय रह जाने के कारण नाम के ही रूप वाला अथवा नामात्मक कहलाने लगता है।

यहां इस प्रकार अनुमान करना चाहिए। विवादास्पद घट, 'घट' शब्दरूप है। क्योंकि जिस प्रकार 'घट' इस शब्द का व्यवहार 'घट' शब्द से होता है, उसी प्रकार घट पदार्थ का व्यवहार भी ठीक इसी प्रकार 'घट' शब्द से होता है ॥४२॥

निस्तत्त्वाद्विनाशित्वाद्वाचारम्भणनामतः ।
व्यक्तस्य न तु तद्रूपं सत्यं किंचिन्मृदादिवत् ॥

अन्वय—व्यक्तस्य रूप तत् किंचित् सत्य न तु, निस्तत्त्वत्वात्, विनाशित्वात् वाचारम्भणनामत' मृदादिवत् ।

अर्थ—व्यक्त अर्थात् घटादि रूप कार्य का जो स्थूल, गोल आदि आकार का रूप है वह, सत्य मिट्टी आदि के समान सत्य नही है, क्योकि (१) वह रूप वास्तव मे कुछ नही है, (२) वह विनाशी है, मिट्टी के रहते-रहते ही नष्ट हो जाता है ,—तथा (३, वाणी से कहा गया एक शब्द मात्र है . यदि यह रूप असत्य न होता तो जैसे मिट्टी आदि निस्तत्व नही है, विनाशी नही है और केवल नाम मात्र नही है, ऐसे ही यह भी होता । यहाँ अनुमान निम्न रूप से होगे-(१) घटादि रूप कार्य असत्य होने योग्य है, निस्तत्व होने से, जो असत्य नही होता वह निस्तत्व भी नही होता जैसे घटादि को उपादान मिट्टी । यह केवल व्यतिरेकी अनुमान है । (२) घटादिरूप कार्य असत्य होने योग्य है, विनाशी होने से, जो असत्य नही होता, वह विनाशी भी नही होता, जैसे मिट्टी । (३) घटादि कार्य असत्य हैं, वागिन्द्रियजन्यशब्दमात्रस्वरूप वाला होने से, जो असत्य नही होता वह वागिन्द्रिय-जन्य शब्दमात्र स्वरूप वाला भी नही होता' जैसे आत्मा ।।४३।।

इस प्रकार विकार की असत्यता का प्रतिपादन करके अब,अधिष्ठानुभूत मृत्तिका की सत्यता का उपपादान करते हैं :—

व्यक्तकाले ततः पूर्वमूर्ध्वमप्येकरूपभाक् ।
सतत्त्वमविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते ।।४४

अन्वय—व्यक्तकाले ततः पूर्वं ऊर्ध्वं अपि एकरूपभाक् सतत्व च अविनाश मृद्वस्तु सत्यं कथ्यते।

अर्थ—व्यक्त अर्थात् स्थिति के समय, उससे पूर्व और उसके नष्ट हो जाने के पश्चात् भी, तीनों कालों में एकसा रहने वाला वास्तविक रूप वाला तथा विकार के साथ नष्ट न होने वाला जो मिट्टी नाम का पदार्थ है वह 'सत्य' पदार्थ कहलाता है। यहां अनुमान इस प्रकार है–(१) विवादास्पद मिट्टी सत्य है, सतत्व होने से (२) तीनों कालों में एक-सी होने से (३) वास्तविक स्वरूप वाली होने से, आत्मा की न्याई ॥४४॥

व्यक्तं घटो विकारश्चेत्येतन्नामभिरीरितः।
अर्थश्चेदनृतः कस्मान्न मृद्बोधे निवर्तते ? ॥४५

अर्थ—वादी शङ्का करता है–(प्रश्न) यदि व्यक्त, घट और विकार इन तीनों शब्दों से कहा गया कार्यरूप अर्थ यदि अनृत है अर्थात् वह अपने कारण से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है तो मिट्टी रूपी कारण का ज्ञान हो जाने पर उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ?

निवृत्त एव यस्मात्ते तत्सत्यत्वमतिर्गता।
ईदृङ्निवृत्तिरेवात्र बोधजा न त्वभासनम् ॥४६

अन्वय—निवृत्त एव, यस्मात् ते तत्सत्यत्वमतिः गता। अत्र ईदृक् निवृत्तिः एव बोधजा, न तु अभासनम्।

अर्थ—(उत्तर) यह तो हमें अभीष्ट ही है। अर्थात् उसकी निवृत्ति तो हो ही गई, क्योंकि अब तुम्हारी घटादि के सत्य होने

की बुद्धि जाती रही। (शङ्का) आरोपित रजतादि की ही अप्रतीति होती है, सत्यत्व बुद्धि का विनाश तो नही होता ? (उत्तर) रजतादिक स्वरूप तो निरुपाधिक * भ्रम है–निरुपाधिक, रज्जु सर्प, शक्ति रजतादि-रूप का भान होना बन्द हो जाता है परन्तु सोपाधिक भ्रमस्थलो मे तो ऐसी निवृत्ति ही बोध से उत्पन्न होती है. वास्तविकता का ज्ञान हो जाने पर भी स्वरूप की प्रतीति बन्द नही हुआ करती ॥४६॥

---

* निरुपाधिक और सोपाधिक भेद से भ्रम दो प्रकार का है। (१) केवल अज्ञान जन्य भ्रम निरुपाधिक भ्रम कहलाता है। जैसे रज्जुमे सर्प और शुक्ति में रजत का भ्रम। कार्यकालवृत्ति निमित्त (जैसे दीवार पर पडे सूर्य के प्रतिबिम्ब का समीपस्थ जलपात्र) ही यहाँ उपाधि शब्द से लिया जाता है–ऐसा कोई निमित्त, रज्जुसर्पादि क्योंकि, भ्रम के समय नही होता, अतएव यह भ्रम निरुपाधिक भ्रम कहलाता है। (२) कार्यकाल से पूर्व वृत्ति (जैसे घटके दण्डचक्र आदि) निमित्त रूप उपाधिसहित अज्ञान से जन्य भ्रम सोपाधिक भ्रम है। जैसे दर्पण मे प्रतिबिम्ब का भ्रम, दर्पण की सन्निधि रूप उपाधि सहित अधिष्ठान के अज्ञान से जन्य है। इत्यादि।

निरुपाधिक भ्रम के स्थल मे अधिष्ठान के ज्ञान से कार्य-सहित आवरण विक्षेपहेतु शक्तियुक्त अज्ञान का नाश और बाध हो जाता है, इसलिए वहाँ अधिष्ठान शेष अथवा कल्पित के स्वरूप का अभाव ही बाध का लक्षण है। और सोपाधिक भ्रम स्थल मे तो आवरण-सहित अज्ञान

सोपाधिक भ्रम को दृष्टान्त से समझाते हैं:—

पुमानधोमुखो नीरे भातोऽप्यस्ति न वस्तुतः ।
तटस्थमर्त्यवत्तस्मिन्नैवास्था कस्यचित्क्वचित् ॥

अन्वय—नीरे अधोमुखः भातः अपि पुमान् वस्तुतः न अस्ति । कस्यचित् तस्मिन् तटस्थमर्त्यवत् आस्था क्वचित् न एव ।

अर्थ—जल मे अधोमुख दीखने वाला भी मनुष्य, वस्तुतः होता नही है । क्योकि (ज्ञानी, अज्ञानी) किसी को भी, उस छायापुरुष मे किनारे पर खड़े मनुष्य की-सी सत्य होने की आस्था कभी नही होती । (प्रत्येक यही समझता है कि जलरूप उपाधि के कारण ऐसा प्रतीत हो रहा है । इसी प्रकार सर्व-कारण आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर विवेकी पुरुष इस जगत् को मिथ्या मान लेता है, और फिर भी उसे जब यह जगत्

की आवरण हेतु शक्ति का तो नाश और बाध दोनों हो जाते है, परन्तु अज्ञान की उपाधिरूप प्रतिबन्ध के वश, विक्षेप रूप कार्य सहित विक्षेप-हेतुशक्ति का नाश, अर्थात् स्वरूप से अभाव (नाश) नही होता अपितु केवल बाध होता है—उसके स्वरूप की प्रतीति तो दग्ध पट अथवा दग्ध धान्य कण की भान्ति कुछ काल तक ही रहती है । अतएव सोपाधिक भ्रम के स्थल मे अधिष्ठान का शेष अथवा आरोपित के स्वरूप का अभाव, बाध का लक्षण नही है । अपितु मिथ्यात्व का निश्चय या त्रिकालाभाव निश्चय रूप बाध (निवृत्ति) ही उसका लक्षण है ।

भासता है तो वह इसे इन्द्रियोपाधिक भ्रम समझकर टाल देता है। वह इस जगद्भास को सत्य मान कर कोई व्यवहार नही करता।} ॥४७॥

अद्वैतवादी ऐसे बोध को पुरुषार्थ मानता है:-

ईदृग्बोधे पुमर्थत्वं मतमद्वैतवादिनाम् ।
मृद्रूपस्यापरित्यागाद्विवर्तत्वं घटे स्थितम् ॥

अन्वय —ईदृक् बोधे अद्वैतवादिनां पुमर्थत्व मतम् । मृद्रूपस्य अपरित्यागात् घटे विवर्तत्व स्थितम् ।

अर्थ—ऐसे, अर्थात् आरोपित की असत्यता को जतलाने वाले, बोध के होने मे ही, अद्वैतवादी, पुरुषार्थ मानते हैं। (वे कहते हैं कि आत्मा से भिन्न सब का मिथ्या समझ लेने पर अद्वितीय आनन्द की अभिव्यक्ति होना ही पुरुषार्थ है) घट बन बन जाने पर भी, मिट्टी अपने मृद्रूप का त्याग नही करती। इससे यह सिद्ध होता है कि घट मिट्टी का विवर्त है-इसीलिये मिट्टी का ज्ञान हो जाने पर घट को सत्य मानने वाली बुद्धि निवृत्त हो जाती है-यह, सत्य बुद्धि का हटा देना हो पुरुषार्थ है अप्रतीति नही। जब तक सासारिक पदार्थों के सत्य होने का सस्कार नही मिटता तब तक अद्वितीय आनन्द प्रकट नही होता ॥४८॥

पर, घट की मिट्टी को परिणाम तो नही कह सकते ?

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत्तत्क्षीररूपवत् ।

मृत्सुवर्णे निवर्तेते घटकुण्डलयोर्न हि ॥४६

अर्थ—क्योंकि जिन दही आदि को दूध का परिणाम माना जाता है, उनमें पूर्व दुग्धादिरूप का त्याग पाया जाता है, घट और कुण्डल के पूर्वरूप मिट्टी और सुवर्ण रूप निवृत्त नही हो जाते अर्थात् जैसा कि प्रसिद्ध है, घट और कुण्डल क्रमश. मिट्टी और सुवर्ण के विवर्त हैं, परिणाम नहो ॥४६॥

घटे भग्ने नमृद्भावः कपालानामवेक्षणात ।
मैवं चूर्णेऽस्ति मृद्रूपं स्वर्णरूपं त्वस्तिस्फुटम् ॥

अन्वय—(प्रश्न, घटे भग्ने मृद्भावः न, कपालानां अवेक्षणात् ? मा एवम्। चूर्णे मृद्रूप अस्ति। स्वर्णरूपं तु अतिस्फुटम्।

अर्थ- -यदि कहो कि—घट के टूट जाने पर वह मिट्टी नही हो जाता क्योंकि घटनाश हो जाने पर भी कपाल तो दीखते हैं ! यह कथन उचित नही है, क्योंकि कपाल के टूट जाने पर जब चूरा हो जाता है—तब तो वह मिट्टी रूप में देखा ही जा सकता है। कुण्डल के उदाहरण में कुण्डल के टूट जाने पर भी उसका स्वर्णरूप अतिस्पष्ट दीखता ही है। इस कारण घट आदि मिट्टी के विवर्त ही हैं ॥

पर यों तो मिट्टी और सुवर्ण की भान्ति दुग्ध में भी 'परिणाम' ही मानना पड़ेगा—विवर्त नहीं, यह दर्शाते हैं :—

क्षीरादौ परिणामोऽस्तु पुंसस्तद्भाववर्जनात् ।

एतावता मृदादीनां दृष्टान्तत्वं न हीयते ॥५१

अर्थ—दूध आदि से दही आदि बनने मे दूध का 'परिणाम' होना ही मानो, क्योकि दही में किसी को भी फिर दूध की भावना नही बनती। परन्तु इतने मात्र से (क्षीरादि के परिणाम भी होने मात्र से) मिट्टी आदि को विवर्त्त का दृष्टान्त मानने मे कोई हानि नही है।

अभिप्राय यह है कि दूध तो, पूर्वरूप को त्यागने के साथ-साथ वदलता है अतएव वह तो, केवल परिणाम है, और मिट्टी तथा सोने मे यद्यपि परिवर्तन होता है तथापि, वे पूर्वरूप को भी नही छोड़ते अतएव ये 'परिणामी' भी हैं और 'विवर्त्त' भी हैं ॥५१॥

मिट्टी और सुवर्ण आदि को 'आरम्भक' कारण भी क्यो नही मान लेते :—

आरम्भवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत् ।
रूपस्पर्शादयः प्रोक्ताः कार्यकारणयोः पृथक् ॥

अन्वय—आरम्भवादिन कार्ये मृद द्वैगुण्य आपतेत् । रूपस्पर्शादय कार्यकारणयो पृथक् प्रोक्ता ।

अर्थ—आरम्भवादि (नैयायिक) के मत मे कार्य, घटादि मे मिट्टी आदि उपादान द्रव्य, कार्य एव कारण दोनो आकारो के कारण दुहरे होने चाहिए, फिर आरम्भवादी कार्य और कारण के रूप स्पर्श आदि को पृथक्-पृथक् मानते हैं. इसलिए दोनों

प्रकार की मिट्टियो में रूपादि भी दुहरे-दुहरे होने चाहिए ।+ ॥५२॥

विवर्त के दो ही दृष्टान्त नहीं है, अतएव सभी कार्य अनृत है :—

मृत्सुवर्णमयश्चेति दृष्टान्तत्रयमारुणिः ।
प्राहातो वासयेत्कार्यानृतत्वं सर्ववस्तुषु ॥५३

अन्वय—आरुणिः मृत, सुवर्ण, च अयः—इति दृष्टान्तत्रय प्राह । अतः सर्ववस्तुषु कार्यानृतत्व वासयेत् ।

+आरम्भवादी के मत में कारणत्व (तन्तुत्व) और कार्यत्व (पटत्व) रूप मे भिन्न-भिन्न व्यवहार होने से कार्य-कारण का भेद प्रतीत होता है, इसलिये, कारणरूप एव कार्यरूप में एक ही कारण के होने से, कार्य के स्वरूप मे कारण की द्विगुणता तो होगी ही, जब कारण की द्विगुणता हुई तो तद्गत स्पर्शरूपादि और कायगत धर्म भी दुगने होने चाहिये । परन्तु व्यवहार में तो इनका दुहरा प्रयोग नहीं करते—ये रूपादि तन्तुओ के हैं–ये वस्त्र के हैं—ऐसा व्यवहार नहीं होता । फिर कार्यत्व एव कारणत्वरूप भेद व्यवहार होने के कारण न तो हम इन्हे अभिन्न कह सकते हैं और न भिन्न-भिन्न, क्योकि व्यवहार मे तन्तु—मिट्टी से पृथक् घटपट का व्यवहार नहीं होता । अपितु कार्यकारण का कल्पित भेद और वास्तविक अभेद रूप अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध ही सिद्ध होता है : अतएव आरम्भवाद असङ्गत है ।

अर्थ—छान्दोग्योपनिषद् में यथा 'सोम्यैकेन मृतपिण्डेन' से लेकर कार्ष्णायिसमित्येव सत्यम्' तक उद्दालक आरुणि ने 'मिट्टी, 'सुवर्ण' और 'लोहा' ये तीन दृष्टान्त दिये है, अतएव मिट्टी आदि सब भूत एव भौतिक पदार्थों में कार्यों के अनृतत्व (मिथ्यात्व) की वासना किया करे, अर्थात् कार्य के अनृतत्व को बार-बार अनुभव कर, अनुभवजन्य सकार को ग्रहण करे ॥५३॥

यह अनृतत्वानुसन्धान इसलिये है, कारण ज्ञान से कार्यज्ञान की सिद्धि हो।

कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चापि सोऽवदत् ।
सत्यज्ञानेऽनृतज्ञानं कथमत्रोपपद्यते ? ॥५४

अर्थ—"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मय विज्ञात स्यात्" (छा० ६–१–४) इत्यादि वाक्यो मे आरुणि ने बतलाया है कि कारण (मिट्टी आदि) के ज्ञान से कार्य का ज्ञान हो जाता है।

(शका। परन्तु मिट्टी सुवर्ण आदि पारमार्थिक कारण का ज्ञान हो जाने से, उससे भिन्नस्वभाव अनृत घटादि रूप कार्यादि का ज्ञान कैसे सम्भव है ? ॥५४॥

समृत्कस्य विकारस्य कार्यता लोकदृष्टितः ।
वास्तवोऽत्र मृदंशोऽस्य बोधः कारणबोधतः ॥
अनृतांशो न बोद्धव्यस्तद्बोधानुपयोगतः ।
तत्त्वज्ञानं पुमर्थं स्यान्नानृतांशावबोधनम् ॥५६

अन्वय—लोकदृष्टितः समृत्कस्य विकारस्य कार्यता । अत्र वास्तवः मृदश , अम्य वोध. कारणवोधतः । अनृताशः वोधव्य न, तद्वोधानु-पयोगत. । तत्त्वज्ञान पुमर्थं स्यात् अनृतांशाववोधन न ।

अर्थ—(समाधान) लोक दृष्टि मे मिट्टी सहित (अधिष्ठान-भूत मिट्टी सहित) घटादि विकार (आरोपित पदार्थ) को कार्य कहते हैं। इस में जो वास्तविक 'मिट्टी का भाग' है उसका ज्ञान तो कारण के ज्ञान से ही हो जाता है। शेष जो अनृत भाग है, वह ज्ञातव्य नही है, क्योकि उसके ज्ञान का कोई उपयोग नही है: परन्तु अनृतभाग अथवा विकार को जानने से कोई भी प्रयोजन सिद्ध नही होता।

तर्हि कारणविज्ञानात् कार्यज्ञानमितीरिते ।
मृद्बोधान्मृत्तिका बुद्धेत्युक्तं स्यात्कोऽत्र विस्मयः ?

अर्थ—(प्रश्न) 'कारण के ज्ञान से कार्य (के मिट्टी आदि सत्यभाग) का ज्ञान हो जाता है' कह कहकर तुमने दूसरे शब्दो में यह वात कही कि 'मिट्टी के बोध से मिट्टी का वोध होता है'–इसमे नई वात क्या कही ? यह तो कोरी शब्द रचना ही रही ? ।।५७।।

सत्यं कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः ।
विस्मयो माऽस्त्विहाज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते ?

अन्वय–सत्यम् । 'कार्येषु वस्त्वश. कारणात्मा' इति जानतः विस्मय मा अस्तु । इह अज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते ?

अर्थ—(उत्तर) यह ठीक है : इस कथन मे कोई नई बात नहो है ' 'घटादि कार्यों में वास्तव अश कारणरूप से विद्यमान है' ऐसा जानने वाले को भले ही कोई नई बात न लगे, पर अन्य तत्त्व ज्ञान से शून्यो को तो विस्मय होगा हो, उसे कौन रोक सकता है ? ।।५८ ।

आरम्भी परिणामी च लौकिकश्चैककारणे ।
ज्ञाते सर्वमति श्रुत्वा प्राप्तुवन्त्येव विस्मयम् ।।

अन्वय—आरम्भी च परिणामी च लौकिक. 'एककारणे ज्ञाते सर्वं मति' श्रुत्वा विस्मय प्राप्नोति एव ।

अर्थ—आरम्भी अर्थात् समवायी, असमवायी और निमित्त कारणो से भिन्न कार्य की उत्पत्ति मानने वाले, परिणामी अर्थात् पूव रूप त्यागकर रूपान्तर प्राप्तिरूपी परिणाम को मानने वाले तथा लौकिक (केवल मात्र लोक व्यवहार मे मस्त) जनो को 'एक कारण के ज्ञान से अनेक कार्यों का ज्ञान होता है' यह वाक्य सुनकर भारी विस्मय होता ही है तो होवे, क्या हानि है ? ।।५६।।

अद्वैतेऽभिमुखीकर्तुमेवाशैकस्य बोधतः ।
सर्वबोधः श्रुतौ नैव नानात्वस्य विवक्षया ।।६०

अन्वय.—अद्वैते अभिमुखीकर्तुं एव [अत्र श्रुतौ एकस्य बोधतः सर्वबोध. । नानात्वस्य विविक्षया न एव ।

अर्थ—अद्वैतज्ञान की ओर अधिकारी जनों को अभिमुख करने के लिए ही, छान्दोग्य श्रुति मे, 'एक कारण के ज्ञान से अनेक कार्यों का ज्ञान होता है'–यह कहा है, वहाँ कार्यों की अनेकता को विज्ञान से सिद्ध करना अभिप्रेत नहीं है। (ब्रह्मरूप कारण के ज्ञान की ओर प्रवृत्ति के अर्थ ही, ब्रह्म-ज्ञान की यह स्तुति अर्थवाद-रूप मानी गई है।)

एकमृत्पिण्डविज्ञानात्सर्वमृन्मयधीर्यथा ।
तथैकब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धिर्विभाव्यताम् ॥६१

अन्वय—यथा एकमृत्पिण्डविज्ञानात् सर्वमृन्मयधीः, तथा एक-ब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धि विभाव्यताम् ।

अर्थ—तात्पर्य यह है कि—जैसे घटादि के उपादान भूत एक मिट्टी के पिण्ड को जान लेने से मिट्टी से बने सब पदार्थों का बोध हो जाता है, वैसे ही, सबके उपादान एक ब्रह्म को जान लेने से उससे बने सकल जगत् का बोध हो जाता है। यही बात 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मय विज्ञात स्यात्' 'उत तमादेशमप्राक्षोयेनाश्रुत श्रुत भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं' आदि श्रुतियों में प्रतिपादित है ॥६१॥

ब्रह्म और जगत् के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन

सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म नामरूपात्मकं जगत् ।
तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥६२

अर्थ -सत्, चित् एव आनन्दस्वरूप तो ब्रह्म है, और नाम रूपात्मक, जगत् है। तापनीय उपनिषद् मे ब्रह्म को 'सच्चिदानन्द बताया है। (ब्रह्म वेदं सर्वं सच्चिदानन्दमात्मम्) ॥६२॥

सद्रूपमारुणिः प्राह प्रज्ञानं ब्रह्म बह्वृचः।
सनत्कुमार आनन्दमेवमन्यत्र गम्यताम् ॥६३

अन्वय—आरुणि. सद्रूपम्, बह्वृच. प्रज्ञान ब्रह्म, सनत्कुमारः आनन्द प्राह। एव अन्यत्र गम्यताम्।

अर्थ—आरुणि उद्दालक ने (सदेव सोम्येदमग्र आसोत् (छान्दोग्य) कहकर) ब्रह्म को 'सद्रूप', बह्वृच शाखा वालो ने ऐतरेय उपनिषद् मे ('प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञान ब्रह्म' (ऐ ५-१) कहकर) उसको 'ज्ञानरूप', सनत्कुमार ने (छान्दोग्य श्रुति मे 'यो वै भूमा तत्सुखम्' कहकर) उस को 'आनन्द रूप', बताया है। ऐसे अन्यत्र तैत्तीरिय आदि उपनिषदो मे भी उसकी आनन्द रूपता आदि कही है ॥६३॥

विचिंत्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामानि तिष्ठति।
अहं व्याकरवाणीमे नामरूपे इति श्रुतेः ॥६४

अन्वय-'सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य नामानि कृत्वा तिष्ठति' अह इमे नामरूपे व्याकरवाणि 'इति श्रुते.।

अर्थ—'सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' तथा अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य नामरूपे

व्याकरवाणि' (छा०६–३–२) इन दो वाक्यो से जगत् स्रष्टव्य नामरूपो को भी दिखाया गया है। अर्थात् जैसे सच्चिदानन्द के सद्भाव मे श्रुति प्रमाण है वैसे ही नाम और रूप को बताने वाली भी श्रुतियां हैं ॥६४॥

अव्याकृतं पुरा सृष्टेरूर्ध्वं व्याक्रियते द्विधा ।
अचिन्त्यशक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा ॥

अन्वय—सृष्टेः पुरा अव्याकृत, ऊर्ध्वं द्विधा व्याक्रियते । ब्रह्मणि अचिन्त्यशक्तिः माया एषा अव्याकृताभिधा ।

अर्थ—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ नामायमिदं रूप.' (बृ० १–४–७) इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि सृष्टि से पहले यह सब जगत् अव्याकृत था (इसके नाम और रूप अप्रकट दशा में थे ।) पीछे, रचना के समय, यह जगत् दो रूप से, वाच्य-वाचकरूप से, व्यक्त हो गया । ऊपर उद्धृत वाक्य मे आये 'अव्याकृत' पद से ब्रह्म में रहने वाली अचिन्त्य शक्ति, माया, ली गई है ॥६५॥

'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते' का भाव दर्शाते हैं:–

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा ।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥

अन्वय—अविक्रियब्रह्मनिष्ठा अनेकधा विकार याति । माया तु प्रकृति विद्यात्, मायिन तु महेश्वरम् ।

अर्थ—अविकारी ब्रह्म मे रहने वाली, अव्याकृत नामवाली वही अचिन्त्यशक्ति माया, अनेक रूप से परिणाम को प्राप्त हो जाती है। यह सव जगत् उसी माया का विकार अथवा परिणाम है। "माया तु" इत्यादि श्रुति में कहा है कि पूर्वोक्त 'माया' को प्रकृति अथवा उपादान कारण जाने और माया का आश्रय होने के कारण 'मायी' कहाने वाले को महेश्वर अर्थात् माया का नियामक समझो। ('तु' शब्द से यह सकेत है कि 'माया' और 'मायी' सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं।) ॥६६॥

आद्यो विकार आकाशः सोऽस्ति भात्यपि च प्रियः।
अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत्त्रयम् ॥

अन्वय—आद्यः विकारः आकाश । सः अस्ति, भाति, अपि च प्रियः, तस्य रूप अवकाश । तत मिथ्या तत् त्रय तु न (मिथ्या) ।

अर्थ—मायोपहित ब्रह्म का पहला कार्य (विकार) आकाश है, वह "अस्ति", "भाति" और 'प्रिय' रूप अर्थात् (कारण की भान्ति सच्चिदानन्द स्वरूप) है। उसका अपना रूप 'अवाकश' है' परन्तु उसका यह रूप मिथ्या है · पहले कहे (सच्चिदानन्द) तीनो रूप मिथ्या नही हैं ॥६७॥

चतुर्थ अवकाश रूप क्यो मिथ्या है ? बताते हैं :—

न व्यक्तेः पूर्वमस्त्येव न पश्चच्चापि नाशतः।
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ॥

अर्थ—आकाश का अवकाश नाम का रूप आकाश के व्यक्त होने से पहले भी नहीं था और नाश हो जाने के कारण पीछे भी नही रहेगा। और जो वस्तु आदि और अन्त में नही रहती वह वर्तमान अर्थात् मध्य में भी नही रहती : अर्थात् उत्पत्ति एव विनाश के मध्य मे प्रतीत होने वाला यह अवकाश असत् पदार्थ है ॥६८॥

अब्यक्तादीनि भूतानि ब्यक्तमध्यानि भारत !
अव्यक्तनिधनान्येवेत्याह कृष्णोऽर्जुनं प्रति ॥

अर्थ :—श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन के प्रति यही कहा है—कि आकाशादि एव अण्डजादि पदार्थ पहले अव्यक्त थे, मध्य मे व्यक्त हो गये अन्त मे फिर अव्यक्त में लीन हो जाते हैं ॥ ६९ ॥

मृद्वत्ते सच्चिदानन्दा अनुगच्छन्ति सर्वदा ।
निराकाशे सदादीनामनुभूतिर्निजात्मनि ॥७०

अन्वय—मृद्वत् ते सच्चिदानन्दाः सर्वदा अनुगच्छति, निराकाशे निजात्मनि सदादीनां अनुभूतिः ।

अर्थ—जैसे मिट्टी, घटादि कार्यो मे तीनो कालो में अनुगत रहती, है, वैसे ही वे सत्-सत्–आनन्द नाम के तीनों रूप सदा सब पदार्थो में अनुगत रहते हैं। जब आकाश नहीं रहता तब भी इन सत् आदि धर्मो का अनुभव अपने आत्मा मे होता रहता है ॥७०॥

उपरोक्त का स्पष्टीकरण

अवकाशे विस्मृतेऽथ तत्र किं भाति ते वद ।
शून्यमेवेति चेदस्तु नाम तादृग्विभाति हि ॥७१

अन्वय—अवकाशे विस्मृते अथ तत्र ते किं भाति ? वद। शून्य एव इतिचेत् ? अस्तु नाम, तादृक् हि।

अर्थ—बताओ जब तुम अवकाश को भूल जाते हो तब तुम्हे क्या भान होता है ? यदि कहो शून्य का भान होता है तो अच्छा ! यही सही ! उसका नाम चाहे तुम शून्य ही रखलो परन्तु अवकाश भावरूप से प्रतीयमान कोई वस्तु प्रतीत होनी ही है ॥ ७१ ॥

तादृक्त्वादेव तत्सत्त्वमौदासीन्येन तत्सुखम् ।
आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत्तन्निजं सुखम् ॥

अर्थ—तादृक्पने के कारण अर्थात् उपर्युक्तरूप से प्रतीयमान होने के कारण ही सबकी सत्ता सिद्ध होती है। उस समय उदासीनावस्था होने के कारण वह सत्व सुखरूप है क्योकि जो अनुकूल भी न हो और प्रतिकूल भी न हो वही तो निजसुख अर्थात् सुख स्वरूप होता है ॥७२॥

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात् प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः ।
द्वयाभावे निजानन्दो निजदुःखं न तु क्वचित् ॥

अर्थ—अनुकूलता हो तो हर्ष और प्रतिकूलता जान पड़ने पर दुःख होता है। जब ये दोनो ही न हो, तब 'निजानन्द' भासने

लगता है। निजानन्द की भान्ति, निजदु:ख भी होता होगा, यह शंका मत करो, क्योंकि निजदु:ख तो कहीं भी नहीं होता।

निजानन्दे स्थिरे हर्षशोकयोर्व्यत्ययः क्षणात् ।
मनसः क्षणिकत्वेन तयोर्मानसतेष्यताम् ॥७४

अर्थ (शंका) यदि कहो कि निजानन्द तो स्थिर है–इसलिए मनुष्य को सदा हर्ष होना चाहिए ? (समाधान) निजानन्द के नित्य होने पर भी, इसमें जो प्रतिक्षण शोक और हर्ष का व्यत्यय होता रहता है, वह उस निजानन्द को ग्रहण करने वाले मन के क्षणिक होने से होता रहता है। और क्योंकि मन क्षणिक है अत-एव हर्षशोक मन से जन्य अर्थात् मानस हैं ॥७४॥

अकाशेऽप्येवमानन्दः सत्ताभाने तु संमते ।
वाय्वादिदेहपर्यन्त वस्तुष्वेवं विभाव्यताम् ॥७५

अन्वय–एवं आकाशे अपि आनन्द.। सत्ताभाने तु संमते। एवं वायु–आदि–देहपर्यन्त वस्तुषु विभाव्यताम्।

अर्थ–जैसे आत्मा में आनन्द रहता है, ऐसे ही, आकाश में भी आनन्द रहता है। आकाश में 'सत्ता' तथा 'भान' को तो तुम भी मानते हो (देखो इसी प्रकरण के श्लोक ७१ व ७२)। और जिस प्रकार आकाश मे 'सच्चिदानन्द' धर्म रहते हैं वैसे ही वायु से लेकर शरीर पर्यन्त सब पदार्थों में उसके होने की विभावना कर लेनी चाहिए ॥७५॥

गतिस्पर्शौ वायुरूपं वह्नेर्दाहप्रकाशने ।
जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः ॥
असाधारण आकार ओषध्यन्नवपुष्यपि ।
एवं विभाव्यं मनसा तत्तद्रूपं यथोचितम् ॥

अर्थ—सच्चिदानन्द धर्म तो सब में है-परन्तु गति और स्पर्श वायु का का निजरूप है, अग्नि के दाह और प्रकाश, जल का द्रवत्व, भूमि की कठिनता, निजरूप है यह सबका निर्णय है। औषधि, अन्न तथा शरीर में भी उनका असाधारण आकार होता है। इस प्रकार उनके उचित रूपो की भी अपने मन से विभावना कर लेनी चाहिए।

अनेकधा विभिन्नेषु नामरूपेषु चैकधा ।
तिष्ठन्ति सच्चिदानन्दा विसंवादो न कस्यचित् ॥

अर्थ—अनेक प्रकार से विभिन्न नामरूपो मे सत्, चित् और आनन्द नाम के धर्म एकरूप से रहते है। इस बात मे किसी का मतभेद नही है ॥७८॥

निस्तत्त्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते ।
बुद्धया ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत् ॥

अर्थ—ये दोनो, ये नाम और रूप कल्पित है, क्योकि वे जन्म और नाश वाले हैं-इनके जन्म और नाश वार-वार होते रहते हैं। जैसे समुद्र मे वुल-वुले, फेन, तरङ्ग आदि को देखते हो, इसी

प्रकार इन नाम रूपों को बुद्धि के सहारे ब्रह्म तत्त्व में मिथ्या जानो। नामरूप के अनिर्वचनीय एव उत्पत्ति-विनाशशाली होने से ब्रह्म में कल्पित हैं ॥७६॥

सच्चिच्चदानन्दरूपेस्मिन्पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते ।
स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः ॥८०

अर्थ—जब कोई अधिकारी इस पूर्ण सच्चिदानन्द को बुद्धि से देख लेता है, तब फिर वह नामरूप की धीरे-धीरे स्वयं ही अवज्ञा करने लगता है ॥८०॥

यावद्यावदवज्ञा स्यात्तावत्तावत्तदीक्षणम् ।
यावद्यावद्वीक्ष्यते तत्तावत्तावदुभे त्यजेत् ॥८१

अर्थ—नामरूपों की जितनी-जितनी अवज्ञा होती जाती है, उतना ही उतना ब्रह्म का दर्शन होता जाता है। और जितना-जितना ब्रह्म तत्त्व दीखने लगता है उतना-उतना वह उन नाम-रूपों को छोड़ता जाता है ॥८१॥

द्वैतावज्ञा और ब्रह्मदर्शन का फल

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान् ।
जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा ॥८२

अर्थ—द्वैतावज्ञा और ब्रह्मदर्शन के अभ्यास से अधिकारी की विद्या के स्थिर हो जाने पर यह पुरुष जीते जी ही, मुक्त हो जाता है: हां, शरीर जैसे-तैसे जीवित रहता है ॥८२॥

ब्रह्माभ्यास का स्वरूप

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।

एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ।।८३

अर्थ—ब्रह्म का चिन्तन, उसका ही कथन, एक दूसरे को उसी को समझाना, उसमे एकनिष्ठ होकर रहना-इसी को ज्ञानी लोग ब्रह्माभ्यास कहते है ।।८३।।

वासनानेककालीना दीर्घकालं निरन्तरम् ।

सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ।।८४

अर्थ—अनादि काल की वासनाए, दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धा पूर्वक ज्ञानभ्यास करने पर पूर्णरूप से विनष्ट हो जाती हैं ।।८४।।

एक ब्रह्म अनेकाकार जगत् का हेतु कैसे है ? बताते हैं—

मृच्छक्तिवद्ब्रह्मशक्तिरनेकाननृतान् सृजेत् ।

यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्चात्र निदर्शनम् ।।८५

अन्वय—यद्वा अत्र, जीवगता निद्रा, च स्वप्नः निदर्शनम् ।

अर्थ—जैसे मिट्टी की शक्ति, घट-शराव आदि अनेक पदार्थो को बना डालती है, ऐसे ही, ब्रह्म की सर्जन शक्ति अनेक अनृत पदार्थो (कार्यो) को बना डालती है। अथवा जीव की निद्रा और स्वप्न, जगत्सर्जनकारिणी माया शक्ति के निस्सन्दग्ध उदाहरण हैं। (पिछले उदाहरण इसलिए दिये हैं कि मृत्तिका की

शक्ति सत्य होती हुई अनेक कार्यों की उत्पादिका है, परन्तु ब्रह्म-शक्ति मिथ्या है—अतएव दृष्टान्त नहीं घटता ॥८५॥

अन्तिम दृष्टान्त की व्याख्या करते हैं :—

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वप्नकारिणी ।
ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ॥

अन्वय—यथा जीवे निन्द्राशक्तिः दुर्घटस्वप्नकारिणी, ब्रह्मणि स्थिता एषा मायासृष्टि स्थित्यन्तकारिणी ।

अर्थ—जैसे (जीव की) निद्राशक्ति दुर्घट-स्वप्नों को बना देती है : ऐसे ही ब्रह्म में विद्यमान ब्रह्म की यह माया-शक्ति, सृष्टि, स्थिति और 'प्रलय' कर डालती है ॥८६॥

स्वप्ने वियुद्गतिं पश्येत् स्वमूर्धच्छेदनं यथा ।
मुहूर्ते वत्सरौघं च मृतपुत्रादिकं पुनः ॥८७

अर्थ—(यह निद्रा की दुर्घट स्वप्न-कारिता ही है कि) स्वप्न में पुरुष अपनी आकाश-यात्रा देखता है, अपने मस्तक छेदन को स्वय देखता है, एक क्षण मे वर्षो के भारी समूह को (बीतता) अनुभव करता है और मृतपुत्र आदि को भी देखता है ॥८७॥

इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा ।
यथा यथेक्ष्यते यद्यत्तत्तद्युक्तं तथा तथा ॥८८

अन्वय—यत यत् यथा एथा ईक्ष्यते, तत् तत् तथा युक्तम् ।

अर्थ—दुर्घट स्वप्न क्यो दीखते हैं ? क्योंकि उस समय 'यह

ठीक है' 'यह ठीक नही है' ऐसी व्यवस्था का होना सम्भव नही है। वहाँ तो जो वस्तु जैसी-जैसी दीखती है, वह वस्तु वैसी ही ठीक है ॥८८॥

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा ।
मायाशक्तेरचिन्त्योऽयं महिमेति किमद्भुतम् ॥८९

अन्वय—यदा निद्राशक्ते ईदृश महिमा दृष्ट, तदा मायाशक्ते अय अचिन्त्य महिमा, इति किं अद्भूतम् ? ।

अर्थ—जब जीव की निद्रा-शक्ति की इतनी महिमा है तो फिर ब्रह्म की माया-शक्तिमहिमा अचिन्त्य हो तो इसमे क्या आश्चर्य है ? ॥८९॥

ब्रह्मस्थित अक्रिय माया के जगत् की हेतु होने मे दृष्टान्त कहते हैं :—

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत् ।
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान् कल्पयत्यसौ ॥९०

अर्थ – पुरुष के सोते हुए, वह कोई प्रयत्न न कर रहा हो तो भी, निद्रा बहुत प्रकार के स्वप्नो को रचती रहती है। इसी प्रकार निर्विकार ब्रह्म में रहने वाली माया, बहुत से विकारो अर्थात् कार्यो को रचती है ॥९०॥

खानिलाग्निजलोर्व्यण्डलोकप्राणिशिलादिकाः ।
विकाराः, प्राणिधीष्वन्तश्चिच्छाया प्रतिबिम्बता ॥९१

अन्वय—प्राणिधीषु अन्त चिच्छाया प्रतिबिम्बता ।

अर्थ—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ब्रह्माण्ड, (चौदह) लोक, जगभ एव प्राणी और शिला आदि स्थावर जीव–ये सब माया के विकार रूप कार्य हैं। फिर कोई जड़ कोई चेतन क्यो ? क्योकि प्राणियो की बुद्धियो मे तो चैतन्य की छाया प्रतिबिम्बित है तथा जिनमे चैतन्य प्रतिबिम्बित नही है वे जड़ हैं ॥६१॥

परन्तु यह जड चेतन-विभाग ब्रह्मकृत नही है :–

चेतनाचेतनेष्वेषु सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
समानं ब्रह्म भिद्येते नामरूपे पृथक्-पृथक् ॥

अन्वय–एषु चेतनाचेतनेपु सच्चिदानन्दलक्षण ब्रह्म समानम् । नामरूपे पृथक्-पृथक् भिद्येते ।

अर्थ —इन चेतन एवं अचेतन, सब पदार्थो मे सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म समान है–वह सभी जड़-चेतन पदार्थो का उपादान है। इसलिए जड़-चेतन-विभाग ब्रह्मकृत नही। जड़-चेतन पदार्थों के केवल 'नाम' और 'रूप' भिन्न-भिन्न हैं ॥६२॥

ब्रह्मण्येते नामरूपे पटे चित्रमिव स्थिते ।
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दधीर्भवेत् ॥६३

अन्वय—पटे चित्रं इव ब्रह्मणि एते नामरूपे स्थिते । नामरूपे द्वे उपेक्ष्य सच्चिदानन्दधीः भवेत् ।

अर्थ— वस्त्र (रूप आधार) पर बने (कल्पित) चित्र के समान ब्रह्मतत्व में ये दोनो नाम और रूप कल्पित हैं। समग्र-

कल्पना (रचना) का आधार होने से ब्रह्म सर्वगत है। नाम और रूप दोनो की उपेक्षा करने पर सच्चिदानन्द बुद्धि उत्पन्न होती है। (सर्वगत सर्वाधिष्ठान ब्रह्मतत्व को जानने के लिए कल्पित नाम रूपो की उपेक्षा करनी चाहिए) ।।६३।।

पूर्वोक्त श्लोक के अभिप्राय को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

जलस्थेऽधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेऽप्युपेक्ष्यतम् ।
तीरस्थ एव देहे स्वे तात्पर्यं स्याद्यथा तथा ।।

अन्वय—यथा स्वस्य जलस्थे अधोमुखे देहे दृष्टे अपि त उपेक्ष्य स्वे नीरस्थे एव देहे तात्पर्य स्यात् तथा।

अर्थ—जल मे अपना देह अधोमुख रूप से प्रतिबिम्बित दीखने पर भी, उस जलगत अधोमुख प्रतिबिम्बित देह को छोड़कर तीर पर स्थित, उससे विपरीत स्थित ऊर्ध्व मुख देह में पुरुष को ममत्व बुद्धि होती है : ऐसे ही दृश्यमान नाम-रूपो की उपेक्षा करके, इनसे अपनी आस्था हटा लेने पर ही सच्चिदानन्द ब्रह्म मे अहबुद्धि होती है ।।६४।।

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत् ।
सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वदुपेक्षा नामरूपयोः ।।६५

अर्थ—एक दूसरे लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त से इसी को स्पष्ट करते हैं–जैसे सहस्रो मनोराज्यो–मन कल्पित वस्तुओ–के होते हुए भी, उनकी सव लोग उपेक्षा करते हैं; इसी प्रकार विवेकी

लोग सहस्रों प्रकार से दीखने वाले इन नाम रूपों की उपेक्षा करते हैं ॥९५॥

क्षणे क्षणे मनराज्यं भवत्येवान्यथाऽन्यथा ।
गतं गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो वहिस्तथा ॥९६

अन्वय—क्षणे क्षणे मनोराज्यं अन्यथा अन्यथा भवति एव । गतं गतं पुन. न अस्ति । तथा वहि व्यवहारः ।

अर्थ—क्षण-क्षण में मनोराज्य और का और (परिवर्तित) होता रहता है । जो मनोराज्य बीत जाता है, वह, फिर, लौटा-कर नहीं आता । इसी प्रकार यह वाह्य व्यवहार भी क्षण-क्षण में वदलता रहता है ।

न वाल्यं यौवने लभ्यं यौवनं स्थाविरे तथा ।
मृतः पिता पुनर्नास्ति नायात्येव गतं दिनम् ॥

अर्थ—यौवन में वचपन नहीं मिलता, और बुढ़ापे में यौवन भो ढूढा नहीं पाता । मरने के वाद पिता लौटकर नही आता, वीता दिन भी नही लौटता ॥९७॥

इस प्रकार द्वैत क्षणिक ही है:—

मनोराज्याद्विशेषः कः क्षणध्वंसिनि लौकिके ।
अतोऽस्मिन्भासमानेऽपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ॥

अन्वय—क्षणध्वसिनि लौकिके मनोराज्यात् कः विशेष. ? अतः अस्मिन् भासमाने अपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ।

अर्थ—भला क्षणध्वसी लौकिक पदार्थों और मनोराज्य में क्या भेद है ? कुछ भी नहीं। क्षणिक होने के कारण, इन लौकिक पदार्थो के भासमान होने पर भी इनको सत्य मानना छोड़ दो।

लौकिक पदार्थों की उपेक्षा का लाभ

उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिन्तने ।
नटवत्कृत्रिमास्थाय निर्वहत्येव लौकिकम् ॥९९

अन्वय-लौकिके उपेक्षिते धी. ब्रह्मचिन्तने निर्विघ्ना। नटवत् कृत्रि आस्थाय लौकिक निर्वहति एव।

अर्थ—लौकिक पदार्थो की उपेक्षा कर देने पर, बुद्धि ब्रह्म-ज्ञान में निर्विघ्न हो लग जाती है। (प्रश्न) फिर ज्ञानी लोगो का व्यवहार कैसे चलता है ? (उत्तर) जैसे नट बनावटी आस्था से लौकिक व्यवहार को निभाता रहता है ॥९९॥

बुद्धि के व्यवहार मे लगे रहने पर भी साक्षी आत्मा निर्विकार रहता है :—

प्रवहत्यपि नीरेऽधः स्थिरा प्रौढशिला यथा ।
नामरूपान्यथात्वेऽपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ॥

अन्वय—नीरे प्रवहति अपि अधः प्रौढशिला यथा स्थिरा, नाम-रूपान्यथात्वे अपि कूटस्थ ब्रह्म अन्यथा न।

अर्थ—ऊपर पानी के वहते रहने पर भी, जैसे उसके नीचे पड़ी भारी शिला स्थिर रहती है ऐसे ही नाम रूप मे परिवर्तन

होते रहने पर भी (बुद्धि द्वारा व्यवहार करते रहने पर भी) कूटस्थ ब्रह्म (उस बुद्धि का साक्षी निर्विकार ज्ञानी आत्मा) कभी अन्यथा अर्थात् विकारी नहीं होता ॥१००॥

अखण्ड ब्रह्म में उससे विपरीत जगत् की प्रतीति कैसे होती है ? बताते हैं :—

निश्छिद्रे दर्पणे भाति वस्तुगर्भं बृहद्वियत् ।
सच्चिद्घने तथा नाना जगद्गर्भमिदं वियत् ॥

अन्वय—निश्छिद्रे दर्पणे वस्तुगर्भं बृहत् वियत् भाति । तथा सच्चिद्घने नाना जगद्गर्भं इदं वियत् ।

अर्थ—दर्पण में कोई छिद्र (खाली स्थान) नहीं होता, फिर भी उसके भीतर नानावस्तुओं से भरा विशाल आकाश घुसा प्रतीत होता है । इसी प्रकार सच्चिद्घन अखण्ड ब्रह्म में पृथ्वी सूर्य आदि विविध जगत् से भरा यह आकाश समाया प्रतीत हो रहा है ॥१०१॥

अदृश्य ब्रह्म में जगत् की प्रतीति क्यों कर होती है ?

अदृष्ट्वा दर्पणं नैव तदन्तःस्थेक्षणं तथा ।
अमत्वा सच्चिदानन्दं नामरूपमतिः कुतः ?

अन्वय—दर्पणं अदृष्ट्वा तदन्तःस्थेक्षणं न एव । तथा सच्चिदानन्दं अमत्वा नामरूपमतिः कुतः ।

अर्थ—जैसे, दर्पण को देखे बिना उसके भीतर की वस्तु नहीं दीखती, इसी प्रकार, पहले सच्चिदानन्द तत्त्व का मनन (दर्शन)

हुए बिना नाम रूपात्मक जगत् का ज्ञान कैसे सम्भव है ? नाम-रूप (जगत्) का परिज्ञान होने से पहले सच्चिदानन्द तत्व की प्रतीति हो लेना अनिवार्य है ॥१०२॥

नामरूप की प्रतीति होते हुये भी, निर्विषय ब्रह्म की प्रतीति कैसे सम्भव है ?

प्रथमं सच्चिदानन्दे भासमानेऽथ तावता ।
बुद्धिं नियम्य नवोर्ध्वं धारयेन्नामरूपयोः ॥१०३

अन्वय—प्रथम नियम्य ऊर्ध्वं नामरूपयो. नैव धारयेत् ।

अर्थ—नामरूपात्मक बुद्धि से पहले सच्चिदानन्द तत्व का अर्थात् अपने स्वरूप का भास प्रत्येक को हुआ करता है, उसके पश्चात् इस स्वरूप प्रतीति में ही बुद्धि को रोक कर (सच्चिदानद तत्व के ग्रहण मे लगा रह कर) फिर नाम और रूप (तदात्मक जगत्) मे बुद्धि को लगने दे ।

जैसे दीवार में लगे दर्पण में गृहद्वार के सामने बने सभामण्डप के प्रतिबिम्ब को देखकर पुरुष उसे सत्य समझता है, परन्तु 'यह दर्पण है'— इस भ्रान्ति अनुष्ठान का ज्ञान हो जाने पर, दर्पणनिष्ठ अविद्या की आवरण हेतु शक्ति के नाश से, प्रतिबिम्ब की सत्यता की बुद्धि नष्ट हो जाती है, फिर भी दर्पण और बिम्ब की सन्निधिरूप प्रतिबन्ध से बाधित हुयी विक्षेप हेतु शक्ति के होने से प्रतिबिम्ब को प्रतीति होती है। यहाँ मनुष्य, प्रतीयमान प्रतिबिम्ब का अनादर करके, दर्पण को समझता है, ऐसे ही प्रतीयमान नामरूप का अनादर करके सच्चिदानन्दमात्र मे ही बुद्धि को स्थिर करना चाहिये ।

एवं च निर्जगद्ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
अद्वैतानन्द एतस्मिन्विश्राम्यन्तु जनाश्चिरम् ॥

अन्वय—एव च निर्जगत् ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् । एतस्मिन् अद्वैतानन्दे जना. चिर विश्राम्यन्तु ।

अर्थ—ऐसा करने पर, निर्जगत् किया हुआ ब्रह्म सच्चिदा-स्वरूप हो जायगा—वही "अद्वैतानन्द" है । अर्थात् निष्प्रपञ्च ब्रह्म सच्चिदानन्द सिद्ध हो जाता है । इस अद्वैतानन्द में मुमुक्षु जन चिरकाल तक विश्राम करें ॥१०४॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयोऽध्याय ईरितः ।
अद्वैतानन्द एव स्याज्जगन्मिथ्यात्वचिन्तया ॥

अन्वय—ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयः अध्यायः ईरित. । जगन्मिथ्यात्वचिन्तया अद्वैतानन्द एव स्यात् ।

अर्थ—ब्रह्मानन्द नाम के ग्रन्थ में तृतीयाध्याय कहा जा चुका । जगत् के मिथ्यात्व की चिन्ता से मन की जो स्थिति हो जाती है, वही अद्वैतानन्द कहलाता है ॥१०५॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके तेरहवें प्रकरण, ब्रह्मानन्दग-अद्वैतानन्द की श्री पीताम्बरशर्मकृत तत्वप्रकाशिका व्याख्या समाप्त ।



ब्रह्मानन्दग-विद्यानन्द-प्रकरण-१४

भाषाकारकृत मङ्गलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पञ्चदश्या नृभाषया ।
+विद्यानन्दस्य सकुर्वे व्याख्या तत्वप्रकाशिनाम्।।

विद्यानन्द का स्वरूप और उसके आवान्तर भेद

योगेनात्मविवेकेन द्वैतमिथ्यात्वचिन्तया ।
ब्रह्मानन्दं पश्यतोऽथ विद्यानन्दो निरूप्यते ।।१

अन्वय—योगेन, आत्मविवेकेन, द्वैतमिथ्यात्वचिन्तया ब्रह्मानन्द पश्यत' अथ विद्यानन्द. निरूप्यते ।

अर्थ—योग, आत्मविवेक और द्वैत को मिथ्यापन के चिंतन से (क्रमश प्रकरण ११-१२-२३ मे) ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार कर चुके ज्ञानयोगी को मिलने वाले 'ज्ञानानन्द' का निरूपण करते हैं।

विद्यानन्द के स्वरूप का वर्णन करते हैं —

विषयानन्दवद्विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपकः ।
दुःखाभावादिरूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः ।।२

+ विद्या (अर्थात् तत्वज्ञान) से आविर्भूत होने वाले चतुर्विध आनन्द का प्रतिपादक प्रकरण ।

अन्वय–विषयानन्दवत् विद्यानन्दः धीवृत्तिरूपक. । दु खाभावादि-रूपेण एष चतुर्विध. प्रोक्त' ।

अर्थ—विषयानन्द की भान्ति विद्यानन्द भी एक वुद्धि वृत्ति ही है। दु·खाभाव आदि रूपो से यह चार प्रकार का है ॥२॥

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योऽहमित्यसौ ।
प्राप्तप्राप्योऽहमित्येव चातुर्विध्यमुदाहृतम् ॥३

अन्वय—दु खाभावः, च कामा ति., 'अहकृतकृत्य. इति, असौ 'अहं प्राप्तप्राप्य' इति एव चातुर्विध्यम् उदाहृतम् ।

अर्थ—(१) दु ख का अभाव, (२) सव भोगो की प्राप्तिरूप पूर्ण 'कामना, (३) मैं कृतकृत्य हूँ' इस प्रकार की 'कृतकृत्यता' और (४) 'मुझे तो पाना था—पालिया' इस प्रकार का भाव—ये चार प्रकार का 'विद्यानन्द' कहा है+॥३॥

+योगानन्द प्रकरण के ८७ वें श्लोक में आनन्द को तीन प्रकार का कहकर विद्यानन्द के वुद्धिवृत्तिरूप होने से, उसको विषयानन्द के अन्तर्गत माना है, तथापि विद्यानन्द को चतुर्थ विलक्षण आनन्द मानना ही उचित है। क्योकि अनेक जन्मो में विषयानन्द का सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का तथा मौन में वासनानन्द का अनुभव होता ही है । परन्तु विद्यानन्द का अनुभव तो पहले कभी नही किया। वह तो इनसे भिन्न ही है। निरावरण, परिपूर्ण, सवृत्तिक आनन्द को विलक्षणानन्द कहते हैं, वही विद्यानन्द है-विलक्षणानन्द के लक्षण की परीक्षा श्री सुन्दरविलास की रहस्यदीपिका में लिखी है–वहाँ देखें।

ऐहिकं चामुष्मिकं चेत्येवं दुःखं द्विधेरितम् ।
निवृत्तिमैंहिकस्याह बृहदारण्यक वचः ॥४

अन्वय —ऐहिक च आमुष्मिक च इति दु ख द्विधा ईरितम्, बृहदारण्यक वचः ऐहिकस्य निवृत्ति आह ।

अर्थ—निवर्त्तनीय दु ख दो प्रकार का होता है–इस लोक से सम्बद्ध, दूसरा, परलोक से सम्बद्ध । बृहदारण्यक मे (आगे उद्धृत) इस लोक के दु ख की निवृत्ति का वर्णन है ।

तृप्तिदीप में विस्तार से वणित वह बृहदारण्यक-वाक्य कहता है कि–

आत्मानं चेद्विजानीयादहमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥५

अर्थ—यदि कोई पुरुष आत्मा को जान जाय कि 'यह मैं हूँ' तो किस भोग्य वस्तु की चाहना से और किस भोक्ता के भोग के लिये, शरीर के पोछे इसके दु ख से दु खी होता फिरे ? ॥५॥

आत्मा में शोक सम्बन्ध दिखाने के लिए आत्मा के भेद व उसकी जीवापन्नता का निमित्त बताते हैं.–

जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः ।
चित्तादात्म्यात्त्रिभिर्देहैर्जीवः सन्भोक्तृतां व्रजेत् ॥

अन्वय—जीवात्मा च परमात्मा इति आत्मा द्विविध ईरित, त्रिभि. देहैः चित्+तादात्म्यात् जीव. सन् भोक्तृता व्रजेत् ।

अर्थ—जीवात्मा और परमात्मा के भेद से आत्मा दो प्रकार

का कहा जाता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन शरीरों के साथ आत्मा का चेतनता के साथ तादात्म्य होने से ही, अर्थात् शरीर में चेतनता का तादात्म्य भ्रम हो जाने पर ही, जीव बन कर वह आत्मा भोक्ता कहलाने लगता है ॥६॥

परमात्मा का लक्षण

परात्मा सच्चिदानन्दस्तादात्म्यं नामरूपयोः ।
गत्वा भोग्यत्वमापन्नस्तद्विवेके तु नोभयम् ॥७

अन्वय–परात्मा सच्चिदानन्दः, नामरूपयोः तादात्म्यं गत्वा भोग्यत्वं आपन्न, तद्विवेके तु उभयं न ।

अर्थ—परमात्मा सच्चिदानन्द रूप है, वह (नामरूप की कल्पना का अधिष्ठान होने से) नामरूप के साथ तादात्म्य को पाकर भोग्य बनता है : नामरूप की कल्पना का आधार होने से, भ्रान्ति से, नामरूपमय ही प्रतीत होता है और इस प्रकार भोग्य बन गया है। परन्तु वह वस्तुत. भोक्ता भी नही है, कारण कि, तीन प्रकार के शरीरो से आत्मा का भेद ज्ञान हो जाने पर तो भोक्तारूप जीव और भोग्यरूप ससार दोनो–ही नही रहते ॥७॥

भोग्यमिच्छन् भोक्तुरर्थे शरीरमनुसंज्वरेत् ।
ज्वरास्त्रिषु शरीरेषु स्थिता न त्वात्मनो ज्वराः ।

अन्वय–भोक्तुः अर्थे भोग्य इच्छन् शरीर अनुसज्वरेत् । ज्वरा त्रिषु शरीरेषु स्थिता., आत्मान. तु ज्वराः न ।

अर्थ—मनुष्य, भोक्ता के लिए भोग सामग्री (भोग्य पदार्थों)

को चाहकर हो शरीर के साथ (ज्वर) दुःख उठाता फिरता है।
ये दुःख तीनो शरीरो मे हैं–आत्मा को ज्वर नही व्यापते ॥८॥

तीनो शरीरो के तीन ज्वर

व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः ।
कामक्रोधादयः सूक्ष्मे द्वयोर्बीजं तु कारणे ॥९॥

अन्वय–धातुवैषम्ये व्याधय. स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः, कामक्रोधादयः सूक्ष्मे, द्वयो. बीज तु कारणे ।

अर्थ—वात पित-कफ धातुओं की विषमता होने पर जो रोग होते हैं वे स्थूल देहगत ज्वर कहलाते हैं। काम, क्रोध आदि सूक्ष्म देहगत ज्वर हैं। स्थूल एव सूक्ष्म-दोनो प्रकार के ज्वरो का बीज (सस्कार) ही, कारण-देह गत ज्वर कहलाता है ॥९॥

अद्वैतानन्दमार्गेण परात्मनि विवेचिते ।
अपश्यन्वास्तवं भोग्यं कि नामच्छेत्परात्मवित् ॥

अन्वय—अद्वैतानन्दमार्गेण परात्मनि विवेचिते भोग्य वास्तव अपश्यन् परमात्मवित् कि नाम इच्छेत् ।

अर्थ—'अद्वैतानन्द' (प्रकरण १३) में वर्णित रीति से, (माया के कार्यभूत नामरूप से सच्चिदानन्दस्वरूप, परमात्मतत्व को जगत् से पृथक् पहचान लेने पर, किसी वास्तविक भोग्य को न देखता हुआ, प्रपञ्चमात्र को मिथ्या जानता हुआ परमात्मा का ज्ञाता, भला किस भोग्य की कामना करे ? ॥१०॥

जीव मे भी ज्वर सम्बन्ध अवास्तविक है:–

आत्मानन्दोक्तरीत्यास्मिन् जीवात्मन्यवधारिते ।
भोक्ता नैवास्ति कोऽप्यत्र शरीरे तु ज्वरः कुतः?

अन्वय—आत्मानन्दोक्तरीत्या अस्मिन् जीवात्मनि आवधरिते अत्र शरीरे क. अपि भोक्ता न एव अस्ति, तु ज्वर: कुत: ?

अर्थ–'आत्मानन्द' (प्रकरण १२) में वर्णित रीति से जीवात्मा को असङ्ग-कूटस्थ चैतन्य निश्चय कर लेने पर, शरीर में कोई भी भोक्ता नही है : जव भोक्तृभाव ही नही है जो ज्वर (दु ख) ही क्यो कर पो ? ।।११।।

आत्मा में आमुष्मिक ज्वरो का भान नहीं होता ?

पुण्यपापद्वये चिन्ता दुःखमामुष्मिकं भवेत् ।
प्रथमाध्याय एवोक्तं चिन्ता नैनं तपेदिति ।।१२

अन्वय—पुण्यपापद्वये चिन्ता आमुष्मिक दु ख भवेत् । प्रथमाध्याये एव 'एन चिन्ता न तपेत्' इति उक्तम् ।

अर्थ पुण्य और पाप के सम्वन्ध में की गई चिन्ता को परलोक सम्वन्धी दु.ख कहते हैं, 'ब्रह्मानन्द प्रकरण के प्रथम अध्याय अथवा ११ वे प्रकरण में ही वताया जा चुका है कि ज्ञानी को पाप-पुण्य की चिन्ता नहीं सताती ।।१२।।

ज्ञानी को आरब्धकर्म की चिन्ता न हो, पर आगामी कर्म की-चिंता तो होगी ही ? कहते हैं.—

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपामश्लेषणं तथा ।
वेदनादूर्ध्वमागामिकर्मणोऽश्लेषणं बुधे ।।१३

अन्वय—यथा अस्मिन् पुस्कर पर्णे अपा अश्लेषणम्। तथा वेदनात् ऊर्ध्वं बुधे आगामिकर्मण. अश्लेषणम् ।

अर्थ–जैसे इस कमल के पत्ते पर पानी जमता नही है, इसी प्रकार आत्मज्ञान के पश्चात् ज्ञानी में आगामी कर्मो का सम्बन्ध नही होता : उसे आगामी कर्मो की चिन्ता नही होती । (देखो छा० ४–१४–३ 'तद्यथा पुष्करपर्णे ··· इत्यादि) ।।१३।।

उसको सचित कर्मों की चिन्ता भी नही होती:–

इषीकातृणतूलस्य वह्निदाहः क्षणाद्यथा ।
तथा संचितकर्मास्य दग्धं भवति वेदनात् ।।१४

अन्वय—यथा इषीकातृणतूलस्य क्षणात् वह्निदाहः तथा अस्य सञ्चितकर्म वेदनात् दग्ध भवति ।

अर्थ—'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोत' प्रदूयेतेव हास्य सर्वे-पाप्मान' प्रदूयन्ते । (छा० ५–२४–३) इत्यादि श्रुति मे कहा है कि जैसे कांस की रूई आग से एक क्षण मे जल कर भस्म हो जाती है, इसी प्रकार ज्ञानी के सचितकर्म, ज्ञान से तत्क्षण दग्ध हो जाते हैं ।

भगवद् वाक्य से पूर्वोक्त का समर्थन करते हैं:—

यथैधासि समिद्धोग्निर्भस्मसात् कुरुतेर्जुन !

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥

अन्वय—अर्जुन ! यथा समिद्धः अग्निः एधांसि भस्मात् कुरुते । तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते ।

अर्थ—गीता में कहा है–हे अर्जुन ! जैसे भलीभान्ति प्रदीप्त अग्नि ईंधन को राख बना देती है, इसी प्रकार (सुलगी हुई) ज्ञानाग्नि (क्रियामाण, आगामी एवं संचित) तीनो प्रकार के कर्मों +को भस्मीभूत कर देती है ॥१५॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

अर्थ—गीता मे आगे कहा है कि, जिस ज्ञानी की अहंकार-युक्त भावना नही रहती, जिस ज्ञानी की बुद्धि संसार में लिप्त नही रहती, वह यदि इन सब लोकों को मार भी दे तो भी वह मारने वाला नही होता* नां ही वह कर्म से बन्धन में ही आता है ॥१६॥

+ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् ज्ञानी को जो देहादि जगत् की प्रतीति होती है, वह अवतार शरीर के समान, अपने प्रारब्ध से नही, सज्जन एवं दुर्जनो के शुभाशुभ कर्मों से होती है । अतएव उनके कर्मों से निवृत्त होने पर ज्ञानी को देहादि की प्रतीति नही होगी । तब ज्ञानी दूसरो की दृष्टि मे विदेहमुक्त हो जाता है अपनी दृष्टि से तो वह ज्ञान के साथ ही साथ जीवन्मुक्त हो जाता है । इस पक्ष मे विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त मे कोई भेद नहीं है ।

कौषीतिकी श्रुति के 'न मातृवधेन न पितृवधेन' आदि वाक्य

मातापित्रोर्वधः स्तेयं भ्रूणहत्यान्यदीदृशम् ।
न मुक्ति नाशयेत्पापं मुखकान्तिर्न नश्यति ।।१७

अन्वयः—वध., स्तेय, भ्रूणहत्या-अन्यत् ईदृश पाप मुक्ति न नाशयेत्, मुखकान्ति. न नश्यति ।

अर्थ—कौषीतिकी उपनिषद् मे उक्त अर्थ का समर्थन करते हुए कहा है कि, माता-पिता का वध, चोरी, गर्भपात या अन्य ऐसा कोई पापकर्म ज्ञानी की मुक्ति का नाश नही कर सकता। ऐसे भयकर महापापो से भी ज्ञानी के मुख की कान्ति नष्ट नही होती ।।१७।।

कामाप्तिरूप विद्यानन्द का वर्णन करते हैं :—

दुःखाभाववदेवास्य सर्वकामाप्तिरीरिता ।
सर्वान्कामानसावाप्त्वा ह्यमृतोऽभवदित्यतः ।।१८

अन्वय—अस्य दु खभाववत् एव सर्वकामाप्ति ईरिता । 'असौ सर्वान् कामान् आप्त्वा हि अमृत अभवत्' इति अत. ।

अर्थ—जैसे श्रुति ने ज्ञानी के दु खाभाव का वर्णन किया है, वैसे ही, ज्ञानी को सब कामनाओ की भी प्राप्ति भी बताई है ।

---

*परमार्थिक दृष्टि से अकर्त्ता आत्मदर्शी हनन नही करता, अतएव इस क्रिया से वह बन्धन मे भी नही आता ।

क्योकि ऐतरेयश्रुति ने वताया है कि यह ज्ञानी सव कामनाओं को पाकर अमर हो जाता है।

जक्षन् क्रीडन् रतिं प्राप्तः स्त्रीभिर्यानैस्तथेतरैः।
शरीरं न स्मरेत्प्राणः कर्मणा जीवयेदमुम् ॥१६

अर्थ—'जक्षन्क्रीडन्रममाण. स्त्रीभिर्वा यानैर्वाज्ञानिभिर्वाज्ञानिभि.' आदि छान्दोग्य (८–१२–३) मे भी कहा है ज्ञानी मनुष्य खाता, खेलता, स्त्रियो से रमण करता, सवारियों पर वैठता व अन्य भोगो को भोगता हुआ भी शरीर को भूल रहता है। उस समय उसका प्राण ही प्रारब्ध कर्म के सहारे उसे जीवित रखता है ॥१६॥

ज्ञानी को एक साथ भोगो की प्राप्ति : अतएव जन्म की आवश्यकता नही :—

सर्वान्कामान्सहाप्नोति नान्यवज्जन्मकर्मभिः।
वर्तन्ते श्रोत्रिये भोगा युगपत्क्रमवर्जिताः ॥२०

अन्वय—'सर्वान् कामान् सह आप्नोति', श्रोत्रिये अन्यवत् जन्मकर्मभि' भोगाः न वर्तन्ते, युगपत् क्रमवर्जिताः।

अर्थ—तैत्तिरी श्रुति में भी कहा है कि ज्ञानी ससार की समग्र कामनाओ को एक साथ प्राप्त कर लेता है। उसमें, अन्य अज्ञानियो की भान्ति, जन्म और कर्मो के सहारे भोग नही होते, उसे तो सव भोग, बिना ही क्रम, एक साथ प्राप्त हो जाते हैं। २०॥

यहाँ तैत्तरीय और बृहदारण्यक के वाक्य का भावार्थ कहते हैं :—

युवा रूपो च विद्यावान्नीरोगो दृढ़चित्तवान् ।
सैन्योपेतः सर्वपृथ्वी वित्तपूर्णा प्रपालयन् ॥२१
सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नस्तृप्तभूमिपः ।
यमानन्दमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ॥२२

अर्थ—युवा, सुन्दर, विद्वान्, नीरोग, स्थिरचित्त, सेना वाले, धन धान्य से पूर्ण, पृथ्वी के पालक-किंबहुना—मनुष्यो को प्राप्त हो सकने वाले सब भोगो से तृप्त, सार्वभौम राजा को जो आनन्द प्राप्त हो सकता है उस आनन्द को भी ब्रह्मज्ञानी पा लेता है। क्योकि सब आनन्द, ज्ञानी को उपलब्ध ब्रह्मानन्द के अंश ही हैं ॥२१-२२॥

परन्तु श्रोत्रिय को तो, सार्वभौमराजा की भान्ति विषयो की प्राप्ति नही है, फिर दोनो का आनन्द एक समान कैसे है ?

मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा ।
भोगान्निष्कामतैकस्य परस्यापि विवेकतः ॥२३

अन्वय—द्वयो. मर्त्यभोगे कामः न अस्ति, अत तृप्तिः समा । एकस्य भोगात् निष्कामता, परस्य अपि विवेकत ।

अर्थ—मर्त्यभोग की इच्छा दोनो को ही नही रहती है। अतएव तृप्ति अर्थात् आनन्द की प्राप्ति दोनो में समान है। राजा को तो भोग से निष्कामता प्राप्त हुई है और श्रोत्रिय विवेक के प्रताप से निष्काम हुआ है ॥२३॥

'विवेक से' इस पद को स्पष्ट करते हैं :—

श्रोत्रियत्वाद्वेदशास्त्रैर्भोगदोषानवेक्षते ।
राजा बृहद्रथो दोषांस्तान्गाथाभिरुदाहरत् ॥२४

देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषाननेकशः ।
शुना वान्ते पायसे नो कामस्तद्वद्विवेकिनः ॥२५

अन्वय—श्रोत्रियत्वात् वेदशास्त्रैः भोगदोषान् अवेक्षते । बृहद्रथः राजा तान् दोषान् गाथाभिः उदाहरत् । देहदोषान्, चित्तदोषान् अनेकशः भोग्यदोषान्, शुना वान्ते पायसे कामः नो, तद्वत् विवेकिनः ।

अर्थ—श्रोत्रिय, श्रोत्रिय होने के कारण, वेदशास्त्रों के द्वारा भोगों में विद्यमान दोषों को देखता है । बृहद्रथराजा ने मैत्रायणीय शाखा में गाथाओं द्वारा विषयगत दोष कहे हैं । उसने वहाँ देह, चित्त और भोग के अनेक दोषों का वर्णन किया है । कुत्ते से वमन किये दूध के खाने का जैसे कोई विचार तक नहीं करता, ऐसे ही, विवेकी पुरुष को दोषयुक्त भोगों की कामना नहीं होती ॥२४–२५॥

निस्पृह विवेकी सब से ऊँचा है :—

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसंचये ।
दुःखमासीद्भाविनाशादितिभीरनुवर्तते ॥२६

नोभयं श्रोत्रियस्यातस्तदानन्दोऽधिको न्यतः ।
गन्धर्वानन्द आशास्ति रागो नास्ति विवेकिनः ॥

अन्वय—निष्कामत्वे समे अपि अत्र राज्ञः साधनसञ्चये दु.ख आसीत् इति भाविनाशात् भीः अनुवर्तते । श्रोत्रियस्य उभय न, अतः तदानन्द. अन्यतः अधिक. । राज्ञा गन्धर्वानन्दे आशा अस्ति । विवेकिन न अस्ति ।

अर्थ—श्रोत्रिय और राजा मे निष्कामता समान प्रतीत होती है, परन्तु राजा को साधनों को इकट्ठा करने में दु ख हो चुका होता है, और भविष्य मे नाश की आशका बनी रहती है। श्रोत्रिय को ये दोनो ही नही हैं न तो उसे साधनसञ्चय करने का दु ख उठाना पडना है, न भविष्य में साधनो के नष्ट होने की आशका होती है। इसलिए श्रोत्रिय का आनन्द सार्वभौम राजा के आनन्द मे अधिक है। पुनश्च राजा तो अपने आनन्द से अधिक गन्धर्वानन्द को पा लेने को आशा लगाये रहता है : श्रोत्रिय को ऐसी कोई आशा नही रखनी पड़ती . इसलिए भी वह सार्वभौम राजा से बढ़कर है ॥२६-२७॥

मर्त्यगन्धर्वं

अस्मिन्कल्पे मनुष्यः सन्पुण्यपाकविवेकतः ।
गन्धर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगन्धर्व उच्यते ।

अर्थ—जो इस कल्प मे मनुष्य हो और फिर जिसे किसी पुण्य के फल से गन्धर्वता मिल जाय, उसे 'मर्त्यगन्धर्व' कहते हैं ॥२८॥

देवगन्धर्व

पूर्वकल्पे कृतात्पुण्यात्कल्पादावेव चेद्भवेद् ।
गन्धर्वत्वं तादृशोऽत्रदेवगन्धर्व उच्यते ॥२६

अर्थ—पूवकल्प में किये पुण्य के भाव से जो कल्प के आरम्भ में ही गन्धर्व वन जाय, उसे 'देवगन्धर्व' कहते हैं ॥२६॥

चिरलोक वासी पितर देवो का भेद

अग्निष्वात्तादयो लोके पितरश्चिरवासिनः ।
कल्पादावेव देवत्वं गता आजानदेवताः ॥३०

अन्वय—लोके चिरवासिन. अग्निष्वात्तादयः । कल्पदौ एव देवत्वं गताः आजानदेवताः ।

अर्थ—अपने लोक मे देर तक रहने वाले 'अग्निष्वात्त' आदि 'पितर' हैं, जो कल्प के आरम्भ में ही देव वन गये वे 'आजानदेवता' कहे जाते हैं ॥३०॥

अस्मिन्कल्पेऽश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पदम् ।
अवाप्यजानदेवैर्याः पूज्यास्ताः कर्मदेवताः ।

अन्वय—अस्मिन् कल्पे अश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पद अवाप्य याः आजानदेवैः पूज्याः ताः कर्मदेवताः ।

अर्थ—इस कल्प में अश्वमेध आदि कर्म को करके जो महापद (ऐश्वर्युक्त स्थान) को पा जाते हैं और आजानदेवताओ के भी पूज्य वन जाते हैं, वे, कर्मदेवता कहाते हैं ॥३१ ।

यमाग्निमुख्या देवाः स्युर्ज्ञाताविन्द्रबृहस्पती ।
प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ।

अन्वय—यमाग्निमुख्याः देवाः स्युः, इन्द्रबृहस्पदी ज्ञातौ । प्रजापतिः विराट् प्रोक्त. ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ।

अर्थ—यम, अग्नि (वायु, सूर्य, चन्द्र और रुद्र) आदि प्रधान-देव मुख्यदेव हैं । (अथवा यम और अग्नि से लेकर ब्रह्म पर्यन्त देव मुख्यदेव कहलाते है । अथवा आठवसु, बारह आदित्य ग्यारह रुद्र ये ३१ मुख्यदेव हैं इनमे से ११ रुद्र और १२ आदित्य तो प्रसिद्ध ही हैं-अष्टवसुओ मे या तो धर, ध्रुव सोम, आप (विष्णु), वायु, अग्नि, प्रत्यूष और विभावसु—की गणना है अथवा द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वसु और विभावसु ये आठ गिने जाते हैं ।) इन्द्र बृहस्पति तो प्रसिद्ध ही हैं । प्रजापति को विराट् कहते हैं और ब्रह्मा सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) माना गया है ।

सार्वभौमादि सूत्रात्मा तक गिनाये गये सब ही, श्रोत्रिय से, न्यून हैं :-

सार्वभौमादिसूत्रान्ता उत्तरोत्तरकामिनः ।
अवाङ्मनसगम्योऽयमात्मानन्दस्ततः परः ॥

अन्वय—सार्वभौमादि सूत्रान्ता. उत्तरोत्तरकामिन. । अवाङ्मनस-गम्यः अयं आत्मानन्द. तत परम् ।

अर्थ—ऊपर गिनाये गये सार्वभौम राजा से लेकर सूत्रात्मा तक सब क्रमश अपने से बढे चढे उत्तरागामी आनन्द को चाहते

हैं : परन्तु मन और वाणी से अगम्य यह आत्मानन्द उन सबसे बढ़ा चढ़ा है ॥३३॥

श्रोत्रिय मे सब के आनन्द विद्यमान है, क्योंकि:—

तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियो यतः ।
निःस्पृहस्तेन सर्वेषामानन्दाः सन्ति तस्य ते ॥

अन्वय—तैः तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियः यतः निस्पृहः तेन सर्वेषां ते आनन्दाः तस्य सन्ति ।

अर्थ—उन-उन सार्वभौम राजा आदि से कमनीय सभी सुखों में, श्रोत्रिय को, कारण कि, कोई स्पृहा नही होती, इसलिये उन सब के वे आनन्द ज्ञानी के अनुभव गोचर हैं। सबको मिलकर जितना आनन्द मिलता है, अकेले श्रोत्रिय को, निष्पृह होने मात्र से, उतना आनन्द मिल जाता है ॥३४॥

सर्वकामाप्ति का दूसरा प्रकार

सर्वकामाप्तिरेषोक्ता यद्वा साक्षिचिदात्मना ।
स्वदेहवत्सर्वदेहेष्वपि भोगानवेक्षते ॥३५

अन्वय—एषा सर्वकामाप्तिः उक्ता । यद्वा स्वदेहवत् साक्षिचिदात्मना सर्वदेहेषु अपि भोगान् अवेक्षते ।

अर्थ—(१८वें श्लोक से लेकर यहां तक) सर्वकाम प्राप्ति का वर्णन किया। अब सर्वकाम प्राप्ति को दूसरे रूप में कहते हैं— अथवा मनुष्य जैसे अपने देह में आनन्दाकार बुद्धि का साक्षी

होकर राजा आदि सभी देहो मे भी भोगो को भोगता है। इस रीति से भी ज्ञानी को 'सर्वकामाप्ति' हो जाती है ॥३५॥

अज्ञानी को परमानन्द क्यो उपलब्ध नही ? बताते हैं :-

अज्ञस्याप्येतदस्त्येव न तु तृप्तिरबोधतः।
यो वेद सोऽश्नुते सर्वान्कामानित्यब्रवीच्छ्रुतिः॥

अन्वय—अज्ञस्य अपि एतत् अस्ति एव, अबोधत. तृप्ति तु न। 'यो वेद सः सर्वान् कामान् अश्नुते' इति श्रुति अब्रवीत्।

अर्थ—अज्ञानी को भी, सब का साक्षी होने से, 'सर्वकामाप्ति' निस्सन्देह होती है, परन्तु ज्ञान के न होने के कारण, उसकी तृप्ति नही होती। (मैं सब बद्धियो का साक्षी हूँ ऐसा ज्ञान न होने के कारण बेचारा तृप्ति से वचित रह जाता है।) "यो वेद निहित गुहाया परमे व्योमन् सोश्नुते सर्वान् कामान्" (तै०ब्र०१) इस तैत्तिरीय श्रुतिवाक्य में भी यही बताया है कि जो पञ्च-कोशरूपी गुहा में भी यही बताया है कि पञ्चकोशरूपी गुहा में स्थित इस तत्त्व को जानता है, उसी की सब कामनाये पूरी होती हैं ॥३६॥

सर्वकामप्राप्ति का तीसरा प्रकार

यद्वा सर्वात्मतां स्वस्य साम्ना गायति सर्वदा।
अहमन्नं तथाऽन्नादश्चेति साम ह्यधीयते॥

अन्वय—यद्वा स्वस्य सर्वात्मता साम्ना सर्वदा गायति। 'अह अन्न तथा च अन्नाद' इति साम हि अधीयते।

अर्थ—अथवा 'सर्वकामावाप्ति' का तीसरा प्रकार यह है कि ज्ञानी अपनी सर्वात्मकता (सर्वरूपता) को सामवेद के मन्त्रो द्वारा इस प्रकार गाया करता है–"मैं ही अन्न सर्वभोग्य) भी हू, अन्न को भोगने वाला (सर्वभोक्ता) भी हूँ। ("इमांल्लोकान्कामान्निकामरूप्यनुचरन्' इत्यादि वाक्य का अभिप्राय यहा वर्णित है।) ॥३७॥

दुःखाभावश्च कामाप्तिरुभे ह्येवं निरूपिते ।
कृतकृत्यत्वमन्यच्च प्राप्तप्राप्यत्वमीक्षताम् ॥३८

अन्वय—एव दुःखाभावः च कामाप्ति. उभे हि निरूपिते। च अन्यत् कृतकृत्यत्व प्राप्तप्राप्यत्व ईक्षताम् ।

अर्थ—इस प्रकार 'दुःखाभाव' और 'कामाप्ति' दोनों का ही निरूपण हो चुका। अब 'कृतकृत्यत्व' और 'प्राप्तप्राप्यत्व' को देखो कि इनका क्या अर्थ है ॥३८॥

उभयं तृप्तिदीपे हि सम्यगस्माभिरीरितम् ।
तएवात्रानुसंधेयाः श्लोका बुद्धिविशुद्धये ॥३९

अन्वय—हि उभय तृप्तिदीपे अस्माभिः सम्यक् ईरितम्। ते एव श्लोकाः बुद्धिविशुद्धये अत्र अनुसन्धेयाः ।

अर्थ—इस प्रकरण के दूसरे श्लोक में वर्णित विद्यानन्द के चार भेदो में से दो का तो यही वर्णन हो चुका। शेष दो, कृतकृत्यत्व और प्राप्तप्राप्यत्व का निरूपण 'तृप्तिदीप' प्रकरण में

हमने भली भान्ति कर दिया है। बुद्धि की शुद्धि के लिये उन्ही श्लोको का ध्यान यहाँ भी कर लेता चाहिये ॥३९॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यौ मुक्तेश्च सिद्धये ।
वहुकृत्यं पुराऽस्याभूत् तत्सर्वमधुना कृतम् ॥४०
तदेतत्कृत कृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
अनुसन्दधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥४१

अन्वय—अस्य पुरा ऐहिकामुष्कव्रातसिद्धयी च मुक्तेः सिद्धये बहु कृत्य अभूत। तत्सर्वं अधुना कृतम्। अथ तत् एतत् कृतकृत्यत्व प्रतियोगिपुरः सर अनुसन्दधत् एव, एष नित्यश तृप्यति।

अर्थ—इसको पहले, जब वह अज्ञानी था तब, इस लोक और परलोको के कामो को सिद्ध करने के लिये तथा मुक्ति की प्राप्ति के लिये बहुत कुछ करना होता था। परन्तु अब (आत्मज्ञान हो जाने पर सासारिक फल की इच्छा न रहने से), वह सब किया हुआ सा ही हो गया। ज्ञानी इस अपनी कृतकृत्या (कर्त्तव्यभाव) को, उसका विरोध करने वाली बातो मुझे ऐसा कर्त्तव्य था) के साथ-साथ स्मृति में ला-ला कर नीचे लिखे प्रकार से नित्य तृप्ति अनुभव किया करता है ॥४०—४१॥

दुःखिनोऽज्ञा संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥४२

अन्वय---दुःखिन. अज्ञाः काम पुत्राद्यपेक्षया संसरन्तु । परमानन्द-पूर्णः अहं किमिच्छया संसरामि ?

अर्थ—दुःखी अज्ञानी, पुत्र-स्त्री आदि की इच्छा से, सांसारिक व्यवहार मे भले ही लगे रहें, परमान्द रूपी मैं किस वस्तु की चाहना से व्यवहारो में फंसू ? ॥४२॥

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥

अन्वय-परलोकयियासवः कर्माणि अनुतिष्ठन्तु, सर्वलोकात्मकः कस्मात् किं कथं अनुतिष्ठामि ।

अर्थ—परलोक की कामना से, लोग, भले ही कर्मों का अनुष्ठान करते रहें परन्तु सर्वलोक स्वरूप मैं, अब क्यो, क्या, कैसे (कर्मानुष्ठान) करूं ? ॥४६॥

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥

अन्वय—ये अत्र अधिकारिण. ते शास्त्राणि व्याचक्षतां वा वेदान् अध्यापयन्तु । मे तु अक्रियत्वतः अधिकारः न ।

अर्थ—(आचार्य) इस काम के अधिकारी हैं वे चाहे तो शास्त्रो की व्याख्या करें या वेदो को पढावें । मैं तो अक्रिय हो चुका हूँ अर्थात् अपने अक्रिय स्वरूप को पहचान चुका हूँ। अतएव मेरा कोई अधिकार नही है ॥४४॥

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ।।

अन्वय—निद्राभिक्ष स्नानशोचे न इच्छामि च न करोमि । द्रष्टारः चेत् कल्पयन्ति ? अन्यकल्पनात् मे किं स्यात् ?

अर्थ—नीद, भिक्षा, स्नान तथा शौच इत्यादि क्रियाओं को मैं चिदात्मा न तो चाहता ही हूँ, न करता ही हूं (यह सब तो शरीर ही किया करता है), यदि दूसरे देखने वाले लोग इन सब क्रियाओ की मुझ में कल्पना करते हैं तो करें, दूसरो की मान्यता से मेरा क्या बने या बिगड़ेगा ? (देखो तृप्तिदीप श्लोक २५८) ।।४५।।

गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ।।४५

अन्वय—गु जापु जादि अन्यारोपित वह्निना न दह्येत । एव अन्यारोपितससारधर्मान् अह न भजे ।

अर्थ—जैसे गुंजाए आदि लाल वस्तुओ में, वानरादि अग्नितत्व की कल्पना कर लेते हैं तो भी इस कल्पित अग्नितत्व से दाह उत्पन्न नही होता, सचमुच ही अग्नि उत्पन्न नही होती। इसी प्रकार अन्य अज्ञ पुरुषो द्वारा आरोपित संसार धर्म मुझ मे नही लगते। (मनुष्य स्वय माने हुए ससार-बन्धन से ही बन्धता है।) ।।४६।।

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्हयेहम संशयः ॥४७

अन्वय.– अज्ञाततत्त्वाः ते शृण्वन्तु–अह जानन् कस्मात् शृणोमि ? सशयापन्नाः मन्यन्तां, अह असशय. न मन्ये ।

अर्थ—जिन्हे तत्व का परिज्ञान नही है, वे भले ही तत्व को श्रवण करें, वरना जव मै तत्व को भली भान्ति जानता हूँ तो फिर इसे श्रवण करूँ ? जिनको अभी तक तत्व के विषय में सन्देह है, वे भले ही तत्व का मनन करें, परन्तु संशय से रहित मैं, अब, इसका मनन क्यो करूँ ? ॥४७॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्ययात् ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥४८

अन्वय—विपर्यस्त. निदिध्यासेत् । अह देहात्मत्वविपर्यासं कदाचित् न भजामि । अविपर्ययात् किं ध्यानम् ?

अर्थ –विपरीत ज्ञानी भले ही निदिध्यासन करे, जव विपरीत ज्ञान ही नही है तो ध्यान की आवश्यकता ही क्यो ? मुझे तो देह को आत्मा मानने का विपरीत ज्ञान नही होता ॥४८॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोवकल्पते ॥४९॥

अन्वय–अह मनुष्यः इत्यादि व्यवहारः अमुं विपर्यासं विना अपि चिराभ्यस्तवासनात. अवकल्पते ।

अर्थ—यदि मैं अपने आप को मनुष्य मान कर व्यवहार करता हूँ तो, यह व्यवहार तो, उपरोक्त विपरीत ज्ञान के बिना भी अनादि काल से मन मे बसी वासना के प्रभाव से होता रहता है। (इस व्यवहार का यह अर्थ नही है कि मैं अपने आप को मनुष्य मान रहा हूँ।) ॥४९॥

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥५०

अन्वय—प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहार. निवर्तते। कर्माक्षये तु असौ ध्यानसहस्रत न एव शाम्येत्।

अर्थ—प्रारब्ध कर्मों के क्षीण हो जाने पर व्यवहार स्वयं बन्द हो जावेगे। कर्मों के क्षीण हुए बिना तो, हजारो ध्यानो के करने पर भी व्यवहार शान्त नही होता। (देखो तृप्तिदीप श्लोक २६३)।

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥

अन्वय—व्यवहृते विरलत्व इष्ट चेत् ते ध्यान अस्तु। अहं व्यवहृतिं अबाधिका पश्यन् कुत. ध्यायामि ?

अर्थ यदि तुम व्यवहार को कम करना चाहो तो ध्यान लगा लो, परन्तु जब व्यवहार को मैं अवाधक देखता हूँ तो मुझे ध्यान करने की क्या आवश्यकता है ॥५१॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥

अन्वय—यस्मात् मे विक्षेप: न अस्ति, तत समाधि. न । विक्षेप: वा समाधि: वा विकारिण. मनस. स्यात् ।

अर्थ—क्योकि मुझे कोई विक्षेप नही होता इसीलिये मुझे समाधि भी नही होती ! विक्षेप अथवा समाधि दोनो विकारी मन को होते हैं ॥५२॥

नित्यानुभवरूपस्य मे को वाऽनुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥५३

अन्वय—नित्यानुभवरूपस्य मे क. वा अनुभव· पृथक् । 'कृत्य कृत प्रापणीयं प्राप्तम्' इति एव निश्चय. ।

अर्थ—मैं नित्यानुभवरूप हूँ जव, तव मुझ से पृथक् मेरा अनुभव क्या होगा ? मुझे अव निश्चय हो गया कि जो कुछ करना था सो कर डाला और जो प्राप्त करना था सो पा लिया ॥५३॥

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥५४

अन्वय—अकर्तु अलेपस्य मम लौकिक. वा अन्यथा अपि वा व्यवहार. यथारब्ध प्रवर्तताम् ।

अर्थ—मुझ अकर्ता तथा अलेप का लौकिक, शास्त्रीय अथवा

और जिस किसी प्रकार का भी व्यवहार है वह, मेरे प्रारब्ध के अनुमार चलता रहे ॥५४॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ?

अन्वय—अथवा अहं कृतकृत्य. अपि लोकानुग्रहकाम्यया शास्त्रीयेण मार्गेण एव वर्ते, मम का क्षतिः ? ।

अर्थ—अथवा मैं कृतकृत्य हुआ भी, लोक पर अनुग्रह करने की इच्छा से (उनके सन्मुख आदर्श रखने के लिए) शास्त्रीय मार्ग से ही आचरण करता रहूँ—इसमे भी मेरी क्या हानि है ? ॥५५॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायपुस्तकम् ॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥५७

अन्वय—देवार्चन-स्नान-शौच-भिक्षादौ वपु. वर्तताम् । वाक् तार जपतु, तद्वत् आम्नाय पुस्तक पठतु । धी. विष्णु ध्यायतु । यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयता साक्षी अहं किंचित् अपि न कुर्वे न अपि कारये ।

अर्थ—देवपूजा, भिक्षा आदि में शरीर लगा रहे । वाणी उच्चस्वर से ओंकार का जाप करे या वेदान्तों का पाठ करती रहे । यह बुद्धि विष्णु का ध्यान करे या ब्रह्मानन्द में विलीन हो

जाय। परन्तु मैं स्वयं कुछ करता या करवाता नही, केवल साक्षी हूँ ॥५६-५७॥

कृतकृत्यता की अवस्था में ज्ञानी की विचार धारा का संक्षिप्त सिंहावलोकन

श्लोक ४० से ५७ तक ज्ञानी की कृतत्यकृता का वर्णन किया गया है। अर्थात् ज्ञानी को अज्ञानदशा में जो कुछ कर्त्तव्य था, ज्ञान की दशा मे कर्त्तव्य नही है। और इस विकार से वह तृप्त रहता है। ज्ञानी को यह लोक, परलोक अथवा लोकानुग्रह के लिए भी कुछ कर्त्तव्य नही है। भले ही दूसरे लोग ज्ञानी में निद्रा-भिक्षा आदि की कल्पना करले, वह उन्हे नही करता। वन्दर गुंजा को आग समझे तो, समझे, वह जलन थोड़े ही उत्पन्न कर सकती है ? श्रवण मनन, निदिध्यासन भी करने की आवश्यकता नही क्योंकि विपरीत ज्ञान ही नही है। वासनावश भले ही मैं अपने को मनुष्य मान कर व्यवहार करता रहूँ। जब तक प्रारब्ध है तब तक व्यवहार चलेगा ही, ध्यान करने से भी वह हट नही सकता। व्यवहार मेरे लिये बाधक ही नहीं है तो उसे हटाने के लिए मुझे ध्यान की क्या आवश्यकता है ? विक्षेप और समाधि तो विकारी मन के लिये ही विहित हैं। परन्तु कृतकृत्य होकर भी लोकानुग्रह की इच्छा से मैं शास्त्रीय व्यवहार करता रहूँ तो इसमें मेरी कोई हानि नहीं है। मेरे शरीर–वाणी–बुद्धि कही भी लगे रहे–मैं तो केवल साक्षी हूँ—कुछ करता कराता नही हूँ।

प्राप्त प्राप्यता की अवस्था मे ज्ञानी की विचार धारा

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥५८

अन्वय—असौ कृतकृत्यतया तृप्तः पुनः प्राप्तप्राप्यतया तृप्यन् स्वमनसा निरन्तर एव मन्यते ।

अर्थ—यह साधक पहले कृतकृत्यता से तृप्त और फिर प्राप्त प्राप्यता से और अधिक तृप्त हुआ मन ही मन निम्नलिखित विचार किया करता है ॥५८॥

धन्योहं धन्योहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ।
धन्योहं धन्योहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥

अर्थ—मैं धन्य हूँ। क्योकि मैं अपने नित्य आत्मा को साक्षात् जानता हूँ। मैं धन्य हूं क्योकि मुझे ब्रह्मानन्द स्पष्ट दीखने लगा। इस प्रकार ज्ञानी ज्ञान और उसके आनन्द की प्राप्ति से तृप्त हो कहता है ॥५६॥

धन्योहं धन्योहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योहं धन्योहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥

अर्थ—अनर्थ की निवृत्ति से तृप्त हो ज्ञानी कहता है कि मैं धन्य हूँ—आज मुझे कोई सांसारिक दु ख नही है। मैं कृतार्थ हूँ क्योकि मेरा अज्ञान न जाने कहाँ भाग गया है ॥६०॥

धन्योहं धन्योहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ।
धन्योहं धन्योहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥६१

कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्यता से सन्तुष्ट होकर ज्ञानी कहता है कि मुझे अब कुछ भी कर्त्तव्य नही है अतएव मैं धन्य हूँ। मुझे प्राप्त होने योग्य सब प्राप्त हो गया अतएव मैं धन्य हूँ ॥६१॥

धन्योहं धन्योहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योहं धन्यो धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥

अर्थ—तृप्ति को स्मरण कर ज्ञानी कह उठता है-"मैं धन्य हूँ" लोक में मेरी तृप्ति के समान कौन सी तृप्ति होगी। मैं धन्य हूँ--वार-वार धन्य हूँ ॥६२॥

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥६३

अर्थ—फलप्रद पुण्य और उसके सम्पादक आत्मा के स्मरण से तृप्त हो ज्ञानी कहता है–आज मेरे कोटि-कोटि जन्मो के पुण्यो के ढेर ने फलरूप धारण किया है। इस पुण्य सम्पत्ति के कारण कृतकृत्य हुआ मैं धन्य हूँ ॥६३॥

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥६४

अर्थ.—शास्त्र, गुरु, ज्ञान और सुख का स्मरण करता हुआ

ज्ञानी हर्ष प्रकट करता है–वेदान्तशास्त्र, ब्रह्मनिष्ठ गुरु, ब्रह्मविद्यानन्द सुख इन सबका धन्यवाद है जिनके कारण आज मुझे यह अवस्था प्राप्त हुई ।।६४।।

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे चतुर्थोऽध्याय ईरितः ।
विद्यानन्दस्तदुत्पत्तिपर्यन्तोभ्यास इष्यताम् ।।६५

अर्थ – ब्रह्मानन्दनामक ग्रन्थ में विद्यानन्द नाम का चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ । जब तक इस प्रकार का विद्यानन्द उत्पन्न नही हो जाता तब तक ब्रह्मवादियो को श्रवणादि का अभ्यास करना इष्ट है । विद्यानन्द का उद्भव ही ब्रह्माभ्यास की पूर्णता का चिह्न है ।।६५।।

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके चौदहवें प्रकरण, ब्रह्मानन्दग-विद्यानन्द की श्री पीताम्बरशर्माकृत तत्वप्रकाशिका व्याख्या समाप्त ।



ब्रह्मानन्दगत-विषयानन्द-प्रकरण—१५

भाषाकारकृत मङ्गलाचरणम्

श्रीमत्सर्वगुरून् नत्वा पञ्चदश्या नृभाषया ।
+विषयानन्दस्य सकुर्वे व्याख्या तत्त्वप्रकाशिकाम्॥

अथात्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक् ।
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥१

अन्वय—अथ अत्र ब्रह्मानन्दाशरूपभाक् विषयानदः निरूप्यते । द्वारभूत., तदशत्व श्रुति. जगौ ।

अर्थ—अव इस प्रकरण मे ब्रह्मानन्द के अंशभूत विषयानन्द का निरूपण करते हैं। वह, यद्यपि लौकिक प्रसिद्ध है तथापि ब्रह्मानन्द का एक देश होने से, ब्रह्मानन्द के ज्ञान का द्वार अर्थात् साधन है। (जैसे दर्पण में प्रतीयमान मुख का प्रतिविम्व, विद्यमान मुखविम्व को यथायोग्य जानने का साधन होता है, वैसे ही वृत्तियों में प्रतीयमान ब्रह्मानन्द का प्रतिविम्वभूत विषयानन्द,

---

+विषयलाभादि से अन्तर्मुख हुई वृत्तियो में पडा हुआ विम्बरूप ब्रह्मानन्द का प्रतिविम्व विषयानन्द कहलाता है। इसी को लेशानन्द और ब्रह्मानन्द का अश भी कहते हैं। इस विषयानन्द का ही इस प्रकरण में प्रधानतया प्रतिपादन किया गया है।

विद्यमान ब्रह्मानन्द को यथा योग्य सच्चिदानन्द रूप में जानने का साधन है। इसीलिये (इसका यहा निरूपण किया गया है।) आनन्द को ब्रह्मानन्द का अश श्रुति ने बताया है ॥१॥

एषोऽस्य परमानन्दो योखण्डैकरसात्मकः ।
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते ॥२

अन्वय--य अखण्डैकरसात्मक एष अस्य परमानन्द., अन्यानि भूतानि एतस्य मात्रा एव उपभुंजते ।

अर्थ—श्रुति ने कहा है जो अखण्ड एकरस आनन्द है वही उस ब्रह्म का स्वरूपभूत परमानन्द है। ये सम्पूर्ण भूत इसी परमानन्द की छोटी सी मात्रा को भोगते हैं ॥२॥

'विषयानन्द ब्रह्मानन्द का लेश है' यह समझाने के लिये विषयानन्द की उपाधिभूत अन्त.करण की वृत्तियो का विभागश. वर्णन करते हैं .—

शान्ता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तय स्त्रिधा ।
वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः शा तवृत्तयः ॥३
तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तयः ।
संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तायः ॥४

अर्थ—शान्त, घोर तथा मूढ—मन की ये तीन प्रकार की वृत्तियाँ हैं। इनमे वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि 'शान्त' वृत्तियां

है। तृष्णा, स्नेह राग तथा लोभ आदि, 'घोर' वृत्तियां है और समोह भय आदि 'मूढ' वृत्तियाँ हैं ॥३-४॥

सभी वृत्तियों मे ब्रह्म की चिद्रूपता का, तथा शान्तवृत्तियो में आनन्द का भी भान होता है :—

वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता ।
प्रतिबिम्बति शान्तासु सुखं च प्रतिबिम्बति ॥५

अन्वय—एतासु सर्वासु वृत्तिषु ब्रह्मण. चित्स्वभावता प्रतिविम्वति । शांतासु सुख च प्रतिविम्वति ।

अर्थ—ऊपर कही हुयी इन सव वृत्तियो मे ब्रह्म का चित्स्वभाव तो सव में तिविम्वित हो रहा है। हां, शान्त वृत्तियो मे चेतनता के साथ-साथ सुख (आनन्द) भी प्रतिविम्वत होता है।

उपरोक्त में श्रुति एव सूत्र का प्रमाण :—

रूपं रूपं बभूवासौ प्रतिरूप इति श्रुतिः ।
उपमा सूर्यकेत्यादि सूत्रयामास सूत्रकृत् ॥६

अन्वय—'असौ रूप रूप प्रतिरूपः वभूव' इति श्रुति. । 'उपमा-सूर्यक' इत्यादि सूत्रकृत् सूत्रयामास ।

अर्थ—श्रुति में कहा है कि 'यह आत्मा सृष्टि के प्रत्येक रूप (देह देह) के लिये प्रतिविम्व रूप हो गया है।' तथा 'अतएव चोपमा सर्वकादिवत् (ब्रह्मसूत्र ३–२–१८) इस सूत्र को इसी

अभिप्राय से व्यास ने बनाया है-इसमें कहा है कि जैसे यह सूर्य स्वय एक है परन्तु जलपात्रो के भेद से, भेदयुक्त जलो के अनुसार अनेक हो जाता है, इसी प्रकार स्वयप्रकाश आत्मा एक ही है परन्तु मायारूपी उपाधि से शरीरो के अनुसार भिन्न सा हो जाता है।

उपाधि के सम्पर्क से एक ही ब्रह्म के नाना होने मे श्रुति का प्रमाण।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥७

अर्थ—श्रुति कहती है कि एक भूतात्मा भूत-भूत मे व्यवस्थित है। वह तालाव और घटो के जल मे प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की भाँति ईश्वर रूप से तो एक और जीव रूप से अनेक दीखता है ॥७॥

निरवयव ब्रह्म कही चिन्मात्र रूप मे और कही चैतन्य एव आनन्द दोनो रूपो में प्रतीत हो, यह कैसे सम्भव है? इसको दृष्टान्त से समझाते हैं :—

जले प्रविष्टश्चन्द्रोऽयमस्पष्टः कलुषे जले।
विस्पष्टो निर्मल तद्वद्द्वेधा ब्रह्मापि वृत्तिषु ॥८

अन्वय—जले प्रविष्ट अय चद्र कलुषे जल अस्पष्ट, निर्मले विस्पष्ट, तद्वत् ब्रह्म अपि वृत्तिषु द्वेधा।

अर्थ—मैले जल मे तो चन्द्रमा अस्पष्ट दीखता है और निर्मल जल मे स्पष्ट दीखता है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म भी शुद्ध एव अशुद्ध वृत्तियो में दो प्रकार का हो जाता है ॥८॥

घोरमूढासु मालिन्यात् सुखांशश्च तिरोहितः।
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिम्बनम् ॥९॥

अर्थ—घोर और मूढ वृत्तियो में मलिनता के कारण ब्रह्म का सुखभाग छिपा रहता है और क्योकि इनमें थोड़ी सी निर्मलता होती है इसलिये केवल चिदश प्रतिबिम्बित हुआ रहता है ॥९॥

पर चन्द्रोपाधि जल तो है ही दो प्रकार का, और यहा अन्तः-करणोपाधि तो एक ही है, फिर दो प्रकार का प्रतिबिम्ब क्यो? इसके उत्तर मे दूसरा दृष्टान्त देकर समझाते हैं :—

यद्वापि निर्मले नीरे वह्नेरौष्ण्यस्यसंक्रमः।
न प्रकाशस्य तद्वत्स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च ॥

अन्वय–यद्वा निर्मले नीरे अपि वह्नेः औष्ण्यस्य संक्रमः, प्रकाशस्य न। तद्वत् चिन्मात्रोतभूतिः एव च स्यात्।

अर्थ—अथवा निर्मल जल में भी अग्नि की गर्मी की पहुँच तो हो जाती है परन्तु प्रकाश नही पहुँच पाता, ऐसे ही घोर और मूढ वृत्तियो में केवल चिदश का सक्रमण होता है, सुखांश का नही ॥१०॥

शान्त वृत्तियो मे चैतन्य और आनन्द की प्रतीति कैसे होती है ?

काष्ठे त्वौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा ।
शान्तासु सुखचैतन्ये तथैवाद्भूतिमाप्नुतः ॥

अन्वय—यथा काष्ठे तु औष्ण्यप्रकाशौ द्वौ उद्भव गच्छतः । तथा एव शान्तासु सुखचैतन्ये उद्भूति आप्नुतः ॥

अर्थ—जैसे लकडी मे उष्णता और प्रकाश दोनो उद्भूत हो जाते हैं, इसी प्रकार शान्तवृत्तियो मे सुख और चैतन्य दोनो उद्-भूत हो जाते हैं ॥११॥

पर यह व्यवस्था क्यो की गई है ?

वस्तुस्वभावमाश्रित्य व्यवस्थातुभयोः समा ।
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम् ॥

अन्वय—वस्तुस्वभाव आश्रित्य तु उभयो. व्यवस्था समा । अनु-भूत्यनुसारेण नियामक कल्पते हि ।

अर्थ—वस्तु के स्वभाव के अनुसार व्यवस्था मानना दोनों-दृष्टान्त और दार्ष्टान्त-मे समान है । क्योकि अनुभव के अनुसार ही नियामक की कल्पना की जाती है ॥१२॥

वृत्तिविषयक सार्वजनिक अनुभव का वर्णन करते हैं :—

न घोरासु न मूढासु सुखानुभव ईक्ष्यते ।
शान्तास्वपि क्वचित्कश्चित्सुखातिशय ईक्ष्यताम् ॥

अर्थ—घोर और मूढ वृत्तियों मे तो सुखानुभव होता ही नही शान्त वृत्तियो मे जो सुखानुभव है वह कही अतिशय (अधिक) होता है ॥१३॥

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत्तदा ।
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात्तत्र नो सुखम् ॥
सिध्येन्न वेत्यस्ति दुःखमसिद्धौ तद्विवर्धते ।
प्रतिबन्धे भवेत्क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः ॥१५

अन्वय—गृह-क्षेत्रादि विषये यदा कामः भवेत् तदा राजस्य अस्य कामस्य घोरत्वात् तत्र सुख नो ॥ १४ ॥ सिद्धयेत वा न इति दुख अस्ति । असिद्धौ तत् विवर्धते । प्रतिबन्धे क्रोधः भवेत् ।

अर्थ—घर या खेत आदि की कामना जब किसी को होती है तब उस राजस कामना के घोर होने के कारण, उसे सुख नही हो सकता । जब उसे यह विचार होता है कि काम सिद्ध होगा या नही, तब उसे दुख होता है । सुख के सिद्ध न होने पर वह दुख बढता है, सुख में रुकावट पड़ने पर क्रोध होता है और प्रतिकूल दुख होने से द्वेष होता है ॥१४–१५॥

सुख प्रतिबन्धक के निवारणाशक्य होने से तामस विषाद की उत्पत्ति और इसी कारण सुखाभाव होता है :—

अशक्यश्चेत्प्रतीकारो विषादः स्यात्स तामसः ।

क्रोधादिषु महद्दुःखं सुखशङ्कापि दूरतः ॥१६

अन्वय—प्रतीकारः चेत् अशक्य विषादः स्यात्। स। तामसः। क्रोधादिषु महत् दु.खं सुखशङ्का अपि दूरत.।

अर्थ—यदि उसका प्रतीकार करना अशक्य हो तो विषाद होता है, वह तामस है : अतएव उसमे सुख नहीं होता। क्रोधादियों में तो स्पष्ट ही महान् दु.ख है-वहा सुख की सम्भावना तक नही होती॥।६॥

शान्तवृत्तियो मे सुख की तारतम्यता

काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शान्ता तत्र महत्सुखम्।
भोगे महत्तरं लाभप्रसक्तावीषदेव हि ॥१७
महत्तमं विरक्तौ तु विद्यानन्दे तदीरितम्।
एवं क्षान्त' तथौदार्ये क्रोधलोभनिवारथात् ॥१८

अर्थ—जब किसी को उसका चाहा पदार्थ मिल जाता है तब जो शात हर्ष वृत्ति उत्पन्न होती है उसमें वडा सुख मिलता है। काम्य पदार्थ के भोग में उससे अधिक सुख होता है लाभ की आशा में थोडा सुख होता है। इच्छा के अभाव रूप वैराग्य में अधिक से अधिक अर्थात् निरतिशय सुख होता है, यह वात विद्यानन्द प्रकरण मे कह आये हैं। इसी प्रकार क्षमा तथा उदारता में क्रमश क्रोध और लोभ के निवारण से भारी सुख होता

है ॥१७–१८॥

यद्यत्सुखं भवेत्तत्तद्ब्रह्मैव निर्विघ्नं प्रतिम्बनात् ।
वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिविम्बनम् ॥

अन्वय—यत् यत् सुख तत् ब्रह्म एव प्रतिबिम्बनात् । भवेत् अन्तर्मुखासु वृत्तिषु अस्य निर्-िघ्न प्रतिविम्बनम् ।

अर्थ—जहां कही जो सुख होता है, वह सब ब्रह्म का प्रतिविम्ब होने के कारण ब्रह्म तत्व ही है अर्थात् ब्रह्मानन्द का एक अश ही है । जब वृत्तियां अन्तर्मुख हो जाती हैं तब उनमे यह ब्रह्म निर्विघ्न प्रतिविम्बित हो जाता है ॥१९॥

सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपानुभूति कराने के लिये ब्रह्मस्वरूप को दुहराते हैं –

सत्ता चितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः ।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्द्वयम् ॥२०

अर्थ सत्ता, चैतन्य और आनन्द—ये तीन ब्रह्म के स्वभाव हैं । मिट्टी और पत्थर आदि में तो ब्रह्म की सत्ता ही व्यक्त होती हैं, शेष दो स्वभाव व्यक्त नही होते ॥२०॥

मिश्र (सप्रपञ्च) ब्रह्म का निरूपण

सत्ता चितिर्द्वयं व्यक्तं धीवृत्त्योर्घोरमूढयोः ।
शान्तवृत्तौ त्रय मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितम् ॥२१

अर्थ—घोर और मूढवृत्तियो में ब्रह्म के दो ही स्वभाव, सत्ता और चैतन्य, व्यक्त होते हैं। शान्त वृत्तियो मे तीनो स्वभाव व्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार यह मिश्र अर्थात् वृत्ति आदि प्रपच सहित, ब्रह्म का कथन किया गया है ॥२१॥

अमिश्र ब्रह्म के ज्ञान के हेतुभूत, ज्ञान एव योग का वर्णन

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां तौ च पूर्वमुदीरितौ।
आद्येऽध्याये योगचिन्ता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः ॥

अर्थ—अमिश्र ब्रह्म ज्ञान और योग से जाना जाता है और उनका वर्णन पहले कर आये हैं। ब्रह्मानन्द प्रकरण के योग अध्याय योगानन्द (अर्थात् पचदशी के ११ वें प्रकरण) मे प्रथम का वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् दो अध्यायो में ज्ञान का वर्णन किया गया है ॥२२।

माया का स्वरूप तथा वृत्तियो मे ब्रह्म के माया होने का कारण

असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपं त्रयं त्विदम्।
असत्ता नरशृङ्गादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु ॥२३
घोरमूढधियोर्दुःखमेवं माया विजृम्भिता।
शान्तादिबुद्धिवृत्त्यैक्यान्मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम्।

अन्वय—असत्ता जाड्यदुःखे द्वे इदं त्रयं तु मायारूपम्। नर-शृङ्गादौ असत्ता, काष्ठशिलादिषु जाड्यम् ॥ २३ ॥ घोरमूढधियोः

दुःखम्, एवं माया विजृम्भिता। शान्तादिबुद्धिवृत्त्यैक्य म् 'मिश्रं ब्रह्म' इति कीर्तितम्।

अर्थ—असत्ता, जडता और दुःख ये तीन माया के रूप हैं। नरशृङ्ग आदि असत् पदार्थों मे तो असत्ता है, काष्ठ शिला आदि में जडता है घोर और मूढ वृत्तियो में दुःख। इस प्रकार ससार में सर्वत्र माया प्रतिभासित हो रही। शान्तादि वृत्तियों में ब्रह्म के प्रपंच सहित होने का कारण उसका शान्त आदि बुद्धि वृत्तियो के साथ अभेद है। इसीलिये उसे मिश्र ब्रह्म कहा है ॥२३–२४॥

एवं स्थितेऽत्र यो ब्रह्म ध्यातुमिच्छेत् पुमानसौ।
नभृङ्गादिमुपेक्षेत शिष्टं ध्यायेद्यथायथम् ॥२५

अर्थ—जब यह स्थिति है तो जो पुरुष ब्रह्मतत्व का ध्यान करना चाहता है, वह पहले तो नृशृङ्ग आदि मिथ्या पदार्थों की उपेक्षा करे, फिर शेष रहे अमिश्र ब्रह्मतत्व का यथोचित रीति से ध्यान करे ॥२५॥

कहाँ और कैसे ध्यान करें ?

शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वा सन्मात्रचिन्तनम्।
त्यक्त्वा दुःखं घोरमूढधियोः सच्चिद्द्विचिन्तनम्।
शान्तासु सच्चिदानन्दास्त्रीनप्येवं विचिन्तयेत्।
कनिष्ठमध्यमोत्कृष्टास्तिस्रश्चिन्ताः क्रमादिमाः ॥

अर्थ--शिला आदि में, नाम और रूप दोनो को छोड़कर सन्मात्र का चिन्तन करे। घोर और मूढ वृत्तियो मे दु खभाग को छोडकर ब्रह्म के सत्-चित् रूपो का चिन्तन करे। इसी प्रकार शान्त वृत्तियो मे ब्रह्म के सत्-चित् और आनन्द इन तीनो रूपो का ध्यान करे। यह तीनो चिन्ताये क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम और उत्कृष्ट चिन्तायें कहलाती हैं अर्थात् ये तीनो चिन्ताये एक समान नही हैं ॥२६-२७॥

जो निर्गुण ब्रह्म के ध्यान का अधिकारी नही है, यह मिश्र ब्रह्म के ध्यान का वर्णन उसी के लिये है .—

मन्दस्य व्यवहारेऽपि मिश्रब्रह्मणि चिन्तनम् ।
उत्कृष्टं वक्तुमेवात्र विषयानन्द ईरितः ॥२८

अन्वय—मन्दस्य व्यवहारे अपि मिश्रब्रह्मणि चिन्तन उत्कृष्ट वक्तुम् एव अत्र विषयानन्द. ईरित ।

अर्थ—मन्दमति पुरुष के लिगे व्यवहार काल मे भी, मिश्र ब्रह्म के चिन्तन को श्रेष्ठ वताने के लिये इस ग्रन्थ मे विषयानन्द का वर्णन किया गया है। (जो मन्दमति, वृत्ति आदि जगत् को छोड़ कर शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म का ध्यान नही कर सकता वह वृत्ति आदि प्रपंचरूप व्यवहार मे सच्चिदानन्द का धीरे-धीरे ध्यान करता-करता अभ्यास द्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्म को

जान सकता है। इसलिये यहां विषयानन्द का वर्णन किया गया है।) ॥२८॥

आवृत्तिक ध्यान का वर्णन

औदासीन्ये तु धीवृत्तेः शैथिल्यादुत्तमोत्तमम् ।
चिन्तनं वासनानन्दे ध्यानमुक्तं चतुर्विधम् ॥२९

अर्थ—उदासीन अवस्था मे, धीवृत्ति के शिथिल हो जाने के कारण, वासनानन्द में जो ध्यान (विना वृत्ति का) है वह तीनों ध्यान में सर्वोत्तम है। इस प्रकार का ध्यान चार प्रकार का है।

यह अवृत्तिक ध्यान, ध्यान का अवान्तर भेद नहीं है, क्योंकि :–

न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविद्यैव सा खलु ।
ध्यानेनैकाग्र्यमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरीभवेत् ॥

अन्वय—ज्ञानयोगाभ्यां ध्यान न, सा खलु ब्रह्मविद्या एव। ध्यानेन ऐकाग्र्य आपन्ने चित्ते विद्या स्थिरीभवेत्।

अर्थ—ज्ञान और योग के द्वारा जो ध्यान बताया है, वह ध्यान नही, वह तो ब्रह्मविद्या ही है। ध्यान करते-करते चित्त के एकाग्र हो जाने पर यह ब्रह्मविद्या स्थिर हो जाती है ॥३०॥

विद्यायां सच्चिदानन्दा अखण्डैकरसात्मताम् ।
प्राप्य भान्ति न भेदेन भेदकोपाधिवर्जनात् ॥

अर्थ—ज्ञान मे ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द रूप तीनों स्वभाव अखण्ड एकरस रूप ही दीखने लगते हैं, तीनो पृथक्-

पृथक् नही दीखते, क्योंकि भेदक उपाधिया हट चुकी होती हैं। इसलिये यह ध्यान ब्रह्मविद्या ही है ॥३१॥

शान्ता घोराः शिलाद्याश्च भेदकोपाधयो मताः।
योगाद् विवेकतो वैषामुपाधीनापाकृतिः ॥३२

अर्थ—शान्त और घोर वृत्तिया और शिला आदि पदार्थ भेदक उपाधिया हैं। इन उपाधियो का अपाकरण (परिहार) या तो 'योग' से ही सकता है या विवेक (ज्ञान) से सम्भव है ॥३२॥

निरुपाधिब्रह्मतत्वे भासमाने स्वयं प्रभे।
अद्वैते त्रिपुटी नास्ति भूमानन्दोऽत उच्यते ॥

अन्वय—स्वयप्रभे अद्वैते निरुपाधिब्रह्मतत्वे भ.समाने त्रिपुटी न अस्ति। अत. भूमानन्द. उच्यते।

अर्थ—साराश यह है कि स्वय प्रकाश, अद्वैत और उपाधि-रहित ब्रह्मतत्त्व के भासने लगने यह त्रिपुटी नही रहती। त्रिपुटी के भान न होने पर उसे 'भूमानन्द' कहा जाता है ॥३३॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे पञ्चमोध्याय ईरितः।
विषयानन्द एतेन द्वारेणान्तःप्रविश्यताम् ॥३४

अर्थ—पचदशी के इस 'ब्रह्मानन्द' नामक ग्रन्थ के पाचवें अध्याय का वर्णन हो चुका। इसी का नाम विषयानन्द है।

मन्दाधिकारी लोग इस विषयानन्द के द्वारा ही ब्रह्मानन्द के भीतर प्रवेश करें ॥३४॥

प्रीयाद्धरिहरोऽनेन ब्रह्मानन्देन सर्वदा ।
पायाच्च प्राणिनः सर्वान् स्वाश्रिताञ्छुद्धमानसान् ॥

अर्थ इस ब्रह्मानन्द नामक ग्रन्थ से हरिहर (विष्णुसे अभिन्न शिव) सदा प्रसन्न हो और यह अपने आश्रित शुद्ध मन वाले प्राणियो को जन्ममरणादि रूप दुःख से बचाये रखे ॥३५॥

श्री विद्यारण्यमुनिविरचित पञ्चदशीके पन्द्रहवे प्रकरण, ब्रह्मानन्दगविषयानन्द की श्री पीताम्बर शर्माकृत तत्वप्रकाशिका व्याख्या समाप्त ।

॥ इति श्री पञ्चदशी ॥



भारतीय संस्कृति के गौरवशाली धर्म ग्रन्थ

हिन्दी अनुवाद और मूल सहित

चारों वेद

१. ऋग्वेद—इसमे सृष्टि रचना, प्रकृति, आत्मा और जीव का स्वरूप, धर्मनीति, चरित्र, सदाचार, परोपकार और मनुष्य के वास्तविक कर्तव्य का सुन्दर दिग्दर्शन है। साथ ही समाज नीति, राजनीति, अर्थनीति, अङ्क गणित, रेखा गणित, ज्योतिष, खगोल, भूगोल, रसायन शास्त्र, भूगर्भ, विद्या, धातु विज्ञान व मनोविज्ञान के मूल सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण किया गया है।

४ खण्डो का मूल्य २७) मात्र।

२. अथर्ववेद—इसमे अन्न सिद्धि, वुद्धि बढाने के उपाय, वीर्य रक्षा, ब्रह्मचर्य, धनधान्य, समय पर वृष्टि, व्यापार की वृद्धि, दीर्घ आयु और सुदृढ स्वास्थ्य के साधन, राज्याधिकारियो का नियन्त्रण, युद्ध मे विजय, शत्रु सेना मे मोह व भ्रम उत्पन्न करना, उन्हे नष्ट करना आदि विषयो का विज्ञान है। २ खड मूल्य १३)५० मात्र।

३ यजुर्वेद—यजुर्वेद कर्मकाण्ड प्रधान वेद है। इसमें यज्ञो के विधि विधान व विज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, शिल्प, व्यवसाय, राज्य, स्वराज्य, साम्राज्य आदि के सम्बन्ध मे कल्याणकारी ज्ञान प्रदान किया गया है।

मूल्य ६)७५ मात्र

४. सामवेद—सामवेद यद्यपि चारो वेदो में आकार की दृष्टि से सबसे छोटा है फिर भी इसकी प्रतिष्ठा सर्वाधिक है। सामवेद के मन्त्र अमूल्य रत्नो की खान हैं। इसकी भक्ति रसपूर्ण काव्य धारा मे आवगाहन करने से तुरन्त ही मनुष्य का अन्तरतम निर्मल, विशुद्ध, पवित्र और रस सिक्त हो जाता है। मूल्य ६)७५

मिलने का पता—

संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली (उ० प्र०)